# 'प्रज्ञाता'

## पं. बाबूलाल मिश्र अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक
रामकुमार त्रिपाठी

२.५

# 'प्रज्ञात'

## पं० बाबूलाल मिश्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादक

रामकुमार त्रिपाठी

‘प्रज्ञात’

मूल्य १५१.००

संस्करण संवत् २०३९

प्रकाशक : ‘प्रज्ञात’ प्रकाशन, कानपुर

द्वारा उद्बोधन समिति, नेहरू नगर, कानपुर–२०८ ०१२

मुद्रक : राममोहन मिश्र, ११९/१०६, बम्बा रोड, कानपुर–२०८ ०१२

## सम्पादक मण्डल



सम्पादक

**रामकुमार त्रिपाठी**

# अभिनन्दन–समिति

प्रधान संरक्षक

**जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज**

अध्यक्ष

**श्री नरेन्द्रजीत सिंह, बार. एट. ला.**

उपाध्यक्ष

**डा० राजाराम जैपुरिया**

**श्री देवेन्द्रस्वरूप, एडवोकेट**

**श्री रामबालक मिश्र, एडवोकेट**

**डा० गौरहरि सिंहानिया**

**श्री छैलबिहारी दीक्षित 'कण्टक'**

महामन्त्री

**श्री शौनक ब्रह्मचारी**

मन्त्री

**श्री रामशंकर शुक्ल**

**श्री रामकुमार त्रिपाठी, एडवोकेट**

**श्री परमानन्द पञ्जवानी**

**श्री रामप्यारे गुप्त, एडवोकेट**

अर्थ मन्त्री

**श्री किशनलाल सूतवाले**

कोषाध्यक्ष

**श्री ओम्प्रकाश भार्गव**

सह–कोषाध्यक्ष

**श्री गणेशीलाल गुप्त**

# अनुक्रमणिका

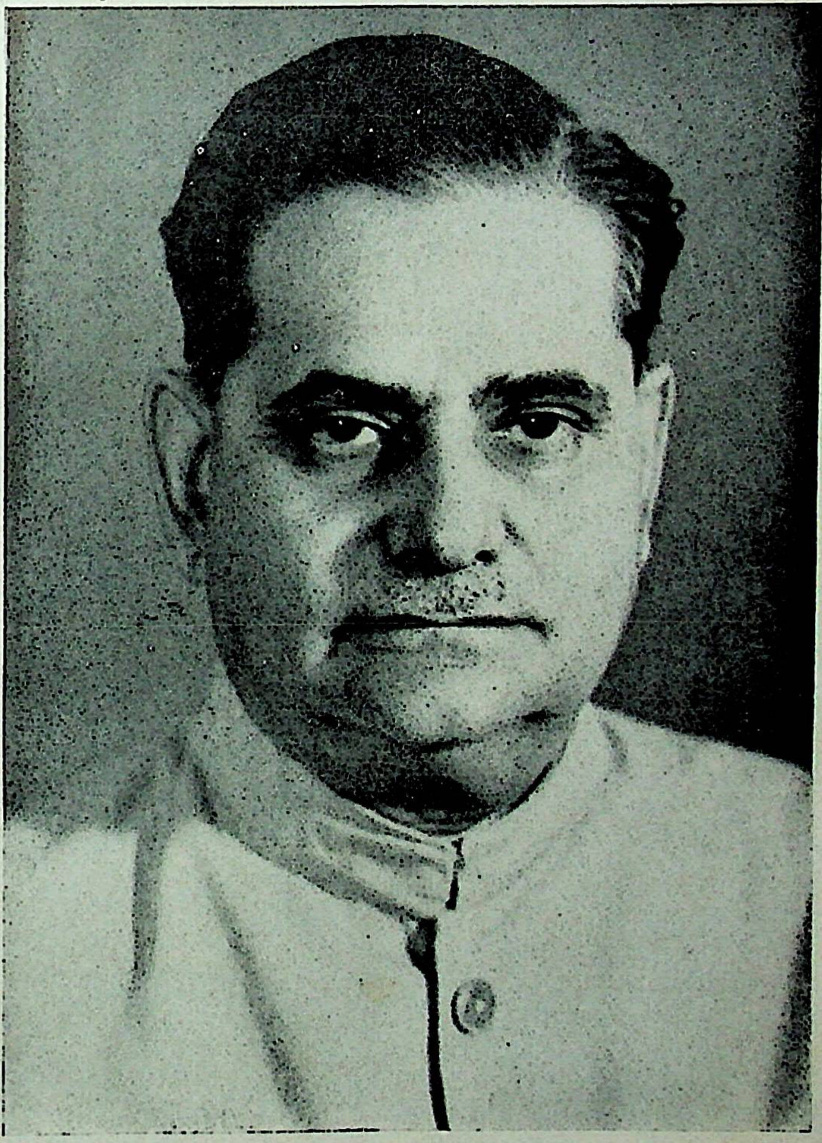
## २ साहित्य तथा दर्शन-पर्व

## ३ समाज, कला तथा संस्कृति—पर्व

## ४ विधि–पर्व



## ५ प्रकीर्णक



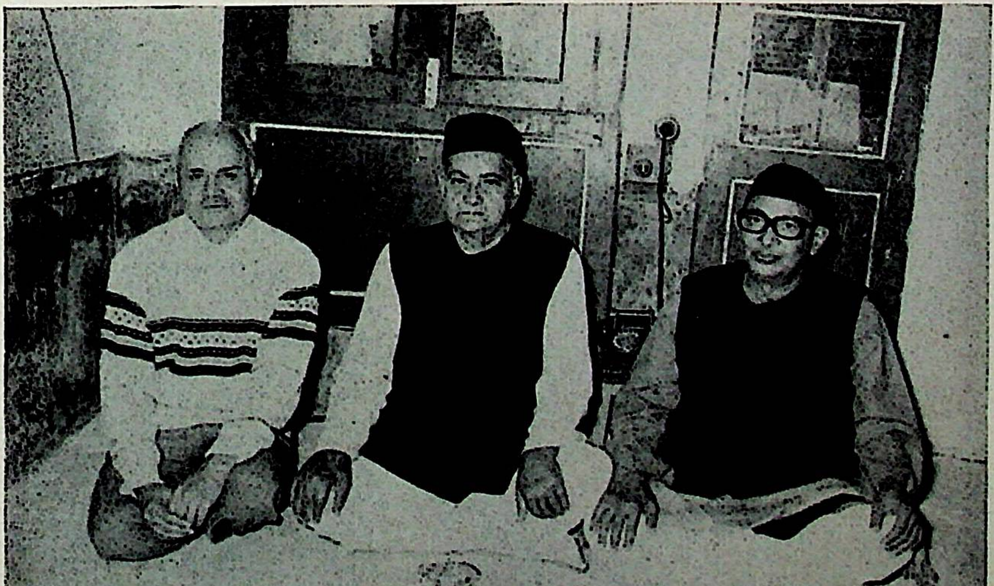
पं० बाबूलाल मिश्र



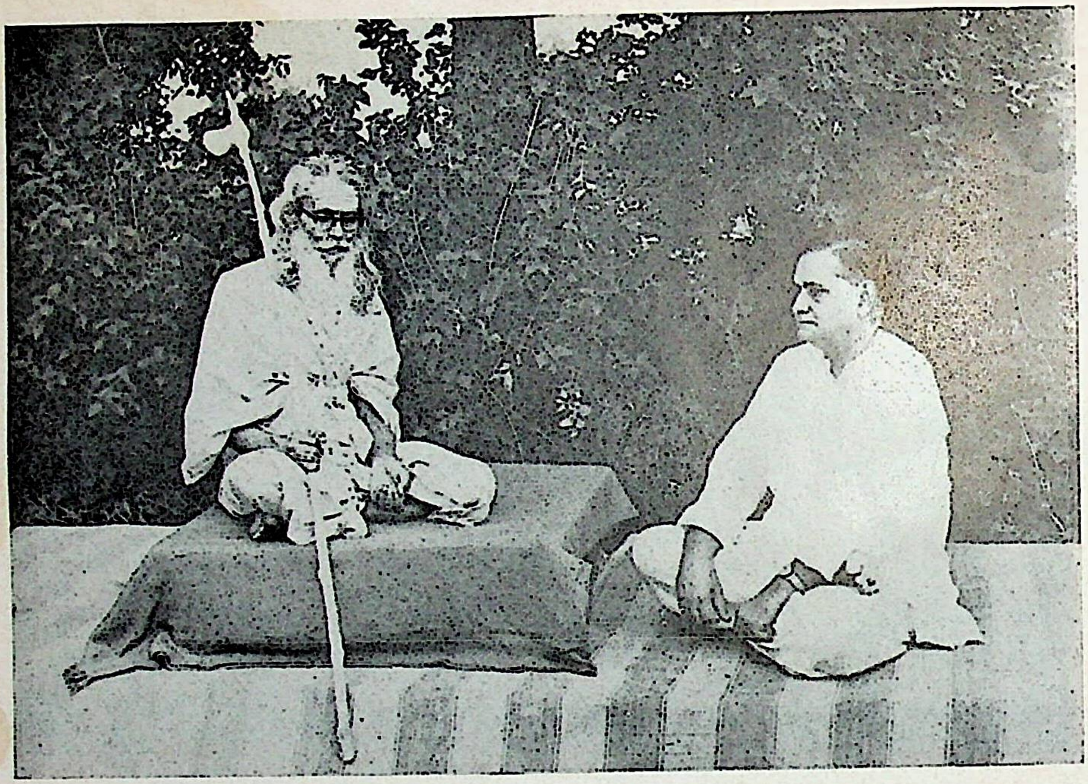
वर्ष १९२७ में एल-एल० बी० उपाधि से विभूषित



पंडित जी : अपने चेम्बर में



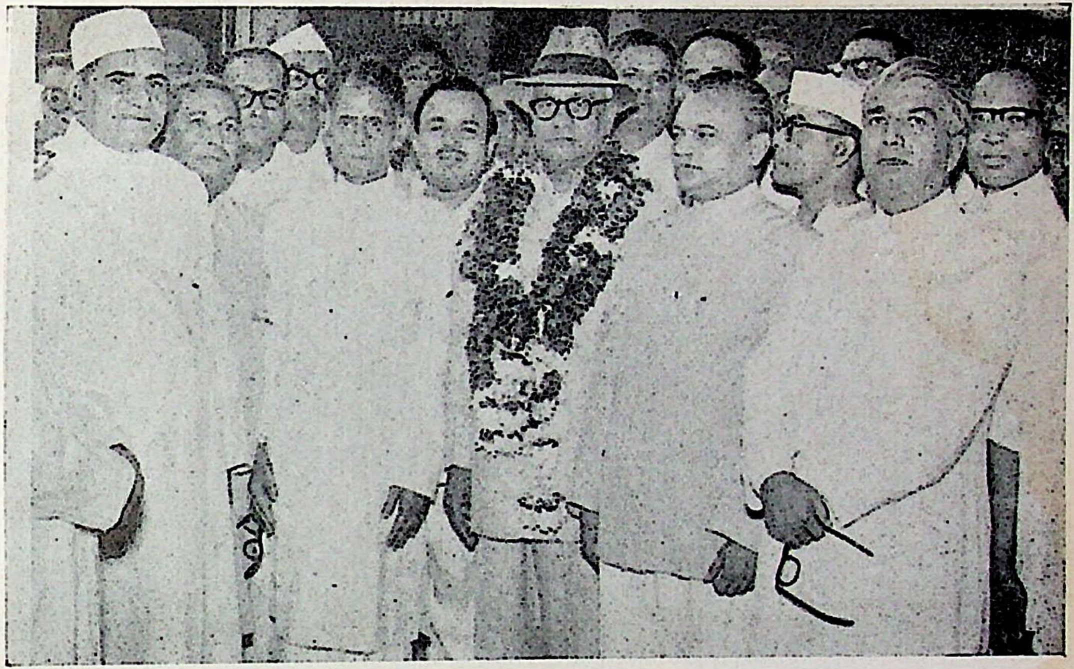
श्री हरि प्रकाश मुद्गल (दामाद) एवं श्री रामबालक मिश्र (उपाध्यक्ष बार कौंसिल उत्तरप्रदेश) के साथ पंडित जी (मध्य में)



जगदाचार्य स्वामी नारदानंद जी सरस्वती महाराज के सान्निध्य में



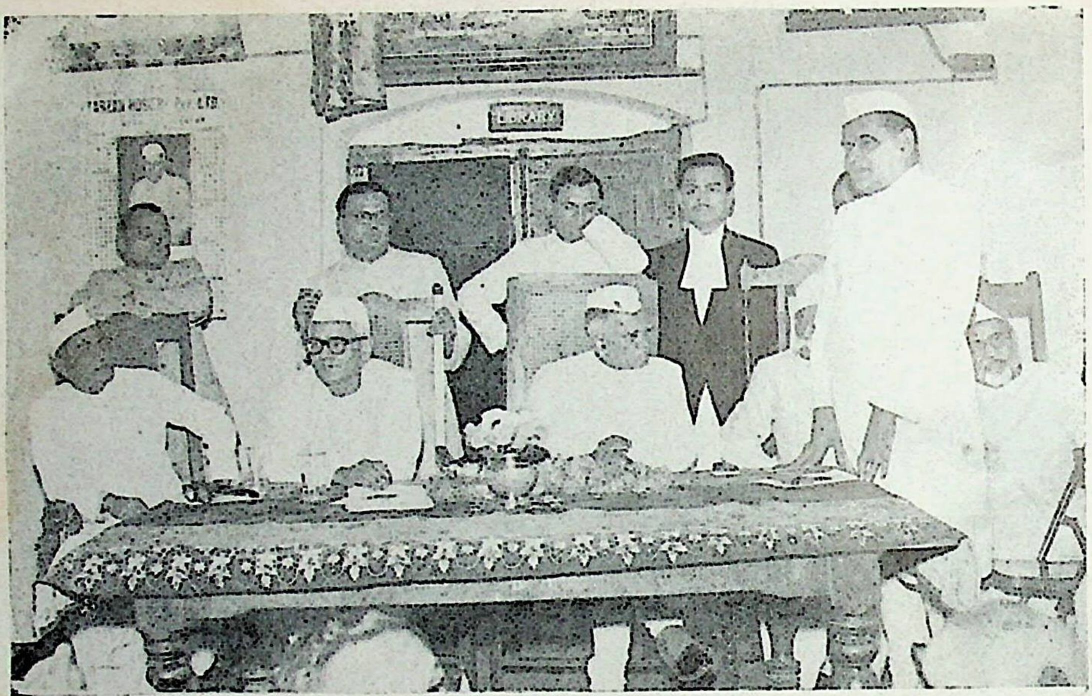
उद्बोधन-समिति के महामंत्री श्री शौनक जी ब्रह्मचारी के साथ



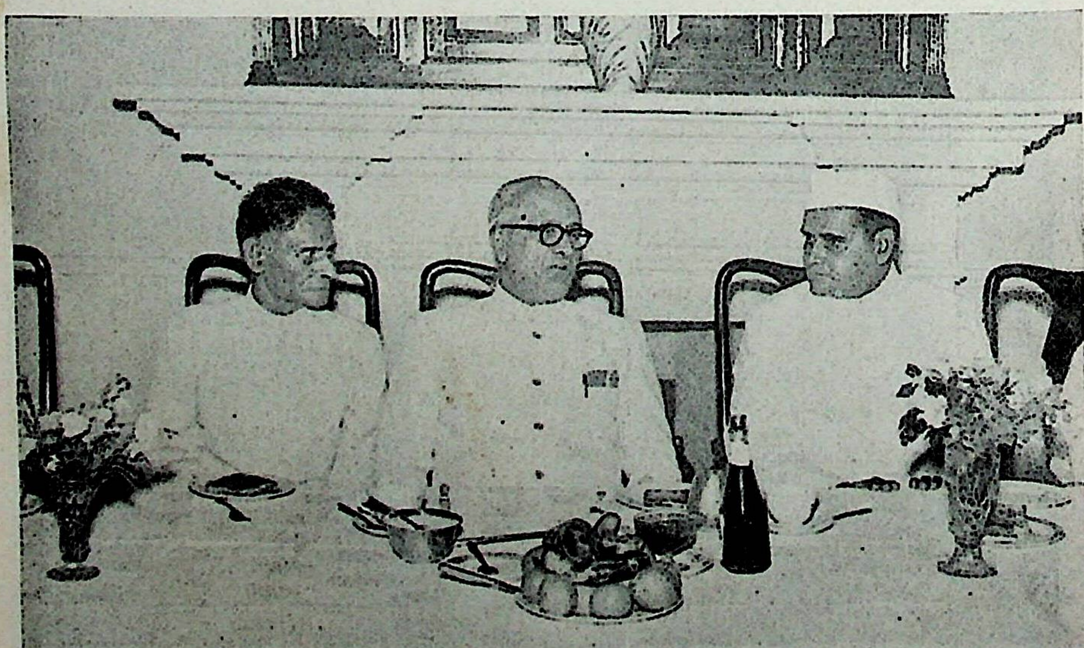
मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री वी० पी० सिन्हा के स्वागत समारोह में



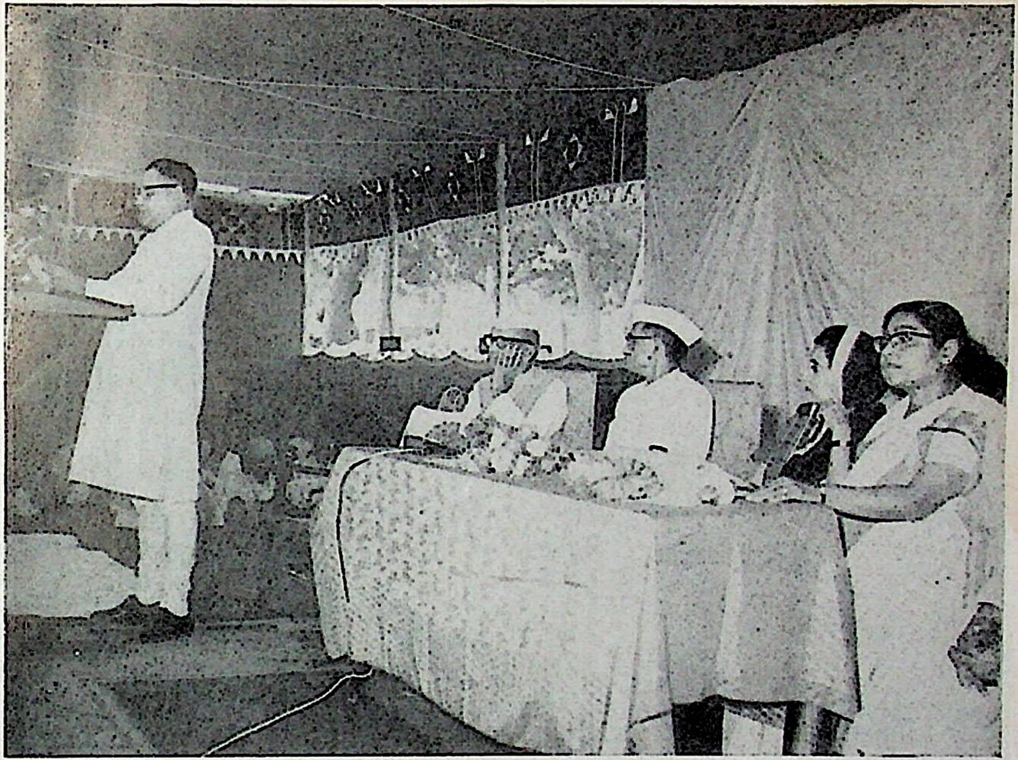
वी० एस० एस० डी० कालेज के दीक्षांत समारोह के समय विद्वानों की शोभा-यात्रा में



पंडित जी अपने विचार प्रकट करते हुए। सामने बैठे हुए बैरिस्टर कैलाश नाथ काटजू तथा श्री सी० बी० गुप्त।



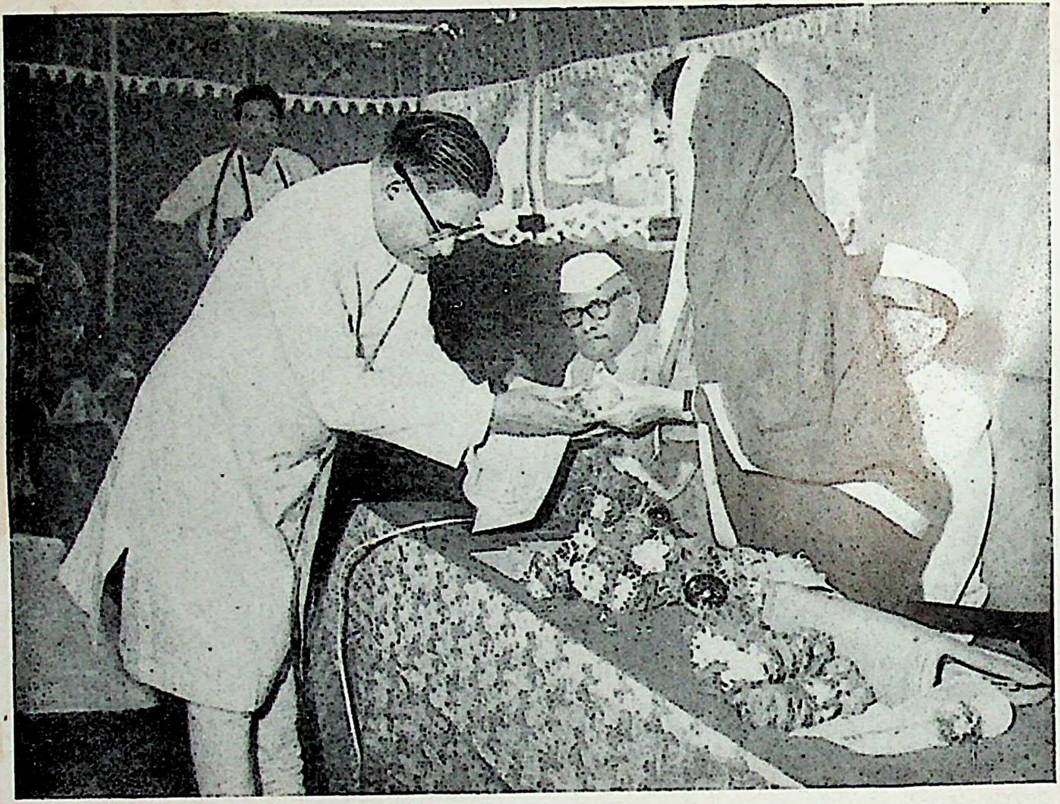
न्यायमूर्ति श्री वी० पी० सिन्हा के साथ।



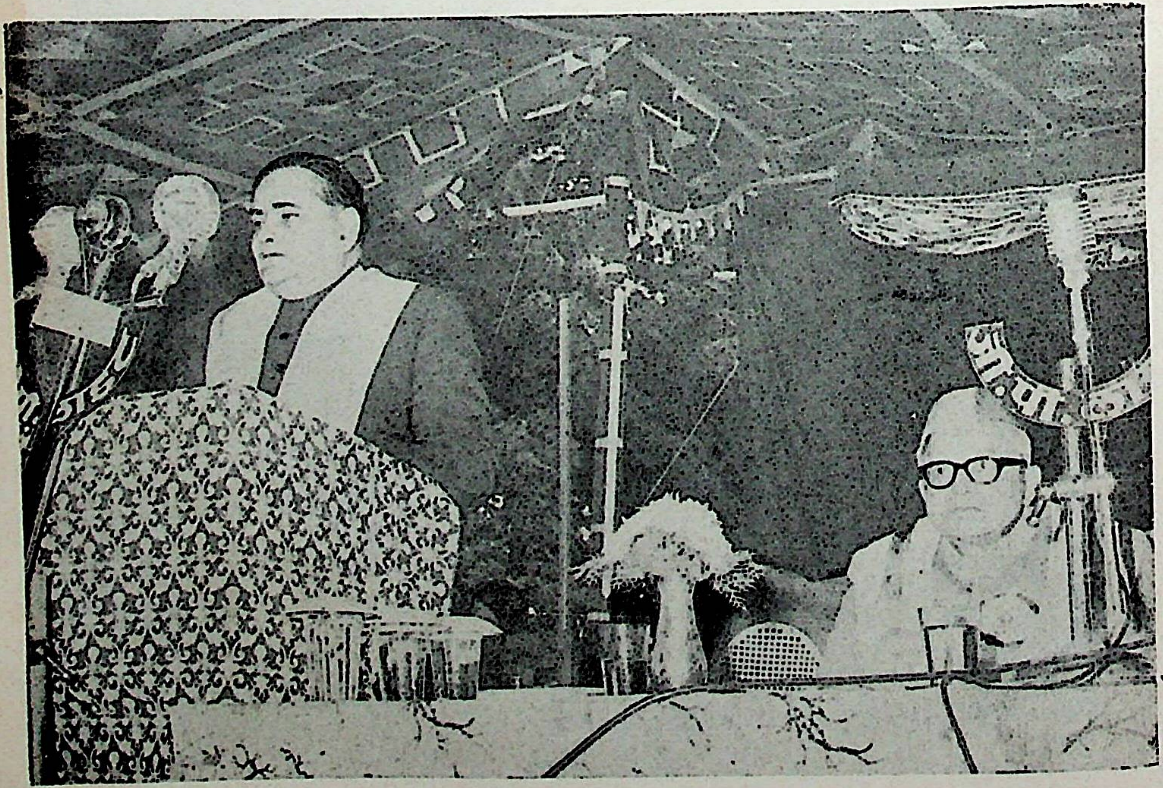
प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के सम्मान-समारोह में स्वागत-भाषण पढ़ते हुए।



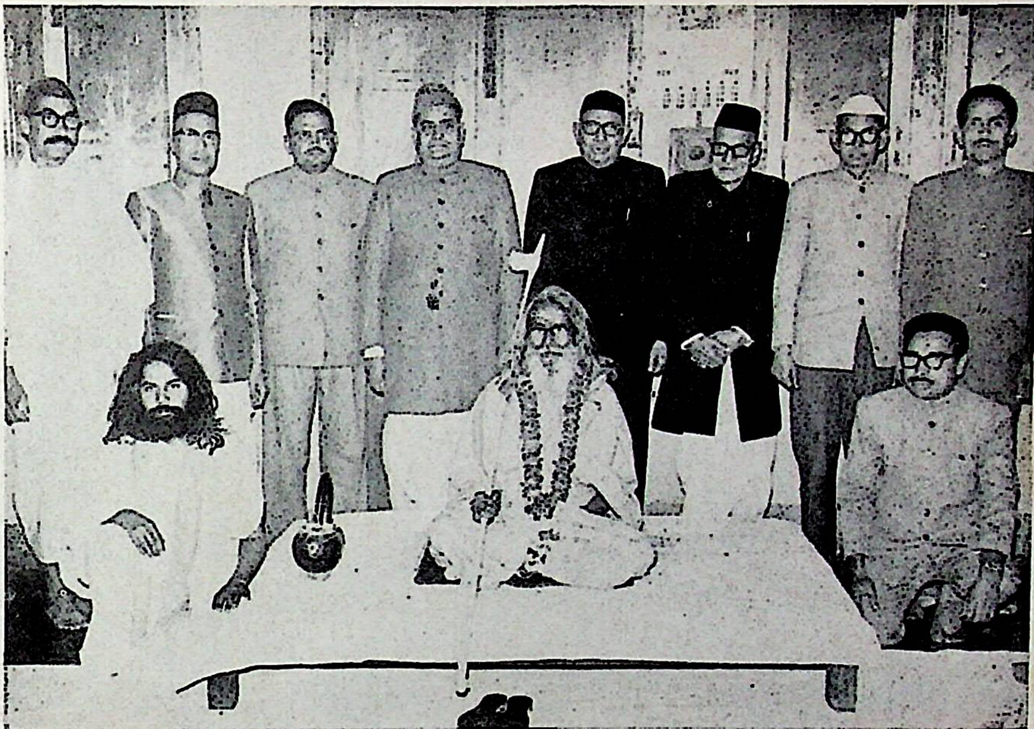
पं० वाबूलाल मिश्र वी० एस० एस० डी० कालेज प्रवन्ध समिति के अध्यक्ष के रूप में।
बैठे हुए : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा तत्कालीन कुलपति भक्तदर्शन जी।



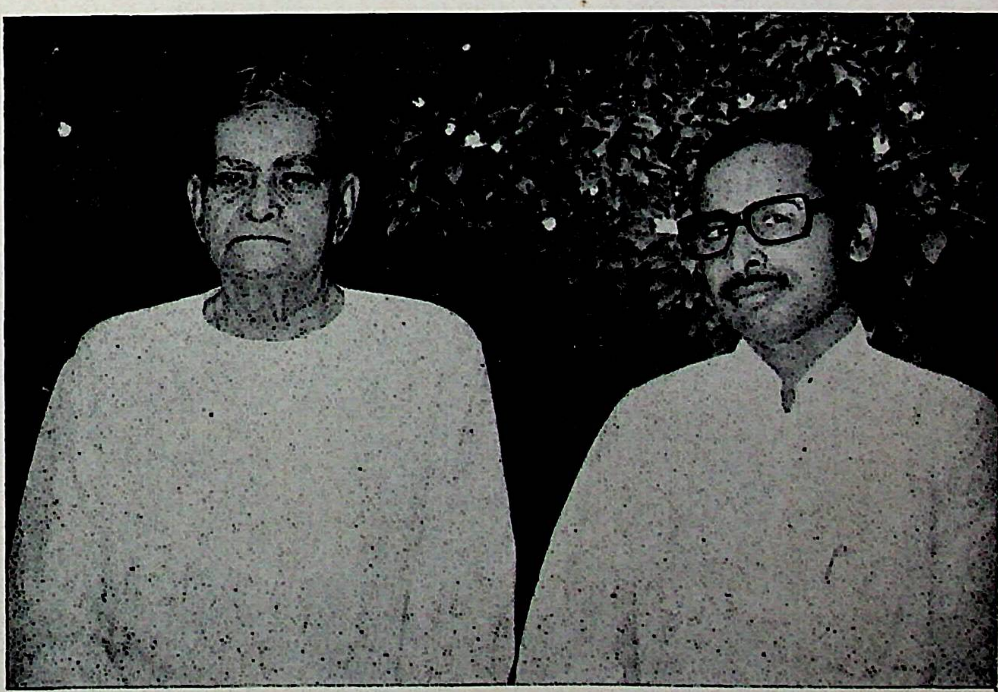
प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को सम्मान पत्र देते हुए पंडित जी



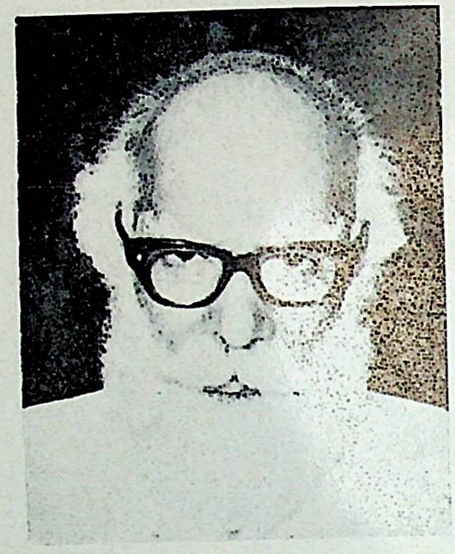
दीक्षान्त-भाषण में उपराष्ट्रपति श्री जी० एस० पाठक को धन्यवाद देते हुए पंडित जी



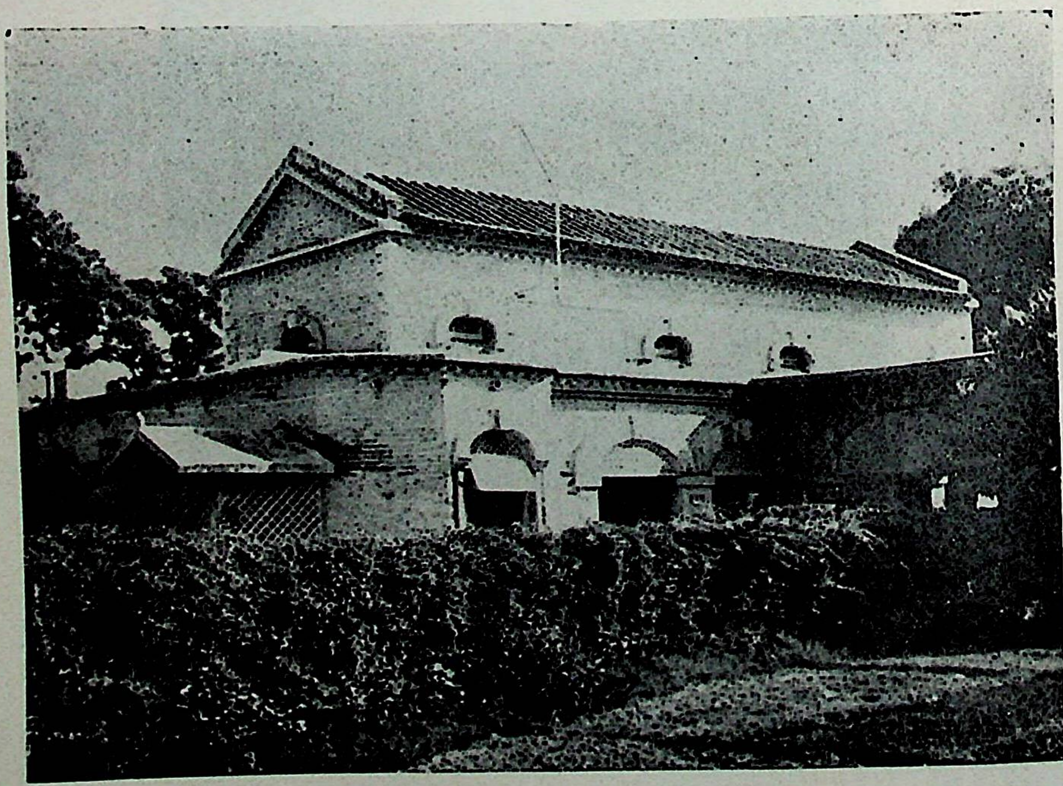
जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती महाराज के सान्निध्य में गठित प्रथम उद्‌बोधन-समिति के अध्यक्ष के रूप में ।



पूज्य पंडित जी एवं अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक रामकुमार त्रिपाठी एडवोकेट

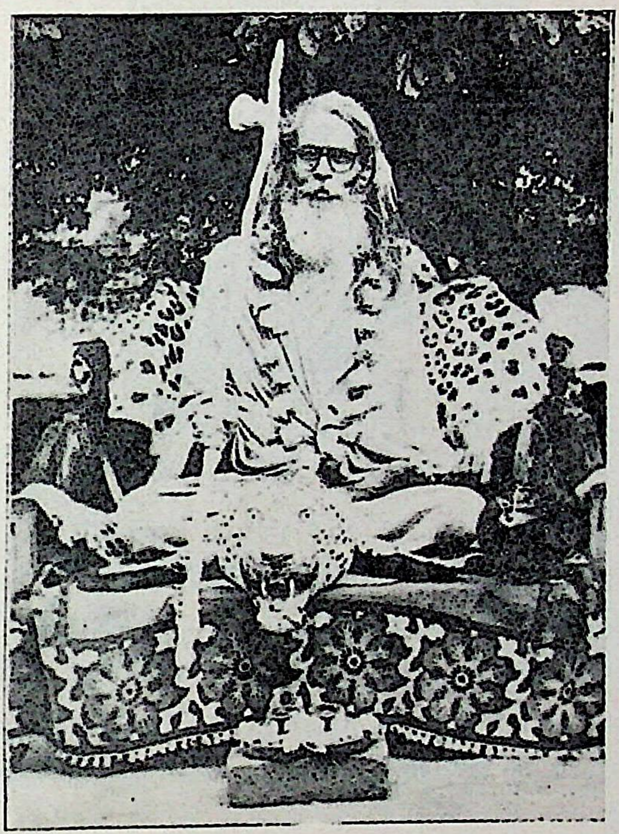


श्री किशोरीलाल त्रिपाठी (मामा जी)



पं० बाबूलाल मिश्र का निवास-स्थान

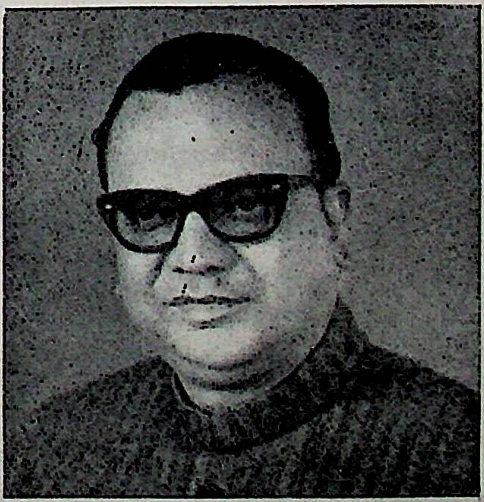
# संरक्षक अभिनन्दन समिति



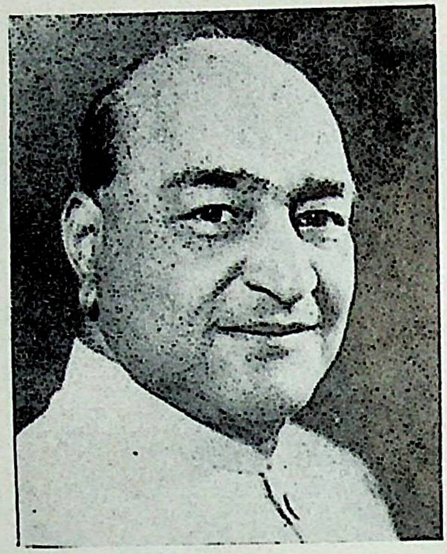
नैमिषव्यास पीठाधीश्वर जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती नैमिषारण्य



डा० हेमलता स्वरूप
कुलपति कानपुर विश्वविद्यालय



डा० वीरेन्द्र स्वरूप



## स्व० सर पदमपत सिंहानिया

कानपुर नगर में उद्योग, स्वास्थ्य-चिकित्सा, धर्म, समाज-कल्याण, भाषा-साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति तथा खेलकूद के जितने भी गौरवशाली स्थायी विकास-निर्माण वर्तमान में हैं वे सभी, सर पदमपत सिंहानिया के लोकजीवी व्यक्तित्व की अमर कृतियाँ हैं। भविष्य में भी अपनी जीवात्मक उपयोगिता के कारण प्रतिष्ठा के प्रतीक बने रहेंगे।

उत्तर प्रदेश में औद्योगिक विकास के इतिहास में किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व-कृतित्व से प्रदेश को इतना व्यापक, सघन, उपयोगी तथा गौरवशाली योगदान नहीं प्राप्त हुआ, जितना सर पदमपति सिंहानिया के व्यक्तित्व से प्राप्त हुआ है।

महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरु, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, श्रीमती इन्दिरा गांधी से लेकर अनेक जगद्‌गुरु शंकराचार्यों तक बीसवीं शताब्दी के सभी महान–पुरुषों ने, सर पदमपत सिंहानिया के आदर्शात्मक जीवन-दर्शन, मानवीय आचरण, तथा उनके लोक-कल्याणकारी व्यक्तित्व–कृतित्व की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

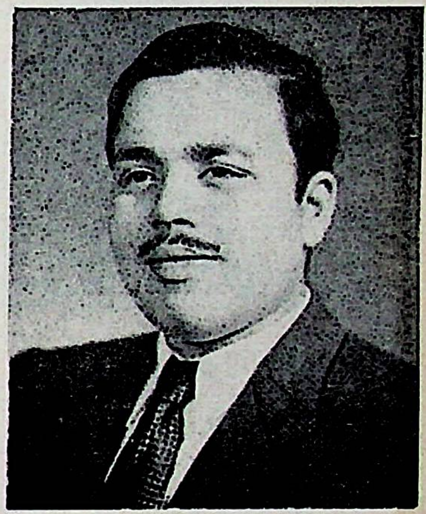
सर पदमपत सिंहानिया ने ही सर्वप्रथम पं० बाबूलाल मिश्र अभिनन्दन समिति का अध्यक्ष होना स्वीकार कर मुझे, इस गुरुतर दायित्व को वहन करने का आर्शीर्वाद प्रदान किया था, उनकी प्रेरणामय उपस्थिति तथा मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ की रुपरेखा भी 'गंगाकुटीर' में तैयार की गयी थी, अब जबकि उनकी जीवंत प्रेरणा से ग्रन्थ–प्रकाशन का महायज्ञ पूर्ण हो गया है, मैं श्रद्धेय सर साहब के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

—संपादक

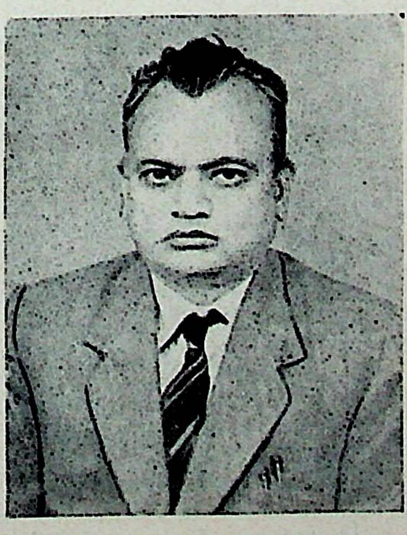
# अभिनन्दन-समिति



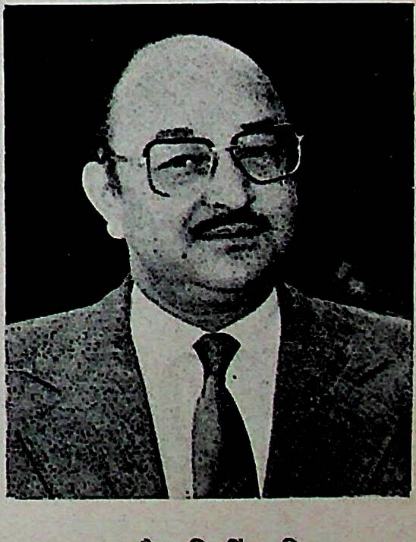
बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह
अध्यक्ष



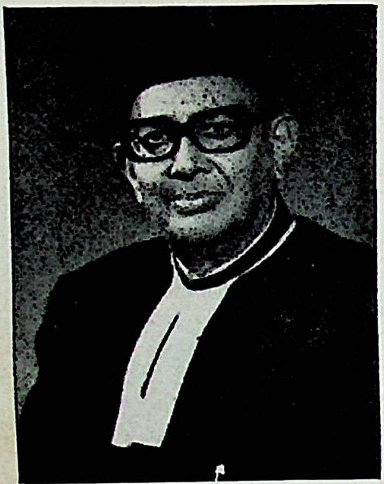
डा० राजाराम जैपुरिया
उपाध्यक्ष



श्री देवेन्द्र स्वरूप एडवोकेट
उपाध्यक्ष



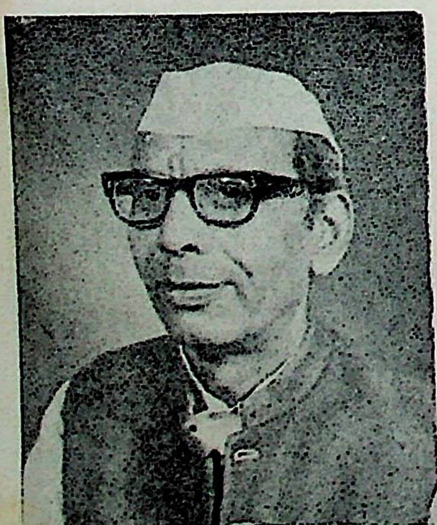
डा० गौरहरि सिंहानिया
उपाध्यक्ष



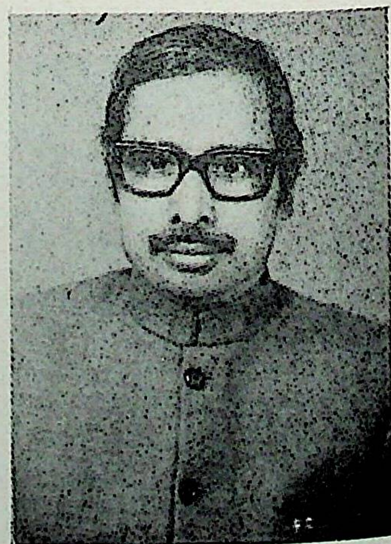
पं० रामबालक मिश्र एडवोकेट
उपाध्यक्ष



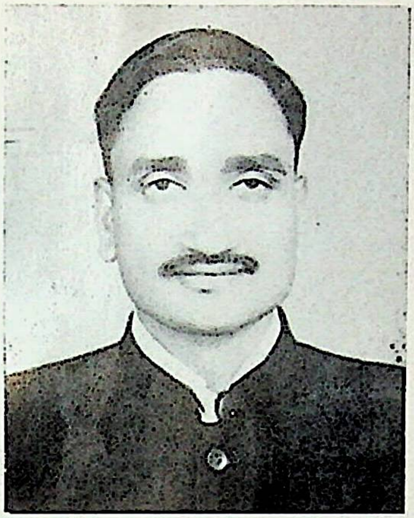
श्री शौनक ब्रह्मचारी
महामंत्री



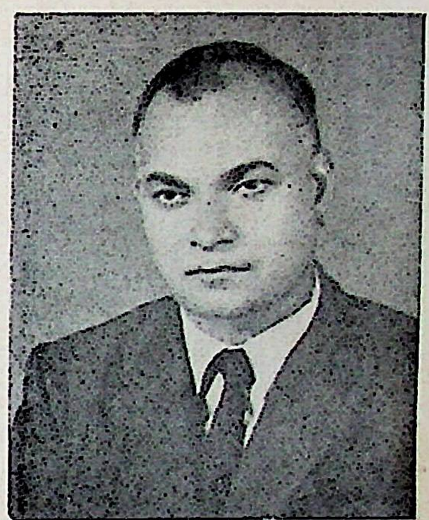
श्री रामशंकर शुक्ल
मंत्री



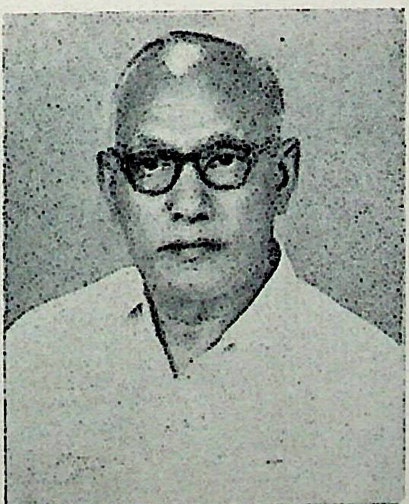
श्री रामकुमार त्रिपाठी एडवोकेट
मंत्री



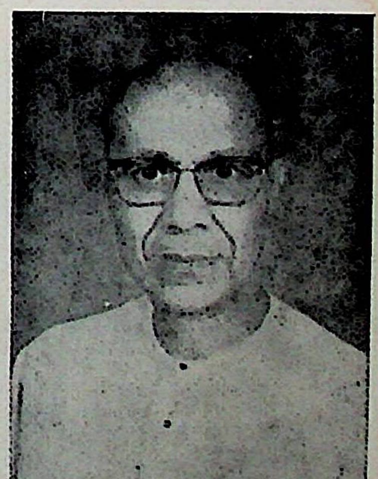
श्री राम प्यारे गुप्त एडवोकेट
मंत्री



श्री ओम प्रकाश भार्गव
कोषाध्यक्ष

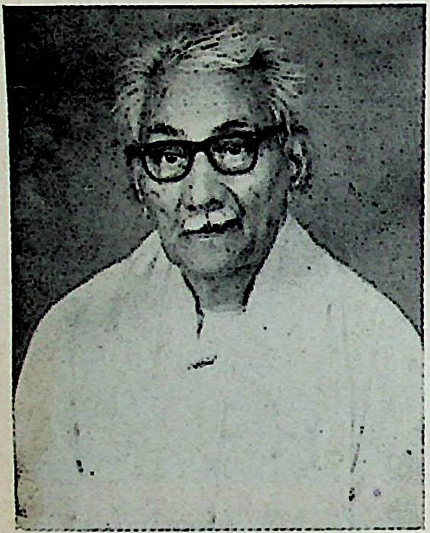


श्री गणेशी लाल गुप्त
सहकोषाध्यक्ष

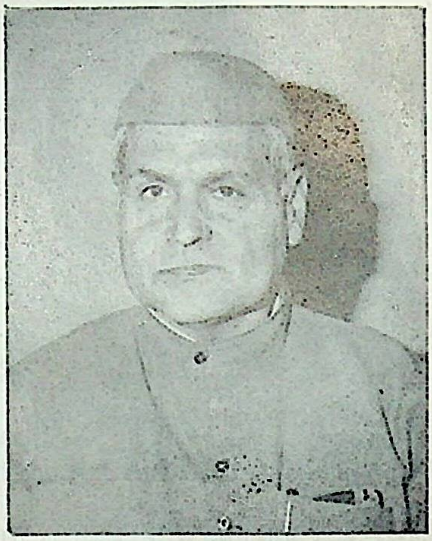


श्री किशन लाल सूतवाले
अर्थमंत्री

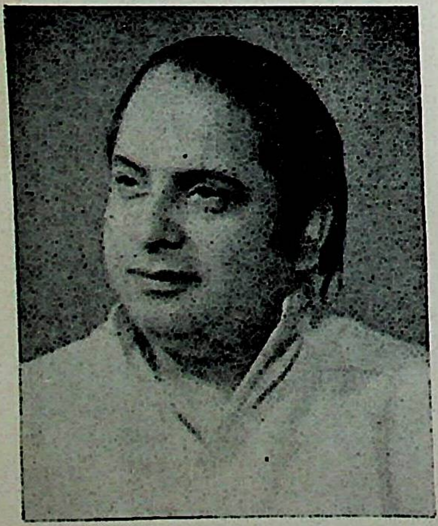
# सम्पादक मण्डल



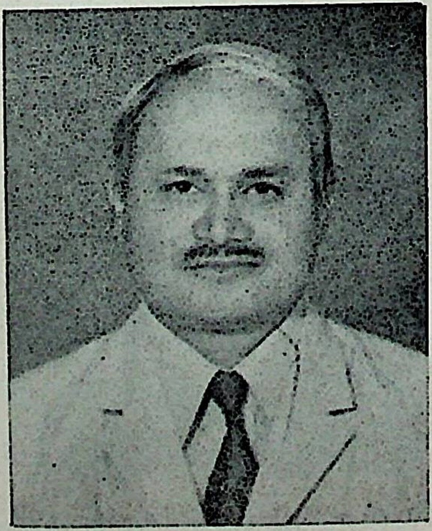
डा० मुन्शीराम शर्मा



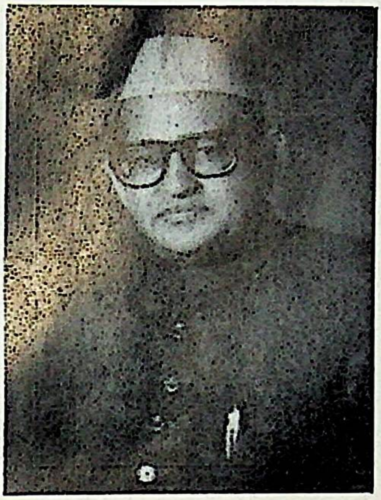
आचार्य सिद्धनाथ मिश्र



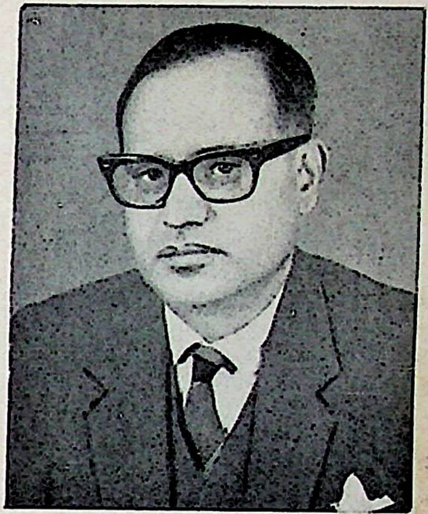
श्री लल्लन प्रसाद व्यास



श्री हरिप्रकाश मुद्गल, एडवोकेट

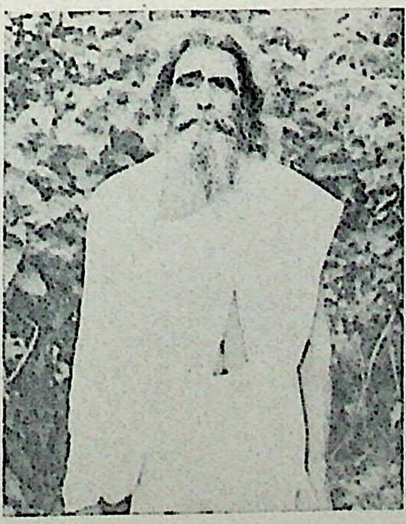


डा० नरेश चन्द्र चतुर्वेदी

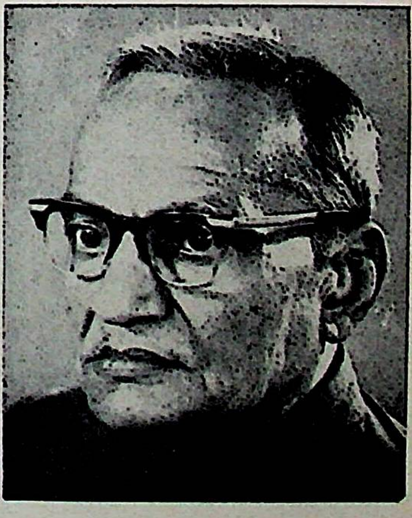


श्री ए० सी० सिन्हा, एडवोकेट

## निबन्ध लेखक महानुभाव



श्री विश्वमित्र पूजन



श्री शिव बालक अग्निहोत्री



डा० शिव बालक द्विवेदी



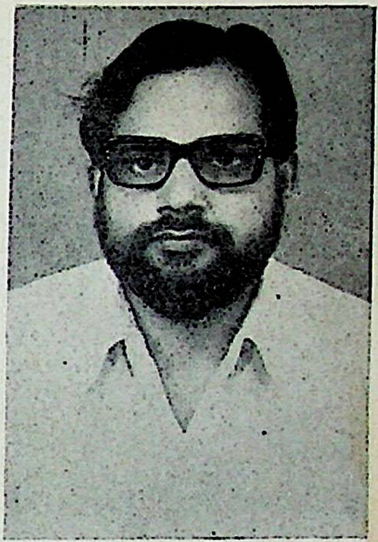
श्री सुबोध मार्कण्डेय एडवोकेट



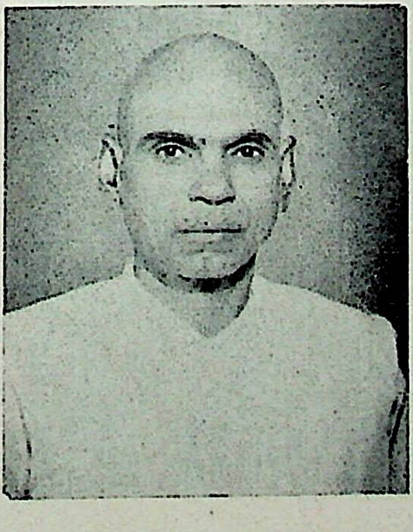
डा० सुमन राजे



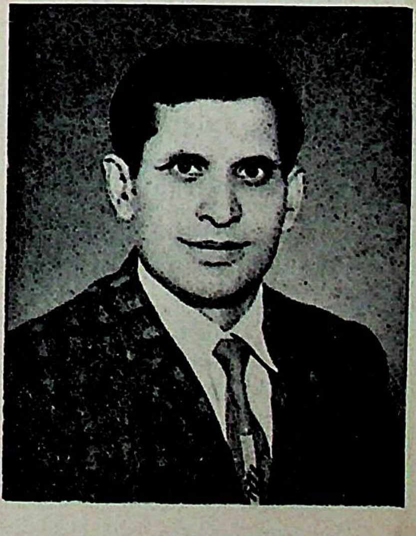
श्री भगवती प्रसाद गुप्त



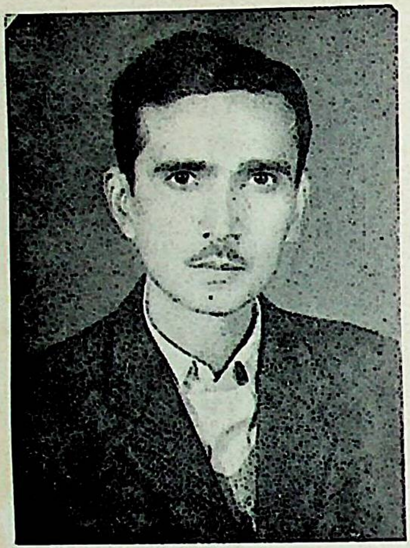
डा० यतीन्द्र तिवारी



डा० राम प्रसाद त्रिपाठी



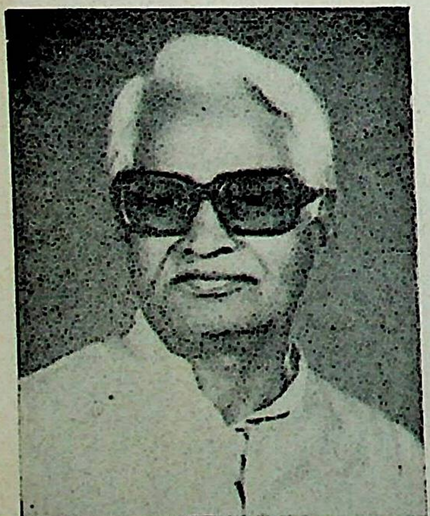
डा० रघुनाथ गिरि



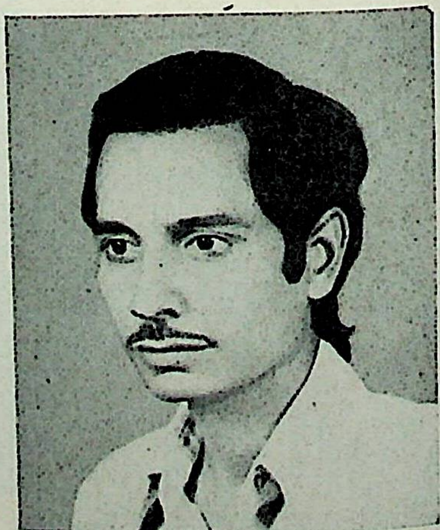
डा० रामस्वरूप त्रिपाठी



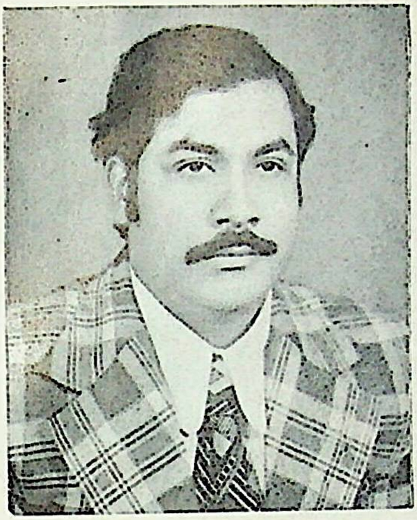
डा० रामजी सिंह



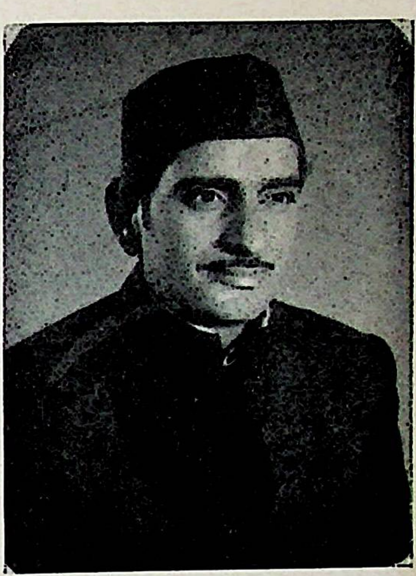
श्री रामनारायण त्रिपाठी, एम० पी०



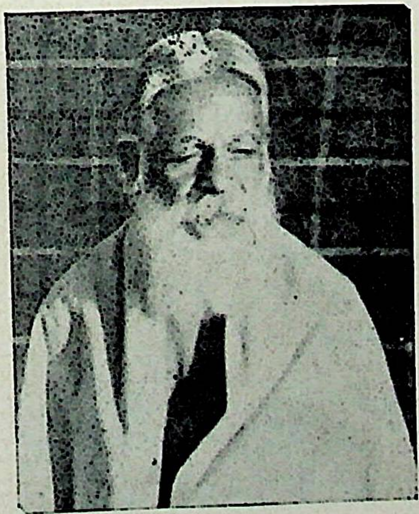
डा० लक्ष्मीकाँत पाण्डे



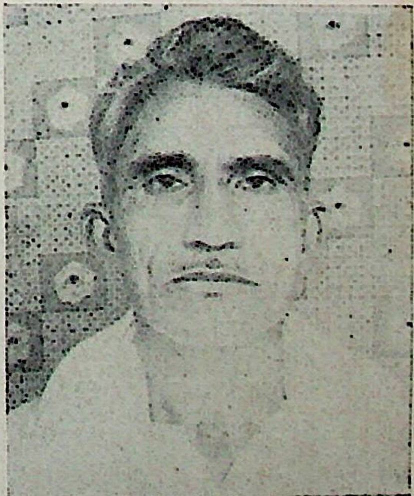
डा० वी० एन० सिंह



डा० विश्वम्भर नाथ द्विवेदी



स्वामी आत्मानन्द सरस्वती



डा० अचल



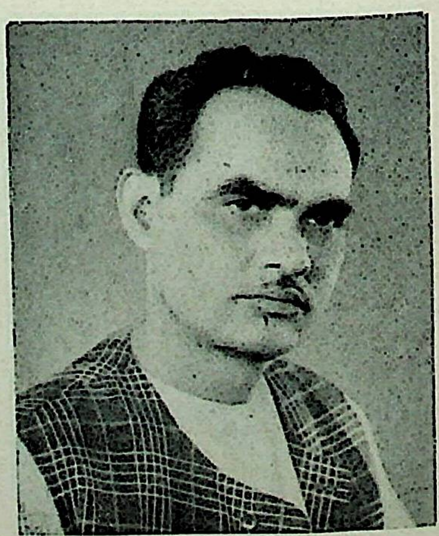
डा० उमेश मिश्र



श्री कैलाश नाथ शास्त्री



डा० वैजनाथ त्रिपाठी



डा० वचनदेव कुमार

# प्रस्तावना

'प्रज्ञात' नामक पं० बाबूलाल जी मिश्र के इस अभिनन्दन-ग्रन्थ को मैं, प्रारम्भ से अन्त तक, बड़े मनोयोग से पढ़ गया हूं और मेरी प्रसन्नता में निरन्तर वृद्धि होती रही है। क्योंकि इस विशाल ग्रन्थ में, पं० बाबूलाल मिश्र की विधि-विषयक प्रसिद्ध योग्यता के अतिरिक्त उनके व्यापक प्रभाव के कारण सामाजिक, शैक्षिक तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदर्शोन्मुख आस्थाओं-निष्ठाओं की जो जागरूकता पैदा हुई, उसकी प्रगति प्रतिष्ठा का चित्रण-विश्लेषण भी सावधानी पूर्वक किया गया है।

'प्रज्ञात' के सम्पादक महोदय ने, साक्षात्कार के माध्यम से, पं० बाबूलाल जी मिश्र के महान् साधनाशील जीवन के ज्ञानानुभवों को सम्मिलित कर, ग्रन्थ की गरिमारूपी स्वर्ण में सुगंध पैदा कर दी है।

'प्रज्ञात' में दर्शन, धर्म, विधि, साहित्य, संस्कृति तथा कला विषयक गम्भीर एवं पठनीय आलेख भी हैं, जो प्रायः अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं और जो अपनी विधा के ज्ञान की सीमाओं तक अर्थवान हैं। ऐसी स्थिति प्रमाणित करती है कि 'प्रज्ञात' की उपयोगिता, मानव-जीवन तथा उसके समाज के लिए, निर्विवाद हो गयी है मुझे विश्वास है कि 'प्रज्ञात' के पाठक, यदि जिज्ञासापूर्वक इस अभिनन्दन-ग्रन्थ की अर्थ-यात्रा करेंगे तो, उनमें शान्ति तथा क्रान्ति के ऐसे जीवन-उद्देश्य स्थापित होंगे, जो उनके, उनकी समकालीन पीढ़ी के और भावी मानव-जाति के समक्ष भी जीवन के दिव्य सत्य तथा आनन्द का उद्घाटन सहजतापूर्वक कर सकेंगे।

मुझे निश्चित रूप से यह कहना चाहिए कि 'प्रज्ञात' परिश्रमपूर्वक, योग्यतापूर्वक तथा आस्थापूर्वक तैयार किया गया है, प्रायः सभी सामग्री पठनीय ओर सभी अर्थ अनुकरणीय हैं।

मैं, विश्वास करता हूं कि 'प्रज्ञात' पं० बाबूलाल जी मिश्र की जीवनात्मक यशस्विता-मनस्विता को, जन-जीवन के लिए संग्रहणीय तथा वरणीय बनाने में सफल होगा।

**रामकृष्ण त्रिवेदी**
मुख्य चुनाव आयुक्त
भारत निर्वाचन आयोग
नई दिल्ली

# प्राक्कथन

'प्रज्ञात' एक उपादेय ग्रन्थ है। इसमें एक ओर पं० बाबूलाल जी मिश्र की दीर्घ कालीन मानवीय सेवाओं का मूल्यांकन है तो दूसरी ओर मानव धर्म के सूक्ष्म तथा दिव्य आध्यात्मिक धरातलों की खोज की गई है। इसमें साहित्य, संस्कृति, इतिहास, भाषा, धर्म, कला तथा समाज की विभिन्न जीवनात्मक विधाओं पर शोधपूर्ण सामग्री अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई है। पं० बाबूलाल जी मिश्र का जीवन उदात्त एवं निष्कलंक रहा है जो स्वयं अपने में प्रेरणादायक रहेगा। वे चरितार्थ करते हैं कि "क्रिया सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे" कार्य की सिद्धि या जीवन में सफलता संकल्प पर निर्भर है साधन पर नहीं। बाल्य काल में ही उन्होंने संकल्प किया कि मुझे विधिवेत्ता और अधिवक्ता बनना है। उसी संकल्प के अनुसार उन्होंने अथक परिश्रम किया। एक सच्चे साधक को साधना में ही आनन्द आता है सिद्धि तो उसकी अनुचरी होती है। उनका आदर्श जीवन सदैव प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

'प्रज्ञात' में संग्रहीत लेख पण्डित जी की गरिमा के अनुरूप हैं। जिस प्रकार पण्डित जी की साधना, तपस्या तथा उपलब्धियाँ नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत रहेंगी उसी प्रकार 'प्रज्ञात' में विद्वानों के संग्रहीत लेख भी प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे।

पं० बाबूलाल जी मिश्र मानवीय विधियों तथा विधाओं के प्रख्यात प्रवक्ता रहे हैं। उनके लोक सेवी व्यक्तित्व की छाया में कितनी ही शैक्षिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक संस्थाओं को जन-जीवन की यशस्विता – मनस्विता प्राप्त हुई है। मैं कामना करता हूं कि 'प्रज्ञात' पं० बाबूलाल जी मिश्र के आत्मादर्शों को अधिकाधिक प्रकाशित करने में सफल हो।

**रामवृक्ष मिश्र**
न्यायाधीश
भारतीय उच्चतम न्यायालय
नई दिल्ली

# FOREWORD

It is gratifying to learn that an Abhinandan-Granth is being presented to Pt. Babulal ji Misra. It is a fitting tribute to Pandit ji in recognition of his great services to several public causes. An eminent and widely respected member of the Bar, his striking achievements and success provide an inspiring example to those who have chosen the legal profession and who will follow in the generations to come. He will be long remembered for his valuable contribution to the cause of education, literature and Indian culture and to the several other philanthropic activities to which he has so devotedly and generously given of himself.

As a lawyer, I had the privilege of knowing Pandit ji and of witnessing the profound learning and scholorship he brought to bear on his cases, and the high standards set by him in the course of his law practice.

I have much pleasure and pride in being associated with this function, and in wishing Pandit ji many years yet of useful and continuing service to society.

**Justice R. S. Pathak**
Supreme Court of India
New Delhi

# आभाराभिव्यक्ति !

सर्वप्रथम मैं, 'पं० बाबूलाल मिश्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ' की सम्पूर्ण 'अभिनन्दन-समिति' के प्रति कृतज्ञता पूर्वक आभार व्यक्त करता हूं, जिसके सक्रिय सहयोग तथा कृपा एवं सहानुभूति के बिना, इस महान् कृतित्व की कल्पना को स्पर्श भी नहीं किया जा सकता। 'अभिनन्दन-समिति' में, मेरे लिए सभी महानुभाव आदरणीय हैं और उन के प्रति मैं, सम्मिलित कृतज्ञता प्रकट करता हूं। किन्तु विशेष श्रद्धा भक्ति के कारण मैं, अभिनन्दन-समिति के प्रधान संरक्षक जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती-जी महाराज एवं महामन्त्री श्री शौनक ब्रह्मचारी के प्रति पृथक् से आभार व्यक्त करना अपना प्रथम कर्तव्य अनुभव करता हूं।

जब मैं, 'अभिनन्दन-समिति' के आत्मीय संरक्षण एवं सहयोग का स्मरण करता हूं, तो सर्वप्रथम अनुभव होता है कि इस ग्रन्थ-प्रकाशन में, पूज्य जगदाचार्य स्वामी-नारदानन्द सरस्वती जी महाराज की वीतरागी यशस्वी-मनस्वी सिद्धियों का आशीर्वादात्मक प्रकाश ही मेरा पथ आलोकित करता रहा है, जो कि जीवन के प्रारम्भ-काल से ही मेरी जीवनात्मक शक्तियों का स्रोत है। पूज्य महाराज जी 'अभिनन्दन-समिति' के ही संरक्षक नहीं हैं वरन् वे आदरणीय पं० बाबूलाल मिश्र तथा उद्बोधन-समिति के भी संरक्षक हैं और इन्हीं की कृपा का प्रसाद, हम सबके कृतित्व को गौरवमय बनाता है—इन कुछ शब्दों के साथ मैं, पूज्य महाराज जी के श्री चरणों में अपने अनन्त प्रणाम अर्पित करता हूं।

'अभिनन्दन-समिति' तथा 'उद्बोधन - समिति' के महामन्त्री श्रद्धेय श्री शौनक ब्रह्मचारी, 'पं० बाबूलाल-मिश्र - अभिनन्दन - ग्रन्थ' की नियोजक, निर्देशक तथा निर्णायक शक्तियों के संचालक रहे हैं। उनकी श्रद्धास्पद जीवन-साधना, तपश्चर्या तथा सेवाव्रती निस्पृहता से निःसृत अभय-अजय शांति, मुझे विजयिनी संघर्ष-शक्ति तथा पात्रता-भक्ति प्रदान करती रही है, इस ग्रन्थ-सम्पादन में विशेषताओं की जो गरिमाएं एवं प्रतिष्ठाएं हैं वे, आदरणीय शौनक जी के व्यक्तित्व की ज्योत्स्ना द्वारा प्रतिभासित छवियां हैं और जो सामान्यताएं हैं, वे मेरी हैं, यहाँ मैं, श्रद्धेय शौनक जी को अभिवादन करते हुए उनसे उऋण न होने की हार्दिक कामना करता हूं।

मुख्य चुनाव आयुक्त भारत सरकार माननीय श्री आर० के० त्रिवेदी के प्रति हम अत्यन्त विनम्र भाव से कृतज्ञता अर्पित करते हैं जिन्होंने अपने महत्वपूर्ण व्यस्त समय से कुछ क्षण निकाल कर 'पं० बाबूलाल मिश्र अभिनन्दन-ग्रन्थ' की सार युक्त एवं विद्वतापूर्ण 'प्रस्तावना' लिख कर ग्रन्थ को अद्भुत गरिमा प्रदान की।

हम, न्यायमूर्ति श्री आर० एस० पाठक, न्यायाधीश, उच्चतम न्यायालय, नई दिल्ली के प्रति विशेष आभारी हैं, जिन्होंने अपनी राष्ट्रीय महत्व की व्यापक व्यस्तता के बाद भी हमारी प्रार्थना पर 'पं० बाबूलाल मिश्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ' के लिए दो शब्द ( Foreward ) लिखने की कृपा कर अभिनन्दन-समारोह में सम्मिलित होने की स्वीकृति प्रदान की है। हमें, विश्वास है कि न्यायमूर्ति श्री पाठक की इस आत्मीय अनुकम्पा से 'प्रज्ञात' एवं अभिनन्दन-समारोह को प्रेरणात्मक दिशाएं उपलब्ध होंगी।

माननीय न्यायमूर्ति श्री रामवृक्ष मिश्र, न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय नई दिल्ली की संग्रहणीय आत्मीयता, श्रद्धास्पद मानवता तथा आदरणीय विद्वता के प्रति हम, अपनी कृतज्ञता को निरन्तर जाग्रत एवं सक्रिय बनाये रखना अपना कर्तव्य अनुभव करते हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक

'पं० बाबूलाल मिश्र – अभिनन्दन – ग्रन्थ' का 'प्राक्कथन' समीक्षात्मक रूप में लिख कर, हमारे प्रयास–परिश्रम को सार्थकता प्रदान की है। हमें आशा है कि आदरणीय श्री मिश्र जी का प्राक्कथन 'ग्रन्थ-दर्पण' के रूप में, 'प्रज्ञात' के प्रकाशन को, प्रतिष्ठा के नये अध्याय उपलब्ध कराने में सहायक होगा।

## सम्पादक - मण्डल

मेरे लिए अकल्पनीय गौरव की बात है कि 'पं० बाबूलाल मिश्र–अभिनन्दन–ग्रन्थ' के माध्यम से मुझे, 'सम्पादक–मण्डल' के मूर्धन्य विद्वानों–डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम', डा० विश्वनाथ गौड़, प्रो० सिद्धिनाथ मिश्र, प्रो० हरिप्रकाश मुद्गल, श्री लल्लन प्रसाद व्यास, प्रो० ए० सी० सिन्हा, प्रो० एच० एन० मिश्र, प्राचार्य श्री ए०पी० गौड़ तथा डा० नरेशचन्द्र चतुर्वेदी का स्नेह-सम्पर्क तथा योग–सहयोग सौभाग्य–वश प्राप्त हुआ है।

सर्वप्रथम मैं, गोलोकवासी डा० विश्वनाथ गौड़ के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनकी स्वर्गवासी आत्मा के लिए प्रार्थना करता हूं। डा० गौड़ की विद्वता, कर्तव्यपरायणता और सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सेवाओं के प्रति सक्रिय तत्परता का स्वभाव किसी सान्ध्यकालीन नहीं वरन् दोपहर के सूर्य की भांति प्रकाशित है। मैं, स्वीकार करता हूं कि इस ग्रन्थ के सम्पादन में मुझे, उनसे सूर्यवंशी प्रकाश प्राप्त हुआ है। मुझमें, उनके प्रति कृतज्ञता का बोध, मेरे जीवन की अक्षय निधि है,

आचार्य डा० मुन्शी राम शर्मा 'सोम', मेरे जीवन के श्रद्धास्पद गुरु हैं–किसी औपचारिक भाव में नहीं वरन् व्यावहारिक भूमि पर, मेरी पात्रता, भले ही, उनके जीवन-कृतित्त्व का मात्र लक्षांश हो, लेकिन है। उनके चरित्र की सरलता से, गंभीर चिन्तन के जो कलात्मक परिणाम प्रकाशित होते हैं, वही, हमारी सृजनात्मक तथा जीवनात्मक क्रियाशीलता के मार्गदर्शक रहे हैं। इस अभिनन्दन-ग्रन्थ में जो बुद्धिमत्ता, विद्वता और शिशुवत् निर्दोषता है, वह 'आचार्यश्री' की कृपा का प्रसाद है। श्रद्धेय 'सोम' जी के प्रति मेरी आत्मगत कृतज्ञता, मेरे व्यक्ति-व्यक्तित्व की सम्पूर्ण पात्रता है। प्रणाम् परम्परा में अपने जीवन की एक कड़ी जोड़कर मैं निश्चिन्त हूं कि उनका आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहेगा।

आचार्य पं० सिद्धिनाथ मिश्र के पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व में जो शिक्षा है, वह संपदा ही नहीं है वरन् उससे, अधिक निरीक्षण, अधिक अनुभव, अधिक अध्ययन तथा अधिक चिन्तन कीं ऐसी वृत्ति-प्रवृत्ति विकसित होती है, जो सभी प्रकार के भावी अवसरों के प्रति आश्वस्त करती है, मेरा सौभाग्य, उनकी सहानुभूति एवं कृपा के दूधिया प्रकाश वाले संरक्षण में, सामर्थ्य की शक्तियां बटोरता रहा है। पं० बाबूलाल मिश्र–अभिनन्दन-ग्रन्थ किन्हीं विद्वतापूर्ण तर्कों–वितर्कों का परिणाम नहीं वरन् आचार्य मिश्र जी जैसे मनीषियों की प्रेरणा द्वारा रेखांकित, मानव–समाज के आत्मनिष्ठ आनन्द की आदर्शात्मक उपलब्धि है। इस ग्रन्थ की सामग्री के चयन, लेखन तथा संपादन में श्रद्धेय पं० सिद्धिनाथ मिश्र से जो अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण आदेश–निर्देश प्राप्त हुए हैं, उनकी प्रतिष्ठाएं, मेरी समस्त योग्यताओं-क्षमताओं की आधार हैं। यहां मैं उनके आत्मीय सौजन्य के प्रति गहरी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

संपादन कला एवं हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान श्री लल्लन प्रसाद व्यास अपनी अन्तर्राष्ट्रीय व्यस्तता के बाद भी पं बाबूलाल मिश्र-अभिनन्दन 'ग्रन्थ' के संपादन में, मुझे बहुत ही उपयोगी परामर्श तथा निर्देश प्रदान करते रहे हैं। उनकी उदार तथा सहयोगी वृत्ति-प्रवृत्ति के के कारण ही इस ग्रन्थ में कतिपय साहित्यिक मूल्यों की प्रतिष्ठा संभव हुई है। व्यास जी के प्रति मैं, समादर तथा आभार व्यक्त करता हूं।

प्रो० हरिप्रकाश मुद्गल तथा श्री ए० सी० सिन्हा कानपुर नगर के प्रख्यात अधिवक्ता और श्रद्धेय पंडित जी के आत्मीय घनिष्ठ हैं। इस अभिनन्दन-ग्रन्थ की जीवनात्मक उपयोगिता में जो विधि–विषयक वृद्धि हुई है, उसकी प्रेरणा-प्रवृत्ति तथा प्रतिष्ठा, इन्हीं महानुभावों द्वारा प्राप्त हुई है। अतः मैं, इन आदरणीय विधि–विशेषज्ञों को अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

प्रो० श्री एच० एन० मिश्र प्राचार्य श्री ए० पी० गौड़ तथा श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी साहित्य-मूल्यों के अप्रतिम पारखी हैं। इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के संपादन में, समय-समय पर मुझे, इन समादरणीय सज्जनों ने प्रोत्साहन तथा सहयोग प्रदान किया है। मैं इन विद्वान् पथ-प्रदर्शकों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूं।

## और अन्त में,

कृपया मुझे, पं० बाबूलाल मिश्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की स्वीकृति प्रदान कीजिए।

श्रद्धेय पं० बाबूलाल मिश्र का अभिनन्दन करने की आतुरता, बहुत से व्यक्तियों तथा बहुत–सी संस्थाओं में बहुत पहले से सक्रिय रूप में विद्यमान रही है। किन्तु पंडित जी ने, कभी भी और किसी को भी, ऐसा करने की स्वीकृति नहीं दी। मैं भी अन्य लोगों की तरह बहुत प्रारम्भ से, पं० बाबूलाल मिश्र के जीवन में आप्त-व्याप्त सम्पूर्ण ज्ञान–ग्रन्थ के प्रति एक श्रद्धावनत जिज्ञासु रहा हूं और मेरा सौभाग्य है कि अभिनन्दन-समिति के मनीषियों से आशीर्वाद प्राप्त करने के वाद मुझे पण्डित जी ने न केवल स्वीकृति प्रदान कर दी वरन् समयाभाव तथा अस्वस्थता के बाद भी, साक्षात्कार के माध्यम से उन्होंने अपने जीवन की चिरस्मरणीय घटनाओं के रहस्यों तथा जीवन–ध्येय के आधार –तथ्यों का ज्ञान भी दिया और महान् उद्देश्यों से अनुशासित अपने जीवन की सफलताओं से परिचित कराकर उन्हें प्रकाशित करने की अनुमति भी प्रदान की। उनकी इस वात्सल्यपूर्ण कृपा के प्रति आजन्म कृतज्ञ रहना मेरा प्रिय अभीष्ट है।

मैं, उन सभी विद्वान् सज्जनों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने, अपनी व्यस्तता के बाद भी मेरे अनुरोध को कृपापूर्वक स्वीकार कर श्रद्धेय पंडित जी के व्यक्तित्व-कृतित्व से सम्बन्धित संस्मरण, शुभ-संदेश तथा मौलिक आलेख प्रकाशनार्थ भेजकर अभिनन्दन-ग्रन्थ को सम्पूर्ण बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

इसी क्रम में, मैं एक निवेदन करना नहीं भूलूँगा, प्रस्तुत ग्रन्थ में मुद्रण सम्वन्धी अशुद्धियाँ चाहे 'प्रेस' की हों अथवा 'प्रूफ' की विद्वान् पाठक जन मुझे क्षमा करेंगे और मेरी ज्ञात–अज्ञात कठिनाईयों को ध्यान में रखते हुए सद्भावना पूर्वक ग्रन्थ का अवलोकन करने की कृपा करेंगे

**रामकुमार त्रिपाठी, एडवोकेट**

सम्पादक

# आभार

'पं० बाबू लाल मिश्र अभिनन्दन-ग्रन्थ' के प्रकाशन में परमपिता परमेश्वर की महती कृपा एवं भारतीय संस्कृति के जागरूक प्रहरी, युगद्रष्टा, तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ, प्रेममूर्ति श्री जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज का आशीर्वाद प्रत्यक्ष रूप में परिलक्षितहोता है। मानवीय शक्ति से परे इतना दुरूह कार्य दैवीशक्ति से ही पूर्ण हुआ है। इस पावन कार्य में सामान्य व्यक्तियों से लेकर विशेष विभूतियों तक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में जो अभिनन्दन समिति को सहयोग मिला है, मैं उन सभी महानुभावों के प्रति सहृदय कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए उल्लसित हो रहा हूं।

संरक्षक-मण्डल ने अभिनन्दन-समिति को संरक्षण के साथ-साथ जो प्रेरणा दी, उसी का प्रतिफल यह अभिनन्दन-ग्रन्थ हैं। उद्‌बोधन–समिति के, संस्थापक नैमिष व्यास–पीठाधीश्वर जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज ने, समय-समय पर अभिनन्दन समिति को, जो–प्रेरणा दी उसी के प्रकाश में, समिति ने कार्य संचालन करने का प्रयास किया।

राज्यपाल महोदय उत्तर–प्रदेश, श्री कुँवर बहादुर अस्थाना भू० पू० मुख्य न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद, न्यायमूर्ति त्रिवेणी सहाय मिश्र, इलाहावाद न्यायमूर्ति महेश प्रसाद मेहरोत्रा, इलाहावाद, न्यायमूर्ति श्री आर० यस० पाठक, उच्चतम न्यायालय, भू० पू० वित्त उपमंत्री श्रीमती सुशीला रोहतगी, भूतपूर्व कुलपति श्री नेनान इब्राहम, सरदार इन्दर सिंह, भू० पू० नगर प्रमुख कानपुर से ग्रन्थ प्रकाशन में जो प्रेरणा एवं सहयोग मिला उसके लिए अभिनन्दन समिति हृदय से आभार व्यक्त करती है।

शिक्षा जगत में महान् कार्य करने वाले, विधान–परिषद के सभापति पद को सुशोभित करने वाले, पं० बाबूलाल मिश्र के प्रति अगाध प्रेम रखने वाले स्वर्गीय वीरेन्द्र स्वरूप जी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूं जिनकी प्रेरणा सदैव हमें उपलब्ध होती रही। हर्ष का अनुभव करते हुए मैं आभार व्यक्त करता हूं परमविदुषी, स्नेह-स्वरूपा विश्वविद्यालय की माननीया कुलपति महोदया डा० हेमलता स्वरूप के प्रति, जिनका मार्गदर्शन एवं प्रेरणा सदैव प्राप्त होती रहती है।

मुझे महान् हर्ष का अनुभव होता है कि पं० बाबू–लाल मिश्र अभिनन्दन–ग्रन्थ के माध्यम से नाना प्रकार के कार्यो में दक्ष महानुभावों से सम्पर्क करके, अनुभवों से लाभ उठाने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। सर्व प्रथम लक्ष्मीपुत्र स्व० सर पदमपत सिंहानिया के प्रति अपनी भाव–भीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं कि जिन्होंने सर्व-प्रथम अध्यक्ष पद को स्वीकार कर हमारा उत्साह बढ़ाया। आज वे पार्थिव शरीर से हमारे मध्य विद्यमान न होकर भी अवजगत में हम लोगों का सहयोग पूर्णतः कर रहे हैं। सज्जनता की प्रति मूर्ति सच्चे राष्ट्र सेवक स्व०छैलविहारी 'कण्टक' एवं परम् उदार स्टील सम्राट स्व० श्री हरिकिशन सोमानी तथा स्व० परमानन्द पञ्जवानी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए गौरवान्वित हो रहा हूं कि इन विभूतियों ने उपाध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष एवं मन्त्री का पद सम्भालने का दायित्व अपने ऊपर लिया था।

कानपुर नगर में नैतिक व्यक्तियों में प्रमुख स्थान रखने वाले, अत्यन्त सज्जन, विधिवेत्ता अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष माननीय श्री बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह के प्रति मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं, क्योंकि उन्हीं के प्रयास एवं प्रेरणा से यह दुरूह कार्य पूर्ण हुआ है। अभिनन्दन समिति के उपाध्यक्ष पद को सुशोभित करने वाले उद्योग–पति डा० राजाराम जैपुरिया, डा० गौरहरि सिंहानियां, विधिवेत्ता श्री देवेन्द्र स्वरूप एडवोकेट एवं श्री राम बालक-

मिश्र एडवोकेट उपाध्यक्ष वारकौंसिल उत्तर-प्रदेश के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने में हर्षातिरेक का अनुभव हो रहा है कि इन विभूतियों की उदारता ने ही अभिनन्दन-ग्रन्थ को साकार रूप दिया। अभिनन्दन समिति के अर्थ-मंत्री श्री किशनलाल सूतवाले, मन्त्री श्री रामप्यारे गुप्त कोषाध्यक्ष श्री ओम् प्रकाश भार्गव एवं सहायक कोषाध्यक्ष श्री गणेशी लाल गुप्त का मैं विशेष आभारी हूं कि इन लोगों के स्तुत्य परिश्रम ने ही इस सराहनीय कार्य को पूर्ण किया। अभिनन्दन समिति के सभी सदस्यों एवं सहयोगियों का मैं हृदय से आभारी हूं कि इन सभी महानुभावों ने येनकेन प्रकारेण अपनी शक्ति सामर्थ्य भर कार्य की सफलता के लिए सहयोग किया। श्री सरयू प्रसाद-खण्डेलवाल, विधिवेत्ता श्री दयाशंकर मेहरोत्रा, श्री हरि-कृष्ण सेठ, श्री विश्वनाथ कपूर, श्री आदित्यशंकर वाजपेयी, श्रीराम प्रसाद गुप्त, श्री रामकृष्ण मिश्र, श्री प्रमोद दत्त-कौशिक आदि-आदि सज्जनों का मैं विशेष आभारी हूं कि इन व्यक्तियों ने शारीरिक, एवं आर्थिक, हर प्रकार का सहयोग प्रदान किया है।

लोकसेवा आयोग के भू० पू० सदस्य विद्ववरेण्य गुरुवर डा० ब्रजलाल वर्मा एवं परम विद्वान डा० जगदीश गुप्त का में अत्यन्त आभारी हूं कि इन मनीषियों ने अप्रत्यक्ष रूप से मेरे अन्तःकरण में पितृतुल्य पं० बाबूलाल मिश्र के प्रति मेरी श्रद्धा को निष्ठा रूप में परिवर्तित करने का पावन प्रयास किया।

इस पावन कार्य में जिन विभूतियों ने नाना प्रकार का सहयोग देकर मेरी भावना को प्रोत्साहित किया, उन सभी के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापन कर रहा हूं। इन महानुभावों में सर्व श्री जागेश्वर प्रसाद त्रिवेदी, वीतरागी श्री विश्वमित्र पूजन वानप्रस्थी, उत्साही कार्यकर्त्ता श्री रामेश्वर प्रसाद जैन, भक्त हृदय श्री वद्रीनारायण तिवारी, परम उत्साही अति कर्मठ श्री रामसेवक मिश्र गुरुसहायगंज, अत्यन्त सज्जन श्री वावूलाल पाठक पंकज, श्री चन्द्रभान-सिंह एडवोकेट तथा विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान् मनीषियों डा० रामप्रसाद त्रिपाठी वाराणसी, डा० वचनदेव कुमार रांची विश्वविद्यालय, श्री रमण शाण्डिल्य असम, डा० मोती लाल गुप्त जोधपुर, डा० विद्यानिवास मिश्र, आगरा, आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम', पं० सिद्धिनाथ मिश्र कानपुर, श्री रतीराम दीक्षित प्राचार्य सनातन-धर्म कालेज, डा० गुलाब दत्त तिवारी सनातन धर्म-कालेज, डा० प्रेमनारायण शुक्ल कानपुर, सात्त्विकता की मूर्ति डा० बाबूराम पाण्डेय भू० पू० संस्कृत विभागाध्यक्ष डी० ए० वी० कालेज, कानपुर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

जिनकी पवित्र भावना से सदा मेरा मनोबल बढ़ता रहा, एवं कार्य में निरन्तर प्रगति होती रही, कर्मठता एवं उत्साह के स्वरूप भक्तहृदय आदरणीय श्री रामशंकर-शुक्ल के प्रति यदि कृतज्ञता ज्ञापन न करूँ, तो मेरा आभार प्रदर्शन अधूरा ही रहेगा। उन्होंने जो शक्ति दी है, मार्ग दर्शन किया है, प्रेरणा दी है, उसी का फल है, इस कार्य का सकुशल सम्पन्न होना। यह अत्युक्ति न होगी कि अर्थ संकलन में वहुत बड़ा श्रेय पं० रामशंकर शुक्ल को है।

उद्बोधन समिति के सभी कार्यकर्त्ताओं को मैं धन्यवाद देता हूं, जिनके प्रगाढ़ परिश्रम के फलस्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ विद्वानों के हृदय एवं मस्तिष्क को आह्लादित कर सका। उत्साह एवं कर्मठता की प्रतिमूर्ति श्री राधाकृष्ण आजाद का मैं हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने मेरे कन्धे से कन्धा मिलाकर सदा सहयोग प्रदान किया।

जिनकी पुनीत भावना ने मन को उत्साहित, भावना को उद्वेलित, बुद्धि को गम्भीर बनाने वाला जो ग्रन्थ समाज के समक्ष प्रस्तुत किया, सज्जनता, सहनशीलता, विद्वत्ता एवं कर्मठता की प्रतिमूर्ति श्री रामकुमार-त्रिपाठी के प्रति मैं किन शब्दों में सस्नेह आभार व्यक्त करूं। अभिनन्दन ग्रन्थ का गुरुतर भार उन्हीं के सबल स्कन्धों पर रहा। अभिनन्दन ग्रन्थ को समाज एवं मनीषियों के समक्ष रखने का एकमात्र श्रेय श्री रामकुमार त्रिपाठी को ही है। उन्होंने अकथ परिश्रम करके अपनी प्रतिभा एवं गुरुता को छिपाने वाले पं० वाबूलाल मिश्र को ग्रन्थ के माध्यम से सामान्य व्यक्ति से लेकर मनीषियों तक के हृदय में स्थापित करने का प्रयास किया। सज्जनता को ऊपर उठाने का उनका यह पुनीत कार्य अत्यन्त ही प्रशंसनीय है। उनके प्रति आभार उनका यह सराहनीय कार्य ही प्रदर्शित करता है।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग या सहायता प्रदान की है। कार्य की व्यस्तताजन्य या प्रमादवश जो त्रुटि हुई हों कृपया उसे महानुभावजन क्षमा करने का कष्ट करेंगे, ऐसा मेरा विनीत निवेदन है।

**शौनक ब्रह्मचारी**

एम० ए०, दर्शनाचार्य, एल-एल० बी०

महामन्त्री-अभिनन्दन समिति

# शत–शत नमस्कृतियाँ

आदरास्पद विधिकल्प पण्डित बाबूलाल मिश्र के अभिनन्दन ग्रन्थ–सम्पादन में मेरा अभिधान पूर्व शिष्यद्वय श्री शौनक ब्रह्मचारी और रामकुमार जी के अनवरत आग्रह का सुपरिणमित चमत्कार है। वैसे, इन अभिनन्दनीय महानुभाव को मैं दूर से देखता और आत्मिक प्रणाम अर्पित करता रहा हूं। न्यायाधीशों तथा अधिवक्ताओं की 'अदा' तथा मुवक्किलों की मुकदमे की 'लत' के सच्चे दृश्य समुच्चय 'अदालत' की ओर मैं किशोर वय से ही आकृष्ट रहा हूं। मेरे पूज्य पितृ चरण प्रायः न्यायाधिकरणों में 'जूरी' अथवा 'एसेसर' बन कर बैंठते थे और मैं दिन भर श्रोता रूप में उन 'सुनवाइयों' का सुख सुलभ करता था। फिर तो डी० ए० वी० कालेज में 'लॉ प्रीवियस' के दौरान बहस और दलीलों की लीला का आनन्द लेने की आदत ही पड़ गयी। तभी से बाबू जगदम्बा प्रसाद निगम और पण्डित बाबूलाल जी की प्रतिभा से प्रत्यक्षतः प्रभावित हुआ। एम० ए० में शीर्षोन्मुखी सफलता से उसी वर्ष (१९४९) डी० ए० वी० कालेज में प्राध्यापक पद प्राप्ति के पश्चात् प्रवाह में परिवर्तन तो आया, परन्तु विधि वैशेषिकों की प्रतिष्ठा चित्त से नहीं उतरी।

मेरी प्रतीति है कि न्यायालय नरकद्वारों के प्रहरी हैं, गीता में इन त्रिविध द्वारों का उल्लेख है—काम, क्रोध, लोभ क्रमशः दीवानी, फौजदारी और माल की प्रणाली निर्दिष्ट करते हैं। मनुष्य के मनोरथों की यही 'प्रस्थान त्रयी' विधि प्राज्ञों की 'विचार वीथी है। व्यापक कामनाओं के अतिक्रमणों का अवरोध दीवानी में, आक्रामक क्रोध से सुरक्षा फौजदारी में और सर्वग्राही लोभ के चंगुल से उद्धार के लिये माल सीगे की शरण में कभी न कभी सब को आना पड़ता है। कानून जिसे अपराध कहता है. धर्म उसे पाप। ये एक ही सिक्के के दो पार्श्व हैं, इन षडर्थ वैरियों की स्वैरिता के नियन्त्रण में विधि साक्षरता एक न्यामत है, परन्तु वह कयामत भी हो जाती है, यदि अनिष्टोन्मुखी दिशा में पलट जाए। 'साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम्'–साक्षर पलटे तो राक्षस'! हाँ, यदि सरस है तो कोई भय नहीं, वह पलट कर भी सरस ही रहेगा।

स्याह को सफेद और सफेद को स्याह करने में वकील सबसे आगे हो सकते हैं शायद इसी से जनाब अकबर इलाहाबादी ने फ़रमाया था—"पैदा हुए वकील तो शैतान ने कहा! लो आज हम भी साहिबे औलाद हो गये!" लेकिन स्वयं शायर अकबर साहेब ने वकालत पढ़ी थी। उनके परम प्रशंसित 'गांधी जी' और 'मालवी महाराज' वकील ही थे। राष्ट्रीय संग्राम के सेनानी अधिकांश विधिवेत्ता रहे और स्वतन्त्र भारत का संविधान भी वकीलों का ही वरदान है। पं० बाबूलाल जी सरस विधि साक्षर है, वे सन्त मण्डल मण्डन भी हैं। न्यायाधिकरणों के साथ–साथ अध्यात्म–सेवी भी हैं। 'स्वभावोऽध्यात्म उच्यते' गीता के इन शब्दों में स्वभावतः आध्यात्मिक इन महानुभाव की अमृत मनीषा को मेरी शत शत नमस्कृतियां अर्पित हैं।

**सिद्धिनाथ मिश्र**
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

# Pt. Babu Lal ji Misra

Pandit ji is leading Kanpur Bar for the last about three decades but the reputation of his advocacy atonce broad and "convincing with a robust urgency of logic" has travelled beyond the confines of Kanpur Judgship.

If it can be said that the members of the legal profession are convicted to hard-labour, he has risen to it with a courage of conviction. He gives and gets respect from the courts and has raised the status and dignity of the profession.

The position he has come to occupy in the legal profession may seem to come easily to him but it is closely related to his inner disciplines. He enjoys a quietness of mind which reflects in his speech and his general attitude towards life. Congenial, urbane, soft spoken he is honoured in the walks of life he treads.

Shri Justice Untwalia has recently compared the judiciary to a watching tower above all the big structures of State from which it keeps a watch like a sentinel on the functions of those limbs. The concept however of "Judiciary - a sentinel" is a composite one as Judiciary includes Bar. The two are facts of the same coin. If the Bar was not to assist the members of the Bench in the formulation of their thought about the legal and factual aspects of the case, the results may well be disastrous, while Bar without Bench has no meaning. It is here that Pandit ji comes in. The Bar needs lawyers of his calibre if it is to recapture its pristine glory. He beacons to the integrity of the legal profession which we can only afford to break at our peril. Vigilence of the sentinel is not to be tampered with, else the independence of the nation is in jeopardy. Democratic freedoms are based on equality of man and that can be guaranteed by a fearless Bench and a strong Bar.

No account of Pandit ji's life is complete without reference however passing of his contribution to the cultural, social and educational life of the town. Inspite of the pressing demands of his professional work he has spared time and energy in the performance of his duties as public man associated in various capacities with a number of institutions. His role as a general Secretary of Brahma Vart Sanatan Dharma Mahamandal and in important position of the managing committees of the institutions governed by it is praiseworthy. His name in the religious and educational trusts and university bodies gave them a prestige and the public a confidence.

A Professor of Law par excellence he combined in himself the love of the subject and the love for the student which endeared him to student community.

A devoted husband, an affectionate patriarch, a forgetting opponent, a helpful senior, a valued colleague and with

"wisdom and goodness and
that rare union of
moral ardour with a
calm and settled mind,"

he is not only respected but loved.

Self-made but not self - rightious he "loams large in the consciousness of the generation" to which I belong.

I pray for his long life of health and happiness. May he continue to inspire us.

**Ganga Ram Talwar, Advocate**
**Kanpur**

# १. संस्मरण - पर्व

# अभिनन्दन

महादेव !

भारतीय धर्म तथा संस्कृति में तैंतीस कोटि देव हैं, किन्तु महादेव एक ही है, अन्य नहीं हैं. यद्यपि महादेव, संहारक शक्ति के स्वामी हैं, किंतु वही सर्व शक्तिमान सृष्टा भी हैं. वे सृष्टि के लिए पुरुष तथा प्रकृत्ति. दोनों परम शक्तियों से आप्त-व्याप्त हैं वही एक मात्र देव हैं, जो अर्द्धनारीश्वर हैं. उनमें ही तीसरे नेत्र से काम को क्षार कर रति को वरदान देने की अद्भुत शक्ति है. वही शिव हैं, शिव ही अनादि अनन्त तपस्वी हैं, किन्तु उनकी अखंड समाधि का ध्यान विन्दु, शिवा हैं, पार्वती के बिना उनकी तपस्या अधूरी है, किंतु सृष्टि-मर्यादा के लिए वे शिवा का भी त्याग करते हैं, वही, पुरुषोत्तम राम पर पार्वती के संदेह करते ही—यहितन सती भेंट अब नाहीं—, का संकल्प धारण करने वाले हैं, सृष्टि तथा उसके कल्याण के लिए गरल पान करने वाले वे अकेले समर्थ देवता हैं, देवता-समुदाय की रक्षा-सुरक्षा के लिए वही प्रलंयकारी तांडव नृत्य करते हैं, मानव-मुक्ति तथा धर्म-सृष्टि के लिए वही गंगा को पृथ्वी पर उतारने का भार स्वीकार करते हैं. वही आशुतोष हैं, किंतु अनन्त अपरिग्रही हैं, वही एक देवता हैं, जिनका परमप्रिय वाहन नन्दी है, जो भारतीय-जीवन का प्रथम पौरुष-प्रतीक है.

भारतीय धर्म-संस्कृति में पूजा-स्तुति का आधार शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं, विकेन्द्रीकरण है, जीवन शक्ति के तत्व-अस्तित्व का जितना ही अधिक विकेन्द्रीकरण होता है, उसकी पूजा-स्तुति का क्षेत्र उतना ही अधिक व्यापक होता है.

राजा दशरथ इसलिए अभिनन्दनीय नहीं हैं कि वे चक्रवर्ती राजा हैं वरन् इसलिए हैं कि निशाचरों का नाश करने के लिए वे अपने प्रिय पुत्रों को विश्वामित्र के साथ अरण्य-क्षेत्र में भेजते हैं, राम की पूजा-स्तुति इसलिए नहीं होती कि राजा दशरथ के पुत्र हैं वरन् इसलिए होती है कि वे दानवी-जीवन-शक्ति का विनाश करने के लिए दीर्घकाल तक बीहड वन-प्रांतरों में भटकते तथा कष्ट सहते हैं हनुमान की पूजा-स्तुति इसलिए नहीं होती कि सुग्रीव की सेना में उनके समान कोई वीर नहीं है वरन् इसलिए होती है कि लोक -कल्याण तथा धर्म-सृष्टि की स्थापना-रचना के लिए धर्म-युद्ध करने वाले राम के लिए जितनी समर्पणशील एवं तत्परतापूर्ण सेवा हनुमान ने की, वैसी किसी अन्य से नहीं बनी. लक्ष्मण की पूजा-स्तुति इसलिए नहीं होती कि वे राम के छोटे भाई हैं वरन् इस लिए होती है कि वे अनुष्ठानपूर्वक चौदह वर्ष की जागरण तपस्या कर रामराज्य की प्रतिष्ठा में राम के अनन्य सहयोगी हैं

पूजा-स्तुति तथा लोक-जीवन के लिए विचाराचरण के दूसरे चरण के साथ हम, महाभारत-युग में प्रवेश करते हैं. यहां श्रीकृष्ण हैं. जो लोक-जीवन की रक्षा-प्रतिष्ठा के लिए अत्याचारी कंस का नाश ही नहीं करते वरन् अगुलि पर गोवर्द्धन भी धारण करते हैं और महाभारत के युद्ध में धर्मराज को सहयोग संरक्षण प्रदान करते हैं. वे गोप-गोपिकाओं के साथ राम-लीलाएँ करने के साथ गायों की सेवा का आदर्श प्रतिष्ठित करते हैं श्रीकृष्ण, इसलिए भगवान नहीं हैं कि वे गीता-ज्ञान के उद्घोषक हैं वरन् इसलिए हैं कि वे, धर्म-युद्ध के सेनापति अर्जुन के कर्मयोगी सारथी हैं.

महाभारत में अनेक महान चरित्र अन्य भी हैं, जो भारतीय धरती-जीवन की धर्मशील संस्कृति के महान प्रतिष्ठापक एवं पोषक हैं और उनके प्रति समादर की भावना आज भी जीवित है. भीष्म पितामह हैं. भीष्म पितामह इसलिए पूज्य एवं आदर्श पुरुष नहीं हैं कि उनका शौर्य-सामर्थ्य क्षणमात्र में सृष्टि का नाश करने में सक्षम है वरन् इसलिए हैं कि धर्म-पक्ष की विजय के लिए उनमें, अपनी मृत्यु का रहस्य बता देने की नैतिकता मुखरित है. कर्ण, जीवन के लिए इसलिए आदरणीय-अभिनन्दनीय नहीं हैं कि वे, अर्जुन के समान अद्वितीय धनुर्धारी हैं वरन् इसलिए हैं कि वे, धर्म-युद्ध की विजय के लिए कवच-कुंडल दान देने की सहज वृत्ति-प्रवृत्ति के धनी हैं. पांच पांडवों में युधिष्ठर इसलिए श्रेष्ठ तथा पूज्य नहीं हैं कि वे सबसे बड़े भाई हैं वरन् इसलिए हैं कि वे, धर्म की प्रतिष्ठा के लिए सर्वस्व त्याग करने की सहजता से आप्त-ध्याप्त हैं.

भारतीय धर्म-संस्कृति का जीवनात्मक लक्ष्य, मोक्ष है. जीवन का संपूर्ण वैचारिक एवं व्यावहारिक उद्योग, मोक्ष की ओर ही उन्मुख है. इसीलिए भारतीय जीवन लोक-कल्याण, लोकोपकार तथा लोक-सुख-शांति के लिए साधनाशील स्तर पर प्रयासशील रहता है. इसी धरातल पर पूजा-स्तुति एवं अभिवादन-अभिनन्दन के तीसरे इतिहास चरण में प्रवेश के साथ हम, अनुभव करते हैं कि सिद्धार्थ इसलिए पूज्य एवं भगवान नहीं हैं कि वे, राजा-शुद्धोधन के पुत्र हैं वरन् इसलिए हैं कि उन्होंने राज-वैभव का त्यागकर लोक-कल्याण एवं जीवन-मोक्ष के लिए तपस्या कर सिद्धि प्राप्ति की और मानवीय समाज में अपेक्षाकृत अधिक सशक्त कल्याणकारी आस्थाओं का जागरण किया. प्रियदर्शी अशोक इसलिए महान् तथा अद्वितीय इतिहास-पुरुष नहीं हैं कि वे कलिंग विजय के साथ एक अजेय तथा चक्रवर्ती राजा हैं वरन् इसलिए हैं कि भगवान गौतम बुद्ध की धार्मिक वैचारिकता के प्रचार-प्रसार का अनुष्ठान धारण करने के साथ वे प्रत्येक मानव को अपना पुत्र मानते हुए लोक-कल्याण तथा उसकी श्रीसमृद्धि के लिए अभूतपूर्व प्रयास करते हैं. राजा हर्षवर्द्धन इसलिए इतिहास को स्मरण नहीं हैं कि वे एक सुयोग्य सम्राट हैं वरन् इसलिए हैं कि वे धर्माचरण के लिए समर्पित होकर प्रत्येक वर्ष तीर्थराज प्रयाग में अपना सर्वस्व दान करते हैं.

भारतीय धर्म संस्कृति के सारे वाङ्मय की रचना ही अभिवादन-अभिनन्दन तथा पूजा स्तुति के मूल-चरित्रों का चरित्र-चित्रण करने के रूप में हुई हैं. भारतीय साहित्य तथा कलाओं का लक्ष्य भी अन्य नहीं है. सबका आधार है-अध्यात्म और सबका लक्ष्य है— अनन्त ज्योतिर्मयता, दिव्यता एवं अनश्वरता की अनुभूति-उपलब्धि के लिए प्रेरित करना.

इतिहास साक्षी है कि भगवान बुद्ध श्रावस्ती में जेत-वन आये. वे, स्वासन पर विराजमान हैं. उनके बायीं ओर नीचे धरातल पर मौदगल्यायन तथा आनन्द बैठे हैं और समक्ष सहस्रों भिक्षु, सभी भगवान बुद्ध की ज्योतिर्मय मुखाकृति का शांत संदेश श्रवण कर रहे हैं.

तभी कोशल के राजा प्रसेनजित आते हैं. तथागत के समीप पहुँचकर श्रद्धावनत हो भगवान बुद्ध को प्रणाम् करते हैं. तथागत का संकेत स्वीकार कर समीप बैठ जाते हैं. राजा प्रसेनजित की मुखाकृति पर चिंता पुंज रेखांकित है. भगवान बुद्ध निदान अनुभव कर पूछते हैं— 'राजन ! यदि आप देखें कि अंगुलिमाल, भिक्षु रूप में यहां उपस्थिति है तो, आप उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

भगवान बुद्ध पर संदेह का कोई कारण राजा प्रसेनजित के पास नहीं है. हाँ, ऐसा सत्य उनकी कल्पना की पहुँच से परे अवश्य हैं, लेकिन भगवान बुद्ध के प्रश्न का उत्तर देने की वैचारिकता के सहारे जब वे सत्य में प्रवेश करते हैं, तब कहते हैं– 'भगवान ! मैं, उनका अभिनन्दन करूंगा, उनको अभिवादन करूंगा, उन्हें नमस्कार करूंगा उनकी स्तुति करूंगा और समादर के साथ उनकी सेवा कर उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करूंगा'.

तब भगवान् बुद्ध ने, समीप ही बैठे एक भिक्षु की ओर अंगुलि का संकेत कर कहा—'राजन् ! यह भिक्षु अंगुलि-माल हैं.'

राजा प्रसेनजित् के पास अब अविश्वास या विचार

का समय नहीं है. वे तत्काल खड़े होकर भिक्षु अंगुलिमाल को प्रणाम करते हैं, उसकी स्तुति करते हैं, उसको नमस्कार करते हैं और प्रार्थनापूर्वक कहते हैं– 'भिक्षु अंगुलिमाल, मैं, आपका सेवक हूं, मैं, आपका अनुचर हूं और मेरे राज्य का संपूर्ण कोष आपकी सुविधाओं के लिए समर्पित है. कृपा कर मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं किस प्रकार आपकी सेवा करूं'.

लेकिन अब अंगुलिमाल को किसी भी प्रकार की सेवा की आवश्यकता नहीं है. वह शांत रहता है. अज्ञेय रहता है, तब भगवान बुद्ध का संकेत पाकर राजा प्रसेनजित आकंठ आनन्दपूर्ण हो अपने स्थान पर बैठ जाते हैं.

अभिवादन—अभिनन्दन की वृत्ति–प्रवृत्ति जीवन के तत्व–सत्व से ही जीवन को उपलब्ध होती है. जिन पदार्थों से जीवन का निर्माण–कल्याण होता है, वे पदार्थ भी वंदनीय हैं. मनुष्य–संस्कृति, प्रातः जागरण के साथ पृथ्वी को प्रणाम करती है, सूर्य को नमस्कार करती है, समुद्र की स्तुति करती है, आकाश की ज्योतिर्मय अनन्तता को अभिवादन करती है और वायु की पूजा कर कृतज्ञता प्रकट करती है.

सार रूप में पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु ही सृष्टि के देवता तथा उसके निर्माण–कल्याण के पदार्थ हैं. ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की दिव्य शक्तियां इन्हीं पदार्थों में समाहित हैं. मनुष्य इन दिव्यतम देवोपम पदार्थों को इसलिए प्रणाम कर स्मरण करता है कि उसमें विद्यमान पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु की सृष्टिकारक शक्तियां जाग्रत हों, संकल्पशील हों, सक्रिय हों और लोक–जीवन का निर्माण–कल्याण कर अपनी उपस्थिति की सार्थकता प्रमाणित–प्रकाशित करें, सृष्टि–जीवन में सृष्टि के निर्माण-कल्याण की यह जीवन–साधना निरंतर चलती रहती है. इसी अनादि-अनन्त जीवन-साधना की काल-श्रृंखला से कभी-कभी इतिहास को ऐसे आत्म-खोजी महामानव प्राप्त होते हैं, जो तमाम मानव-समाज की जीवनात्मक चेतना को अपनी उपस्थिति से पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु की दिव्यताओं का बोध प्रदान करते हैं. तब तमाम मानव-समाज, ऐसे प्रकृति-पुरुष में सृष्टि का निर्माण-कल्याण करने वाली योग्यताओं-क्षमताओं का दर्शन करते हैं और तब तमाम मानव-समाज, ऐसे महामानव का अभिनन्दन करता है, उसको प्रणाम करता है, उसकी स्तुति करता है, उसको नमस्कार करता है और उन तमाम अक्षरों को पढ़ने की आकांक्षा करता है, जो उसके सर्व हितकारी कृतित्व के रूप में मानव-जीवन-काल की पाषाण-शिला पर जीवन-ज्ञान के प्रकाश बनकर उत्कीर्ण हुए हैं.

इसीलिए हम-मानव राम, कृष्ण, गौतम, महावीर, नानक आदि दिव्य देवोपम महामानवों के इतिहास एवं साहित्य का अध्ययन कर उनको प्रमाण करते हैं, क्योंकि सैकड़ों-हजारों वर्ष के बाद भी सृष्टि का निर्माण-कल्याण करने वाली उनकी जीवनात्मक शक्तियों का ग्रहणीय प्रकाश अब भी मानवीय समाज को लक्ष्य-पथ पर चलने के लिए प्रेरित करने में समर्थ है.

जीवन-धर्म एवं स्वभाव की श्रेष्ठता इस तत्व-महत्त्व पर आधारित है कि किसी के प्रति अभिवादन-भावना से स्वयं उसे जीवन की आत्म-शक्तियों का जागरण सुलभ होता है. विनम्रता के प्रकाशन की उपलब्धि, आत्म-शक्तियों के प्रकाश में उसके दिव्य गिरि-श्रृंगों पर आरोहण है, जीवन के गूढ़ तत्वों को खोजना तथा पाना है और तमाम वाह्य एवं भौतिक बंधन-बाधाओं के पार जाने की गतिशीलता है. अभिनन्दन-भावना, श्रद्धा तथा समादर-भावना के बिना जीवन पंगु है, गतिहीन है और बाहर अथवा भीतर की किसी भी प्राप्ति के लिए अयोग्य है.

इसी जीवनात्मक एवं सृष्टिकारक पृष्ठिभूमि के आग्रह-आधार पर पं० बाबूलाल मिश्र का अभिनन्दन करने एवं 'पं० बाबूलाल मिश्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ' के प्रकाशन का पुनीत दायित्व हमें प्राप्त हुआ है.

सन् १९२७ ई० में पं० बाबूलाल मिश्र ने कानपुर में वकालत प्रारंभ की थी सन् १९२९ ई० से लेकर पं० बाबूलाल मिश्र, सनातन धर्म कालेज कानपुर के विधि-विभाग में ग्यारह वर्षों तक प्राध्यापक तथा तेइस वर्षों तक विधि विभागाध्यक्ष थे. इसी अवधि में वे, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा फेकेल्टी आफ ला के डीन भी नियुक्त हुए और उत्तर-प्रदेश बार-कौंसिल के सदस्य तथा अध्यक्ष

भी निर्वाचित हुए. स्पष्ट है कि सन् १९२९ ई० से सन् १९६४ ई० तक के पैंतीस वर्षों की अवधि में प्रदेश की महानगरी कानपुर में विधि-शिक्षण-प्रशिक्षण के माध्यम से जिन लाखों योग्यतम अभिभापकों तथा विधि-विशेषज्ञों का निर्माण हुआ, उसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष श्रेय प०बाबूलाल मिश्र को ही है, चरित्र-निर्माणकी गुरु-परम्परा में मानव-समाज के इन हजारों विशिष्ट लोगों की अनन्त अथाह आत्म-श्रद्धा पं० बाबूलाल मिश्र के प्रति आज भी सुरक्षित है और उनका अभिनन्दन करने के साथ उनकी स्तुति करने के लिए आतुर हैं.

पं० बाबूलाल मिश्र के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनका सर्वप्रिय विराट व्यक्तित्व, संस्थाओं का सुयोग्य संचालक-सरक्षक है इन पक्तियों को लिखते समय तक भी पं० बाबूलाल मिश्र. एक दर्जन से अधिक ऐसी सामाजिक, शैक्षिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रतिष्ठित अध्यक्ष हैं जिनसे सृष्टि-जीवन के ज्ञान-विज्ञान का लाभ ग्रहण करने वालों की सख्या करोड़ों तक पहुंचती है, जो लोक-सृष्टि की शांति-समृद्धि के इतिहास में अपने दायित्वपूर्ण कृतित्व से नये-नये अध्याय लिख रहे हैं स्पष्ट है कि पं० बाबूलाल-मिश्र का व्यक्ति-व्यक्तित्व एक संपूर्ण मानव-पीढ़ी के निर्माण-कल्याण की यशस्वी-मनस्वी सेवा करने की गौरव-गरिमा से युक्त है और परिणाम-स्वरूप, लोक-जीवन के व्यापक समाज में प० बाबूलाल मिश्र के प्रति गहरी अभिनन्दन-भावना की आशा-आकांक्षा विद्यमान है.

पं० बाबूलाल मिश्र का सान्निध्य प्रमाणित करता है कि उनके व्यक्तित्व में पारस-तत्व है जो, अपने स्पर्श से व्यक्ति-व्यक्ति के अदृश्य आत्म-कंचन को उनकी जीवनात्मक व्यावहारिकता के लिए सुलभ कर देता है, उनके संवाद-संभाषण में ईश्वरीय सत्य तथा शक्तियों का स्वर्णिम प्रवाह-प्रकाश है जो, व्यक्ति-व्यक्ति में अपनी विभूति की अनुभूति जाग्रत करता है और उनका आत्मलीन दर्शन, व्यक्ति-व्यक्ति में भारतीय धर्म-संस्कृति की मूल मोक्ष-धारा का वैचारिक कल-कल निनाद मुखरित करता है. इसीलिए हममें से प्रत्येक के हृदय में उनका, अभिनन्दन करने की आकांक्षा है, उन्हें प्रणाम् करने की श्रद्धा है और उनकी स्तुति करने की कामना है.

पं० बाबूलाल मिश्र की हिमाच्छादित उच्च शिखरीय यशस्वी-मनस्वी मानव-सेवा एवं उसके प्रति व्यापक लोक-जीवन की आत्मा में जाग्रत श्रद्धा-भावना की तुलना में यह अभिनन्दन-ग्रन्थ एक अपर्याप्त तथा नगण्य प्रयास है, किंतु सृष्टि के सर्वोच्च सत्य तथा उसके सृष्टा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यह छोटा-सा प्रयास भी इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसकी प्रेरणा से मानव-समाज के आन्तरिक जीवन को सुसंस्कार प्राप्त होंगे, आत्मा की ऊर्ध्वगामी शक्तियों का जागरण होगा और पूर्ण एवं विशुद्ध बनने के लिए उनके समक्ष नये-नये पथ आलोकित होंगे.

इस अभिनन्दन-ग्रन्थ की अदृश्य नींव में जिन अनाम साधक शिल्पियों के जीवन-काल, ईस्पात की सुदृढ़ता के संकल्प संजाकर ग्रन्थ-रचना-धर्म को अर्पित-समर्पित हुए हैं, उनके प्रति किसी प्रकार की सहज शाब्दिक कृतज्ञता प्रकट कर ऋण-मुक्त होना असंभव है. उनके प्रति हमारे हृदय मे गहरी श्रद्धा रही है, आज भी है और भविष्य में भी रहेगी, क्योंकि वही, हमारी जीवन-शक्ति हैं. हमें विश्वास है कि अभिनन्दन-भावना, प्रेम, विनम्रता, आस्था, भक्ति तथा श्रद्धा के सम्मिलित धरातल पर रची गयी यह अभिनन्दन कृति, वर्तमान तथा भावी मानव-पीढ़ी को मानवीय जीवनका धर्म तथा संस्कार प्रदान करती रहेगी.

**सम्पादकीय**

# पं० बाबूलाल मिश्र का जीवन-परिचय

सम्पादक

## जन्म

पं० बाबूलाल मिश्र का जन्म उत्तर प्रदेश के गोंडा शहर में ३ दिसम्बर, सन् १९०३ ई० को श्री पं०श्रीकान्त-नारायण मिश्र के पुत्र के रूप में हुआ। श्री पं० श्रीकान्त-नारायण मिश्र के पिता श्री पं० बदरीनारायण मिश्र तत्कालीन गवर्नमेन्ट स्कूल के हेडमास्टर तथा एक प्रतिष्ठित नागरिक थे। पं० बाबूलाल मिश्र की माता का नाम श्रीमती मुल्लो देवी था। बालक बाबूलाल की अवस्था अभी केवल डेढ़ वर्ष की थी कि उनके बाबा का देहावसान हो गया। परिवार की इस प्रतिष्ठित मृत्यु का दुःख अभी भूला-विसरा भी न था कि केवल ६ माह बाद बालक बाबूलाल के पिता जी भी स्वर्गवासी हो गये और इस प्रकार बालक बाबूलाल के पालन-पोषण का सम्पूर्ण भार उनकी विधवा दादी तथा विधवा मां पर आ पड़ा।

पं० बाबूलाल मिश्र की ननिहाल कानपुर में थी। उनके नाना घुमनी मोहाल में रहते थे और उनकी एक व्यावसायिक फर्म श्रीराधाकृष्ण भैरव प्रसाद नाम की उस समय नयागंज में थी। पं० बाबूलाल मिश्र की बुआ भी कानपुर में ब्याही थीं। पं० बाबूलाल मिश्र के फूफा पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र मनीरामबगिया में रहते थे। वे गुरुनारायण खत्री मिडिल स्कूल में प्रधानाध्यापक थे। पं० बाबूलाल मिश्र के पिता की मृत्यु के उपरान्त पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र ही उनके निकटतम शुभचिन्तक तथा हितैषी थे। इसी समय पं० बाबूलाल मिश्र की दादी को उनके बाबा के बीमा का रुपया प्राप्त हुआ। अतः पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के विशेष आग्रह तथा सहयोग से पं० बाबूलाल मिश्र की दादी ने कानपुर के माहेश्वरी मुहाल में पं० बाबूलाल मिश्र के नाम एक मकान खरीद लिया और इस प्रकार पं० बाबूलाल मिश्र अपनी दादी तथा मां के साथ कानपुर में रहने लगे।

## शिक्षा

पं० बाबूलाल मिश्र की शिक्षा उनके फूफा श्री पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के संरक्षण में प्रारम्भ हुई। लेकिन शिक्षा की दृष्टि से पं० बाबूलाल मिश्र अभी ककहरा ही सीख रहे थे और अभी उनकी अवस्था केवल सात वर्ष की ही थी कि उनकी माता जी का देहान्त हो गया। अतः पं० बाबूलाल मिश्र की शिक्षा-दीक्षा का सारा भार पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र पर आ पड़ा। गुरुनारायण खत्री मिडिल स्कूल से सन् १९१९ में पं० बाबूलाल मिश्र ने कक्षा आठ की परीक्षा अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण की।

घर में वृद्धा दादी के अतिरिक्त अन्य कोई पं० बाबूलाल मिश्र की देखभाल करने वाला न था। अतः पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र ने इसी वर्ष केवल सोलह वर्ष की अवस्था में पं० बाबूलाल मिश्र का विवाह लखनऊ के रानीकटरा मुहल्ले के निवासी पं० श्यामलाल त्रिपाठी की पुत्री कुमारी गायत्री देवी के साथ कर दिया। कु० गायत्री देवी के पिता पं० श्यामलाल त्रिपाठी का देहावसान युवावस्था में ही हो गया था। अतः कुमारी गायत्री देवी का पालन-पोषण तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा

उनके चाचाश्री पं०राघेलाल त्रिपाठी की देखरेख में हुई थी।

पी०पी०एन०स्कूल से उन्होंने सन् १९२१ में हाई स्कूल (School Leaving Certificate) की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी समय उन्हें सर्वोत्तम विद्यार्थी एवं चरित्रवान होने का पुरस्कार भी मिला। हाई स्कूल परीक्षा के बाद पं० बाबूलाल मिश्र को डी० ए० वी० कालेज में भर्त्ती कराया गया और चार वर्ष के अध्ययन के उपरान्त सन् १९२५ में पं० बाबूलाल मिश्र ने डी० ए० वी० कालेज से बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। यह बी० ए० की परीक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा आगरा विश्वविद्यालय के पूर्व अन्तिम परीक्षा थी।

सन् १९२० से सन् १९२५ तक का समय भारतीय इतिहास में, राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए एक महत्वपूर्ण भूमिका तैयार करने का समय है। इसी समय कानपुर में स्व० गणेश शंकर विद्यार्थी के युवा नेतृत्व में राष्ट्रीय कांग्रेस का स्वदेशी आचरण, विद्यालयों तथा विद्यार्थियों में जीवन ग्रहण कर रहा था। राष्ट्रीय स्वदेशी आन्दोलन अपनी युवास्था में था और देश के अनेक शीर्षस्थ नेता प्रायः कानपुर आते रहते थे। इन नेताओं में जिस एक विशिष्ट नेता का प्रभाव पं० बाबूलाल मिश्र पर सर्वाधिक पड़ा, वे थे पं० मदनमोहन मालवीय। मालवीय जी की सांस्कृतिक तथा वैदिक वेशभूषा तथा प्रभावपूर्ण वाग्मिता ने ही पं० बाबूलाल मिश्र के विद्यार्थी–हृदय में राष्ट्रीयता तथा शिक्षा की विशेष अभिरुचि पैदा की थी। इसी प्रभाव के फलस्वरूप पं० बाबूलाल मिश्र ने कानपुर के स्वदेशी आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था और अपनी मेधा तथा नेतृत्व-क्षमता के कारण जल्दी ही गणेश शंकर-विद्यार्थी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री 'शिवनारायण मिश्र वैद्य आदि प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये थे।

लेकिन शिक्षा के प्रति अपनी विशेष अभिरुचि एवं लगन के कारण, राष्ट्रीय आन्दोलनों का उत्साहपूर्ण वातावरण पं० बाबूलाल मिश्र को पूरी तरह अपना नहीं बना सका। डी० ए० वी० कालेज से बी०ए० की उपाधि प्राप्त करने के बाद पं० बाबूलाल मिश्र विधि-विषय की विशेष शिक्षा प्राप्त करने के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भर्त्ती हुए और दो वर्ष के अध्ययन के बाद सन् १९२७ में उन्होंने एल–एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस परीक्षा में पं० बाबूलाल मिश्र को विश्वविद्यालय में तृतीय स्थान प्राप्त हुआ था।

## वकालत तथा सामाजिक सेवाएँ

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एल-एल० बी० की उपाधि प्राप्त करने के बाद पं० बाबूलाल मिश्र कानपुर आ गये। अब वकालत प्रारम्भ करने के क्षेत्र में उन्हें एक सुयोग्य वकील के मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। सौभाग्य से पं० बाबूलाल मिश्र की इच्छानुसार उन्हें उस समय के प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय वकील बाबू-ब्रजनारायण मेहरोत्रा का संरक्षण तथा मार्गदर्शन शीघ्र ही प्राप्त हो गया। बाबू ब्रजनारायण मेहरोत्रा, पं० बाबूलाल मिश्र की योग्यता तथा लगन से अत्यधिक प्रभावित थे। अतः वे, पं० बाबूलाल मिश्र को बहुत ही आत्मीय तथा रचनात्मक सहयोग प्रदान करते थे। परिणामस्वरूप एक-दो वर्षों में ही पं० बाबूलाल मिश्र की प्रगति पर्याप्त लोकप्रिय हो गयी। वे वकालत के धन्धे के अतिरिक्त नागरिक कार्यों तथा अयोजनों में भी सक्रिय भाग लेते थे। अतः प्रगति तथा प्रतिभा के आधार पर वे शीघ्र ही नागरिक समाज के युवा प्रतिनिधि बन गये।

सन् १९२९ में जब नगर में म्युनिसिपल कमिश्नरों का निर्वाचन हुआ, तब अपनी सामाजिक सेवाओं के लोकप्रिय मूल्यों के कारण वे वार्ड नं० १३ से म्युनिसिपल कमिश्नर निर्विरोध चुने गये।

सन् १९२९ की जुलाई में पं० बाबूलाल मिश्र की विधि विषयक योग्यता की एक उल्लेखनीय उपलब्धि उस समय साकार हुई, जब सनातन धर्म कालेज के विधि-विभाग में उन्हें अध्यापक नियुक्त किया गया।

सन् १९२८ के साथ कानपुर में वकालत प्रारम्भ करने के समय से ही पं० बाबूलाल मिश्र का सामाजिक सम्पर्क-क्षेत्र विकसित होने लगा था। उनकी राजनैतिक विचारधारा का विकास भी इसी काल में हुआ। वे तत्कालीन कांग्रेस कार्यक्रमों में भाग लेने लगे। उनकी योग्यता तथा क्षमता शनैः शनैः निर्विवाद तथा लोकप्रिय

हो चुकी थी और जन-जीवन के एक समाज पर उनकी सेवाओं के मूल्य, नेतृत्व के प्रति विश्वास तक प्रतिष्ठित हो गये थे। इसीलिए सन् १९३२ में जब म्युनिसिपल कमिश्नरों का निर्वाचन हुआ, तब कांग्रेस ने उन्हें ही प्रत्याशी होने का समर्थन किया और वे भारी बहुमत से विजयी हुए।

श्री रायबहादुर बाबू विक्रमाजीत सिंह का, जो उस समय कानपुर बार एसोसियेशन के प्रेसीडेण्ट थे और एक उच्चकोटि के व्यक्ति थे तथा बाबू मंगली प्रसाद एडवोकेट का संरक्षण भी उन्हें प्राप्त था।

पं० बाबूलाल मिश्र की सामाजिक तथा शैक्षिक सेवाओं की लोकप्रियता का प्रभाव उनकी वकालत पर भी पड़ा। वकालत के क्षेत्र में वे पहले से ही एक अत्यधिक व्यस्त तथा सफल एडवोकेट माने जाते थे। वे जिन अभियोगों को अपने हाथ में लेते, उनकी पैरवी बड़े मनोयोग एवं परिश्रम के साथ करते थे। उनकी अतिरिक्त योग्यता का प्रभाव सभी स्तरों के न्यायाधीशों पर भी शीघ्र ही पड़ा और वे, पंडित बाबूलाल मिश्र के तर्कों को बड़े ध्यान से सुनने लगे। अतः पं०बाबूलाल मिश्र को बड़े महत्वपूर्ण मुकदमें पैरवी के लिए प्राप्त होने लगे और इससे उनकी आय में भारी वृद्धि हुई। उस समय आज की भांति आयकर विभाग का इतना व्यापक प्रसार न था। किन्तु पं० बाबूलाल मिश्र आयकर के नियमों से पूर्ण भिज्ञ थे। अतः जब उन्होंने अनुभव किया कि मेरी आय, आयकर अदा करने योग्य हो गयी है, तब उन्होंने स्वयं आयकर विभाग को आय-कर अदा करना शुरू कर दिया।

सन् १९४१ में उन्हें विधि-विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया और १९५५ में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा वे फेकेल्टी आफ ला के डीन नियुक्त हुए। सन् १९५८ में पं० बाबूलाल मिश्र कानपुर बार एसोसिएशन के मंत्र निर्वाचित हुए। इस पद पर वे दस साल तक बने रहे। वे दो बार एसोसिएशन के अध्यक्ष भी चुने गये। सन् १९५८ में ही वे बार कौंसिल उत्तर प्रदेश के सदस्य भी निर्वाचित हुए और लगभग सोलह वर्ष तक कौंसिल के सदस्य बने रहे। बीच में सन् १९६९ में तीन वर्ष के लिए बार कौंसिल उत्तर प्रदेश के उपाध्यक्ष भी चुने गये।

सन् १९६० में जब कानपुर नगर महापालिका की स्थापना हुई और नगरपालिका सदस्यों का निर्वाचन हुआ, तब पं० बाबूलाल मिश्र, नगरमहापालिका के वरिष्ठ सदस्य (Elderman) निर्वाचित हुए और इसी वर्ष उन्होंने, उत्तर प्रदेश लायर्स कॉंफ्रेंस के गोरखपुर अधिवेशन की अध्यक्षता भी की। सन् १९६३ में इलाहाबाद हाई कोर्ट के न्यायाधीश पद का आफर मिला किन्तु किन्हीं कारणोंवश उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया।

सन् १९६४ में पं० बाबूलाल मिश्र ने सनातन धर्म कालेज के विधि विभाग से अवकाश प्राप्त किया। किन्तु इस अवकाश-प्राप्ति के साथ ही कानपुर की अनेक शैक्षिक, सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के संरक्षण तथा मार्ग-दर्शन का भार उन्हें स्वीकार करना पड़ा। सभी संस्थाओं से पं० बाबूलाल मिश्र के सम्बन्धों का काल-विवरण देना सम्भव नहीं है। संक्षिप्त में कुछ प्रमुख संस्थाओं का सम्बन्ध-विवरण ही यहाँ देना पर्याप्त है।

सन् १९७१ में पं० बाबूलाल मिश्र कानपुर विश्वविद्यालय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य मनोनीत किये गये थे। इस समय वे एस० डी० कालेज की कार्यकारिणी के अध्यक्ष, आर्यनगर इन्टर कालेज की कार्यकारिणी के अध्यक्ष, सनातन धर्म विद्यालय के अध्यक्ष, सनातन धर्म औषधालय की कार्यकारिणी के अध्यक्ष, ब्रह्मावर्त सनातन धर्म महामण्डल की कार्यकारिणी के प्रथम मंत्री हैं, उत्तर प्रदेश बार कौंसिल की एजूकेशन कमेटी के अध्यक्ष वे रह चुके हैं तथा कानपुर की अखिल भारतीय प्रतिष्ठित सामाजिक संस्था उद्‌बोधन-समिति के अध्यक्ष हैं। लक्ष्मण दास अग्रवाल-ट्रस्ट के अध्यक्ष, रामशंकर मिश्र-ट्रस्ट के प्रबन्धक एवं अनेक ट्रस्टों से सम्बन्धित हैं। कानपुर हिन्दू अनाथालय कमेटी के अध्यक्ष, अन्ध, मूक, बधिर विद्यालय कमेटी के अध्यक्ष तथा अन्य अनेक शिक्षण एवं सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित हैं। हिन्दुस्तान कार्मशियल बैंक के निदेशक एवं अन्य अनेक कम्पनियों के निदेशक पद पर हैं। कानपुर रोटरी क्लब के सीनियर मेम्बर भी हैं।

# पं० बाबूलाल मिश्र के जीवनानुभव

## (साक्षात्कार के आधार पर)

रामकुमार त्रिपाठी

### मैं वकील बनना चाहता हूं !

'उस समय मैंने कक्षा आठ की परीक्षा उत्तीर्ण की थी, जब पं० पृथ्वीनाथ जी का निधन हुआ। पृथ्वीनाथ जी बदुत वड़े राष्ट्रभक्त तथा समाजसेवी तो थे ही, किन्तु उससे भी वड़े वे वकील थे। उनकी वकालत प्रदेश भर में मशहूर थीं। पं० मोतीलाल नेहरू तथा कैलाशनाथ काटजू जैसे लोग भी पं० पृथ्वीनाथ जी की देखरेख में वकालत सीखते थे। पृथ्वीनाथ जी के निधन पर उनकी शवयात्रा बड़े घूमधाम से निकाली गयी। हजारों लोग उनकी शव-यात्रा में सम्मिलित हुए थे। उनका शव, अर्थी पर एक विशेष कुर्सी पर इस प्रकार बिठा दिया गया था, जिससे सभी लोग उनके अन्तिम दर्शन कर सकें। उनकी शव-यात्रा में इतनी भीड़ थी कि भीड़-भरी सड़कों से चलकर उनकी शव-यात्रा का दर्शन करना सम्भव न था।

इसीलिए मेरी दादी ने एक उपाय खोजा। दादी न जाने क्यों शव-यात्रा का दृश्य मुझे दिखाना चाहती थीं। उस समय मेरे एक रिश्तेदार का घर चौक में था। दादी मुझे लिवाकर चौक गयीं और शव-यात्रा दिखाने के लिए रिश्तेदार के मकान की छत तर ले गयीं।

उस उम्र में मैं पं० पृथ्वीनाथ जी को एक वकील के रूप में ही जानता था। पं० पृथ्वीनाथ जी की विशाल शव-यात्रा को देखकर मेरे किशोर मन पर यह प्रभाव पड़ा कि समाज-जीवन का व्यापक समादर प्राप्त करने के लिए वकील बनना आवश्यक है और यही वे क्षण थे, जिनमें मैंने अपने मन में यह संकल्प लिया था कि मैं वकील ही वनूंगा।

इसी उपर्युक्त संकल्प के कारण दशवीं कक्षा में पढ़ते समय जव हेडमास्टर देवीप्रसाद खत्री ने मुझसे पूछा—जीवन में क्या बनना चाहते हो ?' तो मैंने तुरन्त उत्तर दिया था—'मैं वकील बनना चाहता हूं।

### मैं दादी जी की देन हूं !

पं० बावूलाल मिश्र को अपने माता-पिता की सुधि उल्लेखनीय रूप में नहीं है—केवल छः माह की अवस्था में पिता तथा सात वर्ष की अवस्था में माता का निधन हो गया था। माता-पिता के वाद जिस व्यक्ति से पंडित जी को सभी प्रकार का स्नेह-संस्कार, ममता, वात्सल्य तथा प्यार प्राप्त हुआ, वे उनकी दादी थीं। दादी जी, पंडित जी को पुत्रवत् मानती थीं और पंडित जी की किशोरावस्था में महान जीवन के सभी गुण-बीज बोने की साधना में लीन थीं। पंडित जी एक महामानव की प्रतिष्ठा प्राप्त करें; इस प्रयोजन में दादी जी अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए तत्पर रहती थीं। कदाचित् दादी जी एकमात्र ऐसी प्रतीक जीवन हैं, जिनकी स्मृति में आज भी पं० बावूलाल मिश्र को ईश्वरीय छवि, उसकी शक्ति तथा उसकी कृपा के दर्शन होते हैं। इसीलिए जव मैंने, दादी जी की स्मृतियों को कुरेदने का प्रयास किया, तो पंडित जी की आंखों में आंसू छलछला आये। देखकर मैं स्तब्ध रह गया।

आगे सहज होने पर दादी जी के सम्बन्ध में पंडित जी ने कहा—"मैं, जो कुछ भी हूं, वह दादी जी की ही देन है, मेरा सारा-का-सारा निर्माण उन्होंने ही किया है। उनके कथन को मैं अपने लिए ईश्वर के वचन मानता था। वे बड़ी धार्मिक थीं। नित्य गंगा स्नान करती थीं। गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ नियमित रूप से करती थीं। उनका एक बहुत कड़ा आदेश यह था कि कठिन-से-कठिन परिस्थिति में असत्य नहीं बोलना। उनके इस आदेश का पालन मैं सावधानी पूर्वक करता था। वे, मुझे प्यार करती थीं।"

दादी जी ने आपका निर्माण त्यागपूर्वक किया, इसका कोई प्रामाणिक तथ्य आपके स्मरण में है?

मेरे उपर्युक्त प्रश्न पर पं० बाबूलाल मिश्र ने कहा—"स्त्रियों को सम्पति का मोह बहुत होता। डी० ए० वी० कालेज से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद एल-एल० बी० में अध्ययन की सुविधा कानपुर में न थी। यह सन् १९२५ ई० की बात है। एल-एल० बी० की पढ़ाई उस समय केवल इलाहाबाद में होती थी, इलाहाबाद जाकर वहां रहने तथा पढ़ने की आकांक्षा के समक्ष आर्थिक कठिनाई एक बाधा की तरह सामने थी। इस जटिल समस्या का समाधान दादी जी ने प्रसन्नता-पूर्वक खोजा और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश दिलाने के बाद वे स्वयं भी मेरे साथ इलाहाबाद में रहने लगीं। उस समय फैजाबाद में दादी जी की कुछ सम्पत्ति थी। मेरी पढ़ाई की समस्या का समाधान खोजने के सिलसिले में दादी जी ने फैजाबाद की अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाली और सारा प्राप्त धन मेरी शिक्षा पर व्यय कर दिया।"

## मेरे अध्यापक मेरे आदर्श

'छात्र-जीवन में किन-किन अध्यापकों ने आपको प्रभावित किया?'

मेरे उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में पं० बाबूलाल मिश्र ने बताया—'सबसे पहले अध्यापक के रूप में मुझे अपने फूफा पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र की याद है। वे गुरुनारायण खत्री मिडिल स्कूल में प्रधानाध्यापक थे। एक प्रकार से वे मेरे संरक्षक भी थे, मेरा विवाह भी फूफा जी ने ही किया था। वे अनुशासन प्रिय थे किंतु अपने छात्रों को पुत्रवत् मानते थे। गरीब विद्यार्थियों की सहायता करते थे।'

फूफा जी के बाद नारायणप्रसाद आरोड़ा भी मेरे छात्र-जीवन के उल्लेखनीय अध्यापक हैं। यद्यपि वे कक्षा तीन में ही मेरे अध्यापक थे, किन्तु अपनी सामाजिक तथा राजनैतिक सक्रियता के कारण उनमें व्यापक लोकप्रियता प्रतिष्ठित हो चुकी थी और हमारे बाल मन में उनके प्रति अनुकरणीय श्रद्धा पैदा हो गयी थी।'

छात्र-जीवन में ही पं० बाबूलाल मिश्र का स्नेह सम्बन्ध विद्वान् शिक्षा-शास्त्रियों तथा देश-भक्तों से हो गया था। चौथे तथा पाचवे दशक के सर्वाधिक लोकप्रिय तथा विद्वान् आचार्य हीरालाल खन्ना की निकटता तीसरे दशक में ही पंडित जी को प्राप्त थी। हीरालाल जी खन्ना के निवास स्थान पर ही पंडित जी ने महामना मदन मोहन मालवीय के दर्शन किये थे, जिनका सर्वाधिक प्रभाव पंडित जी पर पड़ा। मालवीय जी की साँस्कृतिक वेशभूषा एव वैचारिकता ने पंडित जी को बहुत अधिक प्रभावित किया और उनको ही पंडित जी ने सम्पूर्ण रूप से अनुकरणीय महापुरुष अनुभव किया।

पं० बाबूलाल मिश्र ने स्वदेशी आन्दोलन के समय स्वयं सेवक के रूप में धरना, सत्याग्रहों में भाग लिया था। वे तब के बहुचर्चित हिन्दी दैनिक 'प्रताप' कार्यालय भी जाया करते थे, जहां पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' रहते एवं 'प्रताप' का संम्पादन करते थे। नवीन जी से, पंडित जी की पर्याप्त घनिष्ठता थी। 'प्रताप'—कार्यालय में ही पण्डित जी की, गणेश शंकर विद्यार्थी, कृष्णदत्त पालीवाल तथा माखनलाल चतुर्वेदी से भेंट होती थी।

विद्यार्थी जी, माखनलाल जी, पालीवाल जी तथा नवीन जी में से किसने सबसे अधिक आपको प्रभावित किया और क्यों? मेरे उपर्युक्त प्रश्न पर पंडित जी ने बताया— मेरी घनिष्ठता नवीन जी से थी। नवीन जी बेजोड़ व्यक्ति थे वे हिन्दी के समर्थ साहित्यकार तो थे ही लगनशील भी प्रथम कोटि के थे। यद्यपि उनके स्वभाव में उग्रता थी किन्तु उनका हृदय मक्खन की भांति कोमल था। वे अवढर दानी थे। उनके पास से कोई

खाली हाथ नहीं लौटता था। वे पूर्णतः निडर थे। उनके पास स्वभाव की अक्षय पूंजी थी।'

मदन मोहन मालवीय, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा नवीन जी के घनिष्ट सम्पर्क में आने के बाद भी गांधी जी द्वारा संचालित स्वतन्त्रता संग्राम के आन्दोलन ने आपको प्रभावित नहीं किया, मेरा प्रयोजन कि आपने उसमें सक्रिय भाग क्यों नहीं लिया ?

उत्तर में पंडित जी ने कहा गाँधी जी के आदर्शों तथा सिद्धान्तों से मैं पूरी तरह प्रभावित था। नवीन जी से घनिष्ट सम्बन्ध बनाने की पृष्ठभूमि में बीज-कारण, गाँधी जी से प्रभावित होना ही है। स्वदेशी-आन्दोलन में जो थोड़ा बहुत भाग लिया, उसका कारण भी गाँधीवाद के प्रति आकर्षण था। किन्तु बहुत आगे मैं नहीं बढ़ सका, जेल इसलिए नहीं गया कि दादी जी ने, मुझे चेतावनी दे दी थी- यदि तुम जेल जाओगे तो मैं प्राण दे दूँगी। मेरे लिए इस शर्त पर जेल जाना सम्भव न था। दादी जी का स्नेह, मेरे समक्ष गाँधीवाद की राह पर एक अनुलंघनीय बाधा थी।'

एक कुशल अध्यापक में आप कौन-कौन से गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं?' प्रश्न के उत्तर में पण्डित जी ने कहा—'अध्यापक को अपने विषय का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और छात्रों की जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए स्पष्ट तथा सरल व्याख्या करनी चाहिए। उसे अनुशासन-प्रिय होना चाहिए और इसके लिए उसे अपने छात्रों से प्रेम करना चाहिए उनकी कठिनाइयों को दूर करना चाहिए और विशेष रूप से निर्धन छात्रों की सहायता के उपाय करना चाहिए। छात्रों को पूर्ण स्नेह सहयोग देने के साथ विषयगत जिज्ञासाओं के स्पष्ट समाधान प्रस्तुत किए बिना कोई सफल अध्यापक नहीं हो सकता।'

## विधि-ज्ञान भी जीवन ज्ञान है।

'अध्ययन समाप्त करने के बाद जब आपने वकालत शुरू की, तब किन लोगों को आपने अपने समक्ष आदर्श रूप में रखा।'

पण्डित जी ने कहा—'वकालत पास करने के बाद मैंने, बाबू ब्रजनारायण मेहरोत्रा की देखरेख में वकालत शुरू की थी। बाबू ब्रजनारायण मेहरोत्रा एक निष्ठावान व्यक्ति थे। वे बड़ी लगन तथा मेहनत से अपना केस तैयार करते थे। अपनी नैतिकता के कारण वे अपने सहयोगियों को योग्य बनाने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करते थे।'

'पण्डित ब्रजनारायण मेहरोत्रा के अतिरिक्त विक्रमाजीत सिंह, रामसनेही सेठ तथा बैरिस्टर ह्यूम का बहुत अधिक प्रभाव मुझ पर पड़ा जो अपने समय के ख्याति प्राप्त वकील थे।'

'वकालत पेशे में इतनी व्यापक सफलता प्राप्त करने का रहस्य क्या है?' के उत्तर में पंडित जी ने कहा—'कोई विशेष रहस्य नहीं है। मैं अपना पूरा समय वकालत पेशे को देता था। अपने केस को सभी सम्भावनाओं के साथ अच्छी तरह तैयार करता था और न्यायाधीश के समक्ष योग्यता पूर्वक प्रस्तुत करता था। अपनी योग्यता के प्रति मुझमें आत्मविश्वास होता था। इसके अतिरिक्त मैं, अपने मुवक्किलों की कठिनाइयों को दूर करने की ओर विशेष ध्यान देता था। किसी वकील को किसी अधिकारी से कृपा प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।'

आप लम्बे अर्से तक विधि-विषय के प्राध्यापक तथा विधि-विवादों के प्रवक्ता रहे हैं। धार्मिक अनुष्ठानों तथा तीर्थ स्थानों के भ्रमण द्वारा अपनी आध्यात्मिक चेतना को भी आपने समुन्नत किया है। क्या आप विधिज्ञान को, सहज जीवनाचरण के लिए आवश्यक मानते हैं?'

उत्तर में पंडित जी ने कहा—'विधि-ज्ञान कोई जड़-ज्ञान नहीं है। वह पूर्णतः भौतिक ज्ञान भी नहीं है। विधि ज्ञान पूर्ण रूप से जीवन-ज्ञान ही है, यह जीवन-ज्ञान, वकालत की डिग्री के बिना भी लोगों को होता है और अशिक्षित लोग भी इसी जीवन-ज्ञान के द्वारा दूसरे मनुष्यों से व्यवहार करते हैं। साधु सन्यासियों तथा वीतरागियों को भी जीवन-ज्ञान होता है। विधि-ज्ञान जीवन-समाज की शांति-समृद्धि तथा न्याय की कुछ विशेष स्थितियों तथा बारीकियों को स्पष्ट करता है, जिनके अज्ञात स्थिति में होने के कारण विवाद पैदा होते हैं। अतः विधि-ज्ञान, जीवन का कोई पृथक् ज्ञान

नहीं है ! उसकी आवश्यकता सभी को होती है और उसका ज्ञान सबको होता भी है ।'

## प्रकृति से आध्यात्मिक जागरण की प्राप्ति !

पंडित बाबूलाल मिश्र को धार्मिक तथा प्राकृतिक यात्राओं से शांति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है । इसीलिए अपनी युवावस्था से ही वे इस प्रकार की यात्राएँ करते रहे हैं । धार्मिक यात्राओं के अन्तर्गत वे, रामेश्वरम्, जगन्नाथपुरी, केदारनाथ, बदरिकाश्रम, गगोत्री, जमुनोत्री, द्वारकाधीश आदि तीर्थों की यात्रा कर चुके हैं । रामेश्वरम् तथा जगन्नाथपुरी की धार्मिक यात्राएं उन्होने रेलगाड़ी से की हैं, जबकि शेष यात्राओं में उन्होंने मोटरकार का उपयोग किया है । प्राकृतिक स्थानों की यात्रा का कार्यक्रम तो पंडित जी प्रति वर्ष ही बनाते हैं । इनमें मंसूरी, नैनीताल, सीतामढ़ी तथा उत्तराखंड के प्रमुख नगर सम्मिलित है ।

धार्मिक यात्राओं के संदर्भ में—'धर्म-तीर्थों तथा मन्दिरों के दर्शन से आपकी आध्यात्मिक चेतनाओं को ईश्वर का कौन सा संदेश प्राप्त होता है ? प्रश्न उत्तर में पंडित जी ने कहा—'इन तीर्थ यात्राओं के पीछे प्रमुख आग्रह तो मेरी पत्नी का था, जिनमें भारतीय धर्म तथा संस्कृति की आस्थाएं, मुझसे भी अधिक व्यापक तथा गहरी थी । लेकिन इन यात्राओं के फलस्वरूप तीर्थ स्थानों तथा धर्म मन्दिरों के दर्शन से आत्मा को एक प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है, आध्यात्मिक धरातल का चिंतन अधिक जाग्रत एवं गतिशील होता है और माया के बन्धनों से मुक्त होने का संकल्प प्राप्त होने के साथ-साथ मानवीय सेवा तथा सदाचार की प्रेरणा प्राप्त होती है ।'

'प्राकृतिक स्थानों, मेरा प्रयोजन पहाड़, नदी तथा नैसर्गिक घटनाओं से आपको किस प्रकार की अनुभूति होती है ?'

मेरे उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में पंडित जी ने कहा 'यात्रा करना मेरा व्यसन रहा है, यात्राओं से मुझे आनन्द प्राप्त होता है। पहाड़ों, नदियों तथा सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों में मुझे ईश्वर की अनन्तता की अनुभूति होती हैं । इन स्थानों पर भी आध्यात्मिक चिंतन को जागरण प्राप्त है, मन को शान्ति मिलती है ।'

धार्मिक तथा प्राकृतिक यात्राओं के अतिरिक्त पंडित बाबूलाल मिश्र ने सन् १९३३ ई० में एक लम्बी यात्रा अपने कुछ साथियों के साथ की थी, जो दिल्ली, लाहौर, अमृतसर, रावलपिंडी से मढ़ी होते हुए कश्मीर के आगे काबुल के सीमा-द्वार तक हुई थी । इस यात्रा में तुलसीराम जी, गोकुल प्रसाद जी तथा मंगली प्रसाद के बड़े लड़के पंडित जी के साथ थे ।

## आत्मज्ञान, सृष्टि को आत्मसात् करता है !

मुझे ज्ञात है कि आप, स्वामी नारदानंद जी महाराज का बड़ा सम्मान करते हैं, उनके सभी धार्मिक अनुष्ठानों में श्रद्धापूर्वक सम्मिलित होते हैं । अन्य महात्माओं द्वारा आयोजित यज्ञों—अनुष्ठानों में भी भाग लेते रहे हैं । मुझे याद है कि करपात्री जी ने जो एक बहुत बड़ा महायज्ञ कानपुर में किया था । उसमें आपने सक्रिय भाग लिया था और कदाचित् यज्ञ-संचालन (संयोजन) समिति में कोई पदाधिकारी भी थे । क्या आप बताने की कृपा करेंगे कि इन धार्मिक अनुष्ठानों से जीवन को कैसा ज्ञान प्राप्त होता है ?

उत्तर में पंडित जी ने कहा—"हाँ, आपने ठीक कहा । करपात्री जी ने जो यज्ञ किया था, उसमें मैं मंत्री था । उतना बड़ा यज्ञ अन्य नही देखा । लेकिन जनता का सहयोग भी अथाह था । समय से पूर्व ही धन एकत्र करने का लक्ष्य पूरा हो गया था और मुनादी स्वरूप मुझे घोषणा करनी पड़ी थी कि यज्ञ के लिए अब कोई धन न दे ।"

आप सच कहते हैं कि मैं, स्वामी नारदानन्द जी को अपना गुरु तथा एक सिद्ध महात्मा मानता हूँ, एक घटना का उल्लेख करूँगा । तंजोर की बात है । मुझे बुखार आ गया, बहुत तेज बुखार था और एक ही दिन में ऐसा लगा कि मैं लम्बे समय के लिए बीमार पड़ गया हूँ । मेरे पास रुकने के लिए समय भी नहीं था और न ही इतने तेज बुखार में चलना सम्भव था । रात में मुझे, महाराज जी का स्मरण आया, महाराज जी का चित्र मेरी दृष्टि में उतर गया, तब मैंने बुखार से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की । प्रार्थना करते-करते

पता नहीं कि मुझे नींद कब आ गयी, किन्तु प्रातः नींद खुली तब बुखार नाममात्र को भी न था।

स्वामी नारदानन्द जी महाराज जी के अतिरिक्त बदरिकाश्रम ज्योतिर्मठ के जगद्गुरू शंकराचार्य कृष्ण बोधाश्रम को भी मैं एक सिद्ध महात्मा मानता था। वे सरल तथा सर्वशुभचिन्तक थे और सदैव ईश्वर की आराधना-साधन में लीन रहते थे।

इन धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों तथा महात्माओं के दर्शन से वह ज्ञान प्राप्त होता है जिसे आध्यात्मिक ज्ञान कहते हैं, जिसे आत्मज्ञान कहते हैं, जिससे आत्म-परिचय प्राप्त होता है, जो अद्वैत की अनुभूति कराता है और समस्त सृष्टि को आत्मवत् स्वीकार करता है।"

'आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा जीवनादर्शों के अन्तर्गत ज्ञान किसे कहेंगे?'

मेरे उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में पंडित जी ने कहा—'जीवन का वास्तविक ज्ञान, स्वयं को स्पष्ट करता है। आत्मा का परिचय प्रस्तुत करता है। जो शरीर तथा आत्मा में नीर-क्षीर विवेक की प्रतिष्ठा करता है। जो आत्म-धर्म को जाग्रत कर क्रियाशील बनाता है और जो सबको सुख-शान्ति प्रदान करने का उद्योग करता है।

''क्या ऐसा ज्ञान, ज्ञान-ग्रंथों से या धर्माचार्यों के उपदेशों से प्राप्त किया जा सकता है?'

पंडित जी ने कहा—'यों ज्ञानांकुरण की धरती तथा उर्वरा शक्ति तो आत्मा ही है। किन्तु जलवायु—रूप में स्रोत तथा साधन हमें ज्ञान-ग्रन्थों तथा धर्मोपदेशकों से ही प्राप्त होते हैं। अहम्-शून्य प्रवचनों का प्रभाव पर्याप्त कारगर होता है।'

## जीवनात्मक गुरु-शिष्य परम्परा !

'आपके शिष्यों में से अनेक ऊंचे-ऊंचे पदों पर हैं और पूरे प्रदेश में उद्योगरत वर्तमान अभिवक्ता पीढ़ी में अधिकांश आपके शिष्य हैं। क्या आप अपने कुछ शिष्यों के विषय में बताने की कृपा करेंगे?'

पंडित जी ने कहा—'मैंने पैंतीस वर्षों तक विधि-महाविद्यालय में अध्यापन कार्य किया और इससे भी अधिक समय तक वकालत की। दोनों ही क्षेत्रों में मुझे प्रशिक्षण देना पड़ता था अतः छात्रों तथा सहयोगियों का सही-सही वर्णन कठिन है। यह संख्या हजारों में होगी। अब यह भी पता नहीं कि कौन कहां है। हाँ टी०एस० मिश्र तथा एम०पी० मेहरोत्रा के सम्बन्ध में मुझे अवश्य जानकारी है कि ये दोनों हाईकोर्ट के जज हो गये हैं। तीसरे एक हरगोविन्द शुक्ल को जानता हूँ, जो जिलासत्र न्यायाधीश रहकर रिटायर हो चुके हैं, और भी बहुत से लोग होंगे, सबका विवरण रखना न अभीष्ट ही था और न संभव ही।'

"मैं अनुभव करता हुं कि आपके शिष्य तथा आपके सहायक आज भी आपका सम्मान करते हैं और प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार आज भी उनमें आपके प्रति श्रद्धा-भक्ति है?'

पंडित जी ने कहा—'एक सीमा तक ऐसा अवश्य है। इसका कुछ कारण तो हमारी जीवनाश्रित नैतिकता है. हमने आत्मा से सदैव यह प्रयास किया कि हमारा छात्र अधिक से अधिक योग्य बने और इसके लिए हम उसे सर्वाधिक देने का प्रयास करते थे, सर्वाधिक देने के लिए सर्वाधिक एकत्र करने का उद्योग भी करते थे इसीलिए हमारे बीच कोई व्यावसायिक या संस्थामूलक सम्बन्ध न था वरन् आत्मिक था। इसीलिए वह पूर्णतः जीवनात्मक और स्थायी था।'

## मानवीय संवेदना !

इतने अधिक प्रश्नों के उत्तर देने के पश्चात् मुझे लगा कि पंडित जी थकान अनुभव करने लगे हैं। अतः निश्चय किया कि इस भेंट को यहीं समाप्त कर देना चाहिए अतः मैंने कहा—'अब अन्तिम प्रश्न हम नवयुवकों के लिए आपका परामर्श क्या है?' क्षणभर विचार करने के पश्चात् पंडित जी ने कहा—''जीवन, दिव्य तथा अलौकिक सम्भावनाओं से पूर्ण है एकाग्रता एवं लगनपूर्वक उद्योग करने की आवश्यकता है, चरित्र की आवश्यकता है और नैतिकतापूर्वक गतिशील रहने की आवश्यकता है। पहले की अपेक्षा आज साधन तथा क्षेत्र अधिक है। मानवीय संवेदना का विकास हुआ है किन्तु वह अभी व्यवहार में नहीं है, उसे आत्मसात् कर आचरण करने की आवश्यकता है। यदि आप, मानवीय संवेदना को व्यावहारिक बनाने में सफल होते हैं, तो जीवन में विजय की प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त होगी।" ●

# एकनिष्ठ व्यक्तित्व

**जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती**

नैमिषारण्य

आदरणीय पं० बाबूलाल मिश्र एडवोकेट से लगभग चालीस वर्ष से मेरा धर्म प्रचार कार्य क्षेत्र में सम्पर्क रहा—उनकी कुछ विशेषताओं का मेरे हृदय में आदर है। वे उपासना के स्थान पर एकनिष्ठ हैं जैसे सब धर्मों का आदर करते हुए सनातन धर्म में निष्ठा रखते हैं। बहुत से देवी देवताओं का आदर करते हुए एक ईश्वर में निष्ठा रखते हैं। सभी सन्तों का आदर करते हुए निष्ठा एक में रखते हैं। भौतिक विद्याओं के प्रतिष्ठित विद्वान होते हुए अध्यात्म विद्या को सबसे श्रेष्ठ मान्यता देते हैं। चिन्ता, भय शोक आदि मानसिक विकारों से अपने हृदय को सुरक्षित रखते हैं। किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति के प्रभाव में आकर अपने हृदय और बुद्धि को दबाव से सुरक्षित रखते हैं। सर्वज्ञ तो कोई पुरुष नहीं है जहाँ वे आवश्यकता समझते हैं, विशेषज्ञ का आदर करते हैं। वे ज्ञान और भक्ति दोनों का आदर करते हैं। उनकी प्रसन्नता और गम्भीरता का प्रभाव सम्पर्क में रहने वालों पर भी पड़ता है, दैवी स्वभाव के उनमें अनेकों गुण हैं। स्वरूप से ही हम उनको आशीर्वाद देते हैं कि ईश्वर की कृपा से वे सात्विक समाज के विकास करने में सफल रहे एवं शतायु हों।

# नैतिकता के शक्ति पुञ्ज

रामकृष्ण त्रिवेदी

आयुक्त

केन्द्रीय सतर्कता आयोग, नई दिल्ली

कानपुर जनपद से मेरा कई प्रकार से सम्बन्ध रहा है। कानपुर में अपनी सेवा-काल के दौरान मैंने पं० बाबूलाल मिश्र का सहयोग प्रशासन के लिए सदैव ही प्रभावी पाया, क्योंकि श्री मिश्र का स्वयं का प्रभाव न केवल वकील समुदाय पर था बल्कि विभिन्न सामाजिक एवं शैक्षिक संस्थाओं पर भी। वास्तव में वकालत के क्षेत्र में तो उनके समान प्रखर बुद्धि के बहुत कम लोग थे और विधिवेत्ता के नाते प्रदेश के इने-गिने शीर्षस्थ लोगों में आज भी गिना जा सकता है। जितनी समाज की सेवा उन्होंने विधिवेत्ता के रूप में की उससे कहीं ज्यादा सेवा अनेकों सामाजिक एवं शैक्षिक संस्थाओं के संरक्षक के रूप में की और अनेकों संस्थायें उनके नैतिक बल के आधार पर प्रफुल्लित हो रही हैं।

प्रशासन से सम्बन्धित क्षेत्र में जब मैं कानपुर में कलेक्टर अथवा कमिश्नर था मैंने सदैव ही उनका सहयोग प्रशंसनीय पाया। बहुत सारे पेचीदा मामलों पर उनकी सलाह लेने पर मुझे सदैव निष्पक्ष, ठोस और रचनात्मक सलाह मिली। मुझे कोई ऐसा मामला याद नहीं आता जिसमें उनकी राय सही न निकली हो।

# मेरे अभिनन्दनीय भाई

डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम'

कानपुर

सन् १९२१ ई०—दयानन्द कालेज का प्रांगण, पूज्यपाद डा० दीवान चन्द जी [प्रिंसिपल, प्रो० कालका प्रसाद जी भटनागर वोर्डिग हाउस के वार्डन, बहती पुण्य सलिला भागीरथी-जान पड़ता था किसी आश्रम में हम लोग निवास करने या विकास पाने आ गये हैं।

इण्टर कक्षाओं में एक साथी के दर्शन हुए मैं ब्रज का और वे राजस्थान के। दोनों के प्रारम्भिक नाम पद विदेशी। अन्त में लाल। आर्य समाज ने एक लाल को राम बना दिया और कहा 'तुम लेखन तथा मनीषिता का वरण करो।' दूसरे लाल से कहा तुम बाबुओं के भी बाबू बन जाओ। एक बना प्रोफेसर दूसरे बने वकील और वकालत में ऐसे चमके कि सरकार उन्हें हाईकोर्ट का सर्वोच्च पद देने के लिए तैयार हो गयी।

सरकार तो अलग, जनता ने भी उन्हें अपनाया, वकीलों ने उन्हें अपनाया, वकालत कक्षाओं ने उन्हें शिरोधार्य किया अनेक वकील उनकी देख रेख में तैयार हो गए उनकी मंत्रणा लेने न जाने कितने व्यक्ति, समवयस्क उच्चस्तरीय तथा सामान्य तक पहुँचने लगे, अनेक संस्थायें उनकी ओर दौड़ीं और अपने अभिभावक के रूप में पाकर उनके व्यक्तित्व द्वारा सम्मानित हुयीं। आज सम्पूर्ण नगर उनके अभिनन्दन में भाग ले रहा है यह हैं अभिनन्दनीय मेरे भाई पं० बाबूलाल मिश्र।

भाई को भाई का अभिवादन

शतजीव्याः शरदः शतम्

# पूर्णतया निष्पक्ष व्यक्ति

**भक्त दर्शन**

भू० पू० उपकुलपति

कानपुर बिश्वविद्यालय, देहरादून

जिन दिनों मैं कानपुर विश्व-विद्यालय की सेवा में नियुक्त था उन दिनों मैं, श्री बाबूलाल जी मिश्र के सम्पर्क में आया था वे कुछ समय तक, उस विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति के एक सम्मानित सदस्य रहे थे तथा उनके परामर्श का लाभ मुझे एवं अन्य अधिकारियों को मिलता रहता था मैंने उन्हीं दिनों अनुभव किया था कि वे, प्रत्येक प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कर लेने के बाद सदैव पूर्णतया निष्पक्ष सम्मति दिया करते थे ।

कानपुर की शैक्षिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ तथा उनके समारोहों में भी मुझे, यदाकदा उनके दर्शन प्राप्त हो जाते थे और उन संस्थाओं तथा समारोहों में जिस श्रद्धा तथा लगन के साथ वे सहयोग देते थे, उसके कारण मेरे हृदय में उनके प्रति गहरा सम्मान है ।

# "पं० बाबूलाल मिश्र का व्यक्तित्व"

रामप्रसाद त्रिपाठी
वाराणसी

पं० बाबूलाल मिश्र का जन्म: १९०३ ई० में गोण्डा शहर में हुआ, इनके पिता का नाम पं० श्रीकान्त नारायण मिश्र, एवं माता का नाम मुल्ली देवी था। दो वर्ष की आयु में पिता का, तथा सात वर्ष की आयु में माता का दुःसह वियोग इन्हें सहना पड़ा। ये अपनी पितामही एवं माता के साथ कानपुर आ कर अपने फूफा पं० श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के संरक्षण में बाल्य-काल से रहने लगे। फूफा जी के द्वारा इनकी आवासीय व्यवस्था एवं शिक्षा-व्यवस्था हुई। सोलहवें वर्ष में फूफा जी ने इनके विवाह संस्कार की भी व्यवस्था कर दी।

इन सब कठिनतम परिस्थितियों को पार करते हुए आप शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट प्रगति करते हुए बी० ए० उपाधि प्राप्त कर प्रयाग विश्वविद्यालय की एल०-एल० बी० परीक्षा में विशिष्ट-स्थान प्राप्त किया। पुनः कानपुर आकर प्रख्यात एवं प्रतिष्ठित वकील श्री ब्रजनारायण मेहरोत्रा के निरीक्षण में वकालत का अभ्यास करने लगे। थोड़े ही दिनों में अपने क्षेत्र में प्रसिद्ध होने के साथ साथ लोक सेवा में भी अग्रणी बने।

छात्रावस्था से ही आपमें देश-भक्ति का स्रोत बहता था, महामना मालवीय जी के अनुपम गुण आप में घर कर लिये थे।

अब समय पाकर स्वदेश-प्रेम की सरिता के आप उत्तम स्थान हुये। वकालत से जब आपकी आय बढ़ी, तो स्वयं आपने आय-कर देना प्रारम्भ किया, जो आपकी राष्ट्र-सेवा का प्रज्वलित प्रमाण है। कानपुर के सनातन धर्म-कालेज में आप विधि विषयक अध्यापन भी किया। सन् १९६४ में उससे विरत होने पर भी अनेक शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के संरक्षकत्व का भार अब भी आप वहन कर रहे हैं। अखिल भारत वर्षीय सामाजिक एवं प्रतिष्ठित उद्बोधन-समिति का अध्यक्ष पद आज तक आप से अलंकृत है।

उद्बोधन-समिति के महामन्त्री आचार्य श्री शौनक-ब्रह्मचारी की सद्भावना एवं महामान्य श्री जगदाचार्य के स्नेहपूर्ण आदेश से मुझे कई वर्षों से इस समिति के वार्षिकोत्सव में जाने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, उसमें अध्यक्ष श्री मिश्र जी का सम्पर्क प्राप्त हुआ। उनका अध्यक्षीय-भाषण किसको न आश्चर्य चकित कर देगा।

उनकी निरहंकृति मुखाकृति वाणी की मधुरता, सरलता एवं सुजनता आदि गुण आदर्श-भूत हैं, अनुकरणीय हैं ऐसे पुरुष रत्न भारत के ही नहीं, समस्त विश्व के आदर्श पुरुष हैं। भगवान् भवानीनाथ विश्वनाथ से हम उनके चिरकालिक आयुष्य एवं सुस्वास्थ्य की प्रार्थना करते हैं।

# प्रतिभावान् अधिवक्ता

## जागेश्वर प्रसाद त्रिवेदी

भू० पू० मेयर, कानपुर

पं० बाबूलाल जी मिश्र मेरे अग्रज तुल्य हैं। विगत अनेक वर्षों से मुझे उनका आशीर्वाद प्राप्त होता आ रहा है। वे मेरे लिए आदरणीय हैं। पंडित जी का स्वावलम्बी जीवन रहा है। अपनी प्रतिभा तथा अकथ परिश्रम से पंडित जी ने अपने व्यक्तित्व को संवारा है। भगवान् की कृपा एवम् माता पिता के आशीर्वाद से, कानपुर की महानगरी के विभिन्न क्षेत्रों में उनका विशिष्ट स्थान है। पंडित जी निष्ठावान् सनातन धर्मी हैं।

सनातन धर्म कालेज के विधि विभाग में आचार्य के रूप में उन्होंने अपने छात्रों से आदर पाया और कालान्तर में काफी समय तक प्राचार्य रहकर ख्याति अर्जित की। कानपुर के न्यायालय के वे सर्वोच्च विधिवेत्ता के रूप में प्रतिष्ठित होने के साथ उत्तर प्रदेश के एक प्रसिद्ध अधिवक्ता होने का गौरव प्राप्त किया है। पंडित जी मृदुभाषी तथा व्यवहार कुशल एवं विश्वसनीय मित्र हैं। कानपुर नगर से उनका आत्मिक लगाव है। म्युनिसिपिल बोर्ड तथा नगर महापालिका के सदस्य व विशिष्ट सभासद के नाते पंडित जी का प्रशंसनीय योगदान रहा है। नगर के सामाजिक, धार्मिक तथा शिक्षा क्षेत्र के उन्नयन के लिए पंडित जी एक कर्मठ नेता माने जाते हैं। कानपुर नगर को ही वे अपना कार्यक्षेत्र मानने के कारण दो बार पंडित जी ने उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद को विनम्रता पूर्वक अस्वीकार किया है। मिश्र जी के समान चरित्रवान, आस्तिक सत् पुरुष का अभिनन्दन करने से यथार्थ में अभिनन्दन को गौरव प्रदान करना है।

भगवान से मेरी प्रार्थना है कि मिश्र जी पूर्ण स्वस्थ रह कर शतायु प्राप्त करें।

# दर्शन ही संस्मरण है !

—भागवत प्रसाद तिवारी

मू० पू० मेयर, कानपुर

पं० बाबूलाल जी मिश्र के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने हेतु आपका प्रयास बहुत ही सराहनीय है। यह मेरा सौभाग्य है कि आदरणीय पंडित जी से मेरा निकट संबन्ध रहा है। पंडित जी एक प्रख्यात विधिवेत्ता तो हैं ही किन्तु मानव समाज के प्रति उनके द्वारा किये गये कार्य समाज के लिए अमूल्य देन हैं। सरल, निश्छल, मृदुल एवं उदात्त व्यवहार एवं स्वभाव से उन्होंने न केवल कानपुर जनपद अपितु प्रदेश के लोगों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

आपने संस्मरण भेजने के लिए लिखा है मुझे तो उनके प्रत्येक भेंट व वार्तालाप एक संस्मरण लगता है। मैं ऐसे महान् विधिवेत्ता, समाज सेवक, विद्वान् एवं जीवन मूल्यों के रक्षक आदरणीय पंडित जी के दीर्घ जीवन की कामना करता हू जिससे समाज और विशेष रूप से वर्तमान युवा पीढ़ी सही मार्ग दर्शन ले सके एवं अपने जीवन में उनका अनुकरण कर समाज को लाभान्वित करा सके।

# श्रद्धाञ्जलि–पुष्पाञ्जलि

## शिवनारायण टंडन

कानपुर

श्रद्धेय पंडित वावूलाल जी मिश्र, मेरी दृष्टि में, वहुत हद तक, एक आदर्श सत्पुरुष हैं जिन्हें थोड़े में हम मूर्तिमान-महानता कहकर सम्वोधित कर सकते हैं। यह सचमुच मेरा सौभाग्य रहा जो मुझे पंडित जी का बालपन का सहपाठी और संगी साथी होने का सुयोग प्राप्त रहा एवं लगभग साठ साल तक के आत्मीय सान्निध्य का गौरव भी मिल सका। इतने लम्बे काल तक व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में, कभी साथ साथ और कभी विरोधी खेमों में संघर्षरत रहते हुए भी और उठा–पटक करते रहते भी हमने उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को सदैव अंगीकार किया एवं जाना और माना कि पंडित जी न केवल प्रख्यात विधिवेत्ता मात्र हैं, न केवल बार एसोशियेशन के मुकुट धारी हैं, न केवल अनेक सामाजिक शैक्षिक एवं आध्यात्मिक संस्थाओं के संरक्षक एवं प्रेरणा-स्रोत हैं, प्रत्युत् वह एक असाधारण रूप से ऊंचे मनुष्य हैं, भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रकाश स्तम्भ हैं, शालीनता, शिष्टता और सौजन्य की प्रतिमूर्ति हैं और वहुमुखी प्रतिभा और निष्कामक जीवन चरित्र से कानपुर के प्रथम नागरिक कहलाने योग्य हैं। उन्हें देख कर बहुधा अजात शत्रु डा० राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि टंडनजी और मूलाबाई देसाई की याद हो आया करती है जिनका वे सम्मिश्रण प्रतीत होते हैं। वह 'साधु पुरुष' हैं और नई पीढ़ी के लिए कुतुवनुमा वने खड़े हैं। 'साधु पुरुष' की परिभाषा करते हुए पूज्यपाद तीर्थान्कर महावीर मुनि ने क्या खूब कहा था कि "साधु पुरुष वह है जो 'होश' में रहता है, जो विवेक से चलता है, जो सन्तुलित विचार वाला है, जो अप्रमादी है और जो जागता रहता है। ऐसे व्यक्ति को 'असुता मुनि' कहा गया है। 'स्वल्पमयस्य धर्मस्य त्रायते महतोमयात' इसका थोड़ा भी आचरण करने वाला जीवन और मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है।" हमारे पंडित जी उसी पथ के अनुगामी हैं। उन्होंने इन आदर्शों की पूर्ति के लिए अपनी जीवन-वाती को दोनों छोरों से जलाया है। ईश्वर उन्हें स्वस्थ और प्रसन्न रक्खें :—

"सुरतिय' नरतिय नागतिय–सब चाहत अस होय।
गर्भ लिए हुलसी फिरै–तुलसी सो सुत होय"।

# पं० बाबूलाल मिश्र : एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

**डा० रतीराम दीक्षित**

प्राचार्य वी० एस० एस० डी० कालेज, कानपुर

पुरुषरत्न पं० बाबूलाल मिश्र नगर के श्री सम्पन्न महापुरुषों में से एक हैं जिनकी कीर्ति नगर के सामान्यतः सभी बुद्धि जीवियों में व्याप्त है। आप नगर के बड़े ही सुविख्यात सिविल साइड के वकीलों में से हैं जिसके कारण आपके पास इस बढ़ी आयु में भी परामर्श प्राप्त करने वालों का बराबर तांता लगा रहता है। आप बड़े ही योग्य चिन्तक, मनीषी, एवं कुशल वक्ता हैं जिनके विचारों को सुनकर श्रोता आत्म विभोर हुए बिना नहीं रहते। सामान्य तथ्यों से केश की बारीकियों को पकड़ना और उन पर क्या कार्यवाही उचित व प्रभावी होगी इसकी सामर्थ्य आप सरीखे विचारशील मेधावी महापुरुषों का ही कौशल हुआ करता है। मेरा आपसे दूरी का परिचय तो गत दो तीन दशकों से था किन्तु इधर श्री विक्रमजीत सिंह सनातन धर्म कालेज में नवीन उत्तरदायित्व दिए जाने के पश्चात् आपके निकट आने का कुछ विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस काल के दौरान मैंने पाया कि कालेज से आपका सान्निध्य उसके लिए एक भारी गौरव और महत्व का सम्बन्ध है। कालेज की प्रबन्धकारिणी समिति के अपरिवर्तनीय अध्यक्ष तो आप गत बीस वर्षों से हैं ही किन्तु इससे भी ऊपर उसका कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय चाहे वह नीति सम्बन्धी हो या किसी की नियुक्ति संबंधी बिना आपकी सहमति के नहीं लिया जाता। उसकी प्रत्येक बैठक में आपकी उपस्थिति उसके महत्व को कई गुणा संवर्धित कर देती है। सबसे अधिक उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि अपनी इस बढ़ी हुई आयु में भी आप इतने क्रियाशील तथा मानसिक व शारीरिक दृष्टि से कार्यक्षम हैं कि यदि इन्हें योगी की संज्ञा से विभूषित किया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। आपकी सजगता व सावधानी का परिचय कराने हेतु एक सामान्य घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा।

एक बैठक में विश्वविद्यालयी समिति व ज्येष्ठ पुलिस अधीक्षक द्वारा दी गयी रिपोर्टों की विसंगति की सूचना दी जा रही थी कि आपने बीच में रोक कर आपत्ति की कि उनका सुझाव है कि उन कतिपय उत्तरदायी शिक्षकों से पूछा जाये कि विश्वविद्यालयी समिति को दिए गए उनके वक्तव्यों में और कालेज प्रशासन द्वारा की गयी कार्यवाही में इतना स्पष्ट विरोध क्यों था, इसे वे स्पष्ट करें। अब आप देखें कि यह आपत्ति अपने में कितनी दूरदर्शी व प्रभावी है। यद्यपि आपको समझा बुझा कर इस आपत्ति को वापस लेने के लिए सहमत कर लिया गया। किन्तु कमेटी

के समक्ष उक्त सुझाव प्रस्तुत किया जाना ही प्रशासनिक दुरुस्ती के लिए कितना आवश्यक और महत्वपूर्ण है, इससे कोई भी असहमति प्रकट नहीं कर सकता।

आपकी दिनचर्या बड़ी ही नियमित और सराहनीय है। प्रत्येक कार्य का संचालन एक स्थिर और नियम समय से निर्बाध गति से घड़ी की सुइयों के अनुसार होता है, यही वस्तुतः आपके निरोग स्वास्थ्य व सदा शान्त प्रसन्न मुद्रा में रहने का रहस्य है। आपका सीधा सादा आत्मीयतापूर्ण व्यवहार मेरे लिए सदा ही आकर्षण का कारण रहा है। आपके पास बैठ कर दो बात करने का भी आपके स्नेहासिक साधुवाद प्राप्ति का व्यक्ति के जीवन में बड़ा महत्व है। इससे मनुष्यों को सांत्वना व सामर्थ्य संवर्द्धन की अनुभूति हुयी है। ऐसा मैं अपने निजी अनुभव से कह रहा हूं। किसी निर्णय का आपसे अनुमोदित होने पर उसके महत्व व उपयोगिता में अतिशय वृद्धि हुई है। ऐसा मैंने स्वयं कई बार अनुभव किया है।

आपके उन्नतशील लोकोपकारी प्रेरक विचारों का लाभ लम्बे अर्से तक समाज को प्राप्त होता रहे इसकी हम सभी नगर निवासी कामना करते हैं। आपका सान्निध्य बार कांउसिल व नगर की शोभा है जो चिरकाल तक हम सबकी श्री वृद्धि करती रहे इसी की प्रभु से कामना है।

# पण्डित जी की लोक प्रियता

राधा कृष्ण

भू० पू० अध्यक्ष, लोक सेवा आयोग, उ० प्र०
भू० पू० कुलपति, कानपुर विश्वविद्यालय

पं० बाबूलाल जी से मेरा परिचय प्रायः कानपुर विश्वविद्यालय के निर्माण के समय से हुआ और ज्यों-ज्यों उनसे मेरा सम्पर्क बढ़ता गया, मेरी उनके प्रति आदर, श्रद्धा और आस्था भी बढ़ती गई। मिश्र जी एक विख्यात अधिवक्ता तो हैं ही परन्तु उनकी लोकप्रियता का आधार उनके मानवीय गुण हैं। पं० जी मितभाषी, उदारचेता, सहिष्णु, निस्पृह तथा एक सुलझे और कुशाग्र बुद्धि व्यक्ति हैं। कानपुर की तो कोई भी प्रमुख सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक अथवा शैक्षिक संस्था नहीं है जिसके वे संरक्षक, अध्यक्ष, प्रबन्धक, मन्त्री या संस्थापक और प्रेरणाश्रोत न हों। उनकी देख-रेख में यह सामाजिक संस्थायें सुरक्षित तथा प्रगति की ओर अग्रसर हैं। कानपुर विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के वे केवल सदस्य ही नहीं वरन् स्तम्भ थे। उनका परामर्श सदैव ठोस, व्यवहारिक और न्याय संगत होता था।

ऐसे मनस्वी एवं प्रतिभाशाली सतपुरुष के अभिनन्दन में अपने को सम्बद्ध करके मैं धन्य समझता हूं। ईश्वर करे पं० बाबूलाल जी स्वस्थ रहें और चिरायु हों। मेरी समस्त शुभ कामनायें सदैव उनके साथ रहेंगी।

# श्रद्धेय पण्डित जी

**डा० रमानाथ त्रिपाठी**

दिल्ली विश्वविद्यालय

छात्र-जीवन के पूरे छह वर्षों तक मैं पूज्य पं० बाबूलाल मिश्र के सम्पर्क में न आ सका। कारण दो थे—१–वे मेरे विषय से सम्बद्ध न थे, २–हमारे कालेज की लॉ-कक्षाएँ दूर बी० एन० एस० डी० कालेज में लगती थीं कभी-कभी उत्सवों के मध्य मैंने उन्हें देखा था। उनके सहज-सरल गरिमामय व्यक्तित्व से मैं प्रभावित हुआ था। १९५० में अपने कालेज में ही अध्यापक के रूप में मेरी नियुक्ति हुई। तब मैं उनके निकट सम्पर्क में आया। उनका व्यवहार सदा नम्र-मृदु रहा, वे कभी हल्की बात नहीं बोले। अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने निःस्वार्थ भाव से समाज-सेवा की है। मैं आदरणीय पण्डित जी के स्वस्थ दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता हूं।

# पण्डित बाबूलाल मिश्र : एक आदर्श व्यक्तित्व

**डा० प्रेमनारायण शुक्ल**

कानपुर

पण्डित बाबूलाल जी मिश्र का व्यक्तित्व उनकी कर्मठता एवं सदाशयता के कारण चुम्बकीय आकर्षण से पूर्ण व्यक्तित्व है। सन् १९३३–३४ के आसपास जब मैं दसवीं कक्षा का छात्र था तब से पण्डित जी के सम्पर्क में आया। 'हिन्दी साहित्य मण्डल' के अध्यक्ष पद पर पण्डित जी को प्रायः प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। इस प्रकार साहित्य मण्डल का निर्वाचन और मेरी उसकी सदस्यता ही पण्डित जी के सम्पर्क का कारण बनी।

पण्डित बाबूलाल जी मिश्र को सामाजिक जीवन में एक कुशल और ईमानदार कार्यकर्ता के रूप में मैंने कानपुर म्युनिस्पिल बोर्ड के सदस्य की स्थिति में समझा। मेरे विचार से यहीं से उनके सार्वजनिक जीवन का शुभारम्भ होता है। उस समय भी म्युनिस्पिल बोर्ड के कतिपय सदस्यों के प्रति कानपुर की जनता की अन्यथा भावनाएँ रही हैं। सार्वजनिक जीवन में जब स्वार्थपूर्ण राजनीति का प्रवेश हो जाता है तब उसका रूप कलुषित हो जाता है और इस कलुषित रूप में पड़ा हुआ व्यक्ति उचित-अनुचित का भेद भूलकर अपने स्वार्थ साधन में इतना अधिक लिप्त हो जाता है कि औचित्य और आदर्श की भावना उसके लिए स्वप्नवत् हो जाती है। पर पण्डित जी का सार्वजनिक जीवन इसका अपवाद रहा है। वे म्युनिस्पिल बोर्ड के सदस्य के रूप में सदैव जन-जन का सम्मान पाते रहे और बोर्ड की विभिन्न समितियों में वे एक विचारक एवं क्रियाशील सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित रहे।

पण्डित जी का अन्तः एवं बाह्य दोनों ही रूप आकर्षक हैं। लम्बा कद, गौर वर्ण एवं सुडौल आकृति तथा हृदय की कोमलता, आदर्शप्रियता एवं स्वभाव की ऋजुता ये सबके सब ऐसे गुण हैं जो आपके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाते हैं। सामाजिक क्षेत्र में कानपुर का एक अन्य प्रभावशाली व्यक्तित्व था स्व० बाबू विक्रमाजीत सिंह का। प्रारम्भ में आप इन्हीं के सम्पर्क में रहे। वर्षों तक बाबू विक्रमाजीत सिंह की पार्टी म्युनिस्पिल बोर्ड में शासन करती रही। पण्डित बाबूलाल जी इस पार्टी के प्रमुख अंग थे। पर इस पार्टी की विरोधी पार्टी के नेता बाबू ब्रजेन्द्रस्वरूप के साथ परस्पर सद्भावना में कभी अभाव नहीं पाया गया। दोनों ही पार्टी के नेताओं की जनता में एक छाप थी। दोनों ही अलग-अलग पार्टी में होते हुए भी पारिवारिक आत्मीयता में बंधे थे और परस्पर मर्यादा-सम्मान का सदा ध्यान रखा जाता था।

फलतः पण्डित बाबूलाल जी मिश्र का व्यक्तित्व दोनों ही पार्टियों के सदस्यों के बीच सदैव आदर-सम्मान पाता रहा है। वे दिन सचमुच आज की अपेक्षा बहुत अच्छे थे। उन लोगों में आज की सी घिनौनी एवं तुच्ची राजनीति न थी। उन दिनों परस्पर पारिवारिक हितों का सामाजिक रूप से बहुत ध्यान रखा जाता था। पारस्परिक सद्भावना आत्मीयता एवं सदाशयता के संप्रसार में पण्डित बाबूलाल जी मिश्र के व्यक्तित्व ने बहुत बड़ा योगदान दिया है।

पण्डित जी का व्यक्तित्व एक धीर-गम्भीर एवं प्रवीण विधिवेत्ता के रूप में सुविख्यात है। वे दीवानी के क्षेत्र में प्रान्त ही नहीं देश के प्रमुख विधि-वेत्ताओं की प्रथम पंक्ति में आते हैं। नगर तथा अन्य स्थानों से आए हुए शताधिक वकीलों ने अपनी गुरुता को स्वीकार करके अपने जीवन को प्रशस्त एवं सफल बनाया है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता एवं महत्व के कई कारण हैं मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि वे इस दिशा में अपने को सदैव ही एक अध्यवसायी विद्यार्थी के रूप में बनाए हुए हैं। आपका नैष्ठिक जीवन ही आपके उत्कर्ष का प्रधान कारण है। वे अपने पेशे-व्यवसाय के प्रति पूर्णतः समर्पित एवं ईमानदार हैं।

विधि के अध्यापक के रूप में भी आपकी ज्ञान-गरिमा एवं कर्तव्य परायणता सदैव ही प्रशंसनीय रही है। आपके छात्र-गण आपमें एक पिता, गुरू एवं हितैषी मित्र का रूप प्राप्त करते रहे हैं।

अपनी सेवा-भावना, चारित्रिक निष्ठा एवं कर्तव्यपरायणता के कारण आपने जनमानस का विश्वास अर्जित किया है। इसी कारण आप नगर के अनेकानेक ट्रस्टों के अध्यक्ष हैं। इन ट्रस्टों के माध्यम से आप जन-जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति में सदैव संलग्न रहे हैं।

पण्डित जी की शिक्षा-क्षेत्र के प्रति विशेष अभिरुचि है। वे अनेक शिक्षा-संस्थाओं के अध्यक्ष एवं प्रबन्धक हैं। आर्यनगर इण्टर कालेज कानपुर के अध्यक्ष के रूप में आपकी कार्य प्रणाली को अत्यन्त निकट से देखने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है। संस्थागत अनेकानेक गुत्थियों के सुलझाने, व्यवस्था को ठीक करने और संस्थाओं को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने में आपका महत्वपूर्ण योगदान स्पृहणीय है। आज के इस आपाधापी के युग में पण्डित जी जैसे निस्पृह जनसेवी मिलते कहाँ हैं जो संस्था को पूजा और अर्चना का क्षेत्र मानते हों।

मैं पण्डित जी के यशस्वी एवं सफल जीवन के प्रति अपना श्रद्धासंवलित नमन एवं वंदन अर्पित करता हूं। मङ्गलमय प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि आप शतायु होकर हम सबका मार्ग प्रशस्त करते रहें।

# अद्वितीय व्यक्तित्व

**शौनक ब्रह्मचारी**

एम० ए०, दर्शनाचार्य

सुहावना शरद ऋतु का समय था। भगवान भास्कर अपनी किरणों की आभा से गणेशोद्यान को प्रफुल्लित कर रहे थे। यज्ञ के कारण वह मैदान भक्तों के समुदाय से परिपूर्ण था। वहीं वट वृक्ष के नीचे श्री जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज का शिविर लगा हुआ था। फूलबाग यज्ञ समिति की बैठक हो रही थी। मैं श्री जगदाचार्य की निजी सेवा में नियुक्त था। मुस्कराता हुआ चेहरा, गम्भीर वाणी, स्वस्थ शरीर तथा श्री गुरुदेव भगवान के प्रति अपार श्रद्धा युक्त एक व्यक्तित्व ने मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया। उस आभायुक्त व्यक्तित्व के विषय में जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। श्री जगदाचार्य जी के द्वारा ज्ञात हुआ कि ये कानपुर नगर के प्रमुख अधिवक्ता तथा समाजसेवी पं० बाबूलाल मिश्र एडवोकेट हैं।

आदरणीय श्री मिश्र जी के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। जैसे-जैसे मैं निकट पहुंचता गया, वैसे-वैसे उनकी प्रतिभा से मैं आकर्षित होता गया। मेरे जीवन में पण्डित नेहरू के पश्चात् यदि कोई सामाजिक व्यक्तित्व मिला है तो वे हैं पं० बाबूलाल मिश्र। श्री गुरुदेव भगवान के अतिरिक्त मेरा प्रेरणा स्रोत एकमात्र पण्डित जी ही हैं।

सामान्य मानव से विशिष्ट मानव बनने के जिज्ञासुओं के लिए श्री पण्डित जी एकमात्र उदाहरण हैं। इनके जीवन में भावपक्ष एवं बुद्धिपक्ष का समन्वय है। इनकी भाव एवं नीतियुक्त सन्तुलित भाषा सवजन हिताय एवं सबजन सुखाय होती है इन्होंने अपने सुमधुर व्यवहार, कर्त्तव्यनिष्ठता, विद्वत्ता एवं समाज सेवा की भावना से अपना व्यक्तित्व अर्जित किया। विधि के सामान्य अध्यापक से लेकर आगरा विश्वविद्यालय के विधिसंकायाध्यक्ष के पद को सुशोभित किया। जिस महाविद्यालय से अध्यक्ष पद को राज्यपाल के स्तर के व्यक्तित्व प्राप्त करते थे उस सनातन धर्म कालेज कानपुर के अध्यक्ष पद को पण्डित जी सुशोभित कर रहे हैं। पण्डित जी पूँजीवादी विचारधारा से सदैव असहमत रहे हैं। इसी विचार से पण्डितजी ने सामान्य जनता से धन एकत्रित कर आर्य नगर इण्टर कालेज की स्थापना श्री हरिशंकर विद्यार्थी सरीखे सहयोगियों के साथ की तथा नगर पालिका के चुनाव में भी पूँजीपतियों से प्रतिद्वन्द्विता की।

कुशाग्रबुद्धि पण्डित जी ने विद्यार्थी जीवन में १०३ डिग्री ज्वर की अवस्था में भी विधि की परीक्षा देकर प्रथम श्रेणी इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। उस कुशाग्र बुद्धि ने ही

पण्डित जी के विभिन्न शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थाओं में उच्च पद पर आसीन किया।

श्री मिश्र जी का गार्हस्थ जीवन आदर्शमय रहा है। पण्डित जी से मतभेद रखने वाला व्यक्ति भी उनके चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। धर्मपत्नी के ग्यारह वर्ष तक बीमार रहने पर पण्डित जी ने प्रसंन्नतापूर्वक अत्यधिक धन व्यय करके जो सेवा की, वह एक सद्‌गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है अपनी धर्मपत्नी के संकेत पर अस्वस्थ होते हुए तथा हितैषियों के रोकने पर भी पत्नी के स्वर्गवास होने पर स्वयं अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।

पण्डित जी वास्तविक सनातन धर्म के अनुयायी हैं। उनके हृदय में सनातन धर्म के प्रति अपार श्रद्धा एवं सेवा की भावना है वे वास्तविक सनातन धर्मी से प्रेम करते हैं। अनेक सन्त महात्माओं से उनका सम्पर्क रहा; किन्तु उनमें सबसे प्रमुख स्थान वे श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वती को देते हैं। उनका कथन है कि श्री स्वामी जी वास्तव में सन्त हैं। पण्डित जी स्वामी जी के दीक्षित शिष्य नहीं हैं फिर भी सैकड़ों निष्ठावान् शिष्यों से अधिक श्रद्धा रखते हैं। अभी कुछ मास पूर्व जब वे अस्वस्थ हुए तब स्वामी जी उन्हें देखने के लिए गए। अत्यधिक कष्ट होने के कारण पण्डित जी ने कहा 'अब मुझे जाने दीजिए'। गुरुदेव भगवान ने कहा 'अभी नहीं' आपकी पूर्ण श्रद्धा मेरे प्रति है। मैं अपने तप का फल देकर आपको पूर्ण स्वस्थ करूँगा। पुनः पूर्ववत् कार्य करते हुए आपको देखूँगा। पण्डित जी के नेत्रों में आँसू आ गये। उन्होंने कहा आपकी तपस्या मेरे जीवन की सुरक्षा के लिए नहीं समाज के कल्याण के लिए है। गुरुदेव भगवान ने कहा—आपके स्वस्थ हो जाने में ही समाज का कल्याण है।

श्री पण्डित जी निःस्पृह समाजसेवी हैं। अनेक संस्थाओं में पण्डित जी उच्चासन पर विराजमान हैं; किन्तु उन्होंने अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध नहीं किया। निःस्पृह भाव से वे समाज की सेवा करते हैं। आज भी साल भर में एक बार में कई हजार रुपया समाज सेवा में देते हैं जिसे कोई नहीं जानता। अपने प्रिय मित्र श्री रामकुमार त्रिपाठी–जिनके अथक परिश्रम से यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, के साथ पण्डित जी के पास गया और उनके जीवन की बातें जानने का प्रयास किया, तो पण्डित जी ने कहा–"शौनक जी ! मुझे ऐसे मर जाने दीजिए कि मुझे कोई न जाने।" यह है पण्डित जी के जीवन की महानता।

समाज की व्यवस्था का दायित्व बुद्धिमानों पर है। बुद्धिमान ही मानवीय मूल्यों को सुरक्षित रखकर सामान्य जनता को मानव बनाने की दिशा में अग्रसर कर सकता है। इसी विचारधारा को लेकर नैमिष व्यास पीठाधीश्वर जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज के द्वारा पण्डित जी ने उद्‌बोधन समिति की स्थापना करवायी। पण्डित जी की अध्यक्षता में इस समिति ने कानपुर महानगर के बुद्धिमानों के हृदय में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

# आदरणीय पं० बाबूलाल जी मिश्र

**गुलाबदत्त त्रिपाठी**

बी० एस० एस० डी० कालेज, कानपुर

संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो वे जो केवल खाने के लिए ही जीते हैं, दूसरे वे जो जीने के लिए खाते हैं। पहले प्रकार के व्यक्तियों से संसार का कोई भी भला नहीं होता। जितने प्रकार की बुराइयाँ हो सकती हैं जैसे बेईमानी, भ्रष्टाचार, दुराचार आदि सब इसी प्रकार के व्यक्तियों में पायी जाती हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो सतत् समाज का चिंतन करते हैं, वे मनीषी होते हैं। अपने उदाहरण से समाज का मार्ग प्रशस्त करते हैं जिस पर चलकर समाज का कल्याण होता है। पूज्य पण्डित बाबूलाल जी मिश्र इसी दूसरे प्रकार के व्यक्तियों में अग्रणी हैं। आप उनके पास जाइये, कोई भी प्रश्न कीजिये, सरल एवं भावुक शब्दों में आप अपने प्रश्न का उत्तर पायेंगे और संतुष्ट हो जायेंगे।

यों तो पूज्य पंडित जी को मैं सन् १९४५ से जानता था, जब मैं विधि कक्षा में डी०ए०बी० कालेज का विद्यार्थी था; किन्तु सन् १९५९ में जब मैं बी० एस० एस० डी० कालेज में रसायन विज्ञान-विभाग का प्राध्यापक हुआ तब पण्डित जी के व्यक्तित्व का विशेष अनुभव हुआ। उनकी कार्य कुशलता एवं विलक्षणता का ज्ञान तो मुझे उस समय से हुआ जब मैं बी० एस० एस० डी० कालेज छात्र-संघ का संवैधानिक सलाहकार जुलाई सन् १९६३ में बनाया गया। जब-जब कोई संवैधानिक संकट उपस्थित होता था, तब-तब मैं पण्डित जी के पास जाता था और वे चाहे जितना व्यस्त हों, तुरन्त मेरी समस्या सुनते थे और सरल शब्दों में उसे सुलझा देते थे। आपातकालीन स्थिति में महाविद्यालय पर विपत्ति के जितने भी बादल मँडराये, पण्डित जी ने अपनी कार्यकुशलता एवं प्रभाव के कारण सभी को दूर किया और कालेज को बचाने का अथक प्रयास किया और सफलता भी प्राप्त की। पण्डित जी, कानपुर विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी में भी रहे तथा उसके संवैधानिक सलाहकार भी रहे। अपने कर्त्तव्य का पालन जिस कुशलता एवं निष्ठा के साथ आप करते हैं, वह अद्वितीय हैं।

जो केस आप कचहरी में अपने हाथ में लेते हैं उसे पूरी तैयारी के साथ प्रस्तुत करते हैं और विजय भी हासिल करते हैं। यह आम धारणा है कि पण्डित जी के पास गये केस में तो विजय निश्चित है ही।

पण्डित जी सादा जीवन उच्च विचार की जीती–जागती प्रतिभा हैं। वे सदा प्रसन्न चित्त रहते हैं एवं स्थितिप्रज्ञ हैं। पण्डित जी कई शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्धित हैं एवं सभी का मार्गदर्शन अत्यन्त सूझ-बूझ से करते रहते हैं। आप बी०एस०एस०डी० कालेज की प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष हैं तथा सनातन धर्म महामण्डल के महामन्त्री हैं। आपकी देख-रेख में ये संस्थायें उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। स्वर्गीय श्री हीरालाल जी खन्ना द्वारा संस्थापित कानपुर शिक्षा समिति के भी आप उपाध्यक्ष हैं एवं श्री हीरालाल खन्ना इण्टर कालेज प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष हैं और संस्था का मार्ग दर्शन करते रहते हैं। आपके सद्गुणों की प्रशंसा जितनी भी की जाये कम है। मैं तो उनके पुत्र के समान हूं।

भगवान से प्रार्थना है कि उन्हें दीर्घायु करें, जिससे हम सभी को उनका मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे।

—०—

# पं० बाबूलाल मिश्रस्याभिनन्दनम्

ब्रह्मर्षिविनोदाचार्यः

ब्रह्मावर्त पीठाधीश्वरः

परेषां हि हितं नित्यं निजं जानाति यो जनः।
स कर्म निरतो योगी धर्मात्मा गुणवान् मतः॥
ज्ञान बृद्धैर्वयो वृद्धैश्चिरायुष्यं शुभाशिषाः।
लभन्ते सज्जनाः सर्वे निजोपार्जित कर्मणा॥
स बाबूलाल मिश्रोऽयं विदुषां प्रीति भाजनः।
वन्दने सुधियां साधुर्मोदतां स्वाभिनन्दने॥

# पण्डित जी : एक प्रेरक व्यक्तित्व

**मोतीलाल मिश्र**

महामन्त्री

हिन्दी-भवन

बम्बई

पं० बाबूलाल जी मिश्र, मानव-जीवन-समाज के ऐसे आत्मनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ तथा सेवानिष्ठ व्यक्ति हैं, जिन्होने स्वयं अपने मानव-जीवन को मानवधर्मी महिमाओं-गरिमाओं से मण्डित्त कर व्यापक मानव-समाज को प्रतिष्ठाओं का प्रसाद प्रदान किया है। आज उनके ज्ञान-सम्मान की ख्याति, देश के ओर छोर फैली प्रतिमाओं की योग्यताओं-क्षमताओं के रूप में मुखरित हो, लोकप्रेरक बन गयी है। जीवन के ऐसे तपस्वी लोकसेवी का सम्मान, मानवीय इतिहास की यशस्विता का सम्मान है। मैं पण्डित जी के शतायु के लिए प्रार्थना करते हुए अभिनन्दन-समारोह के लिए शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

# एक अच्छे परामर्शदाता

**भक्त दर्शन**

भू० पू० केन्द्रीय राज्य शिक्षा मन्त्री

भू० पू० उप कुलपति

कानपुर विश्व-विद्यालय,

देहरादून

जिन दिनों मैं कानपुर विश्वविद्यालय की सेवा में नियुक्त था, उन दिनों मैं श्री मिश्र जी के सम्पर्क में आया था। वे कुछ समय तक उस विश्वविद्यलय की कार्यकारिणी समिति के एक सम्मानित सदस्य रहे थे तथा उनके परामर्श का लाभ मुझे तथा अन्य अधिकारियों को मिलता रहता था। मैंने पाया कि वे प्रत्येक प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कर लेने के बाद सदैव पूर्णतया निष्पक्ष सम्मति दिया करते थे।

कानपुर की शैक्षिक तथा सांस्कृतिक गति-विधियाँ तथा उनके समारोहों में भी मुझे प्रायः उनके दर्शन हो ही जाते थे और उन संस्थाओं तथा समारोहों में, जिस श्रद्धा और लगन के साथ वे सहयोग देते थे, उसके कारण मेरे हृदय में उनके प्रति गहरा सम्मान है।

मेरी भगवान श्री बदरीविशाल जी से करवद्ध प्रार्थना है कि वे, श्री बाबूलाल मिश्र जी को पूर्णतया स्वस्थ और दीर्घजीवी बनायें, ताकि उनके द्वारा अभी अनेक वर्षों तक राष्ट्र और समाज को मूल्यवान सेवाएं प्राप्त हो सकें।

# एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

**पं० अयोध्यानाथ शर्मा**

कानपुर

१९२२–२३ में मैं, डी.ए.वी. कालेज में लाइब्रेरियन था। उस समय कालेज की लाइब्रेरी केवल आठ आलमारियों की थी। अध्यापक और विद्यार्थी उसका पूर्ण उपयोग करते थे। कालेज की प्रारम्भिक स्थिति थी। छात्रों में विशेष लगन तथा उत्साह था। उनमें पुस्तकालय से लाभ उठाने की प्रवृत्ति थी। उस समय इण्टरमीडिएट आर्ट्स का एक गौरवर्ण, छरहरे बदन का विद्यार्थी प्रायः पुस्तकालय से पुस्तकें ले जाता था और उनको शीघ्र ही लौटा भी देता था। मैंने उससे पूछा कि वह पुस्तक ले जाता है और उसे दो–चार दिन रखकर ही लौटा देता है। इस प्रकार से अपने नाम के आगे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने से क्या लाभ ? तो उस विद्यार्थी ने तपाक से उत्तर दिया कि मैं पुस्तक समाप्त करके ही लौटाता हूं। वह विद्यार्थी, कानपुर के प्रसिद्ध एडवोकेट पं० बाबूलाल मिश्र थे। १९२३ में मैं काशी विश्वविद्यालय चला गया था। १९२६ में मेरी नियुक्ति सनातन धर्म कालेज में हुई। उसके उपरान्त १९२७ में जब मेरे छोटे भाई का विवाह हुआ तो कन्या पक्ष की ओर से पं० बाबूलाल जी मिश्र और उनके चचिया-श्वसुर श्री राधेलाल त्रिपाठी जी (आयकर अधिकारी) भी सम्मिलित हुये। बाबूलाल जी इस समय एल. एल. बी. करके इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आये थे और सौभाग्य से उन्हें श्री व्रजनारायण-मेहरोत्रा का सरक्षण और निर्देशन प्राप्त हुआ और उन्होंने वकालत प्रारम्भ की। हम दोनों ने एक दूसरे को भलीभाँति पहिचाना और पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो उठीं। पं० राधेलाल जी उनकी भूरिभूरि प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। उनको इस बात का गौरव था कि भगवान ने ऐसे होनहार और योग्य बालक की शिक्षा-दीक्षा का भार उनको सौंपा। पं० बाबूलाल जी बड़े परिश्रम, लगन और मनोयोग से वकालत का काम करने लगे। थोड़े दिनों में ही नये वकीलों में उनको शीर्षस्थ स्थान प्राप्त हो गया। उनकी स्मरण-शक्ति और प्रत्युत्पन्न मति के कारण उनकी ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और इस समय उनकी गणना कानपुर के सर्वश्रेष्ठ वकील के रूप में है।

पं० बाबूलाल जी नगर के सामाजिक और आर्थिक आयोजनों में भी रुचि लेने लगे। इसकी प्रेरणा उनको, बाबू विक्रमाजीत सिंह जी से मिली। उनकी कार्य-कुशलता और सहानुभूतिपूर्ण

दृष्टि के कारण उनको सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लेने के लिए लोगों का विशेष आग्रह होने लगा और वह भी अपने स्वभाव के कारण, उसे सहर्ष स्वीकार ही नहीं करते वरन् कुशलता से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते। फलस्वरूप नगर की प्रमुख संस्थाओं और ट्रस्टों में मिश्र जी को सम्मानित पदों पर आसीन करने के लिए लोग सतत् प्रयत्न करते रहे।

१९२९ में मिश्र जी की योग्यता और कुशाग्र बुद्धि से प्रभावित होकर बाबू-विक्रमाजीत सिंह ने उन्हें विधि-विभाग में प्रवक्ता के पद पर नियुक्त कर दिया। इस पद पर इन्होंने बड़ी कुशलता से कार्य किया और वह उस विभाग के अध्यक्ष हो गये। आगरा विश्वविद्यालय में वरिष्ठ विधि के अध्यापक होने के नाते फैकल्टी के डीन भी हो गये। इस बीच में उनके निकट आने का अधिक अवसर मिला।

भगवान से प्रार्थना है कि ऐसे यशस्वी, कीर्तिलब्ध, स्पष्ट वक्ता और निर्णायक बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति को दीर्घायु और सुन्दर स्वास्थ्य दें। मेरी शुभकामनाएं उनके साथ हैं।

# मेरे अपने पण्डितजी

**किशनलाल सूतवाले**

जनरलगंज, कानपुर

पण्डित वाबूलाल जी मिश्र उन विभूतियों में से एक हैं जो अपने शील, शक्ति तथा गुण-सौंदर्य से सभी मिलने-जुलने वालों को पूर्णतया आत्मसात कर लेते हैं। मेरा उनका सम्पर्क गत अनेक वर्षों से है। तब से मैं सहस्रों बार उनसे मिल चुका हूं और प्रत्येक बार उनके गुणों से प्रभावित हुआ हूं।

मुझे उनका वात्सल्य पूर्णरूपेण प्राप्त है और अब वे मेरे इतने निकट हैं कि मैंने, उन्हें निरन्तर अपना शुभचिन्तक, सलाहकार, हितैषी तथा सुपथ-प्रदर्शक पाया है। "अपनों" के विषय में सब-कुछ निष्पक्ष होकर कहना सरल नहीं है। पर जिस व्यक्ति ने अपने गुणों से मेरे तन-मन को अमिट भाव से प्रभावित किया है, उसके विषय में "हृदय की बातें" कहना तथ्य-कथन ही माना जायेगा।

उनका प्रथम गुण है "आत्म संस्कारी पुरुष" (Self Made Man) होना। कल्पना करिये कि जिस व्यक्ति के माता-पिता बाल्यावस्था में ही विलग हो जायें, वह जीवन-संग्राम में अप्रतिम विजय प्राप्त कर सके, यह अलौकिक नहीं तो और क्या है? सात वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते इस होनहार बालक के सिर से माता-पिता के साये हट चुके थे और उसके बाद वह स्व-सम्बन्धियों के आश्रय प्राप्त करके, अथक परिश्रम और सूझ-बूझ के साथ अर्थ-धर्म और काम नामक तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त कर सका और चौथा पुरुषार्थ मोक्ष, तो मैं समझता हूं कि उपरांकित तीनों गुणों का अनुगामी होगा ही।

पण्डित जी मित्रों के परम मित्र तथा उनके सतत हित-चिन्तक हैं। मित्रों का कार्य पूर्ण लगन से करना तथा उनके कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहना एवं अपनी व्यस्तता में भी उनके लिए समय निकाल लेना, यह उनका एक ऐसा गुण है जो अन्य जनों में कठिनाई से प्राप्त होता है। आजकल के स्वार्थी और नीरस जगत में उनका यह गुण उनके व्यक्तित्व को और भी अभिनन्दनीय बना देता है, पर उनका यह सुहृद्-स्नेह उनके जन-साधारण-प्रेम तथा सर्वहारा वर्ग के हित-चिन्तन की कसौटी पर सदैव परीक्षित होता रहता है। वे उस व्यक्ति को कभी नहीं अपना पाते जो उनके सम्मुख स्वार्थ-वश, मानव-विरोधी सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे इस बात की चिन्ता नहीं करते कि वह व्यक्ति राजा है या रंक।

अत्यधिक व्यस्त जीवन होते हुए भी पण्डित जी नियमित स्वाध्याय के लिए समय निकाल ही लेते हैं और अनेक पत्र-पत्रिकाओं, ग्रन्थों तथा धर्म–पुस्तकों में गोते लगाकर अपने ज्ञान-रत्नों में सतत् वृद्धि करते रहते हैं। मैंने जिस किसी भी विषय पर उनसे वार्तालाप किया उसमें उन्हें पारंगत ही पाया और वे मुझे विभिन्न विषयों में गहरी पैठ वाले एक अप्रतिम ज्ञानी के रूप में ही परिलक्षित हुए।

अद्भुत स्मरण शक्ति के धनी होने के साथ ही साथ पण्डित जी अनुपम वक्ता भी हैं। उनसे किसी भी विषय पर विचार प्रकटीकरण के लिए कह दीजिए, वे उस विषय की तह तक आपको पहुंचा कर, अन्त में स्व–ज्ञानामृत से आपको तृप्त कर देंगे।

उनकी इस ज्ञान–गरिमा का परिचय उस समय विशेष रूप से प्राप्त होता है जब वे एक वक्ता या अध्यक्षीय भाषण–दाता के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उस समय क्या मजाल कि उनके भाषण में कहीं विषयान्तर हो जाये अथवा पुनरावृत्ति दोष आ जाये, साथ ही साथ अपने पूर्ववर्ती सभी वक्ताओं की विचार–धाराओं का संक्षिप्त तथा सुचारु उल्लेख कर देना यह उनका अपना निजी गुण है। उनके अध्यक्षीय भाषण को सुन लेने से सभी वक्ताओं के वास्तविक कथनों का स्पष्ट प्रकटीकरण हो जाता है।

जिस प्रकार सुवास चन्दन का जन्मजात गुण है और पुष्प-पराग कुसुम का स्वाभाविक आकर्षण है, उसी प्रकार मृदुलस्मिति तथा हृदय–स्पर्शी विनोद आपका एक अन्य अभीष्ट गुण है। कार्य-व्यस्तता के मध्य में मानसिक उहापोह के बीच में तथा तर्क-वितर्क के चक्र-व्यूह में विनोद तथा शिष्ट हास्य की फुलझड़ियां छोड़ देना आपके बायें हाथ का खेल है। मानों यह नारा देते हुए कार्य–रत रहते हैं कि—

"जीवन एक संग्राम है, आराम हराम है,
पर थोड़ा मुस्कुरा लेना भी, एक मधुरिम काम है।"

पण्डित जी ने कानपुर के शिक्षा-जगत में भी प्रशंसनीय कार्य किया है। स्थानीय सनातन धर्म कालेज के विधि-विभाग में सफल शिक्षक का कार्य करने के उपरान्त वे उसके अध्यक्ष भी बनाये गये और १९५५ में आगरा विश्व विद्यालय द्वारा फैकल्टी आफ लॉ के डीन भी नियुक्त हुए। यही नहीं १९६३ में सरकार ने उन्हें इलाहाबाद हाई कोर्ट के न्यायाधीश के पद का भी आफर दिया, पर वे कुछ कारणवश उसे स्वीकार न कर सके।

निश्चय ही वे इस समय के शीर्षस्थ विधि-विशेषज्ञ तथा इस विषय के अनुपम ज्ञाता हैं। इसी कारण विधि-विषय में सहायता लेने के लिए उनके पास पहुँचने वाले सभी व्यक्ति उनसे पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं। साथ में उन्हें यह कभी भी गवारा नहीं होता कि उनका यह व्यावसायिक कार्य अर्थ–लाभ के कारण कभी भी निम्न कोटि का हेय बन जाय। कर्म पहले और अर्थ बाद में, यही उनके व्यावसायिक जीवन का ध्येय है। कानपुर के अनेक विद्यालयों की कार्यकारिणी के उच्च पदों पर कार्य करते हुए, नगर के शिक्षा जगत को उन्होंने बहुत सुचारु ढग से संवारा है और उन्नत किया है।

पण्डित जी उन स्थितप्रज्ञ महानुभावों में से एक हैं, जो उन्नति, विपत्ति और सम्मति सबमें समान रहते हैं। ऐसे अप्रतिम, कर्मठ, धैर्यवान तथा स्थितप्रज्ञ हैं हमारे पण्डित जी।

अनेक धर्म संस्थाओं के संरक्षक, अध्यक्ष तथा अन्य उच्च स्थानों पर रह कर उन्होंने धार्मिक क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य किया है तथा धर्म और भारतीय संस्कृति को अपने विशेष सेवाएं अर्पित की हैं। कहना तो बहुत कुछ है, पर विस्तार भय से अधिक न कह कर इतना ही कह कर सन्तोष करूंगा कि—"थोरेहि महँ जानिहहिं सयाने"।

# स्वदेशी आचरण के महान् विधिवेत्ता

**डा० राजाराम जैपुरिया**

कानपुर

पं० बाबूलाल जी मिश्र, जैसा कि सभी जानते हैं, कानपुर के सुप्रसिद्ध नागरिक, प्रदेश के प्रख्यात विधिवेत्ता तथा मानव–समाज–सेवी–संस्थाओं के सफल मार्गदर्शक हैं। आधी शताब्दी पूर्व, जब उन्होंने कानपुर के समाज-जीवन में प्रवेश किया था, उसी समय से उनके प्रति सम्मान की भावना का अंकुरण समान आयु–वर्ग में हुआ था। पचास वर्ष की लम्बी अवधि में निरन्तर बढ़ती हुई उनकी सर्वोच्च स्तर की उपयोगी तथा सहयोगी सेवाओं ने, अब अपनी स्तरीय व्यापकता को इतना सर्वव्यापी तथा उच्चतम बना लिया है कि न केवल कानपुर महानगर वरन् प्रदेश-देश का सम्पूर्ण बौद्धिक वर्ग, उसके प्रभाव से प्रतिभावान है और यही कारण है कि पं० बाबूलाल जी मिश्र के अभिनन्दन का समाचार सभी के लिए सुखद तथा आनन्दप्रद है।

पं० बाबूलाल जी मिश्र, स्वदेशी आचरण के महान् विधिवेत्ता हैं। उनकी राष्ट्रीयता, नैतिक चरित्र-निर्माण में निहित है। अपने प्राध्यापक-व्यक्तित्व के विचाराचरण द्वारा हजारों छात्रों, साथियों सहयोगियों तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक संस्थाओं को उन्होंने, स्वदेशी आदर्श का आचरणशील प्रशिक्षण प्रदान किया है। वे, आज भी ऐसी दर्जनों संस्थाओं की प्राण–शक्ति हैं और उनकी यह जीवनात्मक तथा समाजसेवी प्राण-शक्ति, भावी पीढ़ियों को भी अनुप्राणित करती रहेगी। उनकी सेवाओं तथा योग्यताओं का फलित-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और हम-जैसे लोगों को आश्चर्य होता है कि उन्होंने, जीवन के किन महामन्त्रों के माध्यम से ऐसी श्लाघनीय सफलता प्राप्त की है।

पं० बाबूलाल जी मिश्र, मेरे पूज्यनीय पिता जी की पीढ़ी के अत्यधिक सम्माननीय विभूति हैं, मेरे परिवार तथा मेरे प्रतिष्ठान को उनसे समय-समय पर उपयोगी मार्गदर्शन प्राप्त हुए हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि पण्डित जी शतायु तक स्वस्थ्य होकर मानव-समाज का कल्याण करते रहें।

# पण्डित जी : एक बहुमुखी व्यक्तित्व


## डा० गौरहरि सिंहानिया

कानपुर


पं० बाबूलाल जी मिश्र, व्यक्तित्व के रूप में अनेक संस्थाओं की संचालक संस्था हैं। अपनी अद्भुत प्राण-शक्ति के जीवनाचरण से समाज, संस्कृति, धर्म तथा शिक्षा के क्षेत्रों में ऐसी सेवाओं को मूर्त रूप दिया है, जो भविष्य की शताब्दियों तथा मानव–पीढ़ियों को आत्म-शिक्षा प्रदान करती रहेंगी।

पं० बाबूलाल जी मिश्र, मेरे अग्रजों में ऐसे प्रमुख हैं, जिनसे, मुझे और मेरे परिवार को निरन्तर उपयोगी मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है। अपने दीर्घकालीन व्यावहारिक सम्पर्क के आधार पर आज, जब महानगर कानपुर उनके अभिनन्दन की तैयारी कर रहा है, मैं यह कहने की स्थिति में हूं कि पण्डित जी ने अपनी योग्यता, अपने व्यवहार तथा अपने आचरण से प्रदेश को उच्चस्तर की एक बौद्धिक पीढ़ी प्रदान की है, जो आज के भारत की प्रतिभा की एक समूची इकाई है।

मुझे स्मरण नहीं आता कि पण्डित जी को कभी द्विविधा के कुहासे का सामना करना पड़ा हो। इतनी प्रखर और मुखर बौद्धिकता के व्यक्ति कम ही देखने को मिलते हैं। जहाँ तक महानगरी कानपुर का सम्बन्ध है, यहाँ की सभी मानवीय गतिविधियों में पण्डित जी के प्रभाव का योग विद्यमान है।

हम अपनी, अपने परिवार तथा कानपुर के सभी नागरिकों की ओर से उनके प्रति समादर व्यक्त करते हुए उनके शतायु होने की कामना करते हैं।

# पं० बाबूलाल मिश्र : एक आदर्श चरित्र

**देवेन्द्र स्वरूप, एडवोकेट**

कानपुर

'पं० बाबूलाल मिश्र' कानपुर की जानी–मानी हस्तियों में एक ऐसा नाम है, जिसका प्रभाव समाज, धर्म, संस्कृति शिक्षा के क्षेत्र में बहुत आदरणीय है। पं० बाबूलाल जी मिश्र एक लम्बे समय तक विधि महाविद्यालय में विभागाध्यक्ष रहे और इस लम्बी अवधि में उनके विद्वान् व्यक्तित्व ने हजारों विधि-छात्रों को उपयोगी, व्यावहारिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की शिक्षा प्रदान की। पण्डित जी, अध्ययन-सेवा से पृथक् भी अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण सहज ही एक व्यापक मानव-समाज के 'गुरू' रहे हैं।

मेरा सोभाग्य रहा है कि मुझे, सम्माननीय पं० बाबूलाल जी मिश्र की घनिष्ठता सदैव प्राप्त रही है और मैंने, सदैव पूरी गहराई से अनुभव किया है कि उनकी आत्मा में सभी व्यक्तियों तथा उनकी जीवनात्मक विधाओं के लिए हार्दिक शुभकामनाएं जाग्रत रही हैं।

पं० बाबूलाल जी, अपने समय के प्रख्यात विधिवेत्ता, महान् समाज सेवी तथा प्रबुद्ध राष्ट्रीय विचारक पं० पृथ्वीनाथ जी की लोकप्रियता को अपना आदर्श मानकर वकील बनने का संकल्प लिया था और आज हम-लोग साक्षी हैं कि पण्डित जी को अपना लक्ष्य प्राप्त करने में पूरी सफलता प्राप्त हुई है।

कानपुर का समस्त अभिवक्ता–वर्ग, विगत अनेक दशकों से पण्डित बाबूलाल जी से मार्गदर्शन प्राप्त कर रहा है और यह कहना अनुचित न होगा कि कानपुर की विधि-विषयक योग्यताओं के इतिहास में जो विशेष कीर्ति–अध्याय लिखे गये हैं, वे, पण्डित जी की ही देन हैं।

कानपुर, जीवन का एक अथाह समुद्र है। इस जीवन-समुद्र में मणि–मुक्ताओं की कमी नहीं रही। किन्तु इतिहास के साक्ष्यानुसार पं० पृथ्वीनाथ तथा गणेशशंकर विद्यार्थी के बाद सामाजिक धरातल पर जीवनादर्श की जो रिक्तता आ गयी थी, उसे भरने का पुण्य, पं० बाबूलाल जी मिश्र के जीवनाचरण से हुआ है।

मेरी दृष्टि में पं० बाबूलाल जी मिश्र, जीवन-समाज तथा उसकी गतिविधियों के ऐसे कीर्ति-स्तम्भ हैं कि भावी पीढ़ियां भी उनसे आदर्श चरित्र की प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगी।

मेरी आत्माकांक्षा है कि पण्डित जी को स्वस्थ्य शतायु प्राप्त हो और वे, हमें मार्ग–दर्शन प्रदान करते रहें।

# युवा-पीढ़ी के प्रकाश-स्तम्भ

**गोपालस्वरूप पाठक**

भू० पू० उपराष्ट्रपति, भारत

अभिभाषक, उच्चतम न्यायालय

नई दिल्ली

मेरे हृदय में पं० बाबूलाल मिश्र के लिए उच्चतम सम्मान है। वे एक लम्बे समय तक दीवानी के प्रख्यात अधिवक्ता तथा विधि-प्रवक्ता रहे हैं। मुझे अपने संगठन के लिए उनसे महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त करने के प्रसन्नतापूर्ण अवसर प्राप्त हुए हैं। उन्होंने अपनी योग्यता तथा आचरण से अभिभावक-वर्ग तथा व्यवसाय को उच्चतम नैतिकता एवं प्रतिष्ठा प्रदान की है और उनके आदर्श चरित्र का यह उदाहरण सदैव अभिभाषक-वर्ग के समक्ष विद्यमान रहेगा। क्योंकि युवा अभिभाषक पीढ़ी के लिए वह प्रकाश-स्तम्भ बन चुका है। अपने निजी जीवन में भी उन्होंने अपने को उच्चतम आध्यात्मिक धरातल पर प्रकाशित कर लिया है।

मैं आकांक्षा करता हूं कि पं० बाबूलाल मिश्र को स्वस्थ दीर्घ जीवन प्राप्त हो।

# एक तपस्वी–मनस्वी, व्यक्ति–व्यक्तित्व

**रामनारायण त्रिपाठी**

संसद सदस्य (लोकसभा)

कानपुर

समाज, संस्कृति तथा इतिहास के ये तथ्य अब पूरी तरह उजागर हो चुके हैं कि विगत आधी शताब्दी के साधनाशील जीवन की सक्रिय योग्यताओं-क्षमताओं द्वारा पं० बाबूलाल जी-मिश्र ने, कानपुर को प्रतिभाओं की एक पीढ़ी तथा मानवीय आचरण की एक आदर्श आत्म-जागृति प्रदान की हैं। शिक्षा-क्षेत्र में की गयी उनकी सेवाओं का महत्व, इतिहास–निर्माण की शक्तियों से भरपूर है। ऐसे तपस्वी-मनस्वी व्यक्ति-व्यक्तित्व का अभिनन्दन-समारोह भी निश्चित रूप से, समाज-जीवन को लोक-कल्याण के नये संकल्प तथा प्रकाश प्रदान करेगा।

पं० बाबूलाल जी मिश्र-जैसे तपस्वी-मनस्वी व्यक्ति के लिए मैं, ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि ईश्वर उन्हें स्वस्थ्य रख कर लम्बी से लम्बी आयु प्रदान करे, जिससे वे, मानव-समाज का अधिकाधिक कल्याण कर सकें।

मैं व्यक्तिगत रूप में पं० बाबूलाल मिश्र के प्रति आदर व्यक्त करते हुए "पं० बाबूलाल मिश्र–अभिनन्दन-ग्रन्थ' के गरिमापूर्ण बनने एवं अभिनन्दन–समारोह की सफलता की कामना करता हूं।

# अपने–आप में एक संस्था

**राममनोहर त्रिपाठी**

अध्यक्ष

महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी

बम्बई

पं० बाबूलाल मिश्र कानपुर के सामाजिक, शैक्षणिक क्षेत्र में एक समर्पित व्यक्ति के रूप में सम्मानित हैं। विगत अनेक वर्षों से उनके द्वारा हर क्षेत्र में सेवा-कार्य को महत्व की दृष्टि से देखा जाता रहा है। उनसे, अनेक लोगों को प्रेरण मिलती रही है और उनके मार्ग–दर्शन से अनेक संस्थाएं कानपुर के जनजीवन को अनुप्राणित करती रही हैं। वयोवृद्ध श्रद्धेय पण्डित जी अपने-आप में सम्पूर्ण एक संस्था हैं। कानपुर महानगर की, उन्होंने संकल्प–पूर्वक सेवा की है। वहां के विद्वानों ने उनका अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय किया है, यह आभार-दर्शी-ग्रन्थ, उनके व्यक्तित्व का दर्शन प्रस्तुत कर सकेगा, इसकी मुझे आशा और विश्वास है। श्रद्धेय-पण्डित मिश्र को मेरा सादर प्रणाम्।

# एक स्थितप्रज्ञ योगी

**महेशप्रसाद मेहरोत्रा**

न्यायाधीश

उच्च न्यायालय

इलाहाबाद

मान्यवर पण्डित जी के प्रथम दर्शन मैंने जुलाई सन् १९४५ में कानपुर न्यायालय में किये जब मैं, इलाहाबाद से कानपुर वकालत करने के लिए गया। उस समय भी वे अत्यन्त ख्यातिमान अधिवक्ता थे और बहुधा ही वे मेरे पूज्य गुरू स्वर्गीय श्री रामनाथ सेठ के विरुद्ध मुकदमें में अधिवक्ता के रूप में खड़े होते थे। धीरे-धीरे मेरा उनसे, निकटतम सम्पर्क हुआ और मैंने उनके महान् व्यक्तित्व का परिचय समीपता से प्राप्त किया। उनकी वाणी में अनोखी मधुरता तथा स्वभाव में अनोखी शिष्टता का अनुभव मैंने किया। कभी उनको मैंने क्रोध की मुद्रा में नहीं देखा। जीवन में इतनी सफलता पाने पर भी उनके पैर कभी नहीं लड़खड़ाये। घमण्ड तथा अहंभाव से वे हमेशा दूर रहे। मैंने उनको अत्यन्त दुःख के क्षणों में भी देखा। उनकी इकलौती लड़की की असामयिक मृत्यु हो गई और उस भयानक आघात को उन्होंने अत्यन्त साहस से सहन किया। वह उस समय भी अविचलित रहे। जीवन के उतार–चढ़ाव में सम-भाव रखने वाले व्यक्ति मैंने कम देखे हैं और पण्डित जी उनमें-से एक हैं।

व्यक्तिगत रूप से उन्होंने मुझे बहुत स्नेह दिया है और इस शुभ अवसर पर मैं उनके प्रति कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रकट करता हूं।

इधर वह शरीर से अस्वस्थ चल रहे हैं। मेरी भगवान से प्रार्थना है कि उनको शीघ्र स्वास्थ्य लाभ हो तथा वह अभी वर्षों हमारे बीच में प्रकाश-पुञ्ज के रूप में दैदीप्यमान रहें। उनके बैठे रहने की बड़ी शोभा हैं।

# पं० बाबूलाल मिश्र का व्यक्तित्व

## डा० रामप्रसाद त्रिपाठी

वाराणसी

श्री पं० बाबूलाल मिश्र का जन्म १९०३ ई० में गोण्डा शहर में हुआ, इनके पिता का नाम पं० श्रीकान्तनारायण मिश्र, एवं माता का नाम मुल्ली देवी था। दो वर्ष की आयु में पिता का तथा सात वर्ष की आयु में माता का दुःसह वियोग इन्हें सहना पड़ा। ये अपनी पितामही एवं माता के साथ कानपुर आकर अपने फूफा श्री पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र के संरक्षण में बाल्य-काल से रहने लगे। फूफा जी के द्वारा इनकी आवासीय व्यवस्था एवं शिक्षा व्यवस्था हुई। सोलहवें वर्ष में फूफा जी ने इनके विवाह-संस्कार की भी व्यवस्था कर दी।

इन सब कठिनतम परिस्थितियों को पार करते हुए बी० ए० की उपाधि प्राप्त कर प्रयाग विश्व विद्यालय की एल-एल० बी० परीक्षा में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। पुनः कानपुर आकर प्रख्यात एवं प्रतिष्ठित वकील श्री ब्रजनारायण मेहरोत्रा के निरीक्षण में वकालत का अभ्यास करने लगे। थोड़े ही दिनों में अपने क्षेत्र में प्रसिद्ध होने के साथ-साथ लोक-सेवा में भी अग्रणी बने। छात्रावस्था से ही आप में देश-भक्ति का स्रोत बहता था, महामना मालवीय जी के अनुपम गुण-गान आपमें घर कर लिये थे।

अब समय पाकर स्वदेश-प्रेम की सरिता के आप उद्गम-स्थान साबित हुए। वकालत से जब आपकी आय बढ़ी, तो स्वयं आपने आय-कर देना आरम्भ किया, जो आपकी राष्ट्र-सेवा का प्रज्ज्वलित प्रमाण है। कानपुर के सनातन-धर्म कालेज में आप ने विधि विषयक अध्यापन भी किया। सन् १९६४ में उससे विरत होने पर भी अनेक शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के संरक्षकत्व का भार अब भी आप वहन कर रहे हैं। अखिल भारतीय स्तर की सामाजिक एवं धार्मिक संस्था उद्बोधन-समिति का अध्यक्ष-पद आज तक आपसे अलंकृत है।

# पण्डित जी : महान् प्रेरणा-पुंज

**डा० हेमलता स्वरूप**

कुलपति

कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर

'पं० बाबूलाल मिश्र' गायत्री-मंत्र की भांति जीवन की दिव्य शक्तियों को जाग्रत करने वाली एक संज्ञा है। इस संज्ञा की आत्मा में, मानव-जीवन की उन तमाम शक्तियों की साधना का बोध और उसे साधनाशील बनाने का अभिप्राय निहित है, जिसके परिणाम-स्वरूप जीवन को समाज, संस्कृति, तथा धर्म के क्षेत्रों में इतिहास की प्रतिष्ठाएं प्राप्त होती हैं।

पं० बाबूलाल जी मिश्र, आधुनिक कानपुर–जीवन के कीर्ति-स्तम्भ हैं, आदर्श चरित्र हैं और उनकी उपस्थिति, प्रभात की भांति जीवन-समाज को कर्म–जागरण प्रदान करती है। वे जीवन के महान् प्रेरणा-पुंज हैं और उनके दर्शन में अलौकिक संदेश-शक्ति है।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे उनका स्नेह प्राप्त रहा है। कानपुर की सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक संस्थाओं द्वारा आयोजित समारोहों में प्रायः मुझे पण्डित जी के साथ बैठने तथा उनके विचारों को सुनने के अवसर प्राप्त हुए हैं और मेरे लिए भी यह एक जीवनात्मक आश्चर्य रहा है कि उनके प्रत्येक दर्शन ने, मुझमें अपेक्षाकृत उच्चतम तथा दिव्यतम जीवन-सोपान की रचना की है। वे, मेरी गति-प्रगति के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं और इसीलिए मैं, अपने में उनके लिए सर्वोत्तम समादर अनुभव करती हूं।

कानपुर, जो कि मूलतः एक औद्योगिक महानगर है और जो, दैनिक आय पर आश्रित मजदूरों, फुटपाथी दूकानदारों तथा रिक्शाचालकों की भारी उपस्थिति के कारण अपनी सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक पहचान के प्रति उदासीन होता जा रहा है, में पण्डित जी की उपस्थिति कानपुर को अतिरिक्त प्रतिष्ठा प्रदान करती है। आज भी कानपुर मानव–समाज की तमाम कलात्मक संस्थाओं के संरक्षण का दायित्व पण्डित जी पर है और वे संस्थाएं, अपने-अपने क्षेत्र में मानव-जीवन की महान् सेवा कर रही हैं।

पं० बाबूलाल जी मिश्र के अभिनन्दन के प्रति मेरे हृदय में उच्चतम समादर भावनाएं हैं और मैं आशा करती हूं कि पण्डित जी, शतायु तक स्वस्थ रहकर कानपुर–जीवन–समाज को अनुप्राणित करते रहेंगे।

# उन्नति के उच्च शिखरों पै चढ़ते गये

पं० 'विमलेश' शास्त्री भगवताचार्य

नैमिषारण्य

बाल-काल में ही पिता, माता का वियोग हुआ,
सुख–सुविधा के सभी स्रोत, कढ़ते गये।
भाग्य–रूपी व्योम पै विपत्ति घटा टोप लिये,
गहन निराशा–रूप घन मढ़ते गये ।।
'विमलेश' समय ने रोका, वढ़ना न ठीक,
शिक्षा–क्षेत्र मध्य वढ़ना था वढ़ते गये।
वावूलाल मिश्र अवरोध सब दूर कर,
उन्नति के उच्च शिखरों पै चढ़ते गये ।।
विघ्न तथा वाधा से जो व्यक्ति रुकता है नहीं,
वह निज लक्ष्य का विजेता वन जाता है।
अनासक्त होके, कर्म - योग में प्रवृत्त होता,
वही निज भाग्य का प्रणेता वन जाता है ।।
'विमलेश', वावूलाल मिश्र समाज - सेवी,
दयाशील व्यक्ति चारु चेता बन जाता है।
संयम की अग्नि में जो मन तपा लेता वही,
विश्व का विशिष्ट एक नेता वन जाता है ।।

## शुभ कामना

साधना के क्षेत्र में समत्व-योग प्राप्त करें,
विश्व – बन्धुत्व की मञ्जु-नींव धरते रहें।
अपनी उदार मनो-वृत्ति से समाज–गत,
स्वार्थ-पूर्ण मानव प्रवृत्ति हरते रहें ।।
'विमलेश', विश्व में अशान्ति को हटाके आप,
सुविवेक द्वारा, शांति-भाव भरते रहें।
बाबूलाल मिश्र, मञ्जु मानस-मराल हो के,
युगों - युगों धर्म का प्रचार करते रहें ।।

# मिश्रजी और धार्मिक जन-जागरण

## विज्ञानपूजन

नैमिषारण्य

पं० वावूलाल जी मिश्र कानपुर नगर के प्रख्यात अधिवक्ता एवं सनातन धर्म के निष्ठावान् सक्रिय नेता हैं। नगर के धार्मिक जन-जागरण के प्रत्येक अभियान में उनका रचनात्मक योगादान अत्यन्त सराहनीय तथा अभिनन्दन के योग्य है। नैमिषारण्य के प्रसिद्ध सन्त जगदाचार्य गुरुदेव भगवान् श्री स्वामी नारदानन्द जी सरस्वती महाराज ने उत्तर प्रदेश के धर्म-प्रचार-केन्द्र, एक प्रकार से कानपुर महानगर को बना रखा है अनेक प्रयोगों के आयोजन इस नगर में अनेक रूपों में हो रहे हैं, उन सव में आदरणीय श्री मिश्र जी का पूर्ण सहयोग और समर्थन है। नानाराव पार्क में वट–वृक्ष का आदर्श–अध्यात्म महा-विद्यालय उत्तर भारत में अपना विशेष अनुपम स्थान रखता है, उसके सुचारु संचालन और निरीक्षण का आप विशेष ध्यान रखते हैं। गणेशोद्यान फूल वाग के वार्षिक–महोत्सव के कई वर्षों तक वे प्रधान मन्त्री बने रहे हैं और इस समय अध्यक्ष हैं। भारत भक्त समाज और उद्वोधन समिति के सम्मेलनों के भी वे प्रेरणा-स्रोत हैं।

अन्य प्रसिद्ध महात्माओं एवं धार्मिक संस्थाओं के द्वारा जो धार्मिक महोत्सव इस नगर में होते हैं, उनमें भी पण्डित जी का यथेष्ठ सहयोग रहता है। श्रुति-स्मृति प्रतिपाद्य, शास्त्र सम्मत और गौरवपूर्ण रामायण एवं महाभारत के ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को वे राष्ट्र के लिये कल्याणकारी मानते हैं। उनका यह निश्चित अभिमत है कि भौतिक विज्ञान पर आध्यात्मिक नियन्त्रण आवश्यक है और "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के भारतीय ज्ञान के आधार पर ही वसुधैव कुटुम्ब की स्थापना सम्भव है और यही विश्व-शान्ति के समाधान की भूमिका है। उनका विश्वास है कि गीता का दार्शनिक ज्ञान एवं कर्म योग का सुगम भागवत-पथ, विश्व-धर्म की आधार शिला हो सकता है।

उनकी सार–ग्राही निर्णायक–विवेचन-शैली सम्मेलनों में अग्रणीय भाषणों में प्रगल्भ रूप से प्रगट होती है। वे मानव के विकास में प्रेरणा-प्रोत्साहन के समर्थक हैं और दोषों के परिमार्जन पर विश्वास रखते हैं। मानव-जीवन में सन्त संग की अपरिहार्य आवश्यकता है इससे गुणों का विकास और दोषों का उन्मूलन होता है।

भगवद् सत्ता के प्रति उनकी पूर्ण आस्था है। उसकी उपासना के लिये प्रार्थना, संयम, शास्त्रीय सगुण आराधना आदि सम्बल परम आवश्यक हैं, इनमें उनका विश्वास है। इन विचारों के साथ उनका नागरिक अभिनन्दन उत्साह-वर्धक एवं सराहनीय है।

# प्रख्यात विधिवेत्ता तथा शिक्षा-प्रेमी

**वीरेन्द्र बहादुरसिंह चन्देल**

विधान भवन, लखनऊ

पं० बाबूलाल जी मिश्र प्रख्यात विधिवेत्ता के रूप में जाने और माने जाते रहे हैं। कानपुर विधि महाविद्यालय के प्राचार्य पद को भी आपने सुशोभित किया है तथा अनेक वर्षों तक कानपुर बार के प्रेसीडेन्ट रहे हैं। एस० डी० कालेज, कानपुर के प्रेसीडेन्ट के रूप में शिक्षा-जगत में श्री मिश्र जी की सेवायें प्रसंशनीय रही हैं। उत्तर प्रदेश बार कौंसिल के वर्षों तक सदस्य रहे हैं। ऐसे प्रतिभावान व्यक्तित्व द्वारा समाज के बहुमुखी क्षेत्रों में की गयी विपुल सेवाओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने का दायित्व भी समाज पर ही है। इस प्रकार के आयोजन सर्वथा सराहनीय हैं। इन शब्दों के साथ अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन एवं समारोह की सफलता का कामना करता हूं।

# एक सत्वगुणी व्यक्तित्व

**व्रजनन्दन प्रसाद मिश्र**

नैमिषारण्य

सर्वप्रथम पंडित जी से आकर्षित होने का अवसर इस प्रकार प्राप्त हुआ कि मैं पंडित जी के पड़ोस के एक गृह की तलाशी ले रहा था। तलाशी समाप्त नहीं हुई थी कि मध्य ही में पंडित-जी भी मकान के भीतर आ गये। तलाशी समाप्त होने पर प्राप्त-आपत्तिजनक वस्तुओं का विवरण-पत्र लिखकर मैंने पंडित जी से निवेदन किया कि साक्षी होने के हस्ताक्षर कीजिये। विधान के अनुसार पंडित जी ने विवरण-पत्र पर हस्ताक्षर करके नोट लिख दिया कि उनके समक्ष अमुक वस्तु मकान से मिली।

एक ऐडवोकेट का यह असाधारण व्यवहार था। यदि कोई अन्य अधिवक्ता होता तो वह हस्ताक्षर न करने के लिए अनेक निमित्त ढूँढ़ता, क्योंकि यदि कोई वकील किसी अभियोग का साक्षी हो जाता है तो विधान के अनुसार वह उस अभियोग के अभियुक्त का वकील नहीं हो सकता।

पंडित जी का स्वरूप मैंने अदालतों में कतिपय अभियोगों के सम्बन्ध में अवलोकन किया। पंडित जी में यह विशेषता है कि वह विपक्ष को किसी अवैधानिक क्रिया से भी क्रोधित नहीं होते बल्कि सौम्य मुसकान के साथ उनका प्रतिकार करते हुए अपने पक्ष का कार्य करते हैं। उनका Cross Examination (जिरह) और Argument (बहस) सराहनीय तथा अनुकरणीय है। उनकी जिरह और बहस मधुर वैधानिक तथा व्यक्तिगत आक्षेप से रहित होते हैं, किसी प्रकार का उद्वेग उनकी भाषण शैली से नहीं प्रकट होता। उनका Cross-Examination और Argument केवल इस उद्देश्य का पूरक होता है कि कोर्ट को विधानानुसार निर्णय लेने और सत्य की खोज करने में सहायता मिले।

पंडित जी के इस स्वरूप को देखकर प्रायः मैं यह सोचता कि यदि पंडित जी किसी शिक्षा संस्थान में कार्य करते तो समाज के लिये अधिक उपयोगी होते। मैंने सुना कि पंडित जी सनातन-धर्म कालेज कानपुर में कानून की शिक्षा देने के लिये अंशतः नियुक्त थे।

पंडित जी के सामाजिक जीवन में उनके अनेक सम्पर्क रजोगुणी भी थे परन्तु उन पर रजोगुण का प्रभाव नहीं पड़ सका, प्रत्युत उनके अनेक रजोगुणी सम्पर्क, सत्वगुण के प्रभाव में पड़ कर बदल गये।

विधान के अनुसार प्रत्येक अधिवक्ता को प्रारम्भ में किसी वयोवृद्ध अनुभवी अधिवक्ता से शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है। पंडित जी को भी ऐसा करना पड़ा। परन्तु पंडित जी के भगवत्प्राप्त पुरुषार्थ और योग्यता ही को इसका श्रेय अधिक है कि वह अल्पकाल ही में कानपुर नगर में एक अग्रगण्य ऐडवोकेट और समाजसेवी के रूप में प्रगट हुये।

# पं० बाबूलाल मिश्र परिचय :

आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र

वदायूँ

गोंडा नगर्यां तृतीय तिथ्याम्, दिसम्बरे मासि जनुर्गृहीत्वा ।
कृतर्थया मास स्तुमातुरङ्कम् श्री कान्त नारायण मिश्र धाम्नि ॥ १ ॥

स्वनामधन्योवदरोतिपूर्वको नारायणो 'मिश्र' उपाह्वभूपः ।
प्रतिष्ठितो नागरिकः पितामहो हृदि प्रमोदं परमं दधार ॥ २ ॥

परां मुदं लातिस्व पुत्र जन्मना, हृदीति 'मुल्ला' जननी सुगर्विता ।
कुभाग्य राहु ग्रसनादकालतः, अलेखयत् कान्त वियोगमात्मनः ॥ ३ ॥

श्रीकान्त नारायणतोवियोगं, लेभे सती दुर्विधिसन्निविष्टा ।
मुदं लुनातीति च विग्रहेण, 'मुल्लो' तदाख्यामिय मासिषेवे ॥ ४ ॥

पितामहस्वर्गमनात् पितामही, वैधव्य दुःखं विपुलं वहन्ती ।
धवाद वियुक्ता जननी कथाञ्चित्, एतत् सुतस्याभरणं ह्यकार्ष्टंभि ॥ ५ ॥

रक्षेत् प्रवातोऽपि वने ह्यनावृतम्, प्रदीप मायुष्य युतं निरन्तरम् ।
अरक्षितस्तिष्ठतिदैवरक्षितः, सुरक्षितो दैव हतो विनश्यति ॥ ६ ॥

अतस्तु 'बाबू' इति पूर्वशोभिताम्, तदुक्षरे 'लाल' इति प्रयोजिताम् ।
दधौ शुभाख्यां कुल 'मिश्र' दीपिताम्, प्रभां प्रदोषे नवलां पंथा विधुः ॥ ७ ॥

सतोष पोषं ह्यलभद् यदादर्भको, गृहे ·घुमन्यां, खलु मातृपितृके ।
परं तुकश्चिन्न तदाऽन्त्रमन्यत, "अयं यशस्वी भवित्ता प्रतापवात्" ॥ ८ ॥

जगन्नाथ प्रसादेन जनकस्वसुरात्मनः ।
कायेन मनसा नित्यं विकासं प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

सप्तमे हायने विद्यारम्भे हा मातृवत्सलः ।
अयं मातृवियोगं तु विषोढु विधिनिर्मितः ॥ १० ॥

असौ षोडशवर्षीयो वैक्रमे न्यून विंशके ।
परीक्षामष्टमीं तावत् तीर्णोऽङ्कैः रुत्तमैः सुधीः ॥ ११ ॥

गायत्री देवीं तनयां, श्यामलाल त्रिपाठिनः।
उपयेमे ह्ययं धीरः, विद्यार्जन परायणः ॥ १२ ॥

दयानन्द विद्यालयादेष छात्रोऽलभत् स्नातकस्याऽप्युपाधिं तपस्वी।
परं पारतंत्र्यंस्वराष्ट्रस्य नित्यं, हृदि प्रव्यथो संवितेनेऽतिमानम् ॥ १३ ॥

तदानीं परोराष्ट्रभावः समन्तात्, जजागार विक्रोन्त यूनां हृदन्तः।
महान् मालवीयो गणेशस्यचाऽग्निम्, समुद्दीपयामास चण्डाऽप्रशाम्याम् ॥१४॥

अहो सांस्कृती दैशिकी वेषभूषा, बुधोमालवीयस्य यूनां नितान्तम्।
प्रभावं किरन्ती परा वाग्मिताऽस्य, समाऽर्जयद् 'बाबुलालस्य' चित्तम् ॥१५॥

ततो राष्ट्र भक्त्यैव सं प्रेरितोऽयं, स्वदेशस्य चान्दोलते कर्मयोगी।
स्नेतृत्वसामर्थ्यं मात्रां दधानः, पुरोगण्यतामाप्त एष प्रयासे ॥ १६ ॥

गणेशः शङ्करोभूत्वा, विद्यार्थी राष्ट्रभावनः।
नवीनो बालकृष्णोऽभूत्, शिवोनारायणांऽग्रिवा ॥ १७ ॥

'बाबूलालस्तु मिश्रोऽयं, विद्याऽभिरुचिवात् द्विजः।
मतोनिवेशयामास विधेरध्यमते तदा ॥ १८ ॥

भूत्वा विधि विशेषज्ञो जन सेवा परायणः।
सदस्यः पालिकायां वै, निर्विरोधमचीयत ॥ १९ ॥

अध्यक्षतां विधिविभाग पदेऽकरोत् सः, निर्वाचितः परिषदो विधिपण्डितानाम्।
सामाजिका सु किल शैक्षिक धार्मिका सु, संस्थासु वा विदधते सहयोग भावम् ॥२०॥

—०—

# श्रद्धेय श्री पं० बाबूलाल जी मिश्र

**कैलाशनारायण पाण्डेय**

एडवोकेट

कानपुर

मेरे जीवन का वह अत्यन्त सौभाग्यशाली क्षण था जब मैंने आदरणीय पण्डित जी के दर्शन, सनातनधर्म विधि - विद्यालय में गुरू के रूप में किये। शनैः शनैः जब मैं, उनका सामीप्य प्राप्त करता गया तब मुझे उनके हृदय की विशालता एवं उदारता का ज्ञान हुआ। पण्डित जी सदैव से ही अत्यन्त सज्जन धार्मिक एवं सरल हृदयी रहे हैं। जो भी आपके समीप आया वह अवश्य ही आपका स्नेह भाजन बना।

अपने जीवन के कार्य क्षेत्र का श्रीगणेश मैंने भी वकालत से ही किया। आरम्भ में श्रद्धेय, श्री काशीनाथ जी मल्ला का कृपापात्र रहा तथा उन्हीं के वरदहस्त की अंगुली पकड़ कर इस क्षेत्र में चलना सीखा। सौभाग्यवश न्यायालय परिसर में भी श्री पण्डित जी का कार्यालय तथा मेरा कार्यालय समीप ही रहा तथा समय - समय पर उन्होंने मूल्यवान सलाह एवं निर्देश प्रदान कर मुझे अनुग्रहीत किया है।

श्री पण्डित जी की सर्वाधिक प्रभावक एवं प्रेरणास्पद बात रही है, उनकी श्रमसाध्य दैनिक कार्य प्रणाली। प्रातः काल मैं लगभग दो घण्टे भ्रमण से, दिवस की कार्य - विधि का शुभारम्भ करते तथा दिन भर न्यायालय परिसर में भाग दौड़ के उपरान्त रात्रि में भी अर्द्ध रात्रि तक जन–सम्पर्क एवं अध्ययन करते रहे। यह अत्यन्त प्रशंसनीय एवं स्पृहणीय है।

मेरे जीवन में सन् १९६९ का वह महत्वपूर्ण वर्ष कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता, जब कानपुर की क्षेत्रीय जनता, मुझे पौरसंघ 'कारपोरेशन' में सभासद के चुनाव हेतु बाध्य कर रही थी तथा मैं मानसिक एवं आर्थिक सभी प्रकार की विषम परिस्थितियों से ग्रस्त था। परमादरणीय पूज्य पिता जी का स्वर्गवास भी ऐसे ही कुसमय में हो गया था। मैं किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा आदरणीय पण्डित जी के पास पहुंचा तथा स्थिति को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया एवं प्रार्थना की कि आप मेरे पितृ तुल्य हैं, जो भी आज्ञा देंगे मैं शिरोधार्य करूंगा। पण्डित जी ने कहा, निश्चित होकर जाओ विजय तुम्हारे चरण छुयेगी। उनका यह आशीर्वाद प्राप्त कर आनन्दातिरेक से मेरे नेत्रों में जल-कण उभर कर आ गये। हृदय गद्गद् हो उठा जब श्री पण्डित जी का आशीर्वाद साकार हो उठा, सजीव हो उठा। इससे पूर्व मेरे परिवार एवं कुटुम्ब से कोई भी व्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में नहीं आया था। इसी प्रकार नगर महापालिका की कार्यकारिणी के चुनाव में भी उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर तथा पण्डित जी के मित्र श्री रमाशंकर शुक्ल के सहयोग प्राप्त कर ईश्वरानुकम्पा से विजयी घोषित हुआ।

आज के इन गौरवशाली क्षण का वर्णन कर सकना अत्यन्त कठिन है। इस महान समय पर हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि कानपुर नगर के नीलाभ अम्बर में इस महा मार्तन्ड को निरन्तर जाज्वल्यमान एवं अक्षुण्य बनाये रक्खें जिससे वह मानव मंगल हेतु जन कल्याण का कार्य सम्पादित करते रहें।

# क्षण–प्रतिक्षण के पथ–प्रदर्शक

**रामबालक मिश्र, एडवोकेट**

अध्यक्ष— उत्तर प्रदेश बॉर कौंसिल, कानपुर

आदरणीय पं० बाबूलाल जी मिश्र के सम्बन्ध में कुछ लिखते समय, कृतज्ञताज्ञापन–जैसी स्थिति, मुझमें नहीं है, क्योंकि न तो यह सम्भव ही है और न ही अभीष्ट। आत्मीयता, प्यार, स्नेह तथा वात्सल्य का ऋण, कभी भार नहीं बनता वरन् वह जीवन की ऐसी धुरी बन जाता है, जो उसकी तमाम शक्तियों में वृद्धि कर वेग का संचार करता है। मुझमें आज जो तमाम जीवन–शक्तियां वेगपूर्वक गतिशील हैं, उनकी ऊर्जा का स्रोत, आदरणीय पंडितजी के व्यक्तित्व में ही स्थित है। मैं, उस अथाह स्रोत का एक छोटा सा स्वरूप हूं और मुझसे भी अधिक बड़े हजारों स्वरूप, उस स्रोत की देन हैं।

पं० बाबूलाल जी मिश्र, मानवरूपी हिमालय हैं, जिनसे तमाम जीवन-दायिनी नदियां निकल–निकलकर सृष्टि का पालन-पोषण करती हैं और सिंधु में विलय होने के लिये संघर्षपूर्वक प्रवहमान रहती हैं किंतु हिमालय, निरन्तर आत्मीय शुभ–कामनाओं के साथ, कुछ देते रहने के अतिरिक्त कुछ पाने की आकांक्षा नहीं करता। (सच बात यह है कि उसने अपने जीवन का निर्माण ही कुछ इस प्रकार किया है कि किसी भी प्रकार के प्राप्य को रखने का स्थान ही उसमें नहीं है) इसीलिये उसकी ऊँचाइयां न झुकती हैं, न टूटती हैं।

हमारे जैसे साधारण बौद्धिक प्राणियों के लिए जो साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा धर्म की ज्ञानोपलब्धियों के माध्यम से, मानव–समाज में अपनी खोज तथा पहचान का कार्य प्रारम्भ रखना चाहते हैं. पं० बाबूलाल जी मिश्र क्षण–प्रतिक्षण के पथ-प्रदर्शक हैं। उनके पथ–प्रदर्शन की कुशलता का रहस्य यह है कि वे डरावनी द्विविधा के किसी भी अंधेरे गर्त में, हमें–आपको अकेले नहीं भेजेंगे बल्कि प्रकाश बनकर साथ चलेंगे—अर्थात् पराजय से विजय की ओर, अंधेरे से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अविश्वास से विश्वास की ओर। यही–सब पंडितजी ने किया है, यही-सब पंडितजी को अभीष्ट है।

मैं एक सम्पूर्ण युग से पंडितजी की छाया की तरह उनके साथ हूं। जीवन में क्षण–प्रतिक्षण सुख–दुःख आते ही हैं और उनकी अनुभूति स्वाभाविक है किंतु, इतने लम्बे समय में एक क्षण को भी पंडितजी को मैंने क्रोध में नहीं देखा। वे बड़े–से–बड़े अवरोध को भी सहजता से स्वीकार करते हैं।

मैं प्रार्थना के अतिरिक्त क्या कर सकता हूं और जहां तक आदरणीय पंडित जी का संदर्भ या सम्बन्ध है, मैंने प्रार्थनाओं के अतिरिक्त कभी कुछ किया भी नहीं, आज भी प्रार्थना करता हूं कि सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की प्रतिष्ठाओं से समन्वित पंडितजी के जीवन को परमपिता परमात्मा शतायु प्रदान करे।

# पं० बाबूलाल जी मिश्र

**मुन्नालाल भूषण, एडवोकेट**

कानपुर

यह पहला अवसर नहीं है, जब मुझसे कहा गया कि मैं, पं० बाबूलाल जी मिश्र के जीवन पर कुछ लिखूँ। जब-जब इस तरह का आदेश मुझे प्राप्त हुआ, तब-तब पूरी सचाई से मैंने यह अनुभव किया है कि उनके संबंध में कुछ भी पूर्ण रूप में कहना असम्भव है, क्योंकि वे, आत्म-साधना से सम्पन्न ऐसे जीवन-पुरुष हैं, जिनकी उपलब्धियों के क्षेत्रों तथा स्तरों में क्षण-प्रतिक्षण वृद्धि होती रहती है और उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द कोई सीमा-रेखा खींचना न तो सम्भव है और न औचित्यपूर्ण।

मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि व्यवसाय की समानता तथा जीवन-समाज के प्रति सैद्धांतिक समरूपता के कारण मुझे, पं० बाबूलाल जी का स्नेह-सम्पर्क लम्बे समय से प्राप्त है। सम्पर्क की घनिष्टता के इस लम्बे समय में, व्यवसाय, समाज, संस्कृति, राजनीति तथा धर्म की विधाओं पर बहुत बार उनसे, परामर्श करने के अवसर मुझे प्राप्त हुये और जब-जब ऐसा हुआ है, तब-तब मैंने अनुभव किया है कि मेरे भीतर की रिक्तता पूरी तरह भर गयी है—ऐसा जीवन की तमाम गहराइयों की थाह लेने वाला ज्ञान है—पंडित जी के पास और यही कारण है कि वे, इतने व्यापक ज्ञान के बाद भी बोझिल नहीं हैं। उनका ज्ञान, बंधन नहीं है बल्कि बंधन से मुक्त करता है।

आपको भी ज्ञात होगा कि पं० बाबूलाल जी मिश्र, कानपुर नगर की अनेक संस्थाओं के अध्यक्ष तथा संरक्षक हैं, यह भी सकारण है। पद-प्रतिष्ठा का लोभ पंडितजी में खोजना, बालू से तेल निकालने—जैसा कार्य होगा। लेकिन कारण तो है और वह है— उनके अपने शरीर की समाजवादिता। वे अच्छी तरह जानते और अनुभव करते हैं कि शरीर समाजवाद का सर्वोत्तम प्रतीक है और जीवन में जो जितना सामाजिक है, उसी अनुपात में उसका जीवन सार्थक तथा महान है। यही कारण है कि पंडित जी के वक्तव्य, किसी विषय विशेष से अनुबन्धित नहीं होते वरन् जीवन के सम्पूर्ण विषयों को व्यक्त करते हैं।

संयोगवश अथवा अपने एकांतप्रिय स्वभाव के कारण मेरे मित्र बहुत कम हैं, किंतु जो हैं, उनमें पंडित बाबूलाल जी का स्थान बहुत ऊँचा तथा आदरणीय है।

यही कुछ पंक्तियां लिखने के साथ मैं, पंडित जी के प्रति अपना हार्दिक सम्मान-समादर भेंट करता हूं कि ईश्वर उन्हें शतायु प्रदान कर, मानव-समाज का कल्याण करे।

# सद्‌गुणों के अतुलनीय पुञ्ज : पंडित जी !

**हरिकृष्ण सेठ, एडवोकेट**

कानपुर

पंडित बाबूलाल मिश्र के प्रथम दर्शन का अवसर मुझे अगस्त सन् १९५० में मिला। गौर वर्ण, स्वस्थ देदिप्यमान मुखमण्डल, उन्नत ललाट वाले उनके आकर्षक व्यक्तित्व से कोई भी उनके दर्शन मात्र से ही प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता था। सरल मधुर वाणी, हर किसी के काम आने की ललक और व्यवहार कुशलता के धनी पंडित जी के यहाँ से शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो निराश लौटा हो और जिस पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप न छोड़ी हो। पंडित जी की उदारता के कारण मैं काशी छोड़ कानपुर आ बसा और यहीं का हो गया।

## सफल विधि–प्राध्यापक के रूप में :

पंडित जी ने ३५ वर्ष से अधिक तक सनातन धर्म महाविद्यालय कानपुर में पहले विधि प्राध्यापक और बाद में विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। उनके द्वारा पढ़ाये विद्यार्थी देश विदेश में अनेक उच्च स्थानों को सुशोभित कर रहे हैं। मुझे भी सन् १९५० से १९५२ तक उनका विद्यार्थी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह हमेशा समय पर कालेज पहुंचते। कठिन से कठिन विषय बड़े सरल ढंग से अपने विद्यार्थियों को स्पष्ट कर देते थे। उनके अभिभाषण में सन्तुलित भाषा और परिमार्जित भाव का सामञ्जस्य होता था। उनके अभिभाषण के समय कक्षा में पूर्ण शान्ति एवं अनुशासन रहता था। सीधी डाट–डपट करने की उनकी आदत कभी नहीं रही। एक बार की बात है कि जब वह कक्षा में पढ़ा रहे थे तब उन्होंने एक विद्यार्थी को अखबार पढ़ते देखा। बजाय इसके कि वह उसे रोकें या नाराज हों उन्होंने, उस विद्यार्थी से कहा कि मैं समझता हूं कि शायद मेरे लेक्चर से तुम्हें अखबार पढ़ने में बाधा हो रही होगी। इतना सुनते ही उस विद्यार्थी ने अखबार तुरन्त बन्द कर दिया और पुनः तन्मय हो लेक्चर सुनने लगा। पंडित जी निर्धन एवं मेधावी छात्रों को मुक्त हस्त से अपने पास से आर्थिक सहायता देते थे। वह कानपुर में ही नहीं, सारे उत्तर भारत में एक कुशल विधि-प्रवक्ता के रूप में सुविख्यात थे। वह आगरा विश्वविद्यालय के फैकल्टी आफ ला के अनेक वर्षों तक सदस्य और फिर डीन रहे। एल. एल. बी होते हुए उन्हें एल. एल. एम. व आइ ए. एस. के विधि सम्बन्धित विषयों का परीक्षक होने का गौरव प्राप्त था। वे कानपुर विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी समिति के, उत्तर प्रदेश शासन द्वारा मनोनीत सदस्य भी रहे।

## सफल वकील के रूप में :

पंडित जी ने कानपुर में सन् १९२८ में वकालत प्रारम्भ की और कुछ ही वर्षों में उनकी गणना चोटी के वकीलों में होने लगी। कानपुर के ही नहीं सारे प्रदेश के वकीलों में उन्हें अद्वितीय आदरपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रतिभा सम्पन्न तो वह प्रारम्भ से ही थे। उसके अतिरिक्त

मैं समझता हूं कि उनकी अटूट लगन, अथक परिश्रम, विवेकशील सूझ-बूझ, दूरदर्शिता, भाषा की शक्ति, ओजस्वी वक्तृता, गुणग्राही प्रकृति, सहज शान्त स्वभाव, प्रसन्न मुख मुद्रा, मधुर वाणी, एवं अन्य मानवीय गुण उनकी अतुलनीय सफलता के राज हैं।

पंडित जी कानपुर के अति व्यस्त वकीलों में हैं। कानपुर का दीवानी का शायद ही कोई महत्वपूर्ण मुकदमा ऐसा हो जिसमें पंडित जी एक ओर से पैरवी न कर रहे हों। प्रति दिन उनकी डायरी पर इतने मुकदमें होते कि उन सब को कर सकना किसी के लिये सम्भव नहीं था लेकिन पंडित जी बड़े शान्त भाव से सभी मुकदमे तैयार कर लेते और बड़ी योग्यता से उन्हें निपटाते। अति व्यस्तता और विपरीत परिस्थितियों में भी पंडित जी के चेहरे पर हमेशा मुस्कान खेलती रहती और वे तनाव, उद्वेग चिड़चिड़ेपन को पास नहीं फटकने देते। वे स्वयं तो अथक परिश्रमी रहे ही हैं अपने सहयोगी जूनियर वकीलों से भी यही अपेक्षा करते हैं और उनसे भी खूब काम लेते हैं। उनके साथ काम करने का जिन्हें सौभाग्य मिला वे प्रायः सभी सफल वकील हैं और कुछ तो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद को सुशोभित कर रहे हैं।

वकीलों में वे अत्यन्त लोक प्रिय हैं। सन् १९५८ में वे कानपुर बार एसोसियेशन के मन्त्री निर्वाचित हुए और १० वर्षों तक उस पद का गौरव बढ़ाया। इसके पश्चात् सन् १९६८–६९ में वे प्रथम बार कानपुर बार एसोसियेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९५८ में पंडित जी बार कौंसिल उत्तर प्रदेश के सदस्य निर्वाचित हुए और लगभग सोलह वर्षों तक कौंसिल के सदस्य रहे। इसी अवधि में १९६९ में वे तीन वर्ष के लिए बार कौंसिल उत्तर प्रदेश के उपाध्यक्ष, शिक्षा समिति के अध्यक्ष, अनुशासन समिति के अध्यक्ष, कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी रहे। सन् १९६० में उन्होंने गोरखपुर में सोलहवीं यू० पी० लायर्स कानफरेन्स की अध्यक्षता करने का गौरव प्राप्त किया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिये भी आपका चयन किया गया था लेकिन किन्हीं कारणों से पंडित जी ने उसे स्वीकार नहीं किया।

## घर में :

पंडित जी के अति निकट रहने का सौभाग्य मिलने के कारण उनके पारिवारिक जीवन से भी कुछ परिचित हूं। वे एक ममतामय पिता और कर्तव्यनिष्ठ पति रहे हैं। पत्नी की लम्बी असाध्य बीमारी में व्यवसाय आदि में अति व्यस्त होते हुए भी उन्होंने उनकी सेवा सुश्रूषा का निरन्तर पूरा ध्यान रक्खा। सभी पारिवारिक जनों के प्रति व्यक्तिगत असुविधा उठा कर भी जिस धैर्य और कर्त्तव्य परायणता का परिचय उन्होंने हमेशा दिया है वह अनुकरणीय है।

घर में पंडित जी की स्वयं की दिनचर्या अत्यन्त नियमित एवं सयमी रही है जिसका पालन वे कठोरता से करते हैं। वे शुद्ध भारतीय संस्कृति के पोषक हैं। उनके निवास स्थान पर इसकी छाप स्पष्ट परिलक्षित है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुस्तकों के अध्ययन में उनकी विशेष रुचि है।

## श्रद्धा सुमन :

जब से मैं पंडित जी के सम्पर्क में आया उन्होंने मुझे अपने परिवार-जन के रूप में माना है। विधि छात्र, विधि प्रवक्ता एवं जूनियर वकील के रूप में पंडित जी से मुझे जो स्नेह, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन निरन्तर मिलता रहा है, वह मेरी प्रगति का सम्बल है। अतिशयोक्ति न होगी यदि यह कहा जाये कि वकील के रूप में और समाज में जो कुछ आज मैं हूं उसका बड़ा श्रेय पंडित जी को है। अति विशेष गुण सम्पन्न पंडित जी के जीवन से निरन्तर कुछ न कुछ सीखने का प्रयास करता रहता हूं। उनके बारे में बहुत कुछ समझना व उनसे बहुत कुछ सीखना शेष है। भगवान उन्हें स्वस्थ रखे, जिससे अधिक से अधिक समय तक हमें उनका मार्गदर्शन मिलता रहे।

# कानपुर के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता पं० बाबूलाल जी मिश्र

**भगवती प्रसाद गुप्त**

**कानपुर**

कानपुर नगर सदैव से अच्छे–अच्छे अधिवक्ताओं को संजोता आया है । पं० पृथ्वीनाथ जिन्होंने पी० पी० एन० कालेज, श्री आनन्दस्वरूप एवं व्रजेन्द्रस्वरूप, जिन्होंने डी० ए० वी० कालेज की तथा श्री विक्रमाजीत सिंह, जिन्होंने सनातन धर्म कालेज का निर्माण कराया, ऐसे शिक्षा प्रेमी व समाजसेवी अधिवक्ताओं का, नगर सदैव आभारी रहेगा ।

पं० मोतीलाल नेहरू, कैलाशनाथ काटजू एवं भारत के सुप्रसिद्ध उप-राष्ट्रपति श्री गोपाल-स्वरूप पाठक ने कानपुर से ही अधिवक्ता का कार्य प्रारम्भ कर देश के मूर्धन्य विद्वानों, सफल अधिवक्ताओं एवं राजनीतिज्ञों में गिनती पायी ।

कानपुर नगर, पं० बाबूलाल मिश्र, एडवोकेट ने सेवाओं, अपनी श्रेष्ठ वकालत, मृदुल स्वभाव, ऊँची सूझबूझ, अच्छे प्रकार के तर्क-वितर्क के द्वारा कानपुर में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण प्रदेश में सफल अधिवक्ता के रूप में न केवल यश कमाया है वरन् अनेक सामाजिक धार्मिक, सांस्कृतिक संस्थाओं को समय-समय पर सहयोग करके जो कार्य किया है, उसे नगर निवासी कभी भूल नहीं सकते हैं ।

इधर उनका स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रह रहा है, जिससे कानपुर नगर के बुद्धिजीवी चिन्तित हैं और परमात्मा से उनके दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं । आपके एकमात्र पुत्री थीं जो कई वर्ष पूर्व स्वर्ग सिधार गयीं । अब उनका दौहित्र उनके साथ रहकर उनके काम में हाथ बँटाता है । कानपुर नगर आशान्वित है कि पं० पृथ्वीनाथ एवं श्री विक्रमाजीत सिंह की भांति अपने जीवन में ही वे, कोई ऐसा निर्माण कार्य करायेंगे जिससे नगर की सर्वसाधारण जनता लाभान्वित हो सकेगी । मैं उनके स्वस्थ व दीर्घ जीवन की कामना करता हूं ।

# कानपुर के वरिष्ठ जन-प्रिय पं० बाबूलाल जी मिश्र

**शिव बालक अग्निहोत्री**

कानपुर

कानपुर के वरिष्ठ एवं विशिष्ठ नागरिक पं० बाबूलाल जी मिश्र केवल प्रथम श्रेणी के अतिशय सफल अधिवक्ता (एडवोकेट) ही नहीं हैं, प्रत्युत वे प्रमुख शिक्षाविद्, काव्यानुरागी, सत्संग-प्रेमी, सद्धर्मानुगामी एवं आध्यात्मनिष्ठ परम सांस्कृतिक विद्वान पुरुष हैं। अपने इसी महान व्यक्तित्व के कारण वे नगर के विभिन्न संगठनों के माध्यम से जन-साधारण से जुड़े हुए हैं।

नगर की जटिल से जटिल कोई समस्या हो, सांस्कृतिक अभ्युत्थान का कोई भी अभियान हो, धार्मिक अनुष्ठान का कोई भी समारोह हो, बौद्धिक उन्नयन का कोई भी आयोजन हो, आप पंडित जी को अग्रगता के रूप में सदैव पथ-दर्शन करते हुए पायेंगे। कानपुर महानगर के प्रति की गई उनकी सेवायें न केवल अभिनन्दनीय, अपितु वन्दनीय भी हैं।

विधि-विधानों तथा नियमों के वे ऐसे प्रख्यात तथा सर्वमान्य प्रज्ञाता एवं प्रवक्ता हैं कि वे, इच्छामात्र से हाईकोर्ट के न्यायाधीश के पद पर प्रतिष्ठित हो सकते थे, पर इस प्रकार के दायित्व में अपने को सीमित एवं आबद्ध कर लेना उन्हें रुचिकर नहीं था; वस्तुतः उनका जीवन-लक्ष्य है—जन-मानस से सम्पृक्त रहकर जनता जनार्दन के श्रीचरणों में अपने को समर्पित करना।

उनकी स्वभावगत विशेषता जन-सेवा के ठोस मार्ग पर मौन भाव से समारूढ़ रहने का-सा संकल्प है। वस्तुतः मिश्र जी अपने जीवन के प्रभात काल से ही उदात्त भावनाओं से प्रेरित होते आये हैं। वे कम बोलकर भी अपने मधुर सुधासिक्त वाणी से सबके हृदयों को विमुग्ध कर देते हैं। सार्वजनिक कल्याण के कठिन से कठिन कार्य को भी वे शोभा के साथ सम्पन्न करने में समर्थ हैं। इसलिए उन्होंने केवल समाज की उच्चतम श्रेणी में ही सर्वप्रियता नहीं प्राप्त की, प्रत्युत सामाजिक क्षेत्र के प्रत्येक स्तर पर वे समान रूप से समादृत तथा प्रशंसित हैं। यह गरिमा आजकल बहुत कम लोगों में पाई जाती है। निस्सन्देह व्यक्तित्व की यह व्यापकता अन्यत्र दुर्लभ है।

उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस सुयोग पर मैं, उनके शतायु होने की कामना करता हूं।

# My Humble Homage

Jagannath Khanna

Vice Chairman

( Sri Aurobindo's Action, Kanpur

One of the most lovable personalities I have come across in my life is that of Pandit Babulal ji Misra. His zest and enthusiasm for every kind of work coupled with the noblest ideals that mankind has cherised through the ages make him a person fit for emulation. All his colleagous and friends marval at the sagacity with which he works and the spirit with which he comports himself all the time. To say that he is a sage would be to underestimate him for he is a Yogi with yogic consciousness. He knows full-well what is reversal of consciousness going deep within one's heart to unravel the mystery of the undying element in all of us, but which few know of and fewer still try to achieve. We are all ONE there and it is because of this basic Atmic oneness that we have love and sympathy for others. We identify ourselves with others and thereby understand them fully, as they understand themselves. This quality of understanding others absolutely is inherent in the total make-up of Pandit jee. He is never angry and is never rushed,—deliberation along with sweetness mark every step of his. All this builds up the gentleman that he is and people generally stand in awe of his magnificient personality.

Born way back in 1903, brought up and educated in this very city of Kanpur, he started practising law in the District Courts from the year 1928. Working ably for three top-notch lawyers of those days he acquired unmatched skill with which he could rival successfully all his celebrated contemporaries. Babulal jee has remained at rhe top ever since. Thers is no peer of his and he is a class by himself.

"As if a weapon of the living Light,  
Erect and lofty like a spear of God  
His figure led the splendour of the morn.  
Noble and clear as the broad peaceful heavens  
A tablet of young wisdom was his brow,  
Freedom's imperious beauty curved his limbs.  
The joy of life was on his open face."

( "Savitri"—Sri Aurobindo )

# He was very helpful to me

K. K. Sharma

Ex-Principal Meerut College

Meerut

We were together on the teaching staff of the S. D. College ( now V. S. S. D. College) Kanpur. Pt. B. Misra was Prof. of Law. I was Lecturer in Eng. & Com in the college. Pt. Babu Lal ji is an affection at friend, very sincere, honest and helpful to all who come into contact with him. He is one of the top lawyers now of our state and occupies importance positions in the managing bodies of various educational institutions. He is the president of V. S. S. D. College Manegement Board, and have done much for the educational adnascent in Kanpur.

I have very happy memories of his when we were together in Kanpur. In two legal cases, he was very helpful to me.

I wish to him long life prosperity so that he may shower lustre or light in the institution which he has the occasion to save. It is in the future of things that his services to the cause of education & law are being recognised in this matter.

# आदरणीय पण्डित जी

हरिप्रकाश मुद्गल, एडवोकेट

कानपुर

पं० बाबूलाल मिश्र मेरे पिता तुल्य अभिभावक हैं। उनसे, मेरे सम्बन्ध की गहराई तथा एकता अथाह तथा अभेद्य है। वे सहज ही कर्मप्रिय तथा स्वानुशासित हैं। वे प्रख्यात विधि-विशेषज्ञ एवं प्रवक्ता ही नहीं, उसके आचरण के आदर्श भी हैं। वे भीतर से बाहर तक निरभिमानी, किन्तु सम्भ्रान्त व्यावहारिकता के कीर्ति–स्तम्भ भी हैं। इसीलिए उनकी उपस्थिति का प्रभापूर्ण आभास विचार तथा व्यवहार दोनों धरातलों को सावधान करता है। किन्तु इतनी लम्बी अवधि तक उनकी सघन छाया में रहने के बाद भी उनकी सन्निकटता में कभी भार का अनुभव नहीं हुआ वरन् सदैव आनन्द का परिग्रह अनुभव होता रहा।

पंडित जी, अपराध की व्याख्या, सम्पूर्ण मानवीय धरातल पर करते हैं और कई बार अपराध से अपनी सम्बद्धता इसलिए स्थापित करते हैं कि दोष का विकेन्द्रीकरण अवरोधित न हो। मुझे स्मरण है, एक बार घर के नौकर ने, पंडित जी के नहाने के लिए गरम पानी रखा, स्नान में कुछ विलम्ब हो चुका था। अतः पंडित जी स्नानगृह में गये और पानी कितना गर्म है—की जांच किये बिना स्नान करने लगे। पानी अधिक गर्म था और परिणामस्वरूप पंडित जी का पूरा शरीर लाल पड़ गया। शरीर पर किसी शीतल लेप का लगाना आवश्यक हो गया।

तब दूसरे लोग नौकर को डाटने लगे। नौकर की स्थिति दयनीय हो गई। उसे आत्म-ग्लानि हुई कि उसकी असावधानी से पंडित जी को कष्ट मिला। स्थिति की गम्भीरता अनुभव कर लोगों को, नौकर को डाटने से मना किया और कहा–'पूरी गलती नौकर की ही नहीं है, मेरी भी है। मुझे नहाने से पहले पानी की जांच कर लेनी चाहिये थी' और उनके इस कथन में कोई बाहरी शिष्टाचार न था बल्कि आत्मा की गहरी सहानुभूति थी।

पंडित जी के एक अन्य सद्गुण का प्रभाव उल्लेनीय है। यों तो पंडित जी का स्वभाव तथा आचरण इतना निरपेक्ष होता है कि उससे किसी प्रकार के विरोध का जन्म सम्भव नहीं है। किन्तु वर्गीकृत स्वार्थों की विविधता के छोटे-बड़े स्वार्थों के कारण कुछ अपने ही असंतोष के शिकार हो जाते हैं। ऐसे असंतुष्ट या विरोधी के प्रति पंडित जी का व्यवहार 'तटस्थ' हो जाता

है । वे, उसका विरोध नहीं करते–कर सकने की स्थिति के बाद भी और न भलाई ही करते हैं । इस तटस्थ व्यवहार के कारण, विरोध की स्थितियां, अपने-आप शनैः–शनैः सामान्य हो जाती हैं और देर–सबेर विरोधी अपने विरोध की भूल को स्वीकार कर लेता है ।

पंडित जी, देशी-विदेशी संस्कृतियों के धरातल पर एक प्रतिष्ठित भूमिका के नायक रहे हैं । उन्होंने पराधीन भारत के ब्रिटिश प्रशासन में वकालत की और स्वतन्त्र भारत के लोकतंत्रीय प्रशासन में अपनी सफल वकालत से सभी सम्भावित प्रतिष्ठाओं को हस्तगत किया, किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी जीवनात्मक निष्ठाओं में कभी अवसरवादिता का प्रभाव स्थान नहीं पा सका । पचास वर्ष के अपने स्वतन्त्र तथा संस्थागत जीवन में पंडित जी को मैंने कभी भी पैंट–कोट पहने हुए नहीं देखा । चूड़ीदार पैजामा तथा अचकन पहन कर ही वे सर्वत्र आते-जाते रहे हैं । घर की सीमा में धोती, कुर्ता पहनना उन्हें प्रिय है । उनकी साँस्कृतिक वेशभूषा ने भी कानपुर अधिवक्ता–समाज को भारतीय संस्कृति के प्रति एक आचरणशील जागरण दिया है ।

यहीं पंडित जी की विधि-विषयक विद्वता का उल्लेख आवश्यक है । एक बार ए. आई. एम. परीक्षा की रूप रेखा निर्धारित करने वाली कमेटी की बैठक दिल्ली में हो रही थी । कमेटी में सरकार द्वारा मनोनीत विधि-विषय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त प्रसिद्ध विधि-वेत्ता थे । न जाने कैसे और किन सूत्रों से प्रभावित होकर सरकार ने, पंडित जी को उस कमेटी की बैठकों की अध्यक्षता करने का दायित्व सौंप दिया ।

उपर्युक्त विधि-विशेषज्ञ-कमेटी में, विधि-विषय की बड़ी-बड़ी उपाधियों वाले व्यक्ति थे और पंडित जी मात्र एल. एल-बी. । बैठक के समय परीक्षा की उपयोगी प्रणाली पर सदस्य विधि-विशेषज्ञों ने अपने–अपने विचार व्यक्त किये और अन्त में सदस्यों ने अध्यक्ष से मार्गदर्शन की अपेक्षा थी । पंडित जी ने उस समय जो एक सर्वाधिक नूतन तथा प्रभावशाली प्रश्नावलि प्रस्तुत की, उसकी कल्पनातीत प्रशंसा सभी सदस्यों ने की और पंडित जी की योग्यता पर आश्चर्यचकित रह गये ।

पंडित जी की वकालत के सम्बन्ध में दो-तीन तथ्य बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किये जा सकते हैं । एक तो वे, अभियोग से सम्बद्ध किसी भी वादी-प्रतिवादी को निश्चिंत विजय का आश्वासन नहीं देते । दूसरे, मुकदमें की जीत-हार का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जब कि मुकदमे से सम्बन्धित सर्वोत्तम प्रकार की पैरवी कर लेने का संतोष उनमें विद्यमान होता है और तीसरे वे पेचीदे-से-पेचीदे मुकदमे को समझने तथा उसमें निहित उपयोगी तथ्यों को खोजने में उन्हें तनिक भी समय नहीं लगता । ऐसा लगता है कि मुकदमे उनके सामने होते ही अपने आप उघरने लगते हैं ।

पंडित जी के सम्बन्ध में सब कुछ लिखना तो असम्भव है—स्वयं उनके लिए भी । मुझमें उनके प्रति जो आदर है, उनमें मेरे प्रति जो वात्सल्य है और एक लम्बे समय की आत्मीय व्यावहारिकता की जो अनुभूतियाँ हैं, उनके अनुसार मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि पंडित जी सम्पूर्ण मनुष्य हैं, जिन्होंने जीवनात्मक संस्कृति, साहित्य, धर्म, शिक्षा तथा समाज के समस्त धरातल पर अपने को खोजने तथा दूसरों को पाने की साधना की है । ईश्वर उन्हें शतायु तक स्वस्थ रखे, यही अन्तिम हार्दिक आकांक्षा है ।

# मेरे विश्वसनीय साथी : पण्डित जी

**नरेन्द्रजीत सिंह, बैरिस्टर**

कानपुर

पं० बाबूलाल जी मिश्र को मैं अपना बड़ा भाई मानता हूं। उन्होंने सर्वदा बड़ी उदारता से समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन तो किया ही, स्वयं पीछे रहकर भी मुझे आगे बढ़ाया। श्री ब्रह्मावर्त सनातन धर्म महामण्डल के मुझसे वरिष्ठ अधिकारी व सदस्य होते हुए भी अपनी उदारता और स्नेह के कारण मुझे उन्होंने अध्यक्ष पद के लिए नामांकित किया। महामण्डल तथा उसके अन्तर्गत चलने वाली संस्थाएं उनके अमूल्य सहयोग और मार्गदर्शन के कारण ही सफलता से चल रही हैं और आगे बढ़ी हैं।

बहुत लम्बे समय से हम समाज, शिक्षा तथा संस्कृति की व्यावहारिक, वैधानिक एवं वैचारिक लड़ाइयाँ, साथ-साथ मिलकर लड़ते आ रहे हैं। मैं गर्व का अनुभव करता हूं कि पंडित जी की बौद्धिक कुशाग्रता तथा परिस्थितिगत विरोध की सूक्ष्मताओं की अचूक पकड़ के कारण हमें सदैव सफलता मिली है, किन्तु बड़ी से बड़ी विजय के बाद भी विजयोल्लास की भावना, एक क्षण को भी मुझे उनकी मुखाकृति पर नहीं दिखायी पड़ी। बस, संतोष का अर्थ अवश्य उनकी आँखों में छलक आता था और मैं गम्भीरतापूर्वक अनुभव करता रहा हूं कि पंडित जी जीवन-संग्राम में अनासक्त कर्तव्य करने वाले कुशल सेनानी हैं। इसीलिए पंडित जी की जीवनात्मक उपलब्धियाँ, किसी कोषागार की निधियां नहीं हैं बल्कि जीवन की जीती–जागती प्रेरणाएं बन गई हैं।

पंडित जी को, हमारी-आपकी प्रशंसा अभीष्ट नहीं है और 'अभिनन्दन–ग्रन्थ' के प्रकाशन के माध्यम से हम लोग उनके जीवन के जिन सद्गुणों का वर्णन कर रहे हैं, पंडित जी के लिए उनका कोई अर्थ नहीं है, किन्तु वर्तमान तथा भावी मानव-पीढ़ी, उनके कार्य व उनके जीवन से कुछ सीख सके, इसलिए इस ग्रन्थ का संकलन किया गया है।

कानपुर नगर के नागरिकों के साथ मैं भी ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि ईश्वर पंडित जी को स्वस्थ, शतायु प्रदान करे और वे, मानव समाज को जीवनात्मक सदाचरण के लिए प्रेरित करते रहें।

# एक चुम्बकीय गुणात्मक व्यक्तित्व

**डा० शिवबहादुर सिंह भदौरिया**

प्राचार्य, कमला नेहरू डिग्री कालेज

तेजगाँव (रायबरेली)

लोकोन्मुख कर्मसाधना, निष्ठावान धार्मिक भावना तथा ऊर्ध्वमुखी ज्ञानात्मक चेतना के त्रिबिन्दु से जिस त्रिकोणात्मक व्यक्तित्व की संरचना होती है, उसे पं० बाबूलाल जी मिश्र से अभिसंज्ञित करना नितांत अर्थपूर्ण है।

मिश्र जी के व्यक्तित्व की रेखाओं के उभार, रंग-संयोजन तथा दीप्ति-वलय में कानपुर महानगर की पारंपरिक ऊर्जा सन्निविष्ट है। निर्विवाद है कि कानपुर की अस्मिता बहु-आयामी है, अपनी सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक उपलब्धियों के बल पर, इतिहास में, कानपुर का गौरवपूर्ण स्थान है, यहाँ के अनेक मनीषियों, साहित्यकारों एवं सामाजिक तथा राजनैतिक नेताओं ने भारतीय जन-मानस को समय-समय पर आन्दोलित ही नहीं, समुचित मार्गदर्शन किया है, इसी शृंखला में पं० बाबूलाल मिश्र का नाम प्रथम स्थान पर आता है।

वकालत से जीविकोपार्जन के साथ कानपुर की विभिन्न शैक्षिक एवं सामाजिक संस्थाओं में सक्रिय सहयोग, लोकजीवन के विकास एवं उन्नयन के प्रति सदैव जागरूक एवं सचेष्ट रहे हैं, यही कारण है कि आपको, आधुनिक कानपुर जीवन का आदर्श चरित्र माना जाता है।

मुझे सन् १९४६ से १९५१ ई० तक कानपुर में रहने का सौभाग्य प्राप्त था और उसी समय से नगरीय चर्चा-परिचर्या में प्राप्त श्री मिश्र जी के चुम्बकीय व्यक्तित्व की गुणात्मकता ने, मुझे अत्यधिक प्रभावित किया, बाटिका के किसी कोने में खिलने वाले गुलाब की महक, समूचे उद्यान को महक से भर देती है, कोई आवश्यक नहीं कि हर पेड़ को निकटता प्राप्त ही हो।

मानव-विकास के प्रेरणा-स्रोत परम भागवत पं० बाबूलाल मिश्र का नागरिक अभिनन्दन सर्वथा सराहनीय है। अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन तथा समारोह के किरण-संकल्प की सफलता की कामना करता हूं।

# शुभ–कामनाएं

पं० बाबूलाल जी मिश्र, एक धर्मप्राण व्यक्ति हैं। उनका हृदय बिलकुल सनातन धर्म के रंग में रंगा है। वे साधु–सन्तों के विशेष कृपापात्र रहे हैं।

अभिनन्दन—समिति ने 'अभिनन्दन–ग्रन्थ' ने प्रकाशन का कार्य अपने हाथों में लेकर तक पुण्य का कार्य किया है। आशा है कि यह ग्रन्थ, पण्डित जी के समस्त मानवीय गुणों का प्रकाशन करने में सफल होगा। मेरी शुभकामनाएं तथा आशीर्वाद, आप–सभी के साथ हैं।

**महामंडलेश्वर स्वामी वेदव्यास जी यहाराज**

हृषीकेश

श्री बाबूलाल मिश्रः शिशुवर्यास निजे मातृपितृ विहीन–,
स्तैस्तै सद्‌बन्धु मुख्यैः सदय सहृदयैः पोषितः शिक्षितश्च
पुण्यैः पूर्वार्जितैः स्वैर्हरि गुरु कृपया लब्ध कीर्ति समाजे,
नाना संस्थाभियन्ता बुध सदसि जनार्म्यर्चितोऽस्माभिरीड्यं।

**माधवाचार्य**

दिल्ली

जाते जिस क्षेत्र में हैं चमक दिखाते वहीं,
परिचित कौन नहीं इनके कमाल से।
हर बात में ये मुसुकाते रहते हैं सदा,
भयभीत होते नहीं लड़ जाते काल से॥
करुणेश जानते हैं मर्म धर्म को ये खूब,
सबको प्रसन्न रखते हैं निज चाल से।
वंदन गुणों का अभिनन्दन का मुख्य ध्येय,
उपजे समाज मध्य लाल बाबूलाल से॥

**करुणेश शुक्ल**

कानपुर

# एकमात्र ऐसे अभिभाषक

दयाशंकर मेहरोत्रा

एडवोकेट

कानपुर

पिछले पचास वर्षों की स्मरणीय घटनाओं को सोचता हूं तो ज्यादातर घटनाओं में पं० बाबूलाल मिश्र ही प्रमुख रूप से दिखाई देते हैं, जो अपनी कानूनी योग्यता, मानवीय आचरण तथा सयन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण सहज ही मुख्य पात्र बनते रहे हैं। चालीस वर्षों के मित्रतापूर्ण सम्पर्क में सदैव मैंने अनुभव किया हैं कि पं० बाबूलाल मिश्र ने 'रहिमन धागा प्रेम को मत तोड़ो चटकाये' की निष्ठा के साथ मित्रता पर कमी आँच नहीं आने दिया।

पं० बाबूलाल मिश्र, मेरी अवस्था तथा पीढ़ी के एकमात्र ऐसे अभिभाषक हैं, जिन्होंने व्यवसाय को, प्रतिष्ठा के आदर्शों पर चलाया और सामाजिक, शैक्षिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति को, यशस्वी बनाकर समूचे अभिभाषक-वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा को नये मान दण्ड दिये।

पं० बाबूलाल मिश्र की सफलता का रहस्य एकमात्र आत्मसंयम है, जो सदैव ही मानवीय नैतिकता से अनुशासित रहा है। वकालत का व्यवसाय प्रधानतया अवसरवादी, अनियमित तथा अनिश्चित होता है। इसमें अधिकतम तथा न्यूनतम दोनों का सम्भावना होती है और अधिकांश वकील, अधिकतम तथा न्यूनतम की द्विविधा में ही अपनी चरित्र-हत्या कर लेते है, जबकि पं० बाबूलाल मिश्र अपनी वकालत में भी सदैव मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त को मानते रहे हैं, उन्होंने कभी भी किसी की विवशता का अनुचित लाभ नहीं उठाया और न अपने स्तर से नीचे उतर कर अभियोगों को स्वीकार किया। इस नैतिकतापूर्ण आत्म संयम के कारण ही उन्हें न केवल वकालत में राष्ट्रीय स्तर की प्रतिष्ठा मिली वरन् वे, वकालत-व्यवसाय से समय निकाल कर सामाजिक, शैक्षिक तथा धार्मिक क्षेत्रों की भी सेवाएं कर सके।

मैं स्वयं को सौभाग्यशाली मानता हूं कि मैं, अपने एक मित्र की राष्ट्रीय स्तर तक फैली हुई सफलताओं का साथी हूं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि उन्हें शतायु सुलभ हो और वे, मानव-समाज को अनुप्राणित करते रहें।

# चरित्रवान् पण्डित जी

**रामसहाय पाण्डेय**

भू० पू० संसद् सदस्य

बम्बई

कानपुर निवासी होने का जिसे गौरव प्राप्त है, वह पं० बाबूलाल मिश्र को न जानता हो, ऐसा संभव नहीं है।

मैं प्राय: पचास वर्ष से पण्डित जी को जानता हूं, उनके द्वारा किये गये कामों से सदैव अवगत होता रहा हूं।

कानपुर, श्रेष्ठ तथा श्रेष्ठतम व्यक्तियों को जन्म देता रहा है। अब भी वहां अच्छे नेताओं का अकाल नहीं है, सरसइया घाट का गंगाजल यद्यपि अकाल का कारण बन गया है।

पं० बादूलाल मिश्र का व्यक्तित्व सौम्य है, औदार्य से मण्डित भी। जीवन की इतनी लम्बी यात्रा में, बगैर दाग़ का जीवन, बड़ा कठिन होता है। ऊँचे-नीचे पैर पड़ जाना, आज सार्वजनिक जीवन में चाहे आश्चर्य का कारण न हो परन्तु पुराने अतीत में तो अवश्य ही गंगाजल जैसा पावन सार्वजनिक जीवन न हो, तो लोग स्वीकृति से वंचित रखते थे।

मुझे स्मरण है एक घटना, पण्डित जी, झब्बा बाबू के खिलाफ नगर पालिका का चुनाव लड़ रहे थे। पण्डित जी जीत गये, उसका कारण उनका उत्तम चरित्र ही था, जो जन-साधारण की दृष्टि में भारी उतरा।

मैं चूंकि बम्बई चला आया हूं, इसलिए पण्डित जी का सान्निध्य अधिक नहीं प्राप्त कर सका। इस बार कानपुर आने पर उनके दर्शन अवश्य करूंगा।

दूर होते हुए भी, बम्बई में कानपुर–प्रवासियों के बीच पण्डित जी, चर्चा के मुख्य व्यक्तित्व होते हैं। मेरी कामना है कि पण्डित जी सौ वर्ष तक जीवित रहकर हमारा मार्गदर्शन करते रहें।

# मेरे श्रद्धास्पद

**रामशङ्कर शुक्ल**
कानपुर

मैं अपने को अत्यधिक गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूं कि मुझे कानपुर के गौरव, सुप्रसिद्ध विधि वेत्ता, महान व्यक्तित्व के धनी, सदाचार की प्रतिमूर्ति, मानवतावादी, मृदुभाषी, स्नेहिल हृदय, आदर्श मानव की साक्षात् प्रतिमा, जिनका जीवन ऋषि तुल्य है, के नागरिक अभिनन्दन के अरसर पर अपनी श्रद्धा प्रकट करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

इधर देखा जा रहा है कि अब राज्य, विद्वानों, तपस्वियों, चरित्रवानों का अभिनन्दन नहीं करता उल्टे विद्वत-जन, राज्य-सत्ता प्राप्त व्यक्तियों का अभिनन्दन कर अपने को गौरवान्वित समझने लगे हैं। वर्तमान वातावरण में अभिनन्दन के वास्तविक अधिकारी का, नागरिकों द्वारा किया जाने वाला अभिनन्दन नागरिकों के लिये गौरव की बात है। कानपुर नगर को पं० बाबूलाल मिश्र ऐसा व्यक्तित्व मिला, उन्होंने विधि, शिक्षा, धर्म, उद्योग, अर्थ एवं राजनीति के क्षेत्र में जहां भी प्रवेश किया, उसमें अपना प्रमुख स्थान बनाया और अपनी योग्यता की छाप छोड़ी।

इतना व्यस्त और महान व्यक्तित्व, इतना सरल, स्नेहिल समानता का पोषक, एवं विचारों का उदार हो सकता है, इसका अनुभव "मुक्त वायु संसद" के सदस्यों को है, जो एक परिवार के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। नानाराव पार्क में पण्डित जी के साथ प्रातः भ्रमण करने वाले, जिसमें नगर के उद्योगपति, व्यवसायी, विधि-वेत्ता, साहित्यिक, राजनैतिक नेता, कार्यकर्ता, न्यायाधीश, प्रोफेसर, डाक्टर, सामाजिक व धार्मिक कार्यकर्ता, प्रशासनिक अधिकारी सभी वर्गों के व्यक्ति हैं, यही पण्डित जी की "मुक्त वायु संसद" है। पण्डित जी इसके अध्यक्ष और श्री दयाशंकर जी मेहरोत्रा एडवोकेट इसके महामन्त्री हैं। इस संसद के सदस्य होने का गौरव सर्वश्री किशनलाल सूत वाला, मुरलीधर, परशुरामका, कन्हैयालाल मेहरोत्रा, जुगुलकिशोर-ढांढनिया, रघुनाथप्रसाद अग्रवाल, महावीर नेमानी, द्वारकाप्रसाद कक्कड़, सरजूप्रसाद खण्डेलवाल, रामनाथ भार्गव, राधाकृष्ण जाखोदिया, मक्खनलाल नेमानी, कैलाश नेमानी, भोलाप्रसाद अग्रवाल, कालीचरन पोद्दार, एस० आर० भवानीसिंहका, बाबूराम गुप्त, एडवोकेट, राधाकृष्ण गुप्ता, निरंजनलाल अग्रवाल, लाला बनारसी दास जैन, मूलनारायन टण्डन, कृष्णगोपाल लाहौटी, गंगाप्रसाद गुप्ता, सिद्धगोपाल गुप्ता, दुर्गाप्रसाद सराफ, पृथ्वीनाथ सिंह (झब्बू बाबू) एडवोकेट आदि के अतिरिक्त लेखक को भी प्राप्त है।

पण्डित जी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने समस्त सदस्यों में अपनी सदाशयता, समान व्यवहार तथा सदस्यों से परिवार का सम्बन्ध स्थापित करके ऐसा आदर्श उपस्थित किया है कि समस्त सदस्य, एक पारिवारिक सूत्र में बंध गये हैं और प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझते हैं। पण्डित जी परिवार के पुरखा की भांति सभी के पूज्य हैं।

वास्तव में पण्डित जी महान हैं, ईश्वर उन्हें शत-जीवी करे और हम लोग, उनका स्नेहिल संरक्षण प्राप्त करते रहें।

# प्रतिभा-जागरण के प्रकाश-स्तम्भ : पंडित जी

**मदनलाल शुक्ल**

अध्यक्ष

लोक-सेवा मिशन, कानपुर

पं० पृथ्वीनाथ तथा विद्यार्थी जी के बाद कानपुर के इतिहास में, एक सामान्य बौद्धिक रिक्तता के काल-खंड का प्रवेश होता है और कुछ विशिष्ट उद्योगपतियों अथवा सामान्य वर्गवादी साहित्यकारों की मिली-जुली मानवीय गतिविधियों के अतिरिक्त, किसी विशिष्ट इतिहास-धारा के दर्शन नहीं होते।

लेकिन सातवें दशक के प्रारम्भ में एक विशिष्ट प्रतिभा-जागरण को उस समय प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जब सन् ६० के आसपास, पं० बाबूलाल जी मिश्र, एक प्रख्यात विधि-वेत्ता की क्षेत्र-सीमाएँ लांघकर, नगर की समस्त शैक्षिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध हो, उन्हें संरक्षण देते हुए, उनकी प्रगति-प्रतिष्ठा के प्रकाश-स्तम्भ बन जाते हैं।

पं० बाबूलाल जी मिश्र, जीवन-तत्वों-रहस्यों के सम्पूर्ण साधक हैं। एक प्रख्यात विधि-वेत्ता के बाद भी उनकी वृत्तियों-प्रवृत्तियों का विकास, सीमित-संकुचित नहीं होता वरन् वे, जीवन-कला की सभी विधाओं के साथ एकात्मता स्थापित कर सत्य के आनन्द की खोज करते हैं। इसीलिए पंडित् जी, जीवन-विचार तथा जीवन-दर्शन के उस प्रत्येक मंच पर विराजमान दिखायी देते हैं, जो जीवन-समाज की प्रगति के प्रयोजन, आयोजित करते हैं। ऐसे मंचों को जब पं० बाबूलाल जी संबोधित करते हैं, तब जीवन में विद्यमान, जीवन-शक्तियों की तमाम ऊंचाइयां तथा गहराइयां, एक साथ समतल होकर सामाजिक उपयोगिता के लक्ष्य स्वीकार करती हैं।

कानपुर के सम्पूर्ण समाज को, पं० बाबूलाल जी मिश्र से, आदर्श ज्ञान, आचरण तथा नैतिकता एवं धार्मिकता का जो प्रकाश प्राप्त हो रहा है, वह मानव की भावी पीढ़ियों के जीवन-पथ को भी आलोकित करेगा। इस विश्वास के साथ मैं, माननीय पंडित जी के शतायु होने की कामना करता हूं।

# Pandit ji An Institution himself

A. C. Sinha, Advocate

Kanpur

Our decision to honour revered Pt. Babulal Misra, Advocate by compiling 'Abhinandan Granth' is not only an attempt to place our respect and regards before this august respected and loveable personality, but also the fullfilment of a long cherished desire of a very large number of stalwarts in the field of Education, Law, and legal profession, social service, religion, philosophy and culture, to honour him so. Pandit jee has been and is the object of their respect and wholesale appreciation in these aspects of life that appreciation having been subsisting and perhaps, amazingly, increasing during the last four decades or so, and having now ripened and firmly established so that Pandit jee is taken to be a guide, friend. and philosopher of all those who have learnt and progressed under his care and guidance and also selfless friendship.

Pandit jee is an institution in himself and it must be taken as a lesson by any rising and busy lawyer that Pandit jee's wholesale and purposeful devotion to the legal profession has never stopped him from an equally purposeful devotion and service to the society in the sphere of Education, Religion, Culture and social service.

Pandit jee is a charming personality where ability is combined with dignity and candour-withour any pretentious impunity, wisdom with humility and affluence with service and compassion, subtelity with meaningful humour and sincerity, and odds with a soothing smile.

May respected Pandit jee live long and continue to so serve humanity.

# Babu Lal Mishra—The Doyen of the Bar

Justice T. S. Misra

High Court, Allahabad

It is difficult to write about my Guru Dev in the profession of law. It is all the more difficult because he is full of human qualities. But let me venture in my humble way.

Babu Lal Misra, respectfully called by his friends and admirers as 'Pandit Ji' was born on 3rd December, 1903 at Gonda. He had hardly seen eighteen springs that calamities overtook him. His grandfather who had distinguished himself as Head Master of the local Government School died and within six months thereafter cruel hands of death snatched from him the protection of his father. The widowed grand-mother and the mother were compelled to bring the child to Kanpur where his maternal grand father had a small business. He was initiated to studies by one of his nearest relations. his 'Phupha' Pt. Jagannath Misra. Years rolled by and in due course Babu Lal Ji secured the degree of Bachelor of Laws from Allahabad University in the year 1927 with distinction. Coviously his marriage at the age of sixteen did not affect his studies either at the school or at the University. But he had by that time come under the influence of one of the greatest leaders of India Pt. Madan Mohan-Malviya and the youth leaders Shri Ganesh-Shanker Vidyarthi and Pt. Bal Krishna Sharma 'Nawin'. He decided not to go in for any Government job, In the year 1928, this future doyen of the Bar of princely fortune, honoured alike by the capitalists and the common men was enrolled as a pleader under the Judgeship of Kanpur. Thenceforth his journey in the profession has been full of laurels. His unflinching devotion to the noble profession of law added glory to the great Bar of Kanpur. He was told by his senior Babu Brij Narain Mehrotra that success at the Bar can be achieved by hard labour sincerity of purpose and honesty in dealings. But he also learnt from his other mentor Shri Vikramajit Singh that while individual clients must receive full attention of a lawyer the spare time should be devoted to the service of the down trodden, the neglected and the deprived in the society. Babu Lal took to heart both these lessons aad proved worthy of the confidence reposed in him. In the year 1930 he was elected Municipal Commissioner. In the same year he was appointed as part-time lecturer in law in Sanathan-Dharm College, Kanpur. His interest in both these fields remained unabated. In 1960 he was elected Elder man of Nagar Mahapalika. In 1941 he became Head of the Department of law and in the year 1955 he was appointed Dean Faculty of Law of Agra University.

His thoughts were early nurtured on deep sense of nationalism and Indian social values and his later absorption with both may be traced to early influences. In this prime of his youth Tilak, Mahatma Gandhi, Madan-Mohan Malviya and Pt. Jawahar Lal Nehru influenced him most. The struggle for independence and the non-violent movement to throw away the British rule left a deep mark in him and he always shared the passion and action of the time. His contribution to the liberation movement though immense was never publicised. He never courted arrest but always defended freedom fighters in court without charging any fees. He chose that his battle-ground would be the law. He had a hunger for social work and distinction. He had had his chance at both and lived through the most moving destiny that was given to his generation,

Pandit ji had to work hard for success at the Bar but he was so situated that success responded to his work. He has all the gifts God could offer. He has a handsom personality, pleasant manners, sweet tongue, sharp and nimble mind, a gift for flashing phrase an elegance of language and a sense of self sufficiency. He taught in the class room, worked in social organisations, read his briefs in full and worked in the chambers of great civil lawyers. Thus passed first fifteen years of his practice. His success was like an irresistible forces and he had to be recoined in the front rank. The 50's found him moving fast with great strides in the profession of legal teaching and practice, He was made Dean Faculty of Law in the year 1955. He was invariably engaged in all important cases. He reached the top and he has been there for the last more than three decades, a privilege which hardly a few could have. The secret of his success seems to be that he was a genious for friendship and a respect for the quality of a man even when his views are greatly divergent from his own, He lives at the centre of a lively group of friends and maintains the tradition of good talk and zestful living. He is careful of the decencies of court and meticulously observes the ethics of the profession,

Law is an ever growing social science. Law is however the means and justice is the end and for law to achieve justice it can never remain static. The basic principles of justice do not change but the technique of interpretation is always re-oriented and new concepts of positive law are evolved so that justice and more particularly social justice be secured for the working class, the tiller of the soil, the landless labourer and weakest in the society. to achieve justice, political, economic and social the members of the Bar have to play an important role. Much depends as to how the lawyers pleading a cause ask the Judge to think. Great learning and advocacy of Pt. Babu Lal ji has certainly helped in evolving new approach to great problems facing the society. It is indeed fortunate that Pandit ji continues to serve the society in diverse ways.

May Pt. Babu Lal ji live long - very very long - this is my earnest prayer and this is. I am sure, the prayer of all his friends, colleagues, juniors and admirers.*

# पं० बाबूलाल मिश्र के जीवन-विकास में 'एकाग्रता'

**रामकुमार त्रिपाठी, एडवोकेट**

कानपुर

पं० बाबूलाल मिश्र के जीवन की गहराई में उतरते ही विचारक इमर्सन के इस सूत्र का स्मरण सहज ही हो आता है—"यदि जीवन में बुद्धिमानी की कोई बात है तो वह एकाग्रता है।" एकाग्रता, पण्डित जी के जीवन की वह सोपान है, जिस पर चढ़ते हुए उन्होंने वर्तमान के महान् व्यक्तित्व-कृतित्व का वरण किया है।

एकाग्रता की यह सोपान, पण्डित जी को ज्ञान की पिपासा के माध्यम से विद्यार्थी-जीवन में प्राप्त हुई थी। क्योंकि ज्ञान के प्रति आत्म-समर्पित हुए बिना एकाग्रता के किसी अंश को भी पाया नहीं जा सकता। मैं मानता हूं कि पण्डित जी को ज्ञान के अध्ययन की राह पर एकाग्रता की युवा हो रही उपलब्धि उस समय हुई थी, जब सन् १९२६–२७ में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में विधि-विषय के अध्ययन के अन्तर्गत, उन्होंने—मानव जीवन के सहस्रों स्तरों पर बिखरी हुई जीवनात्मक व्यावहारिकताओं तथा वास्तविकताओं की पृष्ठभूमि में विद्यमान मानसिकता की महान् शक्ति का आत्म-दर्शन किया होगा। निश्चित रूप से एक अधिवक्ता के लिये, दण्ड-विधान का सम्पूर्ण अध्ययन उसका ज्ञानार्जन ही है। किन्तु जो अध्येता, अध्ययन के ज्ञान में एकाग्र होकर उसमें जीवन का आत्म-दर्शन खोजता है, जैसा कि पण्डित जी ने किया, वह मन-मस्तिष्क की खोज की प्रक्रिया में अपने ज्ञान को सहज ही एक अध्यात्मिक धरातल प्रदान कर देता है और यह आध्यात्मिक धरातल उसका मन ही होता है, जिसकी जीवनात्मक वृत्तियां, भौतिक जगत के बहुत ऊपर के चेतनावकाश में विचरण के स्वभाव से आप्त-व्याप्त होती हैं। मुझे अनुभव होता है कि मैं, पं० बाबूलाल मिश्र के मानसिक विकास को पर्त-पर्त अनावृत करने का प्रयास कर रहा हूं। अवश्य ही मैं, पण्डित जी के मन के साथ उस ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर खड़ा हो गया हूँ, जहाँ जीवन के पक्ष में चेतना प्रधान हो गयी है और भौतिक पदार्थ गौड़। इस चेतना ने, जो अज्ञात शक्ति की भांति प्रत्यक्ष थी—पण्डित जी की एकाग्रता को और अधिक सघन किया तथा भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्त कर्म के सस्कारों को सुदृढ़ बनाया। पण्डित जी की अवस्था उस समय चौबीस वर्ष की थी और सामान्य रूप से यह आयु आध्यात्मिक एकाग्रता के लिए एक परिपक्व आयु नहीं मानी जाती, किन्तु पण्डित जी की उस समय की यह आयु लगभग वही आयु है, जिस आयु में स्वामी विवेकानन्द जी भारत की आधुनिक संस्कृति के महान भाष्यकार बन गये थे और यदि सात वर्ष की अवस्था के बाद लगातार तेरह वर्षों तक पण्डित जी की जीवनात्मक एकाग्रता को, विकेन्द्रित बने रहने की परिस्थितियां न मिली होतीं, तो आज उनकी उपलब्धियों का इतिहास, अधिक दिव्यतम चेतनाओं की मानसिकता से उजागर होता।

यों बाबूलाल मिश्र की जीवनात्मक उपलब्धियां इनी-गिनी नहीं हैं वरन् इने-गिने व्यक्तियों को ही उपलब्ध हैं, किन्तु यह सत्य है कि जिस अनुपात में उन्हें सामाजिक

प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसी अनुपात में ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की गयी। इतिहास का अपना काल होता है। इतिहास-काल में एक व्यक्ति जन्म लेता है और तीस-पैंतीस वर्ष की अवस्था में दुनिया के हाथों को एक गौरवपूर्ण इतिहास सौंप कर चल देता है। लेकिन संसार समाज से चलता है, इतिहास से नहीं। संसार को समाज की आवश्यकता है, इतिहास की नहीं। इतिहास तो जीवन-समाज के असंतुलन का, उसकी कमियों का या उसकी अज्ञानता का प्रतीक होता है। इतिहास सदैव जीवन-समाज की जय-पराजय से बनता है और यह जय-पराजय किसी एक ही मनुष्य के समाज की उपलब्धि नहीं हो सकती। इतिहास को शान्ति की आवश्यकता नहीं है, जबकि जीवन-समाज की प्रथम तथा अन्तिम आवश्यकता शान्ति है। इतिहास को तो अन्यायों-अत्याचारों, दुःखों-कष्टों, रक्तपात तथा घावों और क्रूरतम पशुता से संचालित भयानक युद्धों की आवश्यकता होती है। कहते हैं जिसे मोक्ष मिल जाता है, उसे स्वर्ग में कोई काम नहीं करना पड़ता और न ही उसे पुनर्जन्म का अवसर प्राप्त होता है। इसीलिए जीवन के धर्मात्मा, स्वर्ग नहीं चाहते वरन् गांधी जी की भाँति जब तक इस धरती पर दीन-दुखी हैं और उन्हें सेवा सहायता की आवश्यकता है, तब तक—बार-बार जन्म लेना चाहते हैं। पण्डित जी ने समाज-सेवा के रूप में इतिहास से कहीं अधिक जीवनात्मक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अवसरों का सृजन किया है।

मैं पण्डित बाबूलाल मिश्र के व्यक्तित्व-कृतित्व को क्रमबद्ध करने में अनेक सम्बद्ध कठिनाइयों का अनुभव करता हूं। आध्यात्मिक चेतनाओं वाले व्यक्तित्व के साथ कई बार यह प्रमाणित होता है कि दस वर्ष बाद साकार होकर प्रत्यक्ष होने वाली उपलब्धि बीस साल से भी पहले से बीज रूप में विद्यमान प्रतीत होती है। इस संदर्भ में क्रम-बद्धता का विचार बहुत कुछ ऐसी ही मूर्खता का प्रतीक होगा, जैसे मैं यह सिद्ध करने में समय नष्ट करूं कि पहले वट-वृक्ष पैदा हुआ या वट-बीज। वास्तव में वृक्ष तथा बीज के साथ मुख्य तत्त्व तो प्रकृति की अखण्ड चेतना है। भौतिक पदार्थों के आर-पार यदि हम प्रकृति की अखण्ड चेतना को ही नहीं देखते, तो हमारे लिए वृक्ष तथा बीज के जीवन-मूल्यों को समझना असम्भव होगा। पण्डित जी का व्यक्तित्व-विकास विद्यार्थी जीवन से ही सम्पूर्ण तथा समग्र रूप में जीवनोन्मुख होता है और इसीलिए पण्डित जी आज एक अखण्ड व्यक्तित्व के धनी हैं।

लगता है कि पं० बाबूलाल मिश्र की एकाग्रता के प्रारम्भिक विकास अथवा उसकी मूलभूत अवस्थाओं से परिचय के लिए हमें, उनके बाल-जीवन-वृत्त को अपने समक्ष रखना पड़ेगा। पण्डित जी की अवस्था जब डेढ़ वर्ष की थी तब बाबा का देहान्त हो गया। दो वर्ष की अवस्था में उनके पिता जी का देहान्त हो गया। सात वर्ष की अवस्था में उनकी माता जी का देहान्त हो गया। अब सात वर्षीय बालक के भावी विकास का आधार, किन और कैसी शक्तियों की प्रक्रियाओं से अपने को सुदृढ़ बनाने का संयोजन करता है। क्या सत्तर वर्षीया जीवित बच रहीं दादी में उस अनाथ हो गये बालक के भावी विकास की धुरी बनने की क्षमता थी? क्या बालक के फूफा पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र से ऐसी आत्मोपलब्धि की आशा की जा सकती थी? मेरी मान्यता है कि बालक के हृदय में माता-पिता के अभाव से रिक्त-स्थान की पूर्ति किसी अन्य आत्मीय सम्बन्ध की उपस्थिति से नहीं की जा सकती और न माता-पिता के अतिरिक्त कोई अन्य आत्मीय सम्बन्ध, बालक के भावी विकास की धुरी बन सकता है। सहयोग तथा मार्ग दर्शन की गौड़ सुविधाओं के साथ भी माता-पिता के बाद जिस बालक में अपने भावी विकास की धुरी स्वयं निर्मित होने लगती है, वही बालक, विकास की चरम सीमाओं को लाँघ पाता है। जिस बालक में अपनी भावी चेतना और जीवनात्मक संकल्प-शक्ति का अभाव होता है, वह प्राप्त सुविधाओं का भी दुरुपयोग करता है। पण्डित जी में वैचारिक एकाग्रता का प्रस्फुटन माता जी की मृत्यु के बाद से ही, सात साल की अवस्था में हो गया था। अन्ततः सात वर्ष की अवस्था के बालक ने अपनी माता की मृत्यु के बाद अपने एकाकीपन की रिक्तता को भरने के लिए, जब इस अनन्त संघर्षों तथा व्यापारों से भरे हुए संसार में से अपनत्व के अर्थ में कुछ खोजने का

प्रयास किया होगा, तब स्वाभाविक है कि प्रारम्भ में उसकी विचार-शून्य फटी-फटी आँखों के सामने एकान्त का गहरा अंधेरा ही उभरता रहा हो। लेकिन बालक बाबूलाल का भावी विकास साक्षी है कि अंधेरों की भयानकता से भरी हुई ऐसी अनिर्णीत स्थिति, अधिक समय तक उसे अपनी गोद में कैद नहीं रख सकी। अन्ततः उसके हृदय से एक चेतना-किरण फूटी। उसके हृदय-कक्ष में ज्योति का प्रवेश हुआ। उपलब्धि की अनुभूति से उसकी मानसिक शिराओं के रुधिर-संचरण में स्फूर्ति का आवेग प्रवाहित हो उठा और प्रथम बार उसने और अधिक एकाग्रता से अपनी आत्म-स्थिति में जहाँ से चेतना की प्रथम किरण फूटी थी, पैठने का प्रयास किया। यह प्रयास, एक अभ्यास का प्रारम्भ था। आगे यह अभ्यास—प्रक्रिया कहीं भी रुकती हुई नहीं दिखायी देती और आज भी उनके परिवेश में जो गम्भीरता है, वह अन्य कुछ नहीं—एकाग्रता ही है।

शक्ति का संचालन तथा नियंत्रण कठिन होता है। पैदल चलने वाले को, तेज मोटर चलाने वालेकी अपेक्षा कम सावधानी की आवश्यकता होती है। आवश्यकता से कम पैसे होने पर पैसों की नहीं, आवश्यकता की चिन्ता होती है। लेकिन जिस बालक क जेवें रुपयों से भरी हों और जिसे अपनी आवश्यकताओं का सही ज्ञान न हो, वह अपने लिए रुपयों की शक्ति से भयानक स्थितियों का सृजन सरलता से कर लेता है। पं० बाबूलाल मिश्र के व्यक्तित्व की यह एक विशेष महत्वपूर्ण बात है कि जब उनके सात वर्षीय जीवन ने, आत्म-चेतना की परम-शक्ति को अपने भावी विकास की धुरी बनाया, तब साथ-ही-साथ उस बालक ने, उस महाशक्ति के उपयोग के लिए अपने जीवनादर्शों के लक्ष्य भी निर्धारित किये और भूलने-भटकने की स्थितियां समाप्त हो गयीं। लेकिन यदि ऐसा न हुआ होता, तो उनका जीवन-विकास विभिन्न असम्बद्ध जीवन-क्षेत्रों में खण्ड-खण्ड प्रतिष्ठित दिखायी देता था उनके कृतित्व में एक अत्यन्त उग्र इतिहास-खण्ड जुड़ा हुआ मिलता। आज पं० बाबूलाल मिश्र की गणना देश तथा प्रदेश के मूर्धन्य विधि-वक्ताओं में है और सन् १९६१ में ही इलाहाबाद का न्यायाधीश बनने का निमन्त्रण उन्हें प्राप्त हुआ था, जिसे पण्डित जी सामाजिक परिस्थितियों के कारण स्वीकार नहीं कर सके। कानपुर बार एसोसियेशन के अध्यक्ष तथा उत्तर प्रदेश बार कौंसिल के उपाध्यक्ष के रूप में उनकी महत्त्वपूर्ण योग्यता तथा प्रतिष्ठा के अनेक मील-पत्थर, विधि-क्षेत्र के प्रगति-पथ पर स्थापित हो चुके हैं और निश्चित रूप से इससे कहीं अधिक श्रेष्ठतर मानवीय उपलब्धियाँ आज पण्डित जी के व्यक्तित्व की अभिन्न अंग हैं। किन्तु विचारक थोएनमेरेडिथ ठीक ही कहता है—"जो व्यक्ति जीवन में एक ही बात खोजता है, वह आशा कर सकता है कि जीवन समाप्त होने से पूर्व वह, उसे प्राप्त हो जायेगी।"

मैंने ऊपर एक-दो प्रश्नों के सहारे बालक बाबूलाल मिश्र की एकाग्रता के विकास की खोज का प्रयास किया है। उनमें से एक प्रश्न यहां भी अपने समक्ष रखकर आगे की खोज प्रारम्भ रखना चाहता हूं। वह प्रश्न है—क्या बालक बाबूलाल के फूफा पं० जगन्नाथ मिश्र से बालक के भावी-विकास की धुरी बनने की आशा (तत्कालीन स्थिति में) की जा सकती थी? आगे हम इस प्रश्न के प्रकाश में तत्कालीन स्थितियों तथा क्रियाओं का निरीक्षण करेंगे। मुझे विश्वास है कि ऐसा करने से हमें, पं० बाबूलाल मिश्र की प्रारम्भिक एकाग्रता के कई अन्य ठोस प्रमाण उपलब्ध होंगे।

बालक बाबूलाल के फूफा पं० जगन्नाथ मिश्र उस समय गुरुनारायण खत्री मिडिल स्कूल में हेडमास्टर थे। सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में वे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और शिक्षा के महत्त्व को पूरी तरह अनुभव करते थे। कानपुर आ जाने पर वही बालक बाबूलाल के संरक्षक थे। लेकिन मुझे लगता है कि एक क्षण को भी वे, बालक बाबूलाल से इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त कर प्रगति करने की आशा-कल्पना नहीं कर सके थे। एक निराश्रित बालक के रूप में बाबूलाल को संरक्षण प्रदान करने में उनका प्रयोजन, केवल मिडिल स्कूल या अधिक से अधिक मैट्रिक तक पढ़ाकर उसे अपने स्कूल में अध्यापक बनवा देने तक सीमित था। वे एक क्षण को भी यह महत्त्वपूर्ण कल्पना नहीं कर सके कि बालक बाबूलाल निराश्रित स्थिति में अध्ययन-क्षेत्र की व्यापक कठिनाइयों को ओढ़ता-बिछाता हुआ

एल० एल० बी० जैसी विशेष उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि संरक्षण के दायित्व को पूर्ण करने के लिए उन्होंने बालक बाबूलाल का विवाह उस समय ही कर दिया था, जब वह अभी कक्षा सात में ही था। उनकी आशा यह थी कि जब तक बाबूलाल का गौना आयेगा, तब तक वह मिडिल स्कूल 'पास' कर लेगा और वे, उसे अपने स्कूल में अध्यापकी दिला देंगे और इस प्रकार बालक बाबूलाल के प्रति चिन्ताएं समाप्त हो जायेंगी। लेकिन यह वही समय था, जब बालक बाबूलाल अपनी आत्मा में, जीवनादर्शों के संकल्पों से अपने भावी-जीवन-विकास की धुरी को सुदृढ़ कर रहा था और यही कारण है कि सन् १९२१ में पी० पी० एन स्कूल से हाई स्कूल (School Leaving Sertificate) की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भी उसके शिक्षा-पथ पर समय का कोई पड़ाव नहीं मिलता। अगले वर्ष ही वह डी० ए० वी० कालेज में प्रवेश ले लेता है। हाँ, यह अवश्य हुआ कि एकाग्रता की आधार-शक्ति, संकल्पशील मानसिकता तथा स्थिर दिशा के बाद भी तात्कालिक स्थितियों के प्रभाव ने उसकी अध्ययन-शक्तियों को व्यापक रूप से विकेन्द्रित करने का प्रयास किया और परिणामस्वरूप शिक्षा-केन्द्र में ही नहीं, प्रदेश-स्तर की परीक्षा में प्रथम आने योग्य छात्र, केवल उत्तीर्ण-अंक प्राप्त कर परीक्षाएँ उत्तीर्ण करता रहा।

अभी-अभी ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसकी पुष्टि में, पं० बाबूलाल मिश्र के इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में एल० एल० बी० का परीक्षाफल हमें प्राप्त है। वहाँ के अध्ययन में, संरक्षण की सुविधाएँ न थीं और न आत्मीय परिस्थितियाँ। सन् १९२७ की बल० एल० बी० परीक्षा में उन्हें सम्पूर्ण विश्व-विद्यालय में तृतीय स्थान प्राप्त हुआ था। अध्ययन के क्षेत्र में विद्यार्थी बाबूलाल का यह वही स्थान था, जो मिडिल स्कूल से लेकर बी० ए० तक आश्रित-निराश्रित परिस्थितियों के कारण उसे नहीं प्राप्त हुआ था।

अन्ततः वह कौन–सी अतिरिक्त विशेषता है, जो मनुष्य को, मनुष्य-समाज में प्रतिष्ठित बनाती है–कर्त्तव्य को सर्वोत्तम स्वरूप में पालन करने की एकाग्रता। सफलता के तालों को खोलने की कुञ्जी पं० बाबूलाल मिश्र के भावी-जीवन-विकास को इसी धरातल पर परसने का प्रयास हमें प्रारम्भ रखना चाहिए।

फरवरी, सन् १९२८ को पं० बाबूलाल मिश्र कानपुर में, कानपुर के प्रतिष्ठित अधिवक्ता बाबू ब्रजनारायण-मेहरोत्रा के संरक्षण में वकालत प्रारम्भ करते हैं। सन् १९२९ में वे वार्ड नं० १३ से निर्विरोध म्युनिसपल कमिश्नर चुने जाते हैं और सन् १९२९ से जुलाई माह में ही सनातन धर्म कालेज के विधि-विभाग में वे अध्यापक नियुक्त हो जाते हैं। डेढ़ वर्ष की इन उपलब्धियों के दस्तावेज को एक व्यक्ति की योग्यता के संदर्भ में इसलिए अतिरिक्त महत्त्व प्रदान करना पड़ता है कि यह उपलब्धियाँ, सामान्य योग्यता के अत्यन्त सघन क्षेत्र में उस व्यक्ति को प्राप्त हुई हैं, जिसने केवल डेढ़ वर्ष पूर्व बिना किसी पृष्ठभूमि तथा प्रभाव के इस क्षेत्र में एकाकी प्रवेश किया था। इस डेढ़ वर्ष की अवधि में पं० बाबूलाल मिश्र की प्रतिभा के सभी क्षेत्र इतना प्रकाशित हो चुके थे कि उनकी छब्बीस वर्षीय अवस्था, उनकी सामाजिक तथा शैक्षिक उपलब्धियों के लिए अपवाद के साथ अलंकार बन गयी थी। लेकिन कभी भी उनकी योग्यताओं को, उनकी आयु की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी और आज भी सम्पूर्ण एकाग्रता एवं आत्मावस्था से ओप्त-व्याप्त उनकी योग्यता अबाधगति से प्रगतिशील दिखाई देती है।

इस समय पं० बाबूलाल मिश्र अनेक सामाजिक, शैक्षिक तथा धार्मिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। वे, एस० डी० कालेज की कार्यकारिणी के प्रधान, आर्यनगर इण्टर-कालेज के प्रधान, बी० एन० एस० डी० कालेज की कार्यकारिणी के सदस्य, सनातन धर्म विद्यालय के प्रधान, बार-एसोसियेशन की एजूशन कमेटी के प्रधान, ब्रह्मावर्त सनातन-धर्म मण्डल के प्रधान मंत्री, अखिल भारतीय उद्बोधन-समिति के प्रधान तथा अनेक सामाजिक ट्रस्टों के अध्यक्ष हैं। यह जीवनात्मक सामाजिक इकाईयां, उनकी योग्यताओं के सेवा-क्षेत्र हैं। लेकिन उनकी एकाग्रता के विकास के क्षेत्र, इन संस्थाओं से भी आगे हैं–कदाचित् वह, वहां से प्रारम्भ होते हैं, जिस बिन्दु से चिन्तन की एकाग्रता को धर्म-कर्म की मान्यताएँ पीछे रहकर, निःसंग बना देती हैं। पं० बाबूलाल मिश्र का सारा जीवन, धर्म की पवित्रता की तरह जीवन-समाज में प्रतिष्ठित रहा है और उनकी अब तक की जीवन-यात्रा, मानवीय सद्गुणों एव सेवाओं के प्रति समर्पित एक सम्पूर्ण विजय-यात्रा रही है।

# आशीर्वाद

**जगद्गुरु शङ्कराचार्य,**

शृङ्गेरी

पत्र से मालूम हुआ कि कानपुर के सुप्रसिद्ध विधि-विशेषज्ञ श्री बाबूलाल-मिश्र एडवोकेट का अभिनन्दन करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हमारा आशीर्वाद है कि आपका प्रयत्न सफल हो और श्री बाबूलाल-मिश्र जी चिरायु होकर अबाध समाज सेवा करते रहें।

# आशीर्वाद

## जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज

नैमिषारण्य

पं० बाबूलाल मिश्र एडवोकेट से लगभग चालीस वर्ष से मेरा धर्म प्रचार कार्य क्षेत्र में सम्पर्क रहा—उनकी कुछ विशेषताओं का मेरे हृदय में आदर है। वे उपासना के स्थान पर एकनिष्ठ हैं, जैसे सब धर्मों का आदर करते हुए सनातन धर्म में निष्ठा रखते हैं। बहुत—से देवी—देवताओं का आदर करते हुए एक ईश्वर में निष्ठा रखते हैं। सभी सन्तों का आदर करते हुए निष्ठा, एक में रखते हैं। भौतिक विद्याओं के प्रतिष्ठित विद्वान होते हुए अध्यात्म विद्या को सबसे श्रेष्ठ मान्यता देते हैं। चिन्ता, भय, शोक आदि मानसिक विकारों से अपने हृदय को सुरक्षित रखते हैं। किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति के प्रभाव में आकर अपने हृदय और बुद्धि को दबाव से सुरक्षित रखते हैं। सर्वज्ञ तो कोई पुरुष नहीं है। जहाँ आवश्यकता समझते हैं, विशेषज्ञ का आदर करते हैं। वे ज्ञान और भक्ति दोनों का आदर करते हैं। उनकी प्रसन्नता और गम्भीरता का प्रभाव, सम्पर्क में रहने वालों पर भी पड़ता है, दैवी स्वभाव उनमें अनेकों गुण हैं। पूर्ण रूप से ही हम उनको आशीर्वाद देते हैं कि ईश्वर की कृपा से वे सात्विक समाज के विकास करने में सफल एवं शतायु हों।

# आशीर्वाद

## देवरहा बाबा

यह सुन कर अपार हर्ष हुआ कि जगदाचार्य ब्रह्मर्षि स्वामी नारदानन्द-सरस्वती के संरक्षण में श्री बाबूलाल मिश्र, एडवोकेट का अभिनन्दन होने जा रहा है।

भक्त वकील बाबूलाल मिश्र के लिए हृदय से मेरा आशीर्वाद है। उनकी लौकिक एवं पारलौकिक दोनों उन्नति हों। भक्त एवं चरित्रवान् व्यक्तियों का अभिनन्दन करना अच्छा कार्य है।

# आशीर्वाद

**ब्रह्मचारी आत्म चैतन्य**

सचिव

वृन्दावन बिहारी भवन

मिश्र पोखरा

वाराणसी

धर्म सम्राट् अनन्त श्रीविभूषित स्वामी श्री करपात्री जी महाराज को ज्ञात हुआ कि कानपुर की जनता, पं० बाबूलाल मिश्र को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने जा रही है । पूज्य श्रीचरण ने निम्न आशीर्वचन भेजा है :—

'पं० बाबूलाल मिश्र एक कर्मठ समाज सेवी, विधि-विशेषज्ञ और निष्काम कर्मयोगी व्यक्ति हैं । ईश्वर उन्हें दीर्घायु प्रदान करे ।'

# २. साहित्य तथा दर्शन – पर्व

# जीवन और मृत्यु का रहस्य

ब्रह्मलीन अनन्त श्री विभूषित
ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री शंकराचार्य
स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी

जीवन और मृत्यु-दोनों ही शब्द संस्कृत भाषा के हैं तथा परस्पर विरोधी हैं। जीव, प्राण धारणे-धातु से 'जीवन' शब्द और मृङ, प्राणत्यागे से 'मृत्यु' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। प्राण धारण का प्राणत्याग बिल्कुल विपरीतार्थक है। इसका सीधा सा यह अभिप्राय हैं। कि जब तक प्राण-वायु का संचार नासिकारन्ध्र द्वारा होता रहता है, तब तक 'जीवन' और प्राण-वायु का नासिकारन्ध्रों से गतागत समाप्त हो जाता है, तब मृत्यु शब्द का प्रयोग होने लगता है। इस प्राणवायु के धारण और प्राणवायु के परित्याग द्वारा जो जीवन और मरण— ये अवस्थायें बनी वे शरीर की हैं या शरीर के अभ्यन्तर निवास करने वाले जीव की अथवा केवल वायु की ?

जीवन और मृत्यु का व्यपदेश शरीर से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् जब तक शरीर में प्राण—वायु का संचार रहता है, तब तक नेत्रों से अन्धा कानों से बधिर और वाणी से गूंगा भी जीवित ही कहा जाता है, सभी इन्द्रियों से सम्पृक्त होता हुआ भी वह मृत माना जाता है इसलिए प्राण को सबसे उत्तम माना गया। यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ! ( छा० उप० ५।१।१ ) इसी अध्याय में प्राणाः को सर्व श्रेष्ठ बताया गया है ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः 'भगवन् ! को नः श्रेष्ठः इति। तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः ( छा० उप० ५।१।७ प्रजा के पास जाकर समस्त इन्द्रियों सहित प्राणों ने कहा भगवन् हममें बड़ा कौन है ? प्रजापति भगवान ने सीधा उत्तर दिया कि जिसके निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त हेय समझा जाय वही सबसे बड़ा है। प्रजापति की इस बात पर विश्वास न करके सबसे पहले वागिन्द्रय ने शरीर का परित्याग किया पर शरीर की केवल वक्तृत्व शक्ति को छोड़कर और कुछ हानि नहीं हुई। पूर्व की भाँति सुनना, देखना और समझना बना रहा इसी प्रकार क्रम-क्रम से एक-एक करके सब इन्द्रियों ने शरीर का परित्याग कर यह परीक्षा की कि क्या हमारे शरीर में न रहने से यह उसी प्रकार कार्यक्षम ( जीवित) रहेगा या नहीं ? पर इन्द्रियों के निकल जाने पर प्राणवायु के रहते-रहते शरीर की जीवित संज्ञा ही रही 'मृत' नहीं। अतः इसी अध्याय में शरीर को त्याग कर प्राणों के निकलने का समय आया। सभी इन्द्रियाँ बेचैन हो गयी और प्रार्थना करने लगीं–'भगवन्' ! एधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति ( ५।१।१२ ) इस प्रकार प्राण का स्थान शरीर में सबसे ऊँचा है।

अब विचार यह करना है कि क्या प्राण परित्याग से शरीर की मृत्यु और प्राण के रहते-रहते जीवन, बस इतना ही सत्य और तत्व है या जीवन-मरण व्यपदेश में अन्य भी कोई तथ्य है ? इस सम्बन्ध में आस्तिक नास्तिक

दो सम्प्रदाय सामने आते हैं। नास्तिक का कहना है कि पृथिव्यादि पञ्चभूतों के स्व-स्व मात्रा के अनुसार मिल जाने पर एक शक्ति उत्तपन्न होती है जिससे शरीर में चैतन्यता आ जाती है इन पाँच तत्वों का आंशिक अथवा सर्वांश विघटन ही मृत्यु है अतएव शरीर से पूर्व कोई चैतन्य तत्व ( जीव ) नाम की सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी तथा न मृत्यु के पश्चात् उस शरीर से सम्बन्ध रखने वाला तत्व किसी लोक-लोकान्तर या किसी भी रूपान्तर में अवशेष रहता है जो शरीर द्वारा किए गए बुरे – भले कर्मों का फल भोग करें, इस लिए आनन्द पूर्वक शरीर रूपी आत्मा का किन्हीं भी सदसद् उपायों द्वारा अप्यायन करते रहो और आनन्द से जीवन बिताओ ! 'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागगमनं कुतः। ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।' इत्यादि उनका घण्टा घोष है इस स्थिति के अनुसार शरीर की उत्पति भी कामासक्त स्त्री पुरुषों के परस्पर देह-संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

आस्तिक सम्प्रदाय के अनुसार हमारे जीवन मृत्यु के साथ न केवल प्राण का संसर्ग है अपितु और भी कोई इस प्रकार के तत्व अवश्य हैं जो प्राण के सहचारी या प्राणानुगामी हैवह तत्व सम्पूर्ण होकर जैसे इस शरीर को धारण करता है, ठीक उसी प्रकार से शरीरान्तर – धारण की क्षमता भी रखता है।

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्ग देहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंग देहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥
(पंचदशी-द्वैत ११)

के अनुसार लिंग शरीर की कल्पना का आधार भूत चैतन्य-अधिष्ठान लिंग शरीर — पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण,मन और बुद्धि– ये सत्रह तत्व तथा इन सत्रह तत्वों में पड़ा हुआ चिदाभास-यह जीव शब्द से लिया जाता है। अतएव यह सत्रह तत्त्व वाला जीव कर्मानुसार शरीरान्तर में गतागत करता रहता है ! इस प्रकार अधिष्ठान चैतन्य, लिंग देह और चिदाभास — इनकी कभी मृत्यु नहीं होती और इनका जीवन होता है इनसे युक्त शरीर का ग्रहण जन्म और उस शरीर का त्याग ही मृत्यु मानी जाती है। अतएव गीता में कहा गया है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही॥ २। २२।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों कोउ तार कर नवीन वस्त्र धारण करता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव भी पुराने शरीर का त्यागकर नवीन देह धारण करता है। पुराने वस्त्र के त्याग और गृहण में कुछ निमित्त होता है। कोई उत्सव या अन्य हेतु होने पर ही वस्त्रांतर धारण किये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार कर्म निमित्तिक ही देहान्तर धारण करने का कारण होता है। इस प्रकार शरीर से भिन्न, प्राग से भिन्न तथा इन्द्रियग्राम से भिन्न एक तत्व है, जो शरीरांतरों में गतागत करता है और उसकी जीवन एवं मृत्यु — ये दो गतियां हैं।

विशेष विचारणीय बात यह है कि आखिर वह तत्व - जो पूर्वोक्त तीन वस्तुओं का संघ है, वह कैसे मनुष्य और स्त्री के शुक्र - शोणित में पहुंचा, कहां से गया, कैसे गया इत्यादि। इसी प्रसङ्ग को दृष्टि में रखते हुये श्वेताश्वतर - उपनिषद् में लिखते हैं — काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत प्रभृति आत्म संयोग से शरीर के कारण होते हैं केवल आत्मा इस सम्बन्ध में कारण नहीं माना जाता। जैसे उत्पस्यमान अंकुर के प्रति न केवल बीज कारण है, न केवल भूमि और न केवल कृषक,-बीज, भूमि, जलवायु से सभी समुदित होकर अंकुर के कारण बनते हैं ठीक उसी प्रकार अन्नादि मेघ द्वारा, शुक्र - शोणित अन्न द्वारा बनने पर जीव भी उन - उन पदार्थों के द्वारा उन्हीं में ओत–प्रोत हुआ जीवन - मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। इस महाचक्र से छुटकारा पाने के लिये जप, तप, ध्यान और समाधि का विधान शास्त्रों में बताया गया है।

कौषीतकि ब्राह्मणोंपनिषद में लिखा है कि लोग संसार को छोड़कर परलोक में जाते समय पहले चन्द्रमा में पहुंचते हैं। यदि उन जीवों के कर्म तुरन्त जन्म लेने योग्य होते हैं, तो वे वर्षा द्वारा भूमि पर आ जाते हैं और

जिस शरीर के उपयोगी उनके कर्म होते हैं, उन शरीरों में वे पहुंच जाते हैं। कोई कीड़े, पतंगे, पक्षी, सिंह, कोई मनुष्य, देव, गन्धर्व इत्यादि शरीरों में जन्म ग्रहण कर लेते हैं।

इस प्रकार जीवन - मृत्यु का शास्त्रों में विवेचन अद्‌भुत है; पर वस्तु स्थिति यह है कि वही एक तत्त्व ब्रह्म या आत्मा सर्वत्र है। कर्मानुसार उसी का देहान्तर में प्रवेश - निवेश होता है। यह सब सत् - असत् कर्म कलाप का परिणाम है। वास्तव में यदि आत्म तत्त्व को ठीक समझ लिया जाय — मनन और निदिध्यासन द्वारा पूर्ण निष्ठा हो जाय, तो जन्म देने वाले कर्मों की समाप्ति हो जाती है। जब जन्म देने वाले कर्म नहीं, तो मृत्यु कहाँ से इसलिये वेदान्तियों का यह डिण्डिम घोष है —

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

(आत्मोपनिषद ३१)

# प्रत्यभिज्ञादर्शन

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
वाराणसी

पाशुपत-दर्शन में पशु, पाश तथा पशुपति तीन पदार्थ बताकर विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या ये चार साधन बताए हैं।

तन्त्र-तत्त्वज्ञों का कथन है कि पशु, पाश, तथा पशुपति का ज्ञान प्राप्त करानेवाली शिक्षा को 'विद्या' कहते हैं। अनेक प्रकार की सांगोपांग दीक्षा विधि को 'क्रिया' कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध को 'योग' कहते हैं और शास्त्र-विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के त्याग को 'चर्या' कहते हैं। सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न, परम-स्वतन्त्र, नित्य तथा सब पर अनुग्रह करने वाले भगवान् महेश्वर ही पशुपति हैं, जो सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह ये पाँच कर्म करते रहते हैं जीवात्मा का ही नाम पशु है क्योंकि वह पाशों में बंधा रहता है। यह अणु नहीं, वरन् व्यापक और नित्य है।

ये पशु तीन प्रकार के होते हैं — विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल।

१– जो परमात्मा के स्वरूप को पहचानकर जप, ध्यान तथा संन्यास द्वारा अथवा भोगद्वारा कर्मों का क्षय कर डालता है और कर्मों का क्षय हो जाने के कारण जिसको शरीर और इन्द्रियों आदि का कोई बंधन नहीं रह जाता और उसमें केवल मलरूपी पाश (बन्धन) रह जाता है, उसे 'विज्ञानाकल' कहते हैं।

२– जब जीवात्मा के देह, इन्द्रिय आदि प्रलयकाल में लीन हो जाते हैं और उसमें मायेय मल न रहने पर भी आणव और कर्मज ये दो मल-रूपी पाश (बन्धन) रह ही जाते हैं, वह 'प्रलयाकल' कहलाता है।

३– जिस जीवात्मा के आणव, मायेय और कर्मज– तीनों मल (पाश) बने रहते हैं, वह कला आदि भोग-बन्धनों से युक्त होने के कारण 'सकल' कहलाता है।

विज्ञानाकल पशु (जीव) के भी दो भेद हैं– समाप्त-कलुष और असमाप्त-कलुष। १– जीवात्मा जो कर्म करता है उस प्रत्येक कर्म की तह मल पर जमती रहती है। इसी कारण उस मल का परिपाक नहीं होने पाता, किन्तु जब कर्मों का त्याग हो जाता है, तब तह न जमने के कारण मल का परिपाक हो जाता है और जीवात्मा के सारे कलुष समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए वह समाप्त-कलुष कहलाता है। ऐसे जीवात्माओं को भगवान् आठ प्रकार के 'विधेश्वर' पद पर पहुंचा देते हैं, उनके नाम ये हैं—

अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्तिकः॥
श्रीकंठश्च शिखंडी च प्रोक्ता विधेश्वरा इमे।

१– अनन्त, २– सूक्ष्म, ३– शिवोत्तम, ४– एकनेत्र, ५– एकरुद्र, ६– त्रिमूर्ति, ७– श्रीकंठ और ८– शिखंडी।

२– असमाप्त कलुष वे हैं, जिनकी कलुषराशि समाप्त नहीं हो पाई है। ऐसे जीवात्माओं को परमेश्वर मंत्र के स्वरूप में रख छोड़ता है। कर्म तथा शरीर से रहित किन्तु मल-रूपी पाश में बंधे हुए जीवात्मा ही मंत्र हैं और इनकी संख्या सात करोड़ है। ये सब अन्य जीवात्माओं पर अपनी कृपा करते रहते हैं।

प्रलयाकल भी दो प्रकार के होते हैं–पक्वपाशद्वय और अपक्वपाशद्वय।

१– जिनके मल तथा कर्म-रूपी दोनों पाशों का परिपाक हो गया है, वे पक्व-पाशद्वय मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

२– अपक्वपाशद्वय जीव पुर्यष्टक देह धारण करके अनेक प्रकार के कर्म करते हुए अनेक योनियों में घूमते रहते हैं।

सकल जीवों के भी दो भेद हैं–पक्व-कलुष और अपक्व-कलुष।

१– जैसे-जैसे जीवात्मा के मल, कर्म तथा माया इन पाशों का परिपाक बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ये सब पाश शक्तिहीन होते जाते हैं। तब ये पक्व-कलुष जीवात्मा मन्त्रेश्वर कहलाते हैं। ये ११८ मन्त्रेश्वर जीव ही उपर्युक्त सात करोड़ मंत्ररूपी जीव विषयों के अधिकारी हैं।

२–अपक्व–कलुष जीव भवकूप में गिरते रहते हैं।

## पाश

शैव महातन्त्र में पांच प्रकार के पाश बताये गए हैं– १– मलज, २– कर्मज, ३– मायेय ( माया-जन्य ), ४– तिरोधान-शक्तिज और ५– बिन्दुज।

आधुनिक शैव दर्शन में चार प्रकार के पाशों का उल्लेख है– मल, रोध, कर्म, तथा माया। रोध या तिरोधान-शक्ति एक ही वस्तु है। बिन्दु ही मायास्वरूप है और वही शिवतत्व है। यद्यपि शिवपद की प्राप्ति अर्थात् परम मोक्ष की तुलना में यह भी पाश ही है तथापि विघेश्वरादि पद की प्राप्ति में कारण होने के कारण बिन्दु-शक्ति को ही अपरा शक्ति कहा गया है। अतः उसे आधुनिक शैव दर्शन में 'पाश' नहीं कहा गया है। इसलिए यहाँ शेष चार पाशों ( मल, कर्म, रोध और माया ) के ही स्वरूप का विचार किया जाता है–

१– जो आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति को ढक ले, वह मल अर्थात् अज्ञान कहलाता है। यह मल आत्मस्वरूप का केवल आच्छादन ही नहीं करता वरन् जीवात्मा को बलपूर्वक दुष्कर्मों में भी प्रवृत्त करता है।

२– प्रत्येक वस्तु में जो सामर्थ्य है, उसे शिव–शक्ति कहते हैं, जैसे अग्नि में दाहक शक्ति। यह शक्ति जिस प्रकार के पदार्थ में पहुंचती है, वैसा ही भला–बुरा स्वरूप धारण कर लेती है। अतः पाश में रहती हुई यह शक्ति जब आत्मा के स्वरूप को ढक लेती है। तब यह रोधशक्ति या तिरोधान– पाश कहलाती है। इस अवस्था में जीव, शरीर को आत्मा मानकर शरीर के पोषण में लगा रहता है, आत्मा के उद्धार का प्रयत्न नहीं करता।

३– फल की इच्छा से किए हुए धर्माधर्म–रूप कर्मों को ही कर्मपाश कहते हैं।

४– जिस शक्ति में प्रलय के समय सब कुछ लीन हो जाता है तथा सृष्टि के समय जिसमें से सब कुछ उत्पन्न हो जाता है, वही माया पाश है। अतः इन पाशों में बंधा हुआ जीव जब तत्त्वज्ञान द्वारा इनका उच्छेद कर डालता है तभी वह परम शिवतत्त्व अर्थात् आनन्दमय पशुपतिपद प्राप्त कर लेता है।

# वेद प्रामाण्य एवं अद्वैतवाद

—वैद्यनाथ अग्निहोत्री
कानपुर

भारतीय संस्कृति ऊर्ध्वगामिनी, पूर्ण तथा पूर्णता प्रदात्री है। सम्पूर्ण मानव जीवन की ज्ञान तथा क्रिया का समावेश धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में किया गया है। निष्काम वर्णाश्रम विहित धर्माचरण, न्यायार्जित अर्थ तथा शुद्ध काम - सेवन से परमानन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता हैं। अखण्ड, अनन्त, निर्विकार, निराकार निराधार, सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, चेतनतत्व, परमात्मा ही मोक्ष है। इसे प्राप्त करने पर कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता, दुःख लेश का अस्तित्व भी नहीं रहता और जन्म - मरण का सर्वथा अभाव हो जाता है।

यद्यपि प्राणि मात्र सच्चिदानन्द स्वरूप है, तथापि अज्ञानवश प्राणी जानते नहीं। जब प्रमाण से स्वरूप ज्ञात होता है, तभी मोक्षानुभूति होती है। प्रमाणों की संख्या छः है— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अनुपलब्धि एवं अर्थापत्ति। इनमें शब्दातिरिक्त सभी प्रमाण लौकिक पदार्थों में संगत होते हैं। एक मात्र शब्द - प्रमाण ही अतीन्द्रिय वस्तु में प्रमाण है। शब्द - प्रमाण दो प्रकार के होते हैं— पौरुषेय एवं अपौरुषेय। पुरुष प्रयुक्त ही पौरुषेय प्रमाण है इनमें इतिहास; पुराण,दर्शन, स्मृति आदि ग्रन्थों की गणना की जा सकती है। अपौरुषेय प्रमाण एक मात्र वेद हैं। इनकी रचना ईश्वर द्वारा भी नहीं हुई है। ईश्वर इनके प्रकाशक मात्र हैं। अतः वेद नित्य, निर्दोष एवं स्वतः प्रमाण स्वीकार किए जाते हैं।

इस पर कुछ लोगों का मत है—"कोई भी रचना हो, पुरुष कृत ही होगी। स्वयं वेद में उर्वशी-पुरूरवा, याज्ञवल्क्य-जनक, आरुणि-श्वेतकेतु आदि के अनेक आख्यान हैं। घटनापूर्वक ही इतिहास का कथन होता है। अतः घटना के पश्चात् वेदों की रचना पुरुष द्वारा ही हुई है। इसलिये नित्य तथा निर्दोष नहीं माने जा सकते हैं।" किन्तु यह कथन अनभिज्ञता का द्योतक है। लौकिक इतिहास और वैदिक इतिहास में महान् अन्तर है। लौकिक घटनापूर्वक इतिहास होता है। किन्तु वैदिक इतिहास 'इतिहास पूर्वक घटना' है। जैसे भवन निर्माण के पश्चात् चित्रकार उसे देखकर चित्र–निर्माण करता है, यह भवन-निर्माण पूर्वक चित्र कहा जाता है। किन्तु स्थापत्य-विशेषज्ञ (इंजीनियर) भवन निर्माण के पूर्व भवन की रूप-रेखा मन में कल्पित करता है, फिर उसे चित्र द्वारा अभिव्यक्त करता है और तदनुसार भवन-निर्माण कराता है, यह चित्रपूर्वक भवन निर्माण है। वैसे ही पुरुष घटनापूर्वक इतिहास की रचना करता है, किन्तु ईश्वर सृष्टि से पूर्व इतिहास की कल्पना करते हैं। तदनुसार सृष्टि तथा घटना घटित होती है। इसे इतिहासपूर्वक घटना कहा जाता है। पुरुष की बुद्धि में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणपाटव आदि दोष सम्भव हैं। किन्तु ईश्वर अबुद्धिपूर्वक सृष्टि तथा वेदों को व्यक्त करते हैं। जैसे मानव में प्राण संचरण में बुद्धि की अपेक्षा नहीं होती अथवा यक्ष, गन्धर्वादि के आवेश में जो भी शब्द व्यक्त होते या क्रिया होती है, उसमें बुद्धि का किंचित भी स्पर्श नहीं होता। वैसे ही ईश्वर-द्वारा वेद-प्राकट्य में बुद्धि का उपयोग नहीं है, इसलिए वेद पूर्णतः बुद्धि-दोष से रहित है। "अप्राणोह्यमनाः" (मुण्ड २/२)

आदि से श्रुति ईश्वर को प्राण तथा मन—बुद्धि से शून्य प्रतिपादन करती है। अतः वेद निर्दोष तथा नित्य हैं। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः (वृहदा० ४, ६. ११)। इस महान भूत का निःश्वसित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद हैं अर्थात निःश्वासवत् वेदों का प्राकट्य होता है। तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (वृहदा० ३. ९. २६) वह पुरुष-ब्रह्म उपनिषद् प्रतिपादित है यानी उपनिषदों से ही विज्ञेय है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान उपनिषद् गम्य ही है, अतः चेतन परमात्मा में एकमात्र वेद ही प्रमाण हैं।

वेद ब्रह्मज्ञानस्वरूप एक है —किन्तु कार्य-सिद्ध के लिए प्रसंगानुसार चार भागों में विभक्त है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद में १२० शाखायें, यजुर्वेद में १०९, सामवेद में १००० और अथर्ववेद की ५ शाखायें हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण ११३४ शाखायें होती हैं। मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण भाग में वेद विभक्त हैं। ब्राह्मण भाग में ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद आते हैं। मन्त्र भाग में ईश्वर की प्रार्थना अनेक रूपों में की गई है तथा यज्ञादिपरक मन्त्र हैं। ब्राह्मण भाग में यज्ञादि का विवेचन है। आरण्यक में उपासना और उपनिषद् में ज्ञान का मार्मिक विश्लेषण मिलता है। मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् चारों का सम्मिलित रूप एक शाखा होती है। जैसे शरीर में शिरोभाग ज्ञान का केन्द्र है, वैसे ही वेद के शिरोभाग उपनिषद् भी ज्ञान के केन्द्र हैं। उपनिषदों में सृष्टि रहस्य तथा जीव, ब्रह्म, जगत् आदि का सारगर्भित वर्णन मिलता है। ब्रह्म, जीव, जगत् में परस्पर क्या और कैसा सम्बन्ध है—इसका विवेचन अनेक प्रकार से किया गया है। यहीं से अद्वैतवाद, द्वैतवाद, त्रैतवाद तथा असद्वाद के बीज प्राप्त होते है। अविचार-पूर्व कद्वैतादि प्रतीत होते हैं। विचार दृष्टि से अद्वैतवाद ही वेद सिद्धान्त है।

सनातन परम्परा में वेदानुकूल पुराण, दर्शन, महाभारत, रामायण, स्मृति आदि की मान्यता है। कहा है:—

अतीन्द्रियोर्थे धर्मादौ शिवे परमकारणे।
श्रुतिरेव सदा मान स्मृतिस्तदनुसारिणी ॥

(सू०सं०४सू०गी०८.१९)

"इन्द्रियों से पर पदार्थ में, धर्माधर्म में और परम कारण सच्चिदानन्दस्वरूप शिव में सर्वदा श्रुति ही प्रमाण है तथा श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति भी प्रमाण है।" न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तर मीमांसा—यह छः आस्तिक दर्शन मान्य हैं। यद्यपि पूर्व मीमांसा तथा सांख्य में ईश्वर-नहीं माना है, तथापि वेद प्रामाण्य स्वीकार करने से आस्तिक माने जाते हैं। उत्तर मीमांसा को ही वेदान्तदर्शन, ब्रह्मसूत्र आदि नामों से कहा जाता है। इसमें उपनिषदों का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म ही निश्चय किया गया है। सांख्यादि दर्शनों में प्रतिपादित द्वैतवाद का निराकरण युक्ति एवं प्रमाणपूर्वक किया गया है। ऐक्य ज्ञान-द्वारा मुक्ति इसी जीवन में बतलाने वाला निर्दोष यही दर्शन है। पुराणादि में भी अद्वैतवाद सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया गया है। साधारण मनुष्यों के लिए साधन रूप से भक्ति तथा वर्णाश्रम धर्माचरण पर अधिक बल दिया गया है।

यद्यपि नास्तिक वेद-प्रमाण स्वीकार नहीं करते, तथापि वेद से भी अपना पक्ष सिद्ध करते हैं। "असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत" (छा० ६.२ १) सृष्टि से पूर्व एक ही अद्वितीय असत् था, इस असत् से सत् उत्पन्न हुआ। किन्तु 'असत्' 'अभाव', 'कुछ नहीं' से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? क्या बन्ध्या—पुत्र के सन्तान उत्पन्न हो सकती है? मरूमरीचिका के जल से पिपासा शान्त हो सकी है? कदापि नहीं। इसलिए असत् से उत्पत्ति मानना सर्वथा भ्रान्तिजन्य है। "कथमसतः सज्जायेत्" (छा०६.२.१.) इससे श्रुति ने स्वयं यह कह कर कि असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? इस पक्ष का खण्डन कर दिया। अतः असद्वादी का सिद्धान्त मिथ्या प्रलाप ही है।

त्रैतवाद में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को नित्य माना जाता है। श्रुति में आभासरूप से इसे भी देखा जा सकता है। "श्वेताश्वेतरोपनिषद" में कहा है :—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपोह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।
(श्वे० १.९)

"ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ है और जीव अज्ञ तथा असमर्थ है—ये दोनों ही अजन्मा हैं। एकमात्र अजा प्रकृति ही भोक्ता—जीव के लिए भोग्य सम्पादन में नियुक्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त तथा अकर्ता है। जब ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को जीव ब्रह्मरूप अनुभव करता है, तब वह मुक्त हो जाता है।" प्रस्तुत श्रुति में लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों दृष्टियों का कथन है। अविचारशील पुरुष आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, शरीर में ही 'अहं' भावना है; शरीर के लालन-पालन में ही निमग्न रहता है। विषयापभोग पदार्थों को तथा ईश्वर को अपने से भिन्न मानता है। भिन्नता बन्धनकारक है। ऐसे पुरुषों के कल्याण के लिए श्रुति ने ईश्वर की भिन्नता की कल्पना की। जिससे ईश्वरोपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो। जब जीव, ईश्वर तथा प्रकृति—तीनों को एकमात्र ब्रह्म ही समझ लेता है, तब मुक्त हो जाता है। इस प्रकार परमार्थ पर आरूढ़ कराने के लिए पहले जीवों की भिन्नता बतलाई, फिर अभिन्न एकमात्र ब्रह्म ही है—यह कहा। अतः श्रुति त्रैतवाद का निराकरण कर, अद्वैत-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती है।

द्वैतवाद में प्रकृति तथा ईश्वर की अभिन्नता मानी जाती है। ईश्वर ही जगद्रूप में परिणत होता है। ईश्वर सृष्टि-कर्ता, सर्वज्ञ तथा कर्मफल-प्रदाता है और जीव अल्पज्ञ, कर्ता-भोक्ता तथा ईश्वर—परतन्त्र है। जीव और ईश्वर की भिन्नता वास्तविक है। ईश्वरोपासना से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से मुक्त होकर सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य मुक्ति पाता है। यही द्वैतवादियों की मान्यता है। वह श्रुति-प्रमाण से जीवेश्वर की भिन्नता सिद्ध करते हैं —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(मुण्ड०३.१.१.)

"सदा एक साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय कर रहते हैं। उनमें एक-जीव मधुर कर्म-फलों का भोक्ता है, दूसरा-ईश्वर भोक्ता नहीं, केवल साक्षीरूप से देखता है।" ईश्वर उदासीन और जीव कर्म-फल-भोक्ता होने से भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं।

किन्तु द्वैतवादी की यह मान्यता असंगत है। ईश्वर में सर्वज्ञतादि लक्षण मायोपाधि से प्रतीत होते हैं। जीव में अल्पज्ञतादि अन्तःकरणोपाधि से कल्पित है। अतः उपाधि के कारण भिन्नता की भ्रान्ति होती है, अभिन्नता वास्तविक है। श्रुति में कहा है :—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ (शुक०१२)

यह जीव कार्य—अन्तःकरण की उपाधिवाला है और ईश्वर कारण—माया की उपाधिवाला) कार्य-कारण-भाव का परित्याग करने पर, पूर्णज्ञानस्वरूप ही शेष रहता है।" क्योंकि उपाधि स्वरूप से भिन्न होती है। जैसे राजा की उपाधि क्षत्र, चँवर आदि और सेवक की उपाधि पेरी, पगड़ी आदि होने से एक राजा कहा जाता है, दूसरा सेवक। दोनों की उपाधि का परित्याग होने पर, मनुष्य मात्र ही हैं। वैसे ही माया तथा अन्तःकरण की उपाधि का परित्याग करने पर, न ईश्वर है, न जीव। एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही शेष रहते हैं। अतः जीवेश्वर की पृथकता आपातरमणीय प्रतीत होती है, वास्तविक नहीं।

औपनिषद् सिद्धान्तानुसार एकमात्र अखण्ड, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, परब्रह्म, परमात्मा ही है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा०६.२.१.) में कहा है—हे सोम्य! इस सृष्टि से पूर्व सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद शून्य एक ही सत् तत्त्व था। न प्रकृति थी, न जीव। स्वयं सद्ब्रह्म ही निमित्त कारण तथा उपादान कारण होकर, सृष्टि की और स्वयं जीवरूप हो गया। "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" (तै०२.६) उसने कामना की कि मैं बहुत होऊँ, प्रजारूप में उत्पन्न होऊँ। कामना के अनुसार "तत्तेजोऽसृजत, तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत" (छा०६.१.३) उसने तेज की रचना की यानी स्वयं तेजरूप हो गया। उस तेजरूप से संकल्प किया कि मैं बहुत रूप से होऊँ,

अतः वहीं जलरूप हो गया। तात्पर्य आकाश—वायुपूर्वक तेजादि की सृष्टि की, इस प्रकार पञ्चतन्मात्रा—सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। फिर पञ्चीकरण द्वारा स्थूल महाभूत हुये। महाभूतों से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, पर्वत, नद, नदी, सागर, वृक्ष, लता, कीट, पतंग, पक्षी, पशु, मानव, दानव, दैत्य, देवता आदि सम्पूर्ण सृष्टि कामनापूर्वक हुई। सभी शरीरों की रचना के पश्चात् स्वयं चिदानन्द परमात्मा ने उनमें प्रवेश किया— "तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २. ५. ६.)। चेतनता आने पर ज्ञान-कर्म में सभी प्रवृत हो गये। शरीराभिमान, बहिर्मुखता तथा विषयाकर्षण से कामना-कर्म में प्रवृत्तावालों की 'जीव' संज्ञा हुई। कर्मानुसार फल प्राप्त करने के लिए नीचोच्च अनेक योनियों में जन्म की परम्परा प्रवाहित होने लगी। विवेक दृष्टि होने पर अन्तर्मुख की ओर प्रवृत्ति हुई। कार्य करण, बन्ध-मोक्ष, सत्-असत् आदि का विचार करने पर और सद्गुरु और सच्छास्त्र की शरण-ग्रहण करने पर स्वयं को ब्रह्मस्वरूप ही जाना। वह तत्काल ही 'मुक्त' हो गये। श्रुति और सद्गुरु का यही सारगर्भित, मार्मिक तथा मुक्ति प्रदायक उपदेश है :—

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसिश्वेतकेतो। (छा०६.८.७.)

"यह सब सद्रूप आत्मा है, वह सत्य है और हे श्वेत केतो! वह आत्मा है, वही तुम हो।" इस प्रकार जगत्, जीव सद्रूप ब्रह्म ही है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (ब्र०सू०२.१.१४)

"कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की पृथक सत्ता नहीं है। क्योंकि विकार वाचारम्भण मात्र है—
"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा०६.१.१.)
"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं ............" (छा०६.८.७) आदि श्रुति से जीव, जगत् तथा ब्रह्म का ऐक्य है।

'माण्डूकोपनिषद्' में भी कहा है :—

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्माब्रह्म (मा०१)

"यह सब प्रपञ्च ब्रह्म ही है और यह आत्मा भी ब्रह्म है।"

एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। (मा० ७)

"वह एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्च का उपशम, शान्त, शिव, अद्वैत एवं जाग्रदादि की अपेक्षा तुरीय है। वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है।"

"बृहदारण्यक" श्रुति में कहा है :—

य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति, तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्वीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां। (वृ० १.४.१०.)

"जो अभेद-दर्शन को इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूं' वह सर्व हो जाता है। उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही होता है। जो अन्य देवता की 'यह अन्य है, मैं अन्य हूं' इस प्रकार उपासना करता है, वह अज्ञानी है। जैसे पशु होता है, वैसे ही वह देवताओं का पशु है।" उपासना या कर्म से स्वस्वरूप मुक्ति कभी प्राप्त नहीं होती। "न कर्मणा न प्रजया धनेव त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशु" (कैव० ३) न कर्म से, न सन्तान से और न धन से मोक्ष-प्राप्त होता है, एकमात्रत्याग से ही अमृतत्व—मोक्षरूपता प्राप्त होती है।

अज्ञावेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः [गी०५.१५]

"अज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा आच्छादित है, उससे जीव मोह-ग्रस्त हैं।" जैसे अन्धकार से समस्त संसार ढंक जाता है और प्रकाश-होने पर प्रकाशित होता है, वैसे ही अज्ञान से प्राणी का स्वरूप ढंका है; ज्ञान होने पर प्रकाशित होता है। अतः आत्म-ज्ञान ही अज्ञान का निवारक और मोक्ष प्रदाता है। "तरति शोकमात्मवित्" [छा० ७. १. ३.] आत्म-ज्ञानी शोक से पार हो जाता है। जगत्, जीव तथा ब्रह्म की एकता का ज्ञान ही 'ज्ञान' है। जब श्रुति प्रमाणानुसार अन्तःकरण की वृत्ति ब्रह्माकाराकारित होती है, तब पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार समकाल में ही जीव की मुक्ति हो जाती है।

वेद-प्रतिपादित सकाम कर्म से कामना-पूर्ति एवं स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। वहीं कर्म निष्काम भाव से करने पर अन्तःकरण में राग—द्वेषात्मक संस्कार के प्रक्षालक होकर ब्रह्म जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं।

उपासना से भी ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति होती है। यदि उपासना निष्काम हो, तो मानसिक चञ्चलता निवारण पूर्वक ब्रह्मज्ञान-प्रदात्री होती है। इस प्रकार परम्परा से कर्मोपासना भी मोक्ष-प्रदायक हैं। किन्तु ज्ञान साक्षात् मुक्तिप्रदायक है। श्रुति का उद्घोष है:—

यदा चर्म चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

[श्वेता० ६. २०]

"जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट ले। तब ब्रह्मज्ञान के बिना संसाररूप दुःख का अन्त सम्भव है।" तात्पर्य आकाश को कोई भी वस्त्रादि के समान लपेट नहीं सकता, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः [श्वेता०४.१६]

"स्वप्रकाश परब्रह्म, परमात्मा को प्रत्याभिन्न जानकर समस्त पाप-पुण्यात्मक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।" सब का निष्कर्ष यही है कि एक, अनन्त, अखण्ड, चिदानन्द स्वरूप वस्तु है। उसमें स्थाणु में पुरुष, शुक्तिका में रजत तथा रज्जु में सर्प के समान कल्पित माया है। माया की विक्षेप शक्ति से 'ईश्वर' और आवरण शक्ति से 'जीव' की कल्पना हुई। ईश्वर सृष्टि-कर्ता, शासक तथा कर्मफल प्रदाता एवं जीव भोक्ता, शासित, अल्पज्ञ तथा कर्मकर्ता है। जीव के भुक्ति-मुक्ति के लिए सृष्टि की कल्पना है। अनेक जन्म-जन्मान्तर, कल्प-कल्पान्तर के पुण्य-प्रताप से जब जीव को ब्रह्मजिज्ञासा होती है और शास्त्र तथा सद्गुरु के उपदेश से पारमार्थिक स्वरूप-ज्ञान होता है, तब संसार-प्रवाह से मुक्त हो, अपने अखण्ड स्वरूप में स्थित हो जाता है। श्रुति में सदृष्टान्त कहा है:—

एकनिष्ठतयान्तस्थ संविन्मात्रपरो भव।
घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ ॥
एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पतौ।

[वराहो०२.५०-५१]

"अन्तःकरण में एक निष्ठतारूप से स्थित संवित् मात्र परायण हो जाओ। जैसे महाकाश में घटाकाश तथा मठाकाश प्रतिष्ठित हैं, वैसे ही मुझ चिदाकाश में जीव और ईश्वर परिकल्पित हैं।

मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि।
इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः ॥

[सरस्वती०३३]

"मुझमें जीवत्व और ईश्वर की कल्पना है, वस्तुतः नहीं है। जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त है, इसमें सन्देह नहीं।" मुक्ति इसी जीवन में प्राप्त होती है। अतः मुक्त पुरुष की संज्ञा 'जीवन्मुक्त' होती है। उसका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। वह पूर्ण स्वतन्त्र, ब्रह्मस्वरूप ही होता है। प्रारब्ध-समाप्त होने पर उसका कहीं भी गमनागमन नहीं होता। घट-नष्ट होने पर जैसे घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है वैसे ही शरीर नष्ट होने पर आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। यही जीवन का अन्तिम परमोत्कर्ष लक्ष्य है। समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्त है और यही अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद है।

# दर्शन

ब्रह्मर्षि विनोदाचार्य
कानपुर

विश्व के क्रिया कलापों को देखकर यह विचार करने के लिए मानव बाध्य हो जाता है कि सुप्रतिष्ठित एवं सुव्यवस्थित इस जगत का कर्ता कौन है ? यह विश्व कहाँ से आया है ? हम कहाँ से आये हैं ? यथार्थ सत्ता क्या है ? आदि २ प्रश्नों के समाधान के लिए विचारशील मानव मस्तिष्क संतत् प्रयत्नशील रहा है। दर्शन का जन्म संदिग्ध प्रश्नों के समाधान के लिए हुआ है।

दर्शन का लक्ष्यार्थ अपरोक्ष अनुभूति है । जिससे संसार का मर्म और रहस्य देखा जा सके। जिससे मानव और उसके मन का तथा स्वयं अपने का दर्शन हो, उस शास्त्र को दर्शन शास्त्र कहा जा सकता है। दर्शन दृष्टा का प्रेक्षण कराता है। दर्शन ऐसी आँख है जिससे दृष्टा को भी अदृष्ट का दर्शन होता है। दर्शन विज्ञान का भी विज्ञान है। विज्ञान हमें विनश्वर सत्य का दर्शन कराता है किन्तु दर्शन उस अविनाशी परम् सत्य का दर्शन कराता है जो त्रिकाल में कभी नष्ट नहीं होता, अतीत में वही था, वर्तमान में वही है और सृष्टि के लय हो जाने पर उसका विनाश नहीं होगा । जहाँ भौतिक विज्ञान की शक्ति सामर्थ्यहीन होकर असहाय हो जाया करती है । दर्शन का वहाँ से शुभारम्भ होता है। दर्शन को अंग्रेजी भाषा में "फिलास्फी" कहते हैं जिसका अर्थ होता है 'ज्ञानानुराग' ।

परमात्मा की इस सृष्टि में मानव ही चिन्तन तथा मनन की क्षमता से युक्त प्राणी है। मनुष्यों के अनवरत प्रयत्नों एवं चिन्तनों का एकीकृत रूप दर्शन ही है। इस गूढ़ शब्द की व्याख्या करने का अथक प्रयास विद्वानों ने किया है। किन्तु इस शब्द को निश्चित परिभाषा की परिधि में निर्धारित करना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। दर्शन ज्ञान की वह अबाध सरिता है, जिसका प्रवाह सनातन है।

वस्तुतः मनुष्य सबको देखता है परन्तु अपने आपको देखने का न उसे अवकाश है, न योग्यता। कर्मों का कर्ता एवम् भोक्ता समझने वाला नाना प्रकार के क्लेशों का निरन्तर अनुभव करता रहता है। इसीलिए तुलसी की लेखनी ने :—

"सिर धुनि धुनि पछिताय ।
कालहिं कर्महि ईश्वरहिं; मिथ्या दोष लगाय" ॥

वास्तविकता में हम अपने को किसी के द्वारा संताया समझकर क्रोध में पागल हो उठते हैं तथा बदला लेने में प्रवृत्त होते हैं। इस अनात्म ज्ञान के कारण चोर चोरी करने में, लुटेरा लूटने में, हिंसक प्रवृति का व्यक्ति हिंसा करने में अपने को सुखी समझता है। आत्मज्ञान का अभाव ही व्यक्ति को उन-उन दुर्दान्त कुकृत्यों को कराने में अग्रसर करता होता है, जिनके श्रवण से सहृदय जन कांप उठते हैं। मानव विशृंखलता, भेद-भाव, ऊँच-नीच, हेयता एवम् प्रेयता आदि के भाव अनात्मा ज्ञान से ही पुष्पित एवम् पल्लवित होते हैं। छान्दोग्योपनिषद में नारद जी ने सनत कुमार से ज्ञान सिखाने के लिए प्रार्थना की, सनत कुमार ने कहा जो तुम सीख चुके हो वह बताओ मैं उसके आगे कहूंगा। नारद ने बताया:—

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेलायनं देवविद्या ब्रह्मविद्यां भूतविद्य क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवं जन विद्या नेतद्भगवोऽध्येमि, ........सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' ।

बिना आत्मज्ञान के शोक दूर नहीं हो सकता। "शोकं तरति आत्मविद" । सनतकुमार ने नारद को आत्म ज्ञान का उपदेश दिया । याज्ञवल्क्य ने योग द्वारा आत्म ज्ञान को परम धर्म कहा है । "जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मासि वर्तते" शाब्दिक ब्रह्म की चर्चा करने वाले व्यक्ति से ब्रह्मप्राप्ति के उपाय योग में निरत जिज्ञासु श्रेष्ठ है । ऋषियों तथा मनीषियों ने अनुभव के आधार पर दर्शन तत्व का जो विवेचन किया है, अनुभव के अभाव में उसे झुठलाया नहीं जा सकता । भारतीय दर्शन का महान सूत्र है भेद में अभेद का दर्शन :—

सर्वभूतस्य चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
इक्षिते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च न मे प्रणश्यति ॥ (गीता)

दर्शन के दो प्रकार हैं, कुछ आस्तिक और कुछ नास्तिक। आस्तिक दर्शन ६ हैं।

१—न्याय दर्शन :—इसके प्रवर्तक गौतम हैं इसमें आत्मा गुणो का आश्रय माना गया है । जगत की सत्ता वास्तविक है ईश्वर की सिद्धि आगम प्रमाण द्वारा की गयी है। परमाणु जगत के समवाय कारण हैं । और ईश्वर निमित्त कारण है, इसका अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग है।

२— वैशेषिक दर्शन :— इसके प्रणेता महर्षि कणादि इसमें सात पदार्थ स्वीकार किए हैं जिनके अन्तरगत नौ द्रव्य हैं। आत्मा, जगत तथा मोक्ष के सम्बन्ध में न्याय से विचारों में अभिन्नता है।

३-योगदर्शनः— यह महर्षि पतञ्जलि प्रणीत हैं इसमें योग से कैवल्य पद की प्राप्ति, योग के आठ अंगों का वर्णन, "योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः" । चित्तैकाग्रता से कैवल्य की अनुभूति होती है।

४—मीमांसा दर्शन :— मीमांसा का शुभारम्भ धर्म जिज्ञासा से होता है, " अथातो धर्म जिज्ञासा" ।

यह सृष्टि को अनादि एवम् नित्य मानता है। ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में नहीं स्वीकार करता, तथापि क्रियाओं के निष्पादनार्थ विभिन्न वैदिक देवों को स्वीकार किया है । मीमांसक मत का वैशेषिक मत से पर्याप्त साम्य है ।

५-सांख्य दर्शनः— यह अतीव प्राचीन दर्शन है। पुराणों, स्मृतियों आदि में इसका वर्णन मिलता है। इसके प्रवर्तक कपिल मुनि हैं। सांख्य दर्शन मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्व हमारे वैदिक जगत के तत्व हैं । इस जगत में केवल सूक्ष्म तत्व ही है, यह प्रकृति एवं पुरुष (सांख्य दर्शन) दोनों को मानता है।

६- वेदान्त दर्शनः— वेदान्त का अर्थ है वेद का (ज्ञान का) अन्त। " वेदान्तोनामोपनिषदप्रमाणम्" सदानन्द ने वेदान्त की परिभाषा की है। प्रत्येक दर्शन ने अपना वर्ण्य विषय उपनिषद में ही खोजा है। डा० हरिदत्त शास्त्री ने वेदान्त को उपनिषद का पुत्र कहा है। जिन्हें तर्क की कसौटी पर नहीं कसा (परखा) गया । वे सिद्धान्त वेदान्त में सुसम्बद्ध किए गये हैं। वेदान्त जीव एवं ब्रह्म में अभेद बताता है। ''जीवैव ब्रह्म नापरः" ।

दार्शनिक मनीषियों ने विभिन्न प्रकार से ईश्वर, जीव, माया आदि का वर्णन किया है । कोई "सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या" के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है, तो कोई संसार एवं ब्रह्म दोनों की सत्ता को सत्य रूप में स्वीकार करता है, तथा कोई ईश्वर, जीव, माया सभी के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा उसे अविनश्वर समझता है तो कोई ईश्वर अंश जीव को बताता है। वास्तविकता क्या है ? इसके लिए अनेकानेक विद्वान अपनी बौद्धिक कसरत करते रहे किन्तु सभी, कभी भी एक मत से यह निर्णय न दे सके, कि बस यह इतना है या ऐसा ही है।

तुलसीदास जी ने "इदमित्थं कहि जात न कोई" कहकर अपने विचारों को समग्र मानव जाति के समक्ष रखा यही उस असीम अनन्त विशेषणों से विशिष्ट महान की महत्ता है।

**द्वैतवाद**:—कतिपय मनीषियों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता एवं नियन्त्रक माना है, जीव उससे भिन्न है, जीव ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर में सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व आदि गुण विद्यमान रहते हैं। किन्तु जीव अल्पज्ञ है, उसमें ईशिता शक्ति नहीं होती यह शक्ति केवल ईश्वर में ही है ईश्वर सर्वव्यापी है किन्तु जीव एक देश में रहने वाला है "तत्रेश्वरः सर्वज्ञः, जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च"। कहा गया है। वैशेषिक दर्शन जीव एवं ईश्वर में भेद बताता है। ईश्वर से अपने को भिन्न मानकर चलता हुआ मनुष्य उसमें सर्व नियंतृत्व सामर्थ्य को समझकर उसके समक्ष अपने घुटने टेक देता है। वह साँसारिक कष्टों की निवृत्यर्थ उससे प्रार्थना करता है। यह स्थिति उत्तरोत्तर बढ़कर भक्तिभाव में परिणत हो जाती है। यहीं से भक्ति दर्शन का एक नया मार्ग जिसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं, का उद्गम होता है।

विचारणीय है कि जब वेदान्त दर्शन जीवो ब्रह्मैव नापरः दोनों में अभेद मानता है। तब ब्रह्म और जीव का अलगाव व्योहार में क्यों कहा जाता है ? इस बीच दोनों की अपनी अलग-२ सीमाएँ हैं। यदि जीव ब्रह्मैव नापरः को पूर्ण रीति से मानकर जीव को ब्रह्म घोषित कर दिया जाय तो प्रत्येक क्रिया किसके द्वारा मानी जायेगी। क्योंकि ब्रह्म कूटस्थ और निष्क्रिय है, सर्व व्यापक है, भौमः है, अनन्त है, ऐसी मान्यता सभी दर्शन करते हैं। जितनी भी व्यावहारिक क्रियाएँ होती हैं वे ब्रह्म के द्वारा कथञ्चिदपि सम्भव नहीं हो सकती, जैसे—गेहूं पैदा करने के लिये हलवाह कौनहै? दुनियाँ के सारे पदार्थों का निर्माण, निर्माणशालाओ में कौन करता है क्योंकि वह स्वयं में क्रियावान नहीं है। जब क्रियावान नहीं है तो फल भोक्ता भी सम्भव नहीं है, सिद्धान्तः मीमांसकों या अन्य विचारकों के आधार पर कर्ता ही फल भोक्ता कहा गया है। "अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्"। ( येन कृतं तेनैव भोक्तव्यं ) तब विचार करना पड़ेगा कि संसार में सुकर्म, विकर्म, कुकर्म आदि का कर्त्ता ब्रह्म है या जीव तथा फल भोक्ता जिनको वैदिक सिद्धान्त में स्वीकार किया गया कौन होगा ? तथा पूर्व वर्णित सभी मतावलम्बी आचार्य यदि ईश्वर और जीव या ब्रह्म जीव में अन्तर नहीं मानते तो महत्वपूर्ण यह तर्क उपस्थित होता है कि जीव की परिधि में वे दर्शनकार जिन्हें मानते हैं क्या उसमें वह शक्तियाँ विद्यमान हैं कि जिससे सृष्टि निर्माण से लेकर समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करके ब्रह्म एव जीव की एकता सिद्ध करके ईश्वर एवम् ब्रह्म को स्वयं अपनी सत्ता के प्रावल्य से अनावश्यक घोषित कर सकें। यदि नहीं तो यह कैसे माना जाय ईश्वर एवम् ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं।

विचार करने पर ज्ञात होता है कि गेहूं का उत्पादन तो जीव कर सकता है लेकिन उसके बीच का निर्माण जीव की शक्ति से परे है। उसका निर्माता कोई अन्य है। स्वर्ण से स्वर्णकार आभूषण निर्माण कर सकता है किन्तु स्वर्ण का निर्माण उसकी शक्ति से परे की वस्तु है। ऐसे ही विश्व की नाम रूपात्मक वस्तुओं का निर्माण जीव कर सकता है। लेकिन उनके मूलतत्वों का निर्माण उसकी शक्ति से बाहर है। तब कोई ऐसा सामर्थ्यवान अवश्य होना चाहिये जिसमें जीव से अत्यधिक महान शक्तियाँ विद्यमान हों उसी को आस्तिक जगत ईश्वर या वेदान्त दर्शन के दूसरे सूत्र के आधार पर "जन्माद्यस्य यतः" ब्रह्म कहते हैं। भागवत प्रणेता श्री व्यास जी ब्रह्म और ईश्वर में एकमात्र इतना ही भेद मानते हैं एक काष्ठ के अन्तर्गत कूटस्थ अग्नि है जो समस्त काष्ठों में विद्यमान है। तद्वत् सर्वव्यापक ब्रह्म है और वही काष्ठ के अन्दर व्यापक अग्नि प्रत्यक्ष रूप में जब दिखलाई पड़ती है तब उसमें विविध पदार्थ निर्माण आदि में उससे सहयोग होता है अतः वह प्रकट सगुण साकार ईश्वर है जो प्रकट अग्नि में शक्तियाँ हैं वही अप्रकट अग्नि में भी स्थित थी। लेकिन अकर्ता होने के कारण वह अपने व्यापक रूप में अक्षुण्ण रहता है।

ईश्वर एवम् ब्रह्म में उपर्युक्त प्रकार से अभिन्नता सिद्ध होती है किन्तु जीव की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। जीव में ईशिता शक्तियाँ कभी भी नहीं आ सकती। चौरासी लक्ष योनियाँ चाहें जिस शरीर में क्यों न हो, इसलिये ईश्वर और जीव एक ही स्थान पर स्थित होते हुये दोनों में अपनी-२ विलक्षणता है। शरीर के अन्दर जीवात्मा को प्राणों के आधार की आवश्यकता है जैसे पंच-प्राण या दश प्रकार का वायु नख शिखान्त में व्याप्त है। उन्हीं को आधार-भूत बनाकर जीवात्मा नख शिखान्त व्याप्त है। लेकिन

इसी शरीर में ईश्वर केवल हृद कर्णिका पर ही निवास करता है। जीव वैदिक सिद्धान्तानुसार अग्निस्फुलिंगवत् माना गया है। इसी प्रकार जीव ईश्वरांश कहा गया है। अन्तर केवल इतना है जैसे अग्नि पिण्ड से अलग होकर स्फुलिंग अपना एक अलग आकार प्रकार रखता है, वैसे ही जीव ईश्वरांश होकर अपनी एक अलग परिधि बनाता है।

जिसे अहंकार कहते हैं। उसी दायरे में अपना पूर्ण दृष्टिकोण रखकर मैं और मेरे भाव को प्राप्त होता है। और ईश्वर से अग्नि स्फुलिंगवत् अलग हो जाता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सृष्टि कर्ता नें जीव के जीवत्व को कायम रखने के लिए ही इन्द्रियों को वहिर्मुख बनाया, जिनके द्वारा अहंकार संयोगी बनकर जीवात्मा अपने को कर्ता मानकर शुभाशुभ कर्म करता हैं तथा तत्फलों को भोक्ता है। यही जीव का जीवत्व है।

### अद्वैत :-

आचार्य शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। अद्वैत का अर्थ है जहाँ द्वैत न हो। एकत्व ही तो अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म ही है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। अद्वैत का मूलमंत्र है "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त वस्तुओं को मिथ्या की सिद्धि हेतु मायावाद की स्थापना की। आचार्य शंकर ने माया का प्रयोग अविद्या, अज्ञान, भ्रम, मृगतृष्णा आदि अर्थों में किया है। मायावाद आचार्य शंकर का वह अमोघ मंत्र है जिसके द्वारा वे ब्रह्म एवं जगत के सम्बन्ध की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो सके हैं। जगत ब्रह्म का विवर्तमान है जैसे रज्जु में सर्प की अनुभूति।

आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य शंकर उसे स्वतः सिद्ध कहते हैं क्योंकि हर व्यक्ति अपने अस्तित्व का ज्ञान रखता है। अतः उसके लिए वाह्य उद्धरण देकर बताना वे उपयुक्त नहीं समझते। मोक्ष को व्यावहारिक सत्य स्वीकार करते हुए उसके लिए ज्ञान, कर्म और उपासना आदि की उपादेयता स्वीकार करते हैं। वेदान्त ने सृष्टि के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए श्रुति की सहायता ली।

वेदान्त दर्शन के अनुसार सृष्टि की अर्थात् किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं अपितु अव्यक्त का व्यक्त होना मात्र है। "सृष्टि सदा सत्तावान् जगत् का नाम रूप व्याकरण व्युत्पत्ति मात्र है।"

"अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्च नामाख्ये व्याकरणाणि" वेदान्ती ब्रह्म से ही सारे जगत की उत्पत्ति होती है, मानते हैं।

"परमाच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्त मर्यादा।" जगत् सृष्टा होने पर नित्य शुद्ध-बुद्ध युक्त अविकारी आदि में दोष लक्षण आ जायेंगे। अतः उससे बचने के लिए समाधान है माया नामिका शक्ति "एक एव परमेश्वरः कूटस्थं विज्ञान धातुरविद्यया, मायया माया विवदमेकधा विभाव्यते।" माया ब्रह्म की अतीव शक्ति शालिनी अनिवर्चनीया विलक्षण शक्ति हैं, इसी से तो जीव भ्रमित रहता है। तुलसीदास जी ने भी मुक्त कण्ठ से माया के व्यापक प्रभाव को स्वीकार किया है। "यह माया सब जगहिं नचावा।" कबीरदास जी ने तो वेदान्तियों की अनिवर्चनीया सुख-दुःख मोह स्वभावा शक्ति माया को महा ठगिनी के रूप में "माया महा ठगिनि मैं जानी"॥ देखा है। वेदान्त माया के भ्रम से जीव को हटाकर अपने स्वरूप में स्थित कर देना चाहता है। फिर दुख नाम की वस्तु जगत में न रह जाएगी। जीव अपने को कर्ता समझता है। तभी तक वह नाना प्रकार के क्लेशों को भोक्ता है। इसे वेदान्तीगण केवल रज्जु को सर्प समझकर भयभीत रहना ही बताते हैं। वास्तविकता में रज्जु, रज्जु ही है। वह सर्प नहीं हो सकती। माया का भ्रम हटते ही जीव अपने को समझता है, वह समझ लेता है मैं वही हूं जो ब्रह्म है (सोऽहं) वास्तविकता में जीव ब्रह्म रूपी अग्नि का स्फुलिंग ही है। जीव और ब्रह्म की एक रूपता होने पर कबीर कहते हैं जैसे समुद्र का जल जल ही है तथा एक जल विन्दु भी जल ही है किन्तु जल बूंद समुद्र में एक रूप हो गया फिर उसे पहचाना नहीं जा सकता, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही है। जब जीव ब्रह्म में मिल गया फिर उसे अलग रूप में देखा नहीं जा सकता। हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हिराय।

**त्रैतवाद :—**

त्रैतवाद में ईश्वर जीव तथा माया सभी की सत्ता नित्य मानी जाती है। ईश्वर नियामक है जीव उसके नियंत्रण में रहता हुआ अपनी अलग सत्ता एवं नित्यता रखता है तथा माया भी अनादि एवम् अनन्त है। उसका भी विनाश किसी काल में नहीं होता तीनों की पृथक-पृथक स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने वाला यह मत भी किसी-न-किसी रूप में अद्वैत एवम द्वैत में ही समाहित हो जाता है।

**समन्वय :—**

उपर्युक्त वादों के पथिक चाहे द्वैतवादी हों या त्रैत, अद्वैतवादी हों या विशिष्टाद्वैतवादी किन्तु उनका चरम लक्ष्य (दुःखानिवृत्ति) दुःख निर्मूलता ही हैं। दुःखों से छुटकारा व्यक्ति को (जीव को) तभी मिल सकता है जब वह अपने को जाने, यह संसार दुःखों का सागर है। इससे बिना छुटकारा पाये जीव का कल्याण नहीं, वह अविछिन्न क्लेशों का भोग करता ही रहेगा। अतः जीवात्मा को प्रकाशित की ओर से दृष्टि हटाकर प्रकाश की ओर ले जाना ही होगा। तभी उसको अपने की जानकारी होगी एवं नाना प्रकार की आशक्तियों से छुटकारा मिलेगा। जीवात्मा वाह्य प्रकाश से किसी भी साधन के माध्यम से परम प्रकाशक अपने सहज सखा ईश्वर की ओर मुड़ेगा। तब उसे अपने में ही ईश्वर साक्षात्कार होगा। एवम् अपने स्वरूप का ज्ञान होगा। यह सब तब सम्भव है जब जीव में तू, मेरा, तेरा की परिधि से ऊपर उठकर ही नहीं विमुक्त होकर साध्य के किसी मार्ग का अवलम्बन कर सतत् प्रयत्नशील होगा। इसीलिए दर्शन कहता है "द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्" "यत् प्राप्य न किंचित् प्राप्तव्यमवशिष्यते"। (भक्ति दर्शन) ज्ञान मार्गी" यज्ज्ञात्वां न किंश्चिद् ज्ञातव्य-मवशिष्यते" आदि मेरी तो सर्व जन हिताय, सर्व जन सुखाय कामना रहती है कि "भवन्तु सुखिनः सर्वे, सर्वे सन्तु निरामयः"।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुखभाग् भवेत ।

# धर्मस्यशाश्वतंस्वरूपम्

जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री रामाश्रम महाराज
संचार मठ भानपुरा

लक्षण प्रमाणै बिना यथार्थो नावगम्यते धर्मः—यतोहि लक्षण प्रमाणाभ्याम् वस्तुसिद्धिः अर्थात् वस्तुज्ञान लक्षण प्रमाणाभ्यामेव भवति । लक्षणचद्विविधंभवति तटस्थ लक्षणं स्वरूप लक्षणं च तत्रतटस्थं कणादेन प्रोक्तम्—यतोऽभ्युदयो निःश्रेयः सिद्धिः सधर्मः, ऐहलौकिकं पारलौकिकं सुखं सुख साधन च भूयोयंस्मान्द्भवति सधर्म इत्यर्थः । पुनरप्यकाङ्क्षते-चेतः सधर्मः किंस्वरूपः । अत आह जैमिनिः 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः, अर्थात् वेदविहित कर्मैवधर्मः। ननु आभिचारिकयागोऽपिधर्मः यतो वेदविहित अत आह अर्थः, नत्वनर्थः तस्मान्निरयोऽनर्थोभवति अतोनधर्मः । मनुरप्याह-वेदोऽखिलो धर्ममूलम्-धर्मस्य, मूलं 'प्रमाणं, वेदोऽखिलएव । सचवेदः कः इत्याकाङ्क्षायाम्—आह विदन्तिजनाः धर्मब्रह्मणी अनेनेति-विदधातो करणे घञा वेद शब्द निष्पत्तिः—अनधिगतन्तित्वंचास्य प्रामाण्यम्—अनन्यलभ्योहिशब्दार्थः । सावेदविद्या-द्विधा—धर्मबोधिकाऽपरा ब्रह्मबोधिकाचपरा, शायणाचार्यः—आह-इष्टप्राप्ति-अनिष्ट परिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः । अलौकिक पदेन प्रत्यक्षानुमाने व्यावर्त्यते। अनुभूयमानस्रक्चन्दनवनितादेरिष्टप्राप्तिहेतुत्वम्' औषधानिषेवणादेरनिष्ट परिहार हेतुत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् । स्वेनानुभूयमानस्य पुरुषान्तरगतस्यच तथात्वमनुमान गम्यम् । नन्वेवंमविष्य जन्मगतसुखादिकंमनुमान गम्यम् इतिचेन्न, तद्विशेष हेतोरनवगमात् । नखलु ज्योतिष्टोमादिरिष्ट प्राप्ति हेतुरिति—कलञ्जभक्षणवर्जनादिरनिष्ट परिहार हेतुरिति च वेद व्यतिरेकेणानुमान सहस्रेणापि तार्किक शिरोमणिरपि अवगन्तुन शक्नोति । तस्माद् लौकिकोपाय-बोधकोवेदः । इति लक्षणं नातिव्याप्तम् । अतोऽभियुक्त वचनम्—

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायोन बुद्ध्यते ।
एनंविदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य—वेदता ॥

ननुस्त्रीशूद्रादयः सर्वेऽधिकारिणो यतोहि इष्टं मेस्यात्—अनिष्टंमाभूत् इति आशिषः सर्वजनीनत्वात् । मैवं स्त्री शूद्रयोः सत्यलौकिकोपायबोधार्थित्वेऽपि हेत्वन्तरेणवेदाधिकार प्राप्ति प्रतिवद्धत्वात् । उपनीतस्यैववेदाध्ययनाधिकारंब्रुवच्छास्त्र मनुपनीतयोः स्त्री शुद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्ट प्राप्ति हेतुरिति बोधयति । कथंतर्हितयोस्तदुपायावगमः अत आह—भागवते ।

स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनांत्रयीन श्रुति गोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

अपौरुषेयं वाक्यंवेद स्तस्यस्वतः प्रमाणं पौरुषेयंतु बोधकमपि पुरुषगतभ्रम प्रमादविपुलिप्साकाणापाटव दोष संभावनया तद पाकृतये मूलं प्रमाणमपेक्षते—अत एव पण्डिताः स्वव्याख्याने वेदादिवचनानि प्रयुञ्जते । तैः स्ववाक्यं प्रमाणयन्ति । नतुवेदवचने-तस्यनित्यत्वेन वक्तृ दोषानुदयात् अतो-जैमिनिराह-औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधः, ननुकालिदास वाक्यवत् पौरुषेयं वाक्यं वेदः तस्य ब्रह्म कार्यत्व श्रवणात्—यथा-ऋचः सामानिजज्ञिरे छन्दांसिजज्ञिरे तस्मात्-यजुस्तस्मादजायत इति श्रुतेः शास्त्रयोनित्वात्,इति सूत्राच्च इतिचेन्न वाचाविरूपनित्यया इति श्रुतेः अनादिनिधना नित्यावगत्सृष्टा स्वयंभुवा, इति स्मृतेश्च । देवताऽधिकरणे, अतएव चनित्यत्वम् इतिवादरायणः । तर्हिपरस्परविरोधः—नित्यत्वं चात्र

व्यावहारिकं न पारमार्थिकम्—सृष्टेरनन्तरं प्रलयात्पूर्वं-व्यवहारः नतत्रोत्पत्ति विनाशौ वेदस्य यथा कालाकाशाद-यस्तथावेदोनित्यः। वेदान्त दृष्ट्या मायोपहितचिदात्म-निर्विवर्ताः वेदाः। शब्दस्य नित्यत्वेऽपि शब्द समूह वाक्यनु-रचनानुपूर्व्यास्तु न नित्यत्वं वक्तृस्वातन्त्र्यात्—तथामहा-भाष्येपातंजले—आहरपात्रंपात्रमाहर इत्युक्तम्। तेन प्रतिकल्पं वाक्यरचनाभेदः सम्भवति। ईश्वरीयज्ञानंवेदः तस्य शब्दानु विद्धत्वात्—प्रलयेऽपिसूक्ष्म शब्दानुवेधोऽङ्गीकार्यः—ज्ञानस्य स्वभावः यदन्यस्मादन्यस्मिन् शब्द द्वारैव याति तेने ब्रह्म हृदाय आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः इति भागवते ब्रह्मणो वेदस्य आदिकवेः हृदिभगवान् विस्तारितवान्। योवैब्रह्माणं विदधातिपूर्वं योवैवेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। अत्र वेदस्य प्रवेश उक्तः सच विद्यमानस्यैव तथैव विस्तारोऽपि। नत्व-विद्यमानस्य। तेनैव सर्वस्य धर्मज्ञानम्-यथा—लोके-शतवर्षं-प्राण—धारणं पोषणं-एवं श्रवण--वाग्विसर्गादानचलनस्मृति बोधानां धारणपोषणे शतवर्षं यावत् ततोऽधिकमपेक्ष्येते। किन्तु मतुः सद्योजातस्य कस्यापीदानीं बुद्धिधौरेयस्य किंवस्तु विषंकिवाऽमृतः तच्च केनापि प्रयोगशालायांनाव भाव-अनन्तानन्तोषधीनांगुणवीर्यादयोऽपिस्वबुद्ध्या केनापि मर्त्येननानुभूताः। किन्तु मातृपितृगुरुपरम्परयैव भाषायाः वस्तूनांक्रियाणांचधारकत्वपोषकत्वज्ञानं सर्वं सर्वस्यवेदे-नैवाभूत्—अतआहभर्तृहरिः नसोऽस्तिप्रत्ययो लोकेयः शब्दानु-गमादृते। अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देनभासते। तैत्तरीयो-पनिषदि—मातृवान् पितृवान् आचार्यवान् पुरुषोवेद-ईश्वरी-यज्ञानमीश्वरेण न निरमापि—ज्ञानमन्तरा सृष्टिरचना शक्यतेभावतुम्—ज्ञानंज्ञ नाभावेन कथंनिर्मातुं शक्यते। यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। नससिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्। इत्यत्र शास्त्रं वेदः उच्यते—शास्त्र मेवशानंभवति—हितशंसनात्—तमनतिक्रम्य वर्तनमनु शासनम्। तद्रहिताएव अनुशासनहीना उच्यन्ते, तैत्तरीया-रण्यकेधर्मस्य महामहिमा प्रोक्तः। धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठाशब्देनप्रकृष्टस्थितिर्यश्चावगम्यते। यथा ऋषीणांराजर्षिणांच लोके धर्मिष्ठं प्रजाउपसर्पन्ति, यदा काऽपिदुर्बलोवलीयसात्रासितः तदा धार्मिकं वलवन्तमुपयाति-धर्मेण पापगयनुदति-यदावेदविहितंकरोति तदापापं न भवति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितंभवति, सर्वं जगत् धर्मेस्थितं यशः प्रतिष्ठाविदन्ते। तस्माद्धर्मं परमंवदन्ति, पण्डिताः धर्मं परमं, ब्रह्मप्राप्तिसाधनं वदन्ति। शुक्लयजुषिथ, तच्छ्रेयोऽत्यसृजत धर्मं—तदेतत्क्षत्रस्यक्षत्रंयद्धर्मः तस्माद्धर्मात्परंनास्ति अथोऽव-लीयान् वलीयासमाशसतेधर्मेण—यथा रजकेनरामआशंसितः रावणोमन्वेदर्प्याविभीषणेनच—विदुरेणधृतराष्ट्रः ऋषिभि—वेनो नहुषश्च—वेदशासनामादेवेदानींन—अत्यावश्यकंवेदज्ञ शासकत्वम्।

मनुः— वेदं शास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमेवसन्,
इहैव लोके तिष्ठन् सब्रह्मभूयाय कल्पते।
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेवच,
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति॥

# उपासना की आवश्यकता

**—श्री रणछोड़दास जी भगत**

'उपासना' शब्द का अर्थ 'ईश्वर के समीप वैठना' है। मूल स्थिति ईश्वर, जीव और जगत के रूप में है। परन्तु कभी अचिन्त्य कारणवश ईश्वर जगत और जीव ऐसी स्थिति हो गयी है ईश्वर और जीव के बीच में जगत के आ जाने से जीवात्मा की बुद्धि से परमात्मा का सम्पर्क न्यून हो गया है इस प्रकार का परिवर्तन हो जाने से जीवात्मा की ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति—दोनों संकुचित हो गयी है और जीवात्मा ईश्वर से दूर चला गया है इस स्थिति को श्री रामानुज स्वामी ने 'ज्ञान का संकोच' कहा है। यही जीवात्मा की अल्पसत्ता है। कारण जगत आवरण रूप है। अतः इसकी विविध रमणीय वस्तुएँ जीवात्मा की इंद्रियों को अपनी ओर आकर्षित करती है, जिससे जीवात्मा की बुद्धि विषय प्रवण मन की अनुगामिनी हो जाती है और जीवात्मा क्लेशों का पात्र वन जाती है उपासना से ज्ञान का विकास होता है जिस क्रिया से जीवात्मा और परमात्मा के मध्य में स्थित जगत तिरोहित हो जाय और उसकी ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति विकसित हो जाय, उसी क्रिया का नाम 'उपासना' है। जिससे जगत के हट जाने से जीवात्मा परमात्मा के समीप में ही वैठ जाता है। और पूर्ववत् स्थिति ईश्वर जीव और जगत यह हो जाती है। यही भगवत् सान्निध्य है यही मुक्ति है।

जीवात्मा में परमात्मा के धर्मो का प्रवेश करने के उपाय का नाम 'उपासना' है जीवात्मा को उचित है कि वह संपूर्ण जगत के कारण रक्षक, अर्न्तर्यामी, तथा अंशी परमात्मा को प्राप्त करें, परमात्मा 'पवित्राणाम् पवित्रम्' एवं 'मगलानां मंगलम्' है। देवो भूत्वा देवं यजेत्-इस न्याय से पवित्र तत्व की प्रप्ति

केवल अपने जीवन की कृतार्थता के लिए ही नहीं अपितु विश्व के कल्याण के लिए तीव्र तपस्चर्यां रूप वनमाला एवं ज्ञान वैराग्य रूप दिव्य आभूषणों से अलकृत होकर प्राचीन ऋषि मुनियों और संत महात्माओं ने अपने-अपने अनुभव पूर्वक भगवत्प्राप्ति के अनेक उपायों का संशोधन किया है जिस उपाय की सहायता से दुर्लभ तत्व की प्राप्ति सुलभ हो जाय वही 'उपासना' है उपासना एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है जिसमें दुर्वल तत्व (आत्मा और परमात्मा) का अन्वेषण किया जाता है और उनके दिव्य रहस्यों की अनुभूति होती है उपासना के विना आध्यात्मिक उन्नति असम्भव है।

उपासना की आवश्यकता के सम्वन्ध में भगवान् पतञ्जलि योग सूत्र में कह रहे हैं कि 'सहिक्रिया योगः समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।' अर्थात उपासना समाधि को उत्पन्न करती है और क्लेषों को क्षीण करती है। जीवात्मा की परमात्मा के प्रति मन की समतुलना एवं तीव्र योगाम्यास पूर्वक बुद्धि की एकाग्रता हो जाना 'समाधि' है। उपासना के विना काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ नामक रागमूलक क्लेश, क्रोध, ईर्ष्या, असूया मोह अमर्षनामक द्वेषमूलक क्लेश, अविद्या, विचिकित्सा (संशय), मान, प्रमादनामक द्रोह मूलक क्लेश तथा दुर्मति, दम्भ, दुर्वासना, हिंसा, अहंता, दुराग्रह इत्यादि क्लेश कभी भी जीवात्मा के हृदय से नष्ट नहीं हो सकते हैं। इन क्लेशों की निवृत्ति और शम, दम, विनय, मैत्री, दया, शान्ति, प्रेम आदि दिव्य वृत्ति के साथ-साथ दिव्य चैतन्य के साथ सायुज्य की प्राप्ति के लिए उपासना अनिवार्य है।

के लिए पवित्र बनना परम् आवश्यक हैं कारण, 'शुचिकामा हि देवाः सुचयश्च' अर्थात देव (परमाप्मा) स्वयं पवित्र है। और पवित्रात्माओं के साथ ही सम्पर्क चाहते हैं उपासना के अनुसंधान से जीवात्मा में अन्तःकरण की शुद्धि और परमात्मा के प्रति पवित्र प्रेम श्रद्धा एवं विश्वास की वृद्धि होती है। अनेक प्रकार के शरणागत् प्राणियो की रक्षा करने का एकमात्र जिस (परमात्मा) का व्रत है उसको जीवात्मा अपनी सम्पूर्ण रक्षा का भार समर्पण कर देता है जिससे जीवात्मा परमात्मा का कृपापात्र वन जाता है। प्राप्त (जीवआत्मा) में प्राप्य (परमाप्मा) के ज्ञान, आनन्द, सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्य, यौवन, वल, ऐश्वर्य, वीर्य शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य चातुर्य, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, यश, श्री, अपहृतपापत्व, कृतसत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, अनपकारित्व एवं आतशंस्य इत्यादि अनेक कल्याण गुणों का आविर्भाव होता है। प्राप्त प्राप्य का अखण्ड अनुभव करता है। परब्रह्म परमात्मा में जीवात्मा की बुद्धि भक्ति रूप में परिणत हो जाने के लिए उपासना आवश्यक है।

पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण जिनका चित्त समाहित है उनकी तो सभी क्रियाएँ उपासना है। परन्तु जिस आत्मा का मन संसार व्यवहार में प्रबल होने के कारण अत्यन्त चञ्चल है, जिसका चित्त विषय प्रवण होने से अशान्त है वह भी परमात्मा की प्राप्ति कर सके विशेषकर ऐसे लोगों के लिए उपासना आवश्यक है योगसूत्र के भाष्य में भगवान् व्यास कहते हैं कि नातपस्विन योगसिद्धिः अर्थात् तप (उपासना) के बिना परमात्मा का योग असम्भव है। निष्काम भाव पूर्वक जो जीवात्मा, 'समस्त–कल्याणगुणामृतोदधि' परमात्मा की सर्वाङ्ग, पूर्ण उपासना करता है। उसको भगवत्प्राप्ति रूप 'योग' और अपुनरावृत्तिरूप क्षेम प्राप्त होता है। इसलिए उपासना परम् आवश्यक है।

विश्व में विभिन्न जातियों की धर्म के विषय में विभिन्न मान्यताएँ है परन्तु सर्वत्र सुख एवं शान्ति का साक्षात्कार और प्राणिमात्र में परमेश्वर का दर्शन करने के लिए अपने अपने धर्म के अनुकूल उपासना करना सबका पवित्र कर्त्तव्य माना गया है सभी उपासकों को एक सामान्य नियम का पालन करना आवश्यक हो जाता है। यह नियम है 'यत्-सर्वत्र तदीक्षणम्।' अपने ही उपास्य के सव रूप हैं और सब उपासक अपने ही उपास्य की उपासना विभिन्न रूपों में कर रहे हैं इस सिद्धान्त का समर्थन—

ब्रह्मा दक्षा कुवेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररूद्राः।
शैलानद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः।
द्वीपानक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौच।
सलीना यस्य सर्वे बपुषि स भगवान् पातुत्रो विश्वरूपः।

अर्थात् जिसके विराट् शरीर में ब्रह्म दक्ष, कुवेर, यम, वरुण, मरुत, वह्नि, चन्द्र, इंद्र, रुद्र, पहाड़ नदियाँ, समुद्र, ग्रहों का समूह मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व, सर्प, द्वीप, नक्षत्र तारा सूर्य, वसुगण मुनि आकाश पृथ्वी, अश्विनी कुमार आदि सबका निवास है वह विश्व रूप परमात्मा सब की रक्षा करे।' इसीलिए उपासना आवश्यक है।

# सनातन धर्म का लक्षण, स्वरूप और सार्वभौमत्व

—पं० माधवाचार्य शास्त्री

शास्त्रार्थ महारथी

प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है 'सुख मे स्यात्, दुःखम् मे मा भूत' अर्थात् मैं सदैव सुखी रहूं मुझे दुःख कभी न हो। इस इच्छा की पूर्ति के अन्यतम साधन का अपर नाम 'धर्म' है।

महर्षि कणाद की घोषणा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः।

अर्थात् जिस आचरण के द्वारा मनुष्य की इस लोक में पूर्ण उन्नति हो और मृत्यु के अनन्तर भी उसे सद्गति प्राप्त हो उसी आचरणीय विधान को धर्म कहते हैं।

प्रत्येक विज्ञ यह मानने को विवश है कि इस दृष्ट ब्रह्माण्ड की नियामिका कोई अदृष्ट शक्ति अवश्य है। उसके नामों में विवाद हो सकता है। परन्तु नास्तिकों को भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि विश्व का अपाततः कोई न कोई हेतुभूत मूलतत्व अवश्य है जिसे इस दृश्य चराचरात्मक ब्रह्माण्ड का उत्पादक, पालक और नियामक कहा जा सकता है। ब्रह्म ईश्वर प्रकृति, नेचर, कुदरत, अल्लाह, गाड और अहुर मजदा, ये नाम विभिन्न हो सकते हैं; परन्तु वास्तव में यह किसी एक ही तत्त्व के बोधक है जिसको हिन्दू संस्कृति की परम्परा में परमात्मा कहते हैं। वह एक है—यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। क्योंकि उस परमात्मा द्वारा निर्मित मानव नियमोपनियमों को ही 'धर्म' कहते हैं, इसलिए वह भी एक है। परिस्थिति भेद से और पात्रिक व्यवस्था भेद से कर्तव्यों का वैविध्य हो सकता है; परन्तु मूल धर्म के अनेक होने की सम्भावना को कोई अवकाश नहीं, अतः वह एक ही है।

विभिन्न मत मतान्तरवादी और पराङ्मुख ग्रन्थानुसंधायक—सभी एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीनतम पुस्तक वेद है। ऐसी स्थिति में जो लिखा है वही 'धर्म' हुआ। ईश्वर वादियों के निकट यह कल्पना तो ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करने वाली होगी कि (वर्तमान विज्ञान के अनुसार भी) अरबों वर्षों से बने इस संसार में कल तक तो मानव 'किंकर्तव्य विमूढ़' की भाँति भटकता रहा, ईश्वर की ओर से उसके रहन सहन की कोई व्यवस्था नहीं की गयी और इन दो तीन सहस्र शताब्दियों पूर्व से उसके विविध संदेश आने लगे।

कहना न होगा कि संसार में जब मानव बना, उसके जन्म से पूर्व ही जैसे उसके जीवन के लिए अनिवार्य खान पान की सामग्री विद्यमान थी, उसी प्रकार उसकी जीवन व्यवस्था का प्रभुनिर्मित संविधान भी पहले से ही विद्यमान था। उसी संविधान का नाम वेद है। फलतः यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर औरउस का बनाया संविधान दोनों अनादि हैं, तत्प्रोक्त धर्म भी अनादि है।

वेदादिशास्त्रों में उसे निर्विशेष 'धर्म' नाम से ही स्मरण किया गया है परन्तु काल चक्र की वक्रगति से जब धर्म के नाम पर अनेक मनुष्य कल्पित मत धर्माभास प्रकट हो

गए जब उसका वैशिष्ट्य द्योत न करने के लिए ऋषि मुनियों ने उसके साथ 'सनातन' विशेषण को संयुक्त किया। तदनुसार मन्वादि स्मृतियों में, रामायण, महाभारत में 'एष धर्मः सनातनः' ऐसा कहते हुए तत्तद् धर्म तत्वों का वर्णन किया गया है।

जैसे तीस वर्ष पूर्व गाय भैंस के घृत को निर्विशेष केवल घृतमात्र कहना पर्याप्त था, परन्तु सम्प्रति जब कि 'डालडा' आदि जमे हुए तेल—घृतामास बन गए तो उसके साथ शुद्ध घृत, देशी घृत, असली घृत इस प्रकार विशेषण लगाने अनिवार्य हो गए।

अतः सनातन धर्म ही एक मात्र धर्म है। अन्य सब धर्माभास, मत, मजहब, रिलीजन जो हैं सो है परन्तु वे धर्म नहीं हैं; क्योंकि धर्म तो अनादि अनन्त, ईश्वरीय, सदा एक रस और प्राणिमात्र का कल्याण कारक होता है। इसके विपरीत मत, पंथ आदि, सादि, सान्त मनुष्य कल्पित, परिवर्तन शील और परिमित व्यक्तियों द्वारा आचरणीय होते हैं धर्म वह स्थिति स्थापक तत्व है जिससे प्रत्येक पदार्थ की सता स्थिर है। वेद कहता है कि—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' अर्थात धर्म के सहारे पर ही इस समस्त जगत (स्वभावतः विपर्णामी) की सत्ता निर्भर करती है। धर्म प्राकृतिक सिद्धान्तों पर सुस्थिर एक सार्वभौम तथ्य है वह केवल किसी देश विशेष या किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं है, किन्तु मानव मात्र योग्यतानुसार उसका अधिकारी है।

मतमतान्तर देश सीमाओं में आवद्ध हैं। उनके कथित धर्म ग्रन्थ अमुक देश की भाषा में उपनिबद्ध हैं; परन्तु वेदों की भाषा किसी देश विशेष की भाषा नहीं है। परन्तु दिव्य वाणी है।

'सनातन धर्म' में राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व संभालने की दृष्टि से जिस संस्था का निर्माण हुआ है उसे 'वर्ण व्यवस्था' कहते हैं तादृश उत्तर-दातृत्व के निर्वाह की क्षमता उत्पन्न करने और उसको उत्तरोत्तर क्रमशः विकसित करने की दृष्टि से जिस संस्था का निर्माण हुआ है उसे 'आश्रम व्यवस्था कहते हैं यहाँ उनके विषद वर्णन को अवकाश नहीं है; तथापि यह समझ लेना चाहिए कि जैसे प्रत्येक विद्यालय में ऐसी व्यवस्था रहती है कि अमुक व्यक्ति पर अमुक विषय पढ़ाने का भार है और अमुक घण्टी में वह विषय पढ़ा और पढ़ाया जाएगा—इस प्रकार विषय और काल दोनों का नियन्त्रण होने से वहाँ का समस्त कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। परन्तु यदि कौन क्या पढ़ायेगा—न इसका कुछ निर्णय हो न समय का नियन्त्रण हो तो वहाँ सब कार्य गड़बड़ा जाएगा। उसी प्रकार हिन्दू संस्कृति में गर्भस्थ बालक का ही सब पुरागम सुनिश्चित है कि उसे उत्पन्न होकर स्ववर्णानुसार राष्ट्र के किस दायित्व का भार वहन करना होगा तथा च जीवन के समय को कब-कब क्या-क्या करते हुए बिताना होगा। कहना न होगा कि मनुष्य कल्पित पन्थों में इन व्यवस्थाओं की छाया भी नहीं है। उनका जीवन तो वैसा ही है जैसा कि कोई जलयान समुद्र में उत्तर आए, परन्तु उसे किस मार्ग से किस किनारे लगना है यह सर्वथा विदित न हो किन्तु वायु जिधर ले जाय उधर ही भटकता रहे। वह पोत कभी उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता क्योंकि वायु का क्या भरोसा? वह तो कभी पूर्व की ओर कभी पश्चिम को बहने लगता है ठीक इसी प्रकार उद्देश्य रहित जीवनयापन करने वाले मनुष्यों की जीवन नैया भटकती हुई किसी विघ्नबाधा की चट्टान से टकराकर समाप्त हो जाती है।

आदि सृष्टि का उत्पत्तिस्थान भारत है, वह बात डा० सम्पूर्णानन्द जैसे आधुनिक विद्वान भी मानने के लिए विवश हुए हैं। अतः यहीं से मानव जातियों के पूर्वज-पुरखा अन्यत्र गए हैं, यह पुराणेतिहास-ग्रन्थों से सिद्ध है। वे पहले विशुद्ध हिन्दू सस्कृति के पुजारी ही थे पश्चात्—

शनकैस्तु क्रियालोपात्.........वृषलत्वं गताः ॥

इस मनूक्ति के अनुसार परम्परागत धर्म क्रियाओं के लुप्त किंवा विस्मृत हो जाने पर वे सब वृषलभाव को प्राप्त हो गए जैसे गंगा का पवित्र प्रवाह गंगोत्तरी से चलकर गंगासागर पहुँचते पहुचते अपने रूप में स्थिर नहीं रह पाता, यही दशा प्रवासी भारतीयों की हुई।

समय पाकर वहाँ के कुछ बुद्धिमान पुरुषों ने—जिनको संयोगवश भारत वर्ष में रहने के कारण किंवा भारतीयों

के सम्पर्क में आ जाने के कारण आध्यात्मिक प्ररणा मिली थी—उन अनार्य देशों के निवासियों को भी उनकी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार धर्मोपदेश दिया। या यों कहिए की बढ़ी चढ़ी अभ्यस्त बुराइयों को हटाकर यथायोग्य सुधार करने को समझौता किया, जिसका प्रतिफल वर्तमान ईसाई-मत और इस्लाम देखा सकता है।

यीशुमसीह के जीवन के अन्यून सोलह वर्षों का इतिहास अंधकार ग्रस्त है, अर्थात् अज्ञात् है। पाली भाषा में प्राप्त एक जीवन चरित्र के अनुसार उन दिनों के बंगाल के 'नदिया' स्थान में और पश्चिमोत्तर भारत के 'तक्षशिला' स्थान में शिक्षा पाते रहे, यह सिद्ध हो चुका है। हजरत मुहम्मद भी व्यापार के प्रसंग से इधर से अरब गए और फेरी वालों के सम्पर्क में वहुत रहे। इस तरह भारतीय संस्कृति से उसका परिचय बढ़ा। उन दोनों सज्जनों में सनातन-धर्म की ही बहुत सी बातें वहाँ पुनः प्रचलित करने का प्रवल प्रयत्न किया, परन्तु पीढ़ियों की अभ्यस्त कुरूढ़ियाँ सहज कैसे दूर हो सकती थी अतः उन्होंने बुराई को छुड़ाने के लिए 'परिसंख्या' पद्धति का आश्रय लिया। तदनुसार इस्लाम परस्तों को बहुत सी पत्नियों के स्थान में केवल चार तक रखने को राजी किया गया सर्व भक्षियों को कम से कम नरमांस और सूकर मांस छोड़ने को तो रजामंद किया गया मद्य का सर्वथा परित्याग करने का प्रचार हुआ, माता और सहोदरा वहिन को पत्नी न बनाने का नियम दृढ़ किया गया, रोजा के नाम पर व्रतोपवास को, हज्ज के रूप में तीर्थयात्रा को और 'संग असवद्' नाम से मक्के में अद्यावधि, सुरक्षित शिवलिंग को चूमने के रूप में प्रतीकोपासना को जीवित रक्खा जा सका, इस प्रकार सर्वथा मार्ग भ्रष्ट वर्बर लोगों को किंचित् सभ्यता की ओर उन्मुख किया गया। परन्तु यीशु का अरवों से भी अधिक मार्गभृष्ट कुसंगियों से वास्ता पड़ा, उसके अनुयायी मद्यपान से विरत न हुए, मानव रक्त के अतिरिक्त और सब कुछ भक्ष्य ही मानते रहे। विवाह सम्वन्ध में माता के अतिरिक्त अन्य स्त्री के ग्राह्य किंवा अग्राह्य होने की सीमा स्थिर न हो सकी। बौद्ध वाद चीन पहुँचता-पहुँचता सर्वभक्षी रूप में परिणत हो गया।

यह सब चर्चा हम इसलिए कर रहे हैं कि इस समय संसार में फैले हुए उपर्युक्त मतों का धर्म से कितना सम्बन्ध है, यह जाना जा सके। अतः उक्त मतों में जो गुण हैं, वे तो सव धर्म के मूल तत्वों की प्रतिच्छाया है और विकृतियाँ किंवा विद्रूपताएँ हैं, वे उन-उन देशों और पात्रों की मानव सुलभ निजी पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों के परिणाम हैं।

कौन कौन आचार विचार विशुद्ध धर्म हैं और कौन पाप हैं—इसकी कसौटी एकमात्र वेद है, यह सर्व सम्मत सिद्धान्त हैं। मनु जी कहते हैं—

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

अर्थात् धर्माधर्म का निर्णायक परम प्रमाण केवल वेद है।

आज संसार में अस्थिरता, आक्रोश, परस्पर अविश्वास और भौतिकता दूरी करण के लिए साम्राज्यवाद, साम्यवाद और समाजवाद आदि जिन नानाधादों का प्रादुर्भाव हुआ है, वे सब वाद दो विश्व युद्धों को जन्म दे चुके हैं और अव उनकी ही वदौलत प्रलयकारी तृतीय महायुद्ध या विश्व संहार ?

# धर्म का शाश्वत स्वरूप

—श्री विश्वमित्र पूजन वानप्रस्थी,

नैमिषारण्य

मनुष्य अपने को चेतन जानता है, स्वानुभूति को ही इस विषय में प्रमाण प्राप्त है। चेतन मनुष्य में अनेक प्रकार की इच्छायें, आकांक्षायें, वासनायें, एषणायें समय-समय पर उठती रहती हैं। जिनके फलस्वरूप शरीर से विभिन्न प्रकार की चेष्टायें होती हैं। चेष्टा सादृश्य से अपने से बाहर चेतना का अनुमान् होता है और जड़ चेतन का विकल्प उत्पन्न होता है। यद्यपि गंभीर मनन और विचार से जड़ चेतन के द्वन्द्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

मनुष्य की ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र की यह 'एषणा' कि "मैं न मरू" सबसे प्रबल है और यावज्जीवन बनी रहती है। जीवन प्रदीप का जलता रहना स्वास्थ्य, सम्पत्ति और सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर रहता है, इसलिए मनुष्यमात्र की यह प्रबलतम इच्छा रहती है कि स्वास्थ्य, सम्पत्ति और सामाजिक व्यवस्था का अधिक से अधिक उपभोग मैं करूं। पुरुष के इस लक्ष्य का शास्त्रकारों ने 'अर्थ' नाम रक्खा है।

मनुष्य में प्रायः इतनी ही प्रबल एक दूसरी एषणा है जिसको काम वासना कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को युवा अवस्था प्राप्त करने पर दाम्पत्य—जीवन व्यतीत करने की इच्छा होती है, इसी से संलग्न सन्तानेषणा होती है। सन्तान बिना दाम्पत्य जीवन फीका प्रतीत होता हैं। माता—पिता सन्तान में अपने 'स्व' का संवृद्ध रूप देखते हैं। जिस प्रकार अपने लिये स्वास्थ्य, सम्पत्ति की अभिलाषा होती हैं, उससे अधिक सन्तान के लिये होती है। पुरुष के इस लक्ष्य को 'काम' कहते हैं।

अर्थ और काम की पूर्ति समाज में ही हो सकती है मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के स्वभाव में दया, करुणा, उदारता, सहानुभूति, त्याग, क्षमा, सहिष्णुता इत्यादि अनेक गुण हैं, जिनका विकास समाज में ही हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि भले ही अपने ही अर्थ और काम पर क्यों न हो, परन्तु जब तक समाज में व्यावहारिक नियम न हों, किसी के अर्थ और काम की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः सबके अर्थ और काम की सिद्धि के लिये अधिकार और कर्तव्य की श्रृंखलाओं का जन्म होता है। प्रायः साधारण मनुष्य अपने अधिकारों पर ही दृष्टि रखते हैं और यदि सम्भव होता, तो वे अपने अधिकारों की संख्या बढ़ा देते। परन्तु कर्तव्य ही अधिकारों की रक्षा करते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करे, तो समाज में सबको अपने-अपने अधिकार अनायास प्राप्त हो जावें। अतएव कर्तव्य पालन करने के लिए कर्तव्य को पहचानना आवश्यक हो जाता है।

मनुष्य के अर्थ और काम की सिद्धि समाज से होती है। अतः पूरे समाज का वह ऋणी है और समाज के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उसके कर्तव्य हैं। मनुष्य के अर्थ-काम का सम्बन्ध कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, कुटुम्बी, वृक्ष-वनस्पति, नदी-पर्वत, देव-पितर, पंचभूत इत्यादि सारी सृष्टि से है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती है। सबकी सेवा का प्रकार एक सा नहीं हो सकता। यदि सम्यक् रूपेण कर्तव्य पहिचान कर पालन किया जा सके तो जगत में निःसीम सुख समृद्धि का

साम्राज्य हो और व्यक्ति का अनायास सर्वतोमुखी अभ्युदय हो। जो अपने अर्थ और काम को जितना ही भुला सकेगा, वह कर्तव्य को पहचानने और पालन करने में उतना ही सफल होगा। अतएव कर्तव्य का पहचानना और पालन करना जीवन का प्रधान लक्ष्य हो जाता है, इसी का नाम शास्त्रों ने 'धर्म' रक्खा है।

धर्म के दो अंग हैं, उसको पहिचानना और पालन करना। मनुष्य का प्राथमिक लक्ष्य अर्थ और काम भले ही रहा हो, परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि में यह बात बैठती जाती है कि धर्म के बिना अर्थ और काम की सिद्धि नहीं हो सकती, त्यों-त्यों उसका ध्यान अर्थ और काम से हट कर धर्म की ओर लग जाता है और क्रमशः धर्म साधन न रह कर साध्य बन जाता है।

धर्म के प्रथम अंग "पहिचानने" के लिये यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता है। मनुष्य जब तक यह न जान ले कि विश्व में उसका किसके साथ कैसा सम्बन्ध है और इस विश्व में उसके 'स्व' का क्या स्थान है, तब तक धर्म सम्यक् रूपेण नहीं पहिचाना जा सकता और प्रथम अंग की पूर्ति के बिना धर्म के द्वितीय अंग (पालन) का प्रश्न नहीं उठता। अतः जिस प्रकार अर्थ और काम के स्थान पर धर्म साधन न रह कर साध्य बन गया था, उसी प्रकार ज्ञान धर्म का साधन न रह कर साध्य हो जाता है, ज्ञान से धर्म का पालन भले ही न होता हो, परन्तु ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा है। ज्ञान स्वतः उपादेय और सुखमय है और वही मनुष्य जीवन का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य है।

इस विवेचन का यह निष्कर्ष निकला कि बीज वृक्ष न्यायानुसार धर्म पालन से ज्ञान प्राप्त होता है ओर ज्ञान से धर्म पालन होता है। ज्ञान मनुष्य जीवन का लक्ष्य है और धर्म मनुष्य जीवन का आधार है। दूसरे शब्दों में वही वास्तविक धर्म है जो मनुष्य को अपने तथा विश्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर शान्ति प्रदान कर सके। यह बात पहिले निर्णीत हो चुकी है कि धर्म-ज्ञान के लिये विश्व का ज्ञान आवश्यक है विश्व अयुत सिद्धावयव वस्तु है उसमें अस्मत् युस्मत् का विभाजन कल्पित है। उसका अध्ययन गणित, भौतिक-विज्ञान, ज्योतिष, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान इत्यादि अनेक नये भेदों से किया जाता है। परन्तु यह सब विश्व के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं। विभिन्न अंगों का बंटवारा वस्तुतः कृत्रिम है। विश्व का पूर्ण रूप पहिचानने के लिये विभिन्न अंगों का ज्ञान तो चाहिये, पर साथ ही वह बुद्धि चाहिये जो विभिन्न अंगों के बीच में सम्पूर्णता को पकड़ सके, यदि वह सूत्र न पकड़ा जा सका, जो अनेक को एक बनाता है, तो जगत् एक मलबे का ढेर रह जायेगा। जब इस सूत्र को पकड़ने का प्रयास किया जाता है, तब अपने अज्ञान का पता चलता है।

विश्व की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं। अतः विश्व के अध्ययन में 'इन तीनों' अवस्थाओं का ध्यान रखना चाहिये। एक चौथी तुरीय अथवा समाधि अवस्था भी है, इसको अनंगीकार नहीं किया जा सकता। केवल भारत ही नहीं अन्य देशों में भी अनेक महापुरुष हो चुके हैं, जिनको इस अवस्था का अनुभव हुआ है, अतः विश्व के सम्यक् ज्ञान के लिये उसका अध्ययन सर्वांगी होना चाहिये।

ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं, जिनके उपकरण इन्द्रियां और अन्तःकरण हैं, जो साधारणः यथावत् ज्ञान प्राप्त करने को सक्षम नहीं, क्योंकि वह स्थूल देह तथा तीनों गुणों के बन्धन में हैं। जब तक यह बन्धन अध्यात्म विद्या से नहीं काटा जाता, तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

यह सम्भव नहीं कि सर्व साधारण सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके धर्म का यथावत् स्वरूप पहिचान सकें। अतः धर्म का वह स्वरूप (नियम) जो पूर्व ज्ञानियों ने निर्धारित किया है, उसका यथा शक्ति पालन करने से अर्थ काम की प्राप्ति कर समाज सुखी रह सकता है। और शनैः शनैः निःश्रेयस की ओर बढ़ सकता है।

धर्म पालन के सम्बन्ध में एक बार व्यास जी ने कहा था—

"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मार्दर्थश्च कामश्च, स धर्म्मः किन्नसेवते॥

जैमिनि कहते हैं—"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म्मः"-जिसकी घोषणा, आज्ञा वेद में की गई है, वह धर्म है।

कणाद ऋषि कहते हैं— "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्म्मः"-जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो, वह धर्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद में गुरु शिष्य से कहता है—

यदि ते कर्म विचिकित्सा वावृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाःसम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः"।

—यदि तुमको कर्म या वृत्त (आचार) के सम्बन्ध में विचिकित्सा हो, तो जो विचारशील मुदुस्वभाव, धर्मकाम, कर्मरत ब्राह्मण हों, उनका अनुकरण करना।

मनुस्मृति कहती हे—"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः"—श्रुति स्मृति सदाचार और जो अपने को प्रिय लगे प्रमाण है।

भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं—"धर्मा विरुद्धो भूतेष, कामोऽस्मि भरतर्षभ"— गी० ७।११।

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय, मुक्त सङ्गः समाचार।।"

यज्ञ का स्वरूप, गी० ३।९।

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।"

धर्म का स्वरूप, गी० ४।२४।

"विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गविहस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।
गी० ५। १८।

ईशावास्योपनिषद कहता है:

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम।।
ईशा० १

—अर्थात् ईश्वरी सत्ता का अनुभव अतः स्वयं त्याग वृत्ति से जीवन व्यतीत करना और इसलिए औरौं की भोग वृत्ति पर ईर्ष्या न करना। इसमें स्वात्मा, परात्मा और परमात्मा सम्बन्धी कर्तव्यों का सुलझाव हो जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद कहता है—

"एष सर्वेश्वरः, एष सेतुर्विधरणः एषां लोकानां असंभेदाय"—यह सर्वेश्वर लोक कहीं फट न जाय, इसलिये उसे रोक रखने के लिये धर्म बांधे हैं— बृ०।४।४।२२

—"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्"— बृ०।१।४।१४

अर्थात् सत्य ही नीति धर्मों का आधार है, इसके अतिरिक्त वह स्वतन्त्र धर्म भी है। वह प्रथम है। वह अंतिम है। वह परम है। पूर्ण है। दर्शन के लिये सत्य आत्मा बनता है। प्रार्थना के लिये सत्य ईश्वर बनता है। और आचरण के लिए सत्य धर्म बनता है अतएव धर्म नित्य और शाश्वत है।

व्यास जी भागवत में कहते हैं—

"अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च, धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।।"
भा० ११।१७।२१

—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध, लोभ का त्याग, सर्वभूतहितेच्छा सर्व साधारण का धर्म है।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

"अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम सन्तोष दया विवेक ते व्यवहारी सुखकारी।।
—विनय पत्रिका

सुनहुतात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक।।
ग्रह भेषज जल पवन पट, पाय कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग।।
"विधि प्रपंच गुन अवगुन साना"
"सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार।"
"पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।"

उपरोक्त उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म की व्याख्या व उसका स्वरूप शब्दों की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। भगवान कृष्ण गीता में स्वयं अर्जुन से कहते हैं—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।"

फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि धर्म सार्वभौम है, उसमें केवल मनुष्य का ही नहीं, वल्कि प्राणीमात्र का हित निहित है। प्रवृत्ति और निवृत्ति उसके दो रूप हैं, परन्तु उसका उद्देश्य प्रवृत्ति से निवृत्ति, भोग से त्याग, स्वार्थ से परार्थ भेद से अभेद, अनेक से एक, राग से प्रेम, अज्ञान से ज्ञान, हिंसा से अहिंसा, काम से निष्काम, असत् से सत् एवं द्वैत से अद्वैत की ओर ले जाना है।

धर्म यानी धारण करने वाला–(१) ओत-प्रोत विश्व प्रेम (२) व्यक्ति वस्तु से अनुद्वेग (३) विश्वात्मैक्य दर्शन (४) मोह शोक की निवृत्ति (५) पारदर्शिता, वशिता, व्यापकता, स्वतन्त्रता और (६) शाश्वत अर्थ लाभ उसका वास्तविक स्वरूप अथवा उसके पालन करने का फल हैं।

धर्म का पालन स्वभावतः होना चाहिये, क्योंकि धर्म प्राकृतिक है और पालनीय है। धर्म का पालन जब किसी प्रलोभन या दबाव से किया जाता है, तब वहीं राजनीति बन जाता है।

आज विश्व के समक्ष यह प्रश्न है कि ऐसा कौन सा धर्म है, जिसके स्वरूप में यह सब उद्देश्य निहित हों। विचार करने से विदित होगा कि ऐसा धर्म केवल वैदिक धर्म है, जिसको सनातन धर्म भी कहा जाता है, वस्तुतः धर्म को किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है और किसी विशेषण से वह सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। धर्म नित्य सनातन और शाश्वत है। भगवान् गीता में स्वयं कहते हैं, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युथानम-धर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम्।"

धर्म पालन के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, ज्ञान के उपकरण बुद्धि और इन्द्रियां हैं। प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि और इन्द्रियशक्ति में वैषम्य है। अतः तीनों गुणों के आधार पर समाज का वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप में विभाजन हुआ। भारत के पूर्व ऋषियों ने धर्म के मूल सिद्धान्तों को ऐसे साधनों से सुसज्जित किया कि "बालानाम् अनुशासनम्" प्रणाली से मानव मात्र अपनी-अपनी बुद्धि और योग्यता के अनुसार धर्म का पालन कर सके। यही कारण है कि सनातन धर्म के प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वरूप ही नहीं, बल्कि उसमें अलीक, अध्याहार, आरोप, अपवाद, भेद, अभेद इत्यादि अनेक विषमतायें दृष्टिगोचर होती हैं। जो एक का धर्म है, वह दूसरे का अधर्म बन जाता है। द्रव्य-देश कालानुसार उसमें विभिन्नतायें हैं। इस प्रकार सनातनधर्म एक उलझनों का पुंजवन जाता है। सनातन धर्म एक Puzzle (पहेली–गोरखधन्धा) है, उसके सुलझाने (हल करने) की कुंजी सनातन धर्म का पालन ही है।

यह बात सभी विचारक जानते हैं कि Puzzle [पहेली] के हल करने से बुद्धि का विकास होता है। इसी प्रकार सनातन धर्म का पालन करते-करते ज्यों-ज्यों मनुष्य की बुद्धि संस्कृत और सत्त्वगुणी होती जाती है त्यों-त्यों वह धर्म के मूल सिद्धान्तों को पहिचानता जाता है और सनातन धर्म के रहस्य को समझता जाता है। अन्ततोगत्वा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य जीवन सार्थक और सुखमय बनाता है।

धर्म की व्याख्या समासेन यों की जा सकती है—

"जो कर्म निष्काम होकर स्वभावतः यज्ञ भाव से किया जाय, जिस कर्म से जीव-जीव में अभेद हो, वह धर्म है।" धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि अनायास होती है।

—यही अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि है।

पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीड़न का निरन्तर विरोध, और सौहार्द, सहयोग, विश्व-ऐक्यता के लिये उद्योग धर्म के अंग हैं।

सनातन धर्म के सम्पूर्ण अंगों के रहस्य पर प्रकाश इस छोटे से लेख में नहीं डाला जा सकता, परन्तु उपरोक्त सकेत एक विचारशील के ध्यानाकर्षण और उसमें जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये सम्भवतः पर्याप्त है।

# धर्म का स्वरूप

**डॉ० बैजनाथ प्रसाद त्रिपाठी,**

एम० ए० पी० एच० डी० साहित्याचार्य,

नैमिशारण्य

सर्व-विदित है कि भारतीय दर्शन और साहित्य, वेदों से लेकर काव्यों तक, धर्म को ही प्राण-समझता रहा है और समझता रहेगा। धर्म किसी के मानने न मानने पर निर्भर नहीं करता, कोई मानेगा तब भी धर्म रहेगा, नहीं मानेगा तब भी रहेगा ही, अनादि काल से अनन्त काल तक रहेगा। सभी जातियों और सम्प्रदायों में रहेगा, अतएव धर्म शास्वत कहा गया है। धर्म-लक्षणों में, प्राचीन युग से आज तक विकास होता चला आया है। उसी संदर्भ में दार्शनिकों के मतों की समीक्षा करती है।

पूर्व मीमांसा शास्त्र प्रवर्तक जैमिनी ने 'चोदना-लक्षणोऽर्थो-धर्मः' अर्थात् उपदेश से, आज्ञा से अथवा विधि से ज्ञात होने वाली श्रेयस्कर क्रिया अर्थात् वैदिक कर्मकाण्ड ही धर्म है। भाष्यकार 'शबर' ने 'चोदतेति क्रियायाः प्रवर्तकंवचनमाहुः' शाबर भाष्य १।१।२ में ऐसा-कहकर चोदना का अर्थ क्रिया के प्रवर्तक वचन किया है। पूर्व मीमांसा के मत से, धर्म की आज्ञायक वाणी वेद हैं, और वेद शाश्वत और अनादि हैं, अपौरुषेय हैं। जैमिनि के मत से वेदों में ही श्रेयस्करता सिद्ध होती है।

कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है 'यतोभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो, वह धर्म है—प्रशस्त पाद ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है 'धर्मोऽपि तावन्ननिःश्रेयसंकरोति यावदीश्वरेच्छया नानुगृह्यते' प्रशस्तपाद भाष्य १।१।२। अर्थात् धर्म भी तब तक निःश्रेयस का साधन नहीं हो सकता, जब तक ईश्वरेच्छा का अनुग्रह प्राप्त न हो। कणाद का यह लक्षण बहुत प्रसिद्ध है। इससे धर्म-चर्चा की बौद्धिक नीव तैयार हुयीं है।

न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन का धर्म लक्षण और भी लोकोपयोगी बन गया है। उनका कहना है 'लोक व्यवहार-स्थापनं धर्म-शास्त्रस्य विषयः—न्याय-भाष्य ४।१।६२ अर्थात् लोक व्यवहार संस्थापन ही धर्म शास्त्र का विषय है।

व्यास का धर्म-लक्षण और भी विशद तथा लोकोपयोगी बन गया है। जैमिनि के धर्म-विचार में शब्द-प्रामाण्य परमावधि को पहुँच गया है परन्तु व्यास ने कहीं-कहीं शब्द प्रामाण्य का ही महत्व नहीं स्वीकार किया है। उनका कहना है कि श्रुतियों में ही सब कुछ कह देना शक्य नहीं। ऐसा मालूम होता है, महाभारत शान्ति पर्व में की हुयी धर्म मीमांसा बुद्धि-वादी है। इसमें श्रद्धा-मूलक धार्मिक आधारों की अपेक्षा नैतिक तत्वों की श्रेष्ठता

बतायी गयी है। धर्म-निर्णय में वैदिक शब्द ही प्रमाण नहीं, बल्कि सर्व-हितकारक मानव बुद्धि ही प्रमाण है। ऐसे उदार विचार शान्ति पर्व में प्रकट किये गये हैं। व्यास ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है।

प्रभवार्थायभूतानां धर्मं प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभव संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मं प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसा सपृक्तः सधर्म इति निश्चयः॥

—म० शा० १०९-से १२

अर्थात प्राणियों के अभ्युदय के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है। जो अभ्युदय से युक्त हो वहीं धर्म है। प्राणियों की हिंसा नहो, इसी लिये धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो अहिंसा संपृक्त है वही धर्म हैं। व्यास ने डंका की चोट पर कहा है—'नजातुकामान्नभयान्नलोभात् धर्मं जह्यात्जीवनस्यापि हेतोः। अर्थात् कामना से, भय से, लोभ से यहाँ तक कि जीवन रक्षा के लिये भी, धर्म नहीं छोड़ना चाहिये।

श्रीमद् भागवत का धर्म लक्षण, निराली भूमिका से निर्मित हुआ सा दीखता है। उसमें मानवता के कोमल भावों का हृदयतलस्पर्शी मर्म उपलब्ध होता है उसका कहना है—

स्व शरीर और उनके सम्बन्धियों में क्रमशः अहंता और ममता करके जीव ने स्वयं ही अपने आप को संसार बन्धन में जकड़ लिया है। धर्म का काम यह है कि जीव की अहंता और ममता को शिथिल करके उसे संसार के बंधन से छुड़ा दे, ऐसे ही धर्म को अविनाशी धर्म कहते हैं धर्म की परिभाषा देते हुये कहा है' 'एतावानवायो धर्मः पुरायश्लोकैरुपासितः। यो भूत शोक हर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति। भा० ६।१०।२। अर्थात् समस्त प्राणियों के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होना चाहिये। 'ऐतावन् पौरुषो धर्मो मक्षार्तानिनु कम्पते' भा० ४।२७।२६ अर्थात् किसी को दुखी देखकर उसका हृदय दया से द्रवित हो जाय और वह उसके प्रति सहानुभूति भाव से भर जाय। इस प्रकार भागवत का धर्म-लक्षण दयार्दता और सहानुभूति को प्रधानता प्रदान करता है।

आधुनिक विचार के अनुसार, धर्म के दो स्वरूप बन गये हैं धर्म और दंभ। जहाँ तक धर्म का, एक कर्तव्य रूप में पालन किया जाता है, वहाँ तक धर्म की सीमा है, और जहाँ धर्म के नाम पर सांसारिक उन्नति, धन और यश का अर्जन करने के लिये, धर्म आचरण दिखा कर दूसरों को वंचित करने का प्रयत्न किया जाता है, वहीं वह धर्म, दंभ की सीमा में चला जाता है। आवश्यकता, इस बात की है, कि धर्म केवल धर्म तथा परमार्थ के लिये होना चाहिये, न कि दंभ के लिये।

श्रीमद्-भागवत में इसका बहुत ही सुन्दर, अभूत पूर्व विश्लेषण किया गया है। वहाँ धर्म की दो धारायें स्वीकृत की गयी हैं, एक निम्नाभिमुखी, दूसरी ऊर्ध्वगामी। भारतीय धर्म शास्त्रों में धर्म, अर्थ काम, मोक्ष नामक चार पदार्थों का चतुर्वर्ग के रूप में वर्णन पाया जाता है, उनमें 'धर्मादर्थश्च कामश्च' अर्थात धर्म से धन और धन से काम की उपलब्धि होती है। यह मार्ग हमें धर्म से पतन की ओर अग्रसर करता है। यद्यपि 'जिमि सुखसंपति विनहि बुलाये। धर्म शील पहँ जाहि सुहाये।' गोस्वामी जी के इस कथनानुसार, धर्म से धन और धन से कामना की सिद्धि हो सकती है, परन्तु इससे 'वेंचहिं वेद धरम दुहि लेहीं' इसके अनुसार धर्म का दोहन और क्षरण हो जाता है।'

अतएव भागवत कार ने 'धर्मस्यह्यापवर्ग्यस्य नार्था—र्थायोपकल्पते ?' कहकर, धर्म को मोक्ष की ओर मोड़ देना ही उत्तम बताया है। इसी प्रकार 'नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभायहि स्मृतः—' अर्थात् हमारा धन धर्म के लिये होना चाहिये न कि कामोपभोग के लिये। तथा 'कामस्य नेन्द्रिय प्रीति लोभो जीवेत यावता' अर्थात् काम का अर्थ इन्द्रिय-प्रीति नहीं है, बल्कि जितने से हम जीवित रह सकें, उतना ही उसका उपभोग करना चाहिये। 'जीवस्य तत्व-जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः' जीवन का ध्येय तत्व जिज्ञासा होना चाहिये, केवल व्यावहारिक कर्म ही नहीं। वह तत्व क्या है, जिसकी जिज्ञासा करना मानव मात्र का कर्तव्य है, इसके विषय में 'वदन्ति तत्तत्व विदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति

वन्द्यते' अर्थात् तत्व-ज्ञानी लोग, अद्वैत-ज्ञान को ही तत्व कहते हैं, और वही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन शब्दों से अभिहित किया गया है, ऐसा वर्णन है।

इस प्रकार भागवत धर्म-दर्शन में हमें क्षुद्र काम से लेकर ब्रह्म-ज्ञान तक सोपान क्रम से पहुंचाने का प्रयत्न किया गया है। अर्थात् कामोपभोग रहित जीवन नहीं चल सकता, इसलिये, जीवन रक्षा-मात्र उसका उपयोग समझकर, धन बचाया जाय, धन को धर्म में लगाया जाय और धर्म को कृष्णार्पण करके मोक्षार्थ समर्पित किया जाय, इसी धर्म के ऊर्ध्व-गामी मार्ग में जीवन की सफलता है। इस प्रकार धर्म का आचरण करने से 'कृष्णो धर्म सनातनम्' अर्थात् भगवान् कृष्ण ही सनातन धर्म हैं इस प्रकार, सनातन धर्म और भगवान् कृष्ण का ऐक्य सिद्ध हो जाने से, धर्म प्राप्ति अथवा भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति होकर हमारे जीवन की अंतिम मंजिल भी तय हो जाती है। हमारी वह देह चरम देह हो जाती है, जिसके विषय में काक भुशुण्डि ने कहा है 'चरम देह द्विजकर मैं पायी'। यह धर्म का सर्वोत्तम स्वरूप है।

चरम देह उसको कहते हैं, जिसको पाकर संसार में अन्त में फिर दूसरी देह न धारण करना पड़े।

धर्मेमतिर्भवतु व, सततोत्थितानाम्,
सह्येक एव पर लोक गतस्य वन्धुः ॥
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्त भावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥

—आदि-पर्व, २–३९१

अर्थात-आप लोगों की बुद्धि सर्वदा धार्मिक बनी रहे, क्योंकि परलोक जाने के समय वही एक वन्धु है। धन और नारियों का कितनी ही चतुरता से सेवन किया जाय, फिर भी ये कभी स्थिरता और आप्त भाव को प्राप्त नहीं सकतीं।

# श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग या निष्ठा

**श्री लक्ष्मीनारायण सिंह**

लखनऊ

भगवद्गीता में केवल दो ही, ज्ञान और कर्म निष्ठाओं का स्पष्टतः निर्देश मिलता है:—

"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम् ॥
॥ गीता ३।३ ॥

भक्ति का निष्ठा रूप से कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। जहाँ प्राप्त भी होता है, वहाँ भी तीनों गुणों—सत्व, रज, तम से सम्बद्ध निष्ठा के प्रश्न के रूप में :—

"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥
गीता १७।१

इसका भाव यह है कि जो व्यक्ति शास्त्र विधि का उत्सर्ग या परित्याग करके केवल श्रद्धा मात्र से कार्य विशेष को करता हैं तो इस प्रवृत्ति को हम किस निष्ठा—सत्व, रज या तम—की कोटि में रख सकते है। यहाँ का यह प्रश्न बड़े महत्व का है। इससे निष्ठा के स्वरूप और कार्य के निर्धारण में अभ्रान्त साधन मिल सकता है। इसकी सहायता से अपने प्रकृत—प्रश्न के समाधान में संगत एवं स्वस्थ दिशा भी मिल जाती है। निष्ठा के निरूपण में जो विवाद और वैमत्य है उसका भी सुखेन समाधान सम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त श्लोक के उद्धरण से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि निष्ठा का सम्बन्ध गुणों से है। अर्थात् सतोगुण प्रधान व्यक्ति की निष्ठा भी सात्त्विक होगी। ऐसे ही रजः प्रधान की राजसी और तमोगुणी की तामसी। शास्त्र विधि के परित्याग करने पर मनुष्य की अपनी ही श्रद्धा वृत्ति प्रधान होती है। यह श्रद्धा या निष्ठा तो प्रधानतया गुणों के ही पारस्परिक बलाबल पर ही निर्भर हो सकेगी, क्योंकि मनुष्य त्रिगुणात्मक है। इससे निष्ठा में त्रिविधता ही संगत प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में "लोकोऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" गीताकार की उक्ति विचार विमर्श का विषय बन जाती है। और इन उपर्युक्त दोनों विरोधी उक्तियों में एकवाक्यता के स्थापनार्थ हमें बाध्य करती है। साथ ही "द्विविधानिष्ठा" का अर्जुन के "तदेकं वद निश्चित्य" के उत्तर के प्रसंग में कहा गया हैं। अतः उत्तर के सन्दर्भ में एकत्व का ध्यान सदा रहना चाहिए। अन्यथा 'इदानीमस्मि संवृत्तः करिष्ये वचनं तव' 'यत्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो ममः" इत्यादि उक्तियाँ जो गीता के उपदेश अन्त में अर्जुन द्वारा कही गयी है और जिनसे फल श्रुत्यात्मक समाधान में एकता प्रतीत होती है अनुपपन्न और व्यर्थ हो जायेगी। अतः भक्तियोग या निष्ठा के माध्यम से द्वैविध्य ( कर्म, ज्ञान ) या त्रैविध्य—सत्व, रज और तम में एकवाक्यता लानी होगी जिससे गीता के वाक्यों और उपदेशों में एकवाक्यता सम्पन्न हो।

गीता में कार्य करने वालों की मुख्यतया तीन कोटियाँ—शास्त्रीय विधानों के ज्ञान पूर्वक कर्म करने वाले शास्त्र विधियों को उत्सर्ग करके केवल श्रद्धाभावेन, कर्म निष्ठ और शास्त्र विधानों का परित्याग करके अश्रद्धापूर्वक स्वेच्छया कार्यरत—मानी गयी है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥
गीता १६।२४

"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः॥
गीता १७।१।

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥"
गीता १६।२३।

यहां तीनों कोटियों को हम बड़ी सरलता से दो ही कोटियों में ही—शास्त्र विधियों के ज्ञान पूर्वक और उत्सर्ग पूर्वक कर्म करना–में रख सकते हैं। श्रद्धा ही के कारण तीन कोटियाँ बन जाती हैं। एक प्रकार से यही श्रद्धा ज्ञान और कर्म का मध्यवर्ती तत्त्व है। गीताकार ने श्रद्धा को प्रधान्येन सत्वानुरूप माना है—

"सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७।१३

यह श्रद्धा देहियों के स्वभावानुसार त्रिविधात्मक सात्विक, राजस, और तामस होती है क्योंकि देही भी त्रैगुण्य सम्पन्न होता है। सांख्य शास्त्र में त्रिगुणों का स्वभाव और कार्य बताते हुए सांख्यकारिका में लिखा गया है—

"सत्वं प्रकाशकं चलंचरजः तमः प्रावारकम्।

इसका भाव यह है, सत्वं प्रकाशक होने से ज्ञानात्मक होता है, रज चलात्मक तथा तम अवारक या अन्धकारात्मक होता है। प्रकाशात्मक सत्व और अन्धकारात्मक तम स्वयं क्रियाशील नहीं होते; इस कार्य में इनकी सहायता करता है रज, जो श्रद्धा भक्ति आदि स्वभाव वाला होता है। उसका स्वतः अपना कार्य न प्रकाशता है और न अन्धकारकारिता अपितु इन्हें संचालना करना मात्र।

गीताकार ने भक्ति का यह स्वरूप समझकर ही "लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा"–ऐसा माना है। इस वचन के अनुसार ही निष्ठा में द्विविधात्व स्वीकृत है। क्योंकि श्रद्धा या भक्ति कहीं भी ज्ञान और अज्ञान या तमविहीन कार्य कर नहीं करती अपितु इन्हीं के माध्यम से प्रकाशात्मक या अन्धकारात्मक कार्य करती है। किन्तु इस दृष्टि के अनुसार निष्ठा में द्वैविध्य आभासतः संगत प्रतीत होता है। द्विविधा शब्द से व्याकरण दृष्ट्या समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि निष्ठा कोई एक ही होनी चाहिए जिसके ये दोनों प्रकार या भेद है। वह निष्ठा भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी नहीं हो सकती अतः भक्ति ही एक निष्ठा है जो सत्व और तम रूप में कार्य करने वाली ज्ञान और कर्म निष्ठाओं को निष्ठात्व प्रदान करती है।

इस तथ्य को व्याकरण और सांख्य तथा गीता केउद्धरणों से स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार गीता की विरोधी उक्तियों "द्विविधा निष्ठा" और 'सत्वमोहोरजस्तमः' में वर्तमान आभासिक विरोध या वैमत्य निरस्त हो जाता है। और यह स्पष्ट हो जाता है कि निष्ठा वस्तुतः एक भक्ति ही है जो दोनों ही गुणों–सत्व और तम को कार्य बनाकर दोनों कर्म और ज्ञान निष्ठा का आधार बनती है। अतः मूल निष्ठा यही भक्ति ही है ज्ञान और कर्म निष्ठाएं तो इसके प्रकार मात्र है। यह बात गीता की "द्विविधा" उक्ति से और उपरिप्रदत्त उपपत्ति से ही सिद्ध हो जाती है। भक्ति को निष्ठा मानने में सबसे बड़ी बाधा उसके स्वतन्त्र कार्यकारी स्वरूप के अभाव से है। जहाँ भी भक्ति का कार्यकारी स्वरूप मिलेगा वहाँ प्रत्यक्षतः कर्म के रूप में मिलेगा या अनुमिति ज्ञान के रूप में। इनसे विरहित भक्ति का विषय हमारे बोध का विषय नहीं होता। क्योंकि इसके प्रभाव या परिणाम में हम क्रम का ज्ञान बिल्कुल नहीं होता है। हाँ, कर्म का क्रम प्रत्यक्ष होता है और ज्ञान का अपेक्षाकृत अनुमित। अतः कर्म और ज्ञान निष्ठा से भिन्न भक्ति निष्ठा के मानने में बड़ी कठिनाई होती है भले ही गीता की "द्विविधा" उक्ति के आधार या उपर्युक्त युक्तियों और उपपत्तियों के आधार पर उसकी सिद्धि की जाय।

कर्म की परिभाषा करते हुए भगवान ने गीता में "विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः" कहा है। विसर्जन व्यापार न तो संन्यासात्मक है और न त्यागात्मक है अपितु व्यापक कर्म के माध्यम से स्वल्प कर्मों का स्वेच्छया बड़े कर्मों की प्रेरणा और प्रोत्साहन से अपने आप निकल जाता। इसमें न तो ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मों का भस्मीभाव होता है न तो

ज्ञान पल्लव द्वारा कर्मसागर का संतरण, न तो ज्ञानचक्षु से कर्माकर्म के अन्तर का दर्शन और न तो ज्ञान के द्वारा अपवित्र कर्मों का पविश करना आदि। संक्षेपतः ज्ञान की किसी क्रिया, जो मात्राभेद से कर्म की विरोधिनी हैं इस विसर्जनात्मक कर्म योग को मान्य नहीं है। यह तो कर्म के माध्यम से ही कर्म के विरोधी, विघटनात्मक अंश के विसर्जन को मान्यता देता है। इसका लक्ष्य कर्म कौशल हैं "योगः कर्मसु कौशलम्" है। यह कर्म कौशल से कर्म का संग्रहात्मक है त्यागात्मक नहीं। कर्म करते-करते स्वतः कर्म कौशल आने पर विरोधी स्वल्प और सीमित कर्म अपने आप विसृष्ट होते जाते है उनका स्थान व्यापक और स्थायी सांघनात्मक और सर्जनात्मक कर्म लेते जातेहैं इस कर्म कौशल से कर्म कर्त्ता केवल सत्कर्म ही करता है। असत् से स्वभाव सुलभ असंपृक्तता आ जाती हैं। इसमें प्रधान अंश होता है अभ्यास का, वैराग्य का असम्प्रज्ञात संस्पर्श रहता है। क्योंकि योग सामान्य के ग्रहणार्थ भगवान् ने कहा है—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"

पातञ्जल में तो—"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" मन के निरोधार्थ अभ्यास और वैराग्य इन दोनों को आवश्यक माना है। लगता है गीता में जो दो योग—"योगः कर्मसु कौशलम्" और "समत्वंयोगउच्यते" माने गये है उनका आधार अभ्यास और वैराग का ही प्रधानाप्राधान्य है। इनमें भी अभ्यासार्थ कर्म की अपेक्षा होती है और समत्व-भाव के लिए वैराग की, इसलिए गीता में मुख्यतः दो ही निष्ठाए बतायी गयी है।

मन के निरोधार्थ प्रदत्त ये दोनों साधन मन में श्रद्धा या भक्ति के अभाव में परस्पर विरोधी ही रहते है। इनमें एकवाक्यता नहीं हो पाती। मन अभ्यास से अपेक्षाकृत नियन्त्रित हो जाता है अवश्य, किन्तु उसमें यान्त्रिकता ही रहती है। जिसे हम माया का क्षेत्र कह सकते है— "यन्त्ररूढानिमायया" ऐसे यान्त्रिक मन में कर्म की व्यापकता रहती है अवश्य किन्तु इसका बोध या समग्रता का ज्ञान मन को नहीं रहता। उसकी स्वाभाविक सीमा यथावत् बनी रहती है, केवल कर्म का व्यापक सन्तान उसे बाध्य तथा व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किये रहता है। अपनी इस स्थिति का बोध मन को नहीं रहता है क्योंकि उसमें वैराग्य का अभाव रहता है। यदि वैराग्य के साथ बोधोदय हो भी जाय तो भी अभ्यासजन्य समग्रता के अभाव में संशयता सदा बनी रहती है। इस प्रकार असंशयात्मक समग्रताबोध जो कर्म योग के लिए नितान्त आवश्यक नहीं हो पाता। फलतः कर्म और ज्ञान इन दोनों विरोधियों में एकवाक्यतार्थ अंगी भक्ति अपेक्षित होती और तभी कर्म एवं ज्ञान अंग रूप से निष्ठा के रूप में मान्यता को प्राप्त होंगे। इस रूप में भक्ति ही मुख्य रूप से अंगी निष्ठा होगी अतः भक्ति ही प्रधान निष्ठा है। कर्म और ज्ञान तो अवान्तर भेद या प्रकार मात्र है।

गीता में, ऐसा विचारकों ने माना है कि तीन षट्क है कर्म भक्ति और ज्ञान प्रथम से षष्ठ तक कर्म निष्ठा का क्षेत्र है। सातवें से बारहवें अध्याय तक भक्ति का। तेरहवें से अठारहवें तक ज्ञान का। इस प्रकार गीता षट्क-त्रय में विभक्त मानी जाती है। यह कोई गणितीय ( Mathmatical ) विभाजन नहीं है। अपितु प्रधाना-प्राधान्य के आधार पर है इस रूप में हमने देखा कि यह कर्म भक्ति और ज्ञान का विभक्त क्षेत्र है। इसमें भक्ति को कर्म और ज्ञान के मध्य में रखने का गीताकार का तात्पर्य यह है कि यह भक्ति 'देहली दीपक न्याय' से कर्म और ज्ञान को आलोकित करती है। बिना इसके न कर्म में समग्रता का ही अधिगम होता है और न ज्ञान में असंशयता का। अतएव भगवान् ने भक्ति क्षेत्र का आरम्भ करते हुए भक्ति का स्वरूप और महात्म्य स्वीकारते हुए यह कहा है :—

"मय्यासक्तमनाः पार्थ योगंयुञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७।१।

इस श्लोक में यह स्वीकारा है कि मय्येवासक्ति और मदाश्रयता यह भक्ति है। अर्थात् भक्त केवल मेरे में ही आसक्ति और आश्रयता रखता है, न तो किसी कर्म विशेष में आसक्ति रखता है और न किसी ज्ञान विशेष का आश्रयता ही उसे अभिप्रेत है। वह तो 'भजतेमामनन्यभाक्' होकर केवल "मय्येव मन आधत्स्वमयिबुद्धिंनिवेशय" के अनुसार मन का आधार और बुद्धि का गन्तव्य प्रवेश भूमि केवल परम ब्रह्म परमेश्वर को ही मानकर कार्य करता है। इससे उसके ज्ञान में असंशयता और कर्मसमग्रता का अधिगम सुखेन हो जाता है। इस भक्ति तत्व की मात्रा भी

आनुपातिक अल्पता में कर्म—"अनेक जन्म संसिद्धस्ततो यान्ति परांगतिम् ।" अनेक जन्मों में परागति होता है। और—

ज्ञान "वहूंना जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।" ७।१९

अनेक जन्मों में प्रपत्ति कराता है। भक्ति के प्रावल्य में ये दोनों कार्य—

"क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।" ९।३१

अत्यन्त क्षिप्रता से सम्पन्न हो जाते है। अतः भक्ति को ही अंगी निष्ठा मानने में कोई आपत्ति या आशंका नहीं करनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त भक्ति के निष्ठात्व के समर्थन में एक स्वतन्त्र और विशिष्ट युक्ति भगवान् में ही है। जैसे कर्म और ज्ञान को कर्म के अनुपात से गुणातिक्रमण के आधार पर त्रिगुणातीत वनाने में सहायक माना है और कर्मी तथा ज्ञानी को गुणातीत संज्ञा दी है उसी प्रकार भक्ति करने वाले को गुण समतीत की संज्ञा भी दी है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।। १४।२६

यहाँ स्पष्ट किया गया है कि जैसे-जैसे कर्मी और ज्ञानी क्रमभेद की मात्रा से गुणातीत या गुणों से परे होकर न तो सत्व जन्य सुख और ज्ञान से पराभूत होते है और न तो—

"समुद्भूत तृष्णात्मकं" राग से कर्मसंज्ञिता और न तो अज्ञानज तम से जनित देही मात्र को समान रूप से मोहित करने वाले प्रमाद, निद्रा और आलस्य से ही अभिभूत होते है। ऐसे ही भक्ति करने वाले समतीतता की स्थिति में इन सभी त्रिगुणजन्य उपर्युक्त प्रभावों से मुक्त रहते है। अन्तर केवल गुणातीत की मात्रा में होता है। कर्म और ज्ञान में यह मात्रा अधिक स्पष्ट और अक्षिप्र होने से क्रमिक होती है अतः द्रष्टा को यह स्पष्ट दर्शन होता रहता है कि कव, कैसे और कितने काल में गुणों से अतीतता का आगम हुआ। किन्तु भक्ति निष्ठा में इसका बोध नहीं होता। क्योंकि गुणों के निरसन में विधि विधान और काल का बोध नहीं होता। क्षिप्रता-वेग इनका बोध नहीं होने देता अतः इसे हम समतीतता या गुण समतीत की संज्ञा देते है। 'सूचीशतपम भेद न्याय' से क्रमिक भाव से वर्तमान भी गुणमय निरसन व्यवधान असलंक्ष्यक्रम होता है। अतएव कर्म एवं ज्ञान से व्यावर्तन के लिए भक्ति स्वरूप स्वतन्त्र प्रदर्शनार्थ समतीतता की ही समुचित संज्ञा दी गयी है। इसलिए कर्म और ज्ञान के रूप से भक्ति को स्वतन्त्र निष्ठा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

कर्म और ज्ञान निष्ठा से इसके व्यावर्तन के लिए एक और भी स्वतन्त्र युक्ति दी जाती है। वह निम्नांकित है— अर्जुन भगवान से पूछते है :—

यतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योग संसिद्धि कां गति कृष्ण गच्छति ।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महावाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।६।३७-३८

यहाँ अर्जुन का प्रश्न बड़े महत्व का है। इससे कर्म, ज्ञान भक्ति के तारतम्यात्मक व्यावर्तक स्वरूप के आकलन में उपर्युक्त युक्तियों और उपपत्तियों की अपेक्षा स्पष्टता अधिक है और प्रश्नोत्तर रूप में फलबुद्धया निर्भ्रान्ति निर्णय होने से प्रामाणिकता भी स्वभावतः अधिक है। फलस्वरूप हम कर्म और ज्ञान की अपेक्षा अगत्याभक्ति को ही मुख्य निष्ठा मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

अर्जुन पूछता है कि हे भगवान् श्रद्धा या भक्तियुक्त योगी यदि योग से चलित मानस हो जाय या अभ्यासात्मक कर्म और वैराग्यात्मक ज्ञान से वंचित होकर योग सिद्धि को न प्राप्त हो या योगभ्रष्ट हो जाय तो उसकी क्या गति होती है? क्या उभय विभ्रष्ट छिन्न वादल के समान ब्रह्मपथ में भ्रान्त होकर बिना प्रतिष्ठा प्राप्त किये नष्ट तो नहीं हो जाता? यह मेरा संशय है। इसे अशेषतः निरस्त करें। आपके अतिरिक्त कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो इस संशय को अशेषतः दूर कर सके।

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा है वह भक्ति निष्ठा विषयक विवाद और वैमत्य के लिए एकमात्र समाधान है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति ।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वाशाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धिदुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तबुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यततेच ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपिसः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मात्ति वर्तते ॥

यहाँ पर भगवान् ने यह स्पष्ट बताया है कि भले ही अपने पूर्व जन्म में कर्म और ज्ञान से भ्रष्ट हो जाने से योग संसिद्धि प्राप्त न करे किन्तु श्रद्धा या भक्ति के स्थायी और अमर होने से दूसरे जन्म में भी पूर्व जन्म का ज्ञान अभ्यास भक्ति के माध्यम से संरक्षित रूप से योगी को अधिगत होता ही है। भले ही देह के नाश होने से उन दोनों का नाश हो गया ऐसा ज्ञात होता है किन्तु श्रद्धा या भक्ति देही के धर्म होने से दूसरे जन्म में इस अधिगम में बाधा नहीं होती। इतना ही नहीं इन दोनों—कर्म, ज्ञान—के फलस्वरूप याग भ्रष्ट विनष्ट योगी को दूसरे जन्म में भी ऐसे कुल, साधन-सुविधा प्राप्त होते है कि समस्त पूर्वाजित कर्म, ज्ञान की संपदा उसे स्वतः अधिगत होती रहती है। अतः इसमें सहायक होती है। या पूर्वज्ञान और अभ्यास संस्कारों की संरक्षिका हाती है, केवल भक्ति निष्ठा। अतः भक्ति कार्य के विशेषतः स्थायी रूप से स्थित होने से इसी को मुख्यतया निष्ठा मानना चाहिए। इसी के माध्यम से कर्म ज्ञान के कार्य विशेपतया स्थित रहते हैं। अतः उन्हें भी निष्ठा कोटि में रखा गया है।

अतः भक्ति को मूल निष्ठा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। कर्म और ज्ञान निष्ठायें तो व्यास समास भेद से इसी के अवान्तर भेद हो सकते हैं। इस मत की पुष्टि नारद के भक्ति सूत्र, पञ्चरात्र और देवीभागवत आदि ग्रंथों में किया गया है। यथा—

सातु कर्म ज्ञानेभ्योऽप्याधिकतरा ।
तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ भक्ति सू० ४।२५
हरिभक्ति महादेव्याः सर्वामुक्त्यादिसिद्धयः ।
मुक्तय स्वाद्भु तास्तस्याः चेटिकावदनुव्रताः ॥" ४।३२

इस रूप में इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया कि भक्ति, कर्म और ज्ञान इन दोनों से अधिकतर है। क्योंकि यह इन दोनों के अनादिकालीन विरोध को शान्त करती है और इनके अभाव में भी अपना कार्य मुक्ति और युक्ति दोनों की सिद्धि करती है। केवल कर्म तो 'प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेवक्षय:' के अनुसार कर्म करने से ही क्षीण होकर सुख, सिद्धि और शान्ति प्रदान करते हैं। ज्ञान तो 'ज्ञानान्मोक्ष:' का समर्थक होने से कर्म का विरोधी है। इस प्रकार वेदों से ही कर्म और ज्ञान का विरोध प्रसिद्ध ही है। इन विरोधों के आधार पर ही मीमांसा दर्शन भी पूर्व और उत्तर मीमांसा के रूप में विभक्त करता हुआ और कर्म और ज्ञान के विरोधी क्षेत्र को अतीव व्यापक वना दिया है।

कर्म और ज्ञान का सद्भाव या समुच्चय भी वेदों और उपनिषदों से प्रारम्भ हो गया था, किन्तु यह प्रयास विरोध की अपेक्षा दुर्बल रहा। बौद्धमत के प्रचार और प्रभाव से इसे और भी वल मिलता गया। शंकर के मायावाद ने तो कर्मकाण्ड की जड़ ही खोद दी। फलतः जो राजर्षि वंश कर्म ज्ञान के समुच्चय का प्रवर्तक, प्रसारक और समर्थक था वही परिव्राजक वन गया। इसका प्रतिकूल प्रभाव युद्धालु रक्षक राजर्षि वंश पर कितना भयावह हुआ और फलतः लोकसंग्रहकारी स्वधर्म की परम्परा सदा के लिए विलुप्त हो गयी।

महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ में ही भगवान् कृष्ण ने इसके विलोप की चर्चा की थी, और यह भी स्वीकार किया था, इस योग की परम्परा का प्रारम्भ मुख्यतया मुझसे हुआ। और रक्षक राजर्षियों की परम्परा में पलता हुआ यह धर्म समयतः नष्टप्राय था जिसे गीता के माध्यम से आज भक्त और सखा के भाव रखते हुए तू सुन रहा है :—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्,
विवस्वान्मनवे प्राह्मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः,
सकालेनेह महता योगोनष्टः परंतप ॥ ४।१

इस प्रकार भक्ति को ही मुख्य निष्ठा मानने पर ही गीता के कर्मयोग के परम्परा की वास्तविक मीमांसा और विनियोग बन सकता है। अन्यथा 'ईशावास्योपनिषद' में

दी गयी कर्म, ज्ञान, की सीमित सीमा और कार्य का निर्धारण नहीं बन सकता और उन दोनों के साथ-साथ बोध या ज्ञान की उपयोगिता ही हो जायेगी क्योंकि अमरता का अशन, मृत्यु--संतरण के विना व्यर्थ हैं। और ऐसे ही अमरता के अशन को आशा भी मृत्यु सन्तरण के अभाव में मूल्यविहीन है। यथाः——

"सम्भूतिचं विनाशंचयस्तद्वेयोर्मयंसह ।
विनाशेन मृत्युतीर्त्वासम्भूत्यामृतमश्नुते ।।"ईशोपनिषद्।

यहाँ पर सन्मति या ज्ञान, विनाश या कर्म का समुच्चयतात्मक वोध भक्ति के विना सम्भव नहीं। अतः मुख्यतया इनमें योग करने से भक्ति को योग प्राप्त हुआ। यह योग जव कर्म के रूप में व्यभिचरित या कर्म विशेष रूप से आचरित हुआ तो कर्मनिष्ठा की संज्ञा प्राप्त की और ज्ञान रूप में आचरण का भविष्य होने पर ज्ञान निष्ठा का। विशेष रूप से कर्म या ज्ञान के आचरण के अभाव में सामान्य रूप की स्थिति में इसे निष्ठा की संज्ञा देना उचित नहीं समझा गया, ऐसा समझा जाता है। किन्तु गीता की 'द्विविधा' पद की व्युत्पत्ति या एकवचन का प्रयोग तथा उपर्युक्त अनेक उपपत्तियों के आधार भक्ति निष्ठा विरोधी मत निरस्त हो जाते हैं।

गीता के उपसंहार के १८वें अध्याय के ६३ से ६९ तक के श्लोकों से तो भक्ति योग का पक्ष और अन्त में इसका निष्ठात्व निःसन्दिग्ध रूप से निर्णीत हो जाता है। इससे तिलक महाराज ने अपने गीता रहस्य पृ० ४१३ में भक्ति को निष्ठात्व के विरोध में जो तर्क और युक्ति दी है, निरस्त हो जाते हैं। यथा :——

"अब यद्यपि सावन की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति की योग्यता समान है, तथापि इन दोनों में महत्व का भेद है कि भक्ति कदापि निष्ठा नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञान को निष्ठा यानी सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति कह सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि आध्यात्मिक विचार से या अव्यक्तोपासना से परमेश्वर का जो ज्ञान होता है। वही भक्ति से भी हो सकता है। परन्तु इस प्रकार की ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर यदि कोई मनुष्य सांसारिक कार्यों को छोड़ और ज्ञान में ही सदा निमग्न रहने लगे तो गीता के अनुसार वह ज्ञाननिष्ठ ही कहलायेगा भक्तिनिष्ठ नहीं।"

तिलक महाराज का उपर्युक्त मत तब मान्य हो सकता है जब भक्ति केवल साधन रूपिणी ही मानी जाय। उपर्युक्त भक्ति की मीमांसा से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भक्ति कर्म ज्ञान की निष्ठामयी ब्राह्मी स्थिति की मूल भित्ति है। कर्मज्ञान केवल साधन रूप में ही भक्ति अनुप्राणित नहीं होते वल्कि निष्ठा के रूप में भी। अतएव गीताकार की— 'लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा' 'उक्ति' 'द्विविधा' में एकवचन प्रयोग की उपपत्ति भी हो जाती है।

तुलसीदास ने भी इसका समर्थन किया है :—
"जाते वेगि द्रवों मैं माई, सो मम भगति भगत सुखदाई।
सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना, तेहि अधीन ज्ञान-विज्ञाना ।।"

इसमें यह स्पष्टतः निर्देश कर दिया गया है कि ज्ञान और कर्मभक्ति के अधीन है। इसी की पुष्टि गीता में भी की गयी है :—

"ज्ञानं-विज्ञान सहितं प्रवक्ष्याम्यनुसूनवे ।
यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यद् ज्ञातव्यमवशिस्यते ।।"

इसमें भी भक्ति को ज्ञान विज्ञानात्मक ही माना है। और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञातव्य के निःश्रेयस ज्ञान के लिए भक्ति ही अपेक्षित है। न केवल ज्ञान न केवल कर्म। क्योंकि ज्ञान ज्ञातव्य वस्तु का केवल सामान्य स्वरूप ही बताता है और कर्म केवल विशेष रूप वस्तु के वास्तविक या व्यावर्तक ज्ञान के लिए दोनों का समन्वयात्मक रूप या भक्ति की अपेक्षा है। अन्यथा ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञानार्थ——"निर्विशेषं तु सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्" अतः ज्ञान कर्म के समन्वयात्मक ज्ञान के लिए भक्ति ही वास्तविक निष्ठा है। इसीलिए नरक के त्रिविध द्वार— 'काम, क्रोध और लोभ का स मूल नाश सम्भव है। ज्ञानाग्नि से कर्मों का नाश और कर्मी से कर्म का अंशतः विसर्जन होता है अवश्य किन्तु इसके अशेषतः मूलेच्छेदार्थभक्ति से अनुप्राणित ही ज्ञान, कर्म होने चाहिए इसका समर्थन तुलसी ने भी किया है :—

"राम भजन बिनु काम न जाही,
काम अछत सपनेहु सुख नाहीं।
जाने ते कछु छीजहिं पापी, नाश न पावहिं जन परितापी ।।"

ज्ञान-कर्म से काम, क्रोध और लोभ के बुद्धिस्थ रूप तक का नाश हो जाता है। संस्कार रूप में वर्तमान हृदयस्थ रूप का नहीं। ज्ञानाग्नि से कभी-कभी तो जले हुए कर्म मूंज के समान अन्तंमुख शक्ति वाले हो जाते है और अनुकूल वाह्य साधन पाकर और भी हरे-भरे हो जाते हैं तथा जलाने से उनकी शक्ति बढ़ती है। भक्ति के अनुप्राणन के विना हृदयस्थ विषयासंग तो कर्म के अगम्य ही होता है। अतः काम क्रोधादि का नाश केवल ज्ञान कर्म साध्य नहीं। एतदर्थ भक्ति का अनुप्राणन अनिवार्य है। अतः भक्ति ही मूल निष्ठा है। ज्ञान, कर्म तो इसके अनुप्राणन से अवान्तर भेद के रूप में निष्ठा होते हैं। गीता के आद्यन्त अवलोकन से हमें भक्ति का स्वतन्त्र और ज्ञान-कर्म समन्वित स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रकार फल की दृष्टि से इनके त्रिविध स्वरूप का दर्शन होता है। अतः कर्मजन्य स्थितप्रज्ञाता, भक्तिजन्य समतीतता या युक्तितमता और ज्ञान समुद्भूत त्रिगुणातीतता ये तीनों क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय षटक् में प्राप्त होते है। कर्म भक्ति और ज्ञान के व्याप्त स्वरूप को न जानने से गीता के सामान्य पाठक को इनके उपर्युक्त फलों में जो पुनरुक्ति सी प्रतीत होती हैं। वह भक्ति के निष्ठा रूप समझने पर स्वतः निरस्त हो जाती है। अतएव भक्ति को गीता में उत्तम रहस्य की संज्ञा दी गयी है :—

"रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।"

काव्यविदों ने महाभारत को शान्त रस प्रधान माना है। शेष वीर, भयानक, करुणादि अंग मात्र है। महाभारत का अंग होने से गीता में भी शान्त रस का प्राधान्य है। फलतः निर्वेद स्थायी होने पर इसमें 'युधिष्ठिरवत् वर्तितव्यं न दुर्योधनवत्' का उपदेश सम्भव नहीं होता, क्योंकि शान्त वैराग प्रधान होने से त्यागमय होता है। भक्ति के रागात्मक अनुप्राणन से उसमें काव्यानुमोदित उपर्युक्त उपदेश सम्भव हो सकता है। अतः समग्र महाभारत में ही प्राधान्येन भक्ति से अनुप्राणित शान्त रस समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह भी तर्कसंगत प्रतीत होता है कि जैसे शान्त रस अनुप्राणित घटना के अवान्तर घटना को लेकर भारवि ने वीर रस प्रधान 'किरातर्जुनीयम्,' और माघ ने 'शिशुपाल वध' की रचना की और दोनों के वीर रस को रौद्र तथा शान्त रस के अनुप्राणन से अन्तर की व्यवस्था की, उसी तरह गीता में भक्ति रस का अवतरण शान्तादि अन्य रसों से उसकी पुष्टि होनी चाहिए। यदि भरतमुनि के वचन को मान्यता देकर भक्ति को रसत्वेन स्वीकार न किया जा सके तो भी शान्त को भक्ति का अनुप्राणन अनिवार्यतः आवश्यक है। अन्यथा गीता के अन्त में अर्जुन की उक्ति— 'नष्टो मोहस्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत, स्थितोस्मि गतं सन्देहः करिष्ये वचन तव' असंगत हो जायेगी। क्योंकि वैराग्य प्रधान शान्त रस या ज्ञान, कर्म विरोधी होता है। कर्मकरणार्थ उसमें अनुराग की अपेक्षा है जो कि भक्ति की स्थिति में ही सम्भव है। हाँ भक्ति समर्थित कर्म अन्य कर्मों की भाँति बन्धनकारी नहीं, क्योंकि ये प्रकारत्वेन अभिप्रेत बन्धनकारी कर्मों के नाशक ज्ञान और विसर्जनात्मक कर्म से समर्थित होते हैं। अतः भक्ति को ही मूल निष्ठा मानना संगत है। ज्ञान-कर्म निष्ठायें इस मूल निष्ठा के प्रकार मात्र है। 'द्विविधा' पद से इस मत की पुष्टि होती है। अतः गीता में भक्ति ही मूल निष्ठा है। कर्म-ज्ञान निष्ठायें तो उसके अवान्तर भेद मात्र हैं जैसा कि 'द्विविधा' पद के एकवचन से प्रतीत होता है। कर्म और ज्ञान को ही स्वतन्त्र दो निष्ठा मानने पर द्विविधा के स्थान पर द्वित्व होने पर द्विविधा करना होगा। किन्तु भगवान् ने एकवचन का ही प्रयोग किया है अतः भक्ति को ही मूल निष्ठा मानकर कर्म-ज्ञान निष्ठाओं को उसका प्रकार मात्र मानना चाहिए।

# ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत घटना की सम्भावनायें–

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी

वाराणसी

**आक्षेप :–**

१. इस घटना का उल्लेख उत्तरवैदिक साहित्य में नहीं मिलता।

२. प्राचीन भारतीयों को स्वयं इस युद्ध की तिथि का सही ज्ञान नहीं था।

३. पुराणों के वर्णन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

४. हड़प्पा सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता के कालक्रम को देखते हुए महाभारत घटना को ई० पूर्व दो हजार वर्ष नहीं रखा जा सकता।

५. उस समय अनेक शक्तिशाली राजाओं का वर्णन असंगत प्रतीत होता है, जबकि उस समय इतनी सशक्त राजशक्तियां नहीं बन पायी थीं।

६. पुरातात्त्विक उत्खनन के आधार पर वह काल अस्त्र शस्त्र की दृष्टि से अविकसित था, जबकि लोहा ई० पू० १२०० वर्ष से ही प्राप्त होता है, तो इतने विकसित शस्त्रों का प्रयोग सम्भव नहीं।

७. महाभारत ग्रन्थ भी पक्षपात पूर्ण दृष्टि से निर्मित किया गया, एक ओर मनीषी एवं मेधावी महाराज धृतराष्ट्र अपने पुत्रों का नामकरण दुर्योधन, दुशासन इत्यादि रूप से करते हैं, यहां तक कि अपनी पुत्री का भी दुःशला नाम रखते है, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर (धर्मराज) भीम (वायुपुत्र) आदि देव सम्बन्धित नाम रखे जाते हैं- अतः यह भी अवश्य किसी कुशल व्यक्ति की कला है।

८. जय, भारत, तथा महाभारत ये तीन ग्रन्थ हैं या एक ही इनके रचयिता वेद व्यास ही हैं या अन्य भी ?

९. इस ग्रन्थ में वर्णित घटनाओं की सत्यता में पदे पदे संदेह होता है, क्योंकि ये मानव शक्ति से सम्भाव्य नहीं है।

१०. अठारह अक्षौहिणी सेना का छोटी सी कुरुक्षेत्र भूमि पर समा जाना सम्भव नहीं, फिर इतने हाथी-घोड़ों के लिए तथा इतने मनुष्यों के लिऐ खाद्य सामग्री का भी होना सम्भव नहीं हैं। जान पड़ता।

११. श्रीमद्भागवतादि पुराण तथा महाभारत एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि महाभारत प्रसाद गुण युक्त अनुष्टुपश्लोकों में रचित है, उसकी शैली वाल्मीकीय रामायण जैसी आर्ष है, परन्तु भागवत पुराण आधुनिक कवियों जैसी सालङ्कार लच्छेदार कविता का आस्पद है। इससे भाषा विज्ञान के अनुसार भी यह दोनों ग्रन्थ एक आचार्य के नहीं हो सकते हैं।

## "महाभारत के संबन्ध में किये गये आक्षेपों का समाधान":—

१. इस घटना का उल्लेख उत्तरवैदिक साहित्य में नहीं मिलता, ऐसा कहना परम दुःसाहस है, वैदिक साहित्य का पूर्ण अवलोकन न करना इसका हेतु है– सर्व प्रथम ऋग्वेद में तथा अथर्ववेद में कई स्थानों पर भगवान श्रीकृष्ण एवं उनकी लीलाओं का संकेत मिलता है।

(क) यद्य प्रवीता दधतेहगर्भ सयश्चिज्जातो भवसी दुदूतः
(ऋग्वेद ४/७/१/९)

(ख) एतद्घोर अङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोत्तवोवाच
(छ०दो० ३।१७।६

(ग) अथर्व० २।१३।१ तथा २।१३।५ (घ) तै० उप० १०।१।६ (ङ) अथर्व० ६।१०६।२

महाभारत के सूत्रधार यही भगवान् कृष्ण थे। शतपथ ब्राह्मण में तो महाभारत के बहुत से पात्रों का निर्देश मिलता है। उसमें कुरु-पाञ्चाल- जनमेजय परीक्षित–श्रुतुसेन-उग्रसेन भीमसेन आदि का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त प्राचीन उपनिषद् ग्रन्थों में, आश्वलायन सूत्र ग्रन्थों में तथा गर्गसंहिता एवं श्रीमद्भागवतादि पुराणों में अनेक स्थलों पर इस घटना का संकेत देखा जाता है। महामुनि पाणिनि पतञ्जलि, कात्यायन ने अपने अपने व्याकरण ग्रन्थों में इस घटना का तथा इसके पात्रों का पूर्ण परिचय दिया है। प्रमाणार्थ अष्टाध्यावी पा० सूत्र– ४ – १ – १७२/४-१-१५१।६– २-४२ २–४–६६/ ८—३—९५/४—२-५-६। इसके साथ ही कालिदास प्रभृति कवियों ने भी इसके विशाल साहित्व का सम्यक् अनुसरण किया है।

२. महाभारत के आदिपर्व के अध्ययन से ज्ञात होता है कि- यह युद्ध कुरुक्षेत्र की भूमि में द्वापर एवं कलयुग की सन्धि में हुआ था। जैसा कि—"अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्। स्यमन्तपञ्चके युद्ध कुरु पाण्डव सैन्ययोः।" तथा अन्यान्य ग्रन्थों से भी यही समय निर्दिष्ट होता है। पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में महर्षि व्यास के द्वारा निर्मित ब्रह्म सूत्रों का संकेत किया है। (पा०स० ४–३–११०) तथा वासुदेव अर्जुन आदि का भी निर्देश किया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि इस घटना का वही काल है— क्योंकि वृहत्तर प्रमाणों से ईसा पूर्व २८०० वर्ष पाणिनि का काल माना जाता है। निम्न प्रमाण भी काल निर्णय में सहायक हैं।

(क) "त्रिंशत्सु त्रि सठसेषु भारतादाहवादितः,
सप्ताव्द शतयुक्तेषु गतेष्वव्देषुपञ्चसु।
पंचाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु,
समासु समतीतासु शकानाभपि भूभुजाम्॥

(ख) कलिद्वापर सन्धौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम्।
मुनयोधर्मनिरताः प्रजानांपालने रताः॥(वृद्धगर्ग)
सप्तर्षयो मघायुक्ताः काले पारिक्षितेशतम्।
(वायु ९९। ४२३)

सप्तर्षयस्तदा प्राप्ताः पिज्ये पारिक्षिते शतम्
ब्रह्माण्ठ ३।७४।२३०)

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षटद्विकपंचदियुतः शककालस्तस्यराज्ञः
(वृहत्संहिता १३।३)

गुरुवासरेराज्यं विहाय महाप्रस्थानं गताः। (आर्यभटः)

सप्तमाच्चापि दिवसाद् आमावस्या भविष्यति।
संग्रामे युज्यतां तस्यां तामाहुः शुक्रदेवताम्॥
(उद्योग १४२।१८)

आलक्ष्ये प्रभयाहीनां पौर्णमासीं च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णेनभःस्थले॥
(भीष्म० २।२३)

## पुरातत्त्व के अनुसारः—

(i) तक्षशिलानगरे जनमेजयस्य नागयज्ञ,
कुण्डंलब्धमितिश्रृतिः।

(ii) वाराबंकी मण्डले एक वृक्षो वर्तते यद्विषयेऽनुश्रुतिर्यत् श्रीकृष्णेन सत्यभामामानापनोदनार्थं मानीलत्स्वर्य-कल्पवृक्षाद् भृष्टवीजतस्तदुत्पत्तिः। इत्यादि।

गागर में सागर भरने के समान काल का यही निर्णय सूक्ष्म निर्णय है इतने बड़े कालचक्र को अन्य प्रकार से कैसे कहते युधिष्ठिर संवत् एवं गीता जयन्ती मार्ग शुक्ल ११ तिथि आदि के आधार पर अधिक सूक्ष्मता की ओर पहुँचा जा सकता है। पर इस बात को निष्प्रयोजन समझकर अधिक बल नहीं दिया गया। समाचार पत्र दैनिक आज में प्रकाशित "मास्को" का निम्न समाचार भी एतसन्दर्भ में कुछ संकेत करता है।

## ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के नगर का पता लगा–

मास्को ६ दिसम्बर सोवियत पुरातत्त्वविदों के एक दल ने तूरेमानिया में ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के एक प्राचीन नगर का पता लगाया है। प्राचीन नगर के अवशेषो में मजबुत मोटी दीवालों से घिरी एक चौमंजिला गुम्वज पायी गयी है, तथा हांथी दांत के सामान मिले हैं। हांथी दांत की वस्तुयें भारत में बनी प्रतीत होती हैं, मिट्टी के बर्तनों आभूषणों तथा धातु के सामानों पर आकर्षक कारीगरी परिलक्षित हैं। अन्य सुलभ वस्तुओं को भी कला की दृष्टि से मूल्यवान बताया गया है आदि (दैनिक 'आज' ७ दिसम्बर १९७४, सौर २१ मार्ग शीर्ष २०३१ शनिवार) अवश्य ही उक्त वस्तुयें महाभारत काल की होंगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

३. किसी के विश्वास न करने से किसी वस्तु का अपलोप नहीं हो सकता। पुराणों की वर्णन शैली तीन प्रकार की होती है– आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। यही वेदों की भी है। निरुक्त कार लिखते हैं कि-"तास्त्रिविधाः परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च (नि० ७।१।३)। इसी बात को प्रत्यक्षकृताः भारद्वाज संहितामें"समाधि भाषा प्रथमा लौकिकीति तथा परा, तृतीयापरकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधास्मृता" इस रूप से कहा गया है। इसमें समाधिभाषा आध्यात्मिक पक्ष में, लौकिकी भाषा प्रत्यक्ष अर्थात् अधिभूतपक्ष में, परकीया भाषा अधिदैवत पक्ष में समझनी चाहिए, क्योंकि आत्म तत्त्व का परिचय समाधि से पञ्चमहाभूतों का परिचय प्रायः प्रत्यक्ष से तथा दैवत तत्त्व का परिचय 'परोक्षप्रियाहवादेवाः के अनुसार परकीय भाषा अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से होता हैं।

जैसे— सोमःपवतेजनिता मतीनां जनितादिवो
जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य,
जनितोत विष्णोः ॥

अधिदैवत पक्ष में—

इस मन्त्र का अर्थ जगत् का प्रसव करने वाला सोम अर्थात् सूर्यदेव सबको (पवते) पवित्र करता है। वह सूर्य (मतीनाम्। अपनी प्रकाशक किरणों का (दिवः) चमकने वाली किरणों का, (पृथिव्याः) फैलने वाली किरणों का (सूर्यस्य) अपनी ओर आकर्षण करने वाली किरणों का (अग्नेः) गमन शील किरणों का (इन्द्रस्य) सामर्थ्य वाली किरणों का (विष्णोंः) व्याप्त होने वाली किरणों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला है।

अध्यात्म पक्ष में—

सोम अर्थात् आत्मा (मतीनाम्) ज्ञानेन्द्रियों का (सूर्यस्य) ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का, (दिवः) प्रकाश करने वाली इन्द्रियों का (इन्द्रस्य) सामर्थ्यवान् मनका (विष्णोः) व्याप्त हो जाने वाले मन का (जनिता) प्रेरक रूप से उत्पादक है, वही सबको (पवते) पवित्र करता है। यहाँ पूर्व अर्थ में यदि सूर्य आदि पदार्थ अपने-अपने मण्डल अर्थ में ही माने जायें तो आधिभौतिक पक्ष होगा। यदि उन-उन मण्डलों के अधिष्ठात्री देवता रूप में माने जांयें तो आधिदैविक पक्ष का अर्थ होगा, तथा यदि सोम शब्द आत्मपरक तथा मति आदि शब्द इन्द्रिय परक हों तो अध्यात्मिक पक्ष का अर्थ होगा, ऐसा स्वयं

निरुक्तकार कहते हैं। (नि०१४-१२)। ठीक यही प्रकार पुराणों एवं महाभारत की भी भाषा शैली है, पद्म पुराण में– देवर्षि नारद के पूँछने पर भक्ति ने कहा है–

साहं तु तरुणी कस्मात् सुतौ वृद्धाविमौ कुतः।
घटते जरठामाता तरुणौ तनया विति॥
(पद्म० पु० ६।१९३।५३)

शब्दार्थ यह है कि–मैं माता हूं, ये दोनों मेरे पुत्र हैं, मैं युवती क्यों हूं, ये दोनो मेरे पुत्र वृद्ध क्यों हो गये, उचित तो यह है माता वृद्ध हो, पुत्र युवा हों। यहां असम्भवाभासोपलक्षित रूपक अलङ्कार है, परकीया भाषा का यह सन्दर्भ है। आशय यह है कि–भक्ति को माता, ज्ञान-वैराग्य इन दोनों को उसका पुत्र कहा गया है, कलियुग में ज्ञान एवं वैराग्य की चर्चा ही शेष रहती है, कृति रूप में उसका अनुष्ठान नहीं रह जाता। फिर भी भक्ति का आदर कहीं कहीं दिखाई पड़ता है, अतः वह युवती रहती है, ज्ञान वैराग्य का अनादर होने से वृद्ध हो गये हैं इस प्रकार यदि पुराण एवं महाभारतके श्लोकों का अर्थ न जानने से विश्वास का अभाव हो सकता है, तो इसके दूर करने के लिए उक्त शैली से अर्थ ज्ञान का प्रयत्न करना चाहिए।

विगत परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए आज भी श्रंथाल जाति के लोग हांथ से धनुष न चलाकर एक विशेष प्रकार से उसका सञ्चालन करते हैं। उनका कहना है कि इस अंगुष्ठविशेष की हमारे पूर्वजों ने गुरु को दान कर दिया है, अतः इसका प्रयोग अनुचित है। उक्त घटना एकलव्य-द्रोणाचार्य की है। द्रोणाचार्य जी एकलव्य से उसकी गुरुदक्षिणा के रूप में उसके अंगूठे की मांग की थी, जिसे उसने सहर्ष समर्पित कर दिया था। उसी कथा को लेकर आज तक यह जाति धनुष चलाने में अंगूठे का प्रयोग नही करती है। इत्यादि कथायें आज भी विश्वस्त हैं।

४. यह पाश्चात्य दृष्टिकोण की देन है क्योंकि पश्चिमी विद्वान् यूनान की दृष्टि से भारत को देखते हैं। इसका तात्पर्य दो हैं–प्रथम तो यह कि वे यूनान को विश्वसभ्यता की मातृभूमि मानकर भारत का निरीक्षण करते हैं। दूसरा यह कि वे भारतीय दृष्टिकोण को यूनानी दृष्टि से प्रभावित समझ कर चलते हैं। यदि वे दृष्टियां भारतीय दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हैं, तो भी वे उसे अधिक महत्व देते रहे हैं।

इसका प्रभाव उन भारतीय विद्वानों पर और बुरा पड़ा, जो पश्चिमी विद्वानों के इङ्गित पर भारत के हृदय को समझना चाहते हैं-। पर साथ ही यह भी अवसर आया कि जो भारतीय विद्वानो का वर्ग यहां के मूल दृष्टिकोण एवं विदेशी साहित्य दोनों से परिचित था, उसने यहां की श्रेष्ठता तथा पश्चिम जगत् आज जहां पहुँचा है, वहां भारत सहस्रों वर्ष पूर्व पहुँच चुका था, सिद्ध करने में मूल की उचित व्याख्या करने लगा। इससे बहुत महत्वपूर्ण तथ्य सामने आये। मेंगस्थनीज मानता है कि– उसके समय में भारत में लिखित विधि थी ही नही लेखन –कला के अज्ञा। से लोग स्मरण से ही काम चलाते रहे। आश्चर्य यह कि उसकी इन बातों पर पश्चिमी जगतगतानुगतिक बनता चला आया, जब कि मेगस्थनीज से बहुत पूर्व पालिनि ग्रन्थों में लिपिकार एवं यावनी लिपि का संकेत मिलता है। इत्यादि।

अतः इस दृष्टि से महाभारत को समझने का प्रयास न करें। हमें तो दो हजार वर्ष नहीं, इससे भी पूर्व इस घटना को देखना है। जो वास्तविक समुचित होगा, क्योंकि हड़प्पा के पुरातत्त्व में लोहे के साधनों के न मिलने पर भी 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, आदि के पर्यालोचन से लोहे की शिल्पकला से भारत पूर्ण परिचित था, अतः इतने बड़े युद्ध का इस रूप में होना कैसे सम्भव है। दूसरी सबसे महत्वशाली बात यह भी ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि– वे अस्त्र

शस्त्र लौह निर्मित होने पर भी लोहे की महत्ता को अपने में रखकर काम नहीं करते थे। प्रत्युत मन्त्र बल से प्रेरित होकर चैतन्य शक्ति सम्पन्न से काम करते थे इसीलिए निर्दिष्ट चलाये गये वाण वही करते थे पुनः प्रत्यावर्तित भी हो जाते थे, अर्जुन ने जिस पाशुपत अस्त्र से जयद्रथ का वध किया, उसी अस्त्र ने उसके शिरको काटकर उसके पिता वृहत्क्षत्र की अञ्जलि पर ले जाकर रख दिया, जो उस समय सन्ध्या के लिए सूर्य को अर्घ्य दे रहा था, भला यह शक्ति लोहे की है? द्रोणाचार्य अपने रथ पर रखे कमण्डल से जल लेकर आचमन करके दिव्य अस्त्रों का मन्त्रानुसन्धान पूर्वक प्रयोग करते है इत्यादि, यह निरे लोहे की करतूत नहीं हैं, यहां तो रामायण के "सींक धनुष सायक सन्धाना" पर दृष्टि देनी होगी। भगवान राम ने वाण के अभाव से धनुष पर सींक (तिनके) को चढ़ाकर ही छोड़ दिया था जिससे काक की एक आंख समाप्त हो गयी थी. आज भी उसको इसी रूप में देखा जाता है।

वस्तुतः वे अस्त्र शस्त्रचेतन रूप में ही थे, जिसको उन मन्त्रों की सिद्धिथीं, उन्हीं के वे अस्त्र उनके साथ ही विलीन हो चुके वे अब धरती में बैठे नहीं मिलेंगे। दूसरी दृष्टि यह कि– उस काल की घटना जिसका वर्णन आगे किया जायेगा, उससे भी स्पष्ट हो जायेगा, कि ईसा से तीन सहस्त्र पूर्व ही यह कार्य हुआ होगा।

५. उस समय इतनी सशक्त राजशक्तियां बन नहीं पायी थी इसलिए भी इस घटना का सम्भव नहीं माना जाता। इस आक्षेप का समाधान भी चतुर्थ समाधान से प्रायः गतार्थ है। आक्षेपक महानुभाव-पाषाण युग, लौह युग का माप पुरातत्त्व के आधार पर करते हुए ऐसा कहने का साहस करते हैं, पर उनको यह भी सोचना चाहिए कि उन पुरातत्त्वों का ज्ञान जिस वाङ्मय के के आधार पर किया जा रहा है, उसका काल क्या है?

६. पुरातत्त्व की दृष्टि से वह काल अस्त्रों के सम्बन्ध में अविकसित था- यदि यह मान भी लिया जाय, तो कोई हानि नहीं है। अस्त्रशस्त्रों का पूर्ण विकास महाभारत काल में पराकाष्ठा को प्राप्त था। पर उस महान युद्धने सभी कलाओं- विद्याओं एवं सभ्यताओं को इस प्रकार समाप्त किया कि आज उसका समझना भी असम्भव सा हो रहा है। मैंने यह पहले ही संकेत किया है कि भारत उस समय मंत्र-बल से सम्पन्न था जिसकी अद्भुत शक्ति आज भी अनुभूत होती पायी जाती है भौतिक कलायें उसके प्रभाव पर आधारित थीं। जैसे राजसूय सभा का निर्माण मय दानव के द्वारा विचित्र रूप से मण्डित था, जल मे स्थल एवं स्थल में जल का भ्रम होता था, जहां से महाभारत का अंकुर जमता है। ऐसे ही द्वारिका पुरी का निर्माण उसमें विचित्र कारीगरी, सुधर्मा सभा का निर्माण आदि दिव्य कार्य विश्वकर्मा (स्वंग शिल्पी) के द्वारा अति साधारण था। वे दिव्य कार्य उन चेतन शक्तियों से प्रभावित होने से ध्वस्तावशेष के लिये अत्यल्प रूप में ही रह जाते हैं। जैसे ध्वस्त रूप में द्वारिका अब भी वर्तमान है। तथा हस्तिना पुर भी उसी रूप में देखा जा रहा है सम्भव है कि इन प्रदेशों के आस पास की खुदाई जो अभी तक नहीं हो पायी है, उसमें ध्वस्तावशेष भी प्रमाण रूप में मिल सकते हैं: जैसा कि पुराणो में वर्णित बहुत से राजाओं के विषय में मिला है।

अतः शस्त्रादि के विकास की दृष्टि केवल भौतिक तत्त्वों के आधार पर न कीं जाय अपितु मान्त्रिक शब्द तत्त्व के आधार पर भी। तभी यह समझ में आयेगा कि उस समय शक्तिशाली राज सत्तायें थी या नहीं।

७. धृतराष्ट्र अपने पुत्रों का दुर्योधन, दुशासन इत्यादि नाम स्वयं जानकर किये होंगें, क्योंकि दुःखेन योध्यते-योधयितुं शक्यते इति दुर्योधनः इस व्युत्पत्ति से "बड़ी कठिनाई से जिसके साथ युद्ध हो सके

वह दुर्योधन है,,— ऐसा अर्थ होता है, इसी प्रकार कठिनता से जिस पर शासन हो वह दुःशासन है, तथा कठिनता से जिसके गम्भीर चरित्र को समझा जाय वह दुःशला, है। देखिये— ऋषि दुर्वासा एवं भगवती दुर्गा के नामों में भी दुर उपसर्ग जुड़ा है जो उनके स्वरूप गाम्भीर्य का घोतक है, प्रत्युत पाण्डवों के नाम में भी नकुल नाम हैं जो चपलता का प्रतीक है। अर्जुन को दो घन्टे में ही चन्द्रलोक आदि भ्रमण करा दिया जाता है। इसमें भीं आश्चर्य क्या—भगवान् योगिराज श्रीकृष्ण का साहित्य इन सबमें प्रयोजक है। ऐसी आश्चर्य जनक घटनायें कौरव पक्ष में भी है, उन पर भी विचार करना चाहिए। यदि किसो कुशल व्यक्ति की कला है तो कृष्ण को ही समझना चाहिए।

८. जय,भारत, तथा महाभारत- ये तीतों मुख्यरूप से एक ही विशय के प्रतिपादक तीन ग्रन्थ है, विषय प्रमुख रूप से युद्ध ही हैं। इन तीनों के रचयिता वेदव्यास ही हैं। जैसा कि-- देवी भागवतादि ग्रन्थों से स्पष्ट होता है—

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा।
वेदमेकं सवहुधा कुरुते हितकम्यया॥ (१-३-१८)
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान्‌ज्ञात्वा कलाषथ।
पुराण सहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे-युगे॥
(१-३-१९)
ततः शक्तिर्जातुकर्ण्यः कृष्ण द्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिसंख्येयं कथितायामया श्रुता॥
एकोनत्रिंशत्सम्प्राप्ते द्रौणिर्व्यासो भविष्यति॥
(१-३-३३)

श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध के आरम्भके चतुर्थ अध्याय में नारद ने व्यास जी से कहा है कि—

"कृतवान् भारतं यस्त्वं सवार्थ परिवृंहितम् "
इससे भी स्पष्ट है कि भारत के आचार्य श्री वेदव्यास हैं।

अस्तु अनेकशः प्रमाणों से यह सिद्ध है। कि इन तीनों के आचार्य श्री व्यास ही हैं। अब शङ्का होती है कि एक ही आचार्य ने एक ही उद्देश्य से तीन कृतियां क्यों की ? इसका समाधान है कि प्राचीन काल ही में नहीं, अब भी ऐसी शैली देखी जाती है कि- किसी ग्रन्थ का प्रथम संस्करण द्वितीय संस्करण तथा तृतीय संस्करणादि न्यूनाधिकभाव में हो जाते हैं। श्री नागेश भट्ट ने-परमलघुमञ्जूषा लघुमञ्जूषा'एवं गुरुमञ्जूषा ये तीन मञ्जूषाओं की रचना की। जैसे अधिकारी भेद से वेदों का विभाजन किया गया, ऐसे ही अधिकारियों की दृष्टि से भी इस संहिता की भी येरचनायें की गयीं।

९. इस ग्रन्थ की घटनायें प्रायः मानवीय शक्ति से परे की हैं। अतः पदे-पदे सन्देह होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि हम लोग अपनी आज की दृष्टि से इन घटनाओ कों देखने का प्रयास करते हैं। यदि गम्भीर काल की आलोचना की जाय, तो ये सभी घटनायें समीचीन अनुमान प्रणाली से सत्य अवश्य उतरेंगी। आज से ४०-५० वर्ष पहले हमलोगों को देखते देखते वल-बुद्धि की जो स्थिति थी, वह आज नहीं है। सम्भव है आगे भी न रहेगी। परन्तु पूर्व काल में चलें, तो अधिकाधिक मात्रा में ये वात मिलती हैं। जैसे दृष्टान्त के लिए— हमारे ही ग्राम में शारीरिक वलशाली पुरुषों की स्थिति आज नहीं है। उससे पहले प्रायः ८०-९० या १०० वर्ष वीतते होंगे— एक पाचू नामक अमीर महानुभाव जिनका दर्शन किये हुए हमारे कुछ पूर्वज बताते थे कि वे—दौड़ान मारकर उछले एक ऊँट को पार कर गये- तथा एक बबूल वृक्ष, जिसकी दो शाखायें कुछ ही दूर पर अलग हो रही थी। वे उस पर बठकर एक अंग्रेज अधिकारी के कहने पर पांव से वल लगाये, बब्वूल फटकर गिर गया। हमारे गोत्र के चाचा जिनका नाम रामसुन्दर त्रिपाठी था, उनका हमने दर्शन किये थे वे २-२ मन का अन्न का बोरा४-४ कोस तक लेकर चले जाते थे-इन घटनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता इससे पूर्व प्रायः ३०० वर्ष भी न बीते होंगें इसी वरणा नदी को

रामलीला के पवित्र अवसर पर हनूमान् वेष में एक ब्राह्मण ने कूदकर पार कर दिया था, जो तत्काल मर गये उनकी वेशभूषा का वस्त्र अभी तक कवीर चौरा स्थान में रखा है। यह भी घटना आज असम्भव जान पड़ेगी। और पहले चलिये- तो एक सम्राट् पृथ्वीराज का स्मरण होता है, जिन्होने वहुतवार मोहम्मद गोरी को पराजित किया था, पर अन्तिम वार के युद्ध में कतिपय हेतुओं से वे हार गये, "पृथ्वीराज रासो" नामक ग्रन्थ के आधार पर पकड़कर उन्हें गजनी ले जाया गया। वहां पर चन्द्र वरदाई भी पहुँचे, शब्दवेधी वाण के प्रसंग में मुहम्मद गोरी को पृथ्वी राज ने मार दिया, पश्चात् तीखी तलवार से चन्द्र-वरदाई ने महाराज के परामर्श से उनका शिरच्छेद किया, पर पृथ्वीराज अपने वाम हस्त से शिर कों दवाये रहे, जिससे मस्तक कटकर पृथ्वी पर नहीं गिरा, उसी गरमाहट मे सावधानी से उन्होंने चन्द्रवरदाई का शिर झटिति से काट दिया, उस समय १३२ वर्ष की आयु में पृथ्वीराज ने यह कार्य किया, अभी ८०० वर्ष भी बीते इस घटना को नही हुए है।

इसी प्रकार भूरिश्रवा की भी कथा प्राप्त होती है। भूरिश्रवा अपने हाथ में विजायठ धारण करते थे युद्ध के समय हाथ कट जाने पर वह विजायठ रीवां के किसी कूप में गिर गया था, जो वहाँ के दीवान वंश को प्राप्त हो गया, रीवां नरेश के यहां अपनी पुत्री के विवाह में उक्त दीवान ने प्राप्त विजाइठ को खिचड़ी के समय रीवां नरेश को प्रदान किया। महाराज रीवाँ के यहां अब भी उस अलङ्कार का होना सम्भव है।

अस्तु इन दृष्टियों से भारत घटनायें देखी जायें, तथा 'प्राणाः ह्यस्थिषु शेरते, इसकी सिद्धान्त से उस समय प्राण हड्डियों में रहते थे-- अर्थात् जैसे आज दिन प्राण अन्नमय होने से रक्त में, चर्म में तनिक भी चोट लग जाय, तो बड़ा कष्ट होने, लगता है, नख, केश, दन्त में चोट लगने या उनको शरीर से काट कर अलग कर देने में दुःख नहीं होता, प्रत्युत सुख होता है। ऐसे ही उस समय में जब तक हड्डी में आघात नहीं होता था, तब तक आह नहीं होती थी, अतएव भीष्म आदि वीरवर मांस के टुकड़े काटकर गिरने पर भी आह नहीं करते, प्रत्युत बाण शय्या को पुष्प शय्या मानकर लेट जाते हैं।

१०. छोटी सी कुरुक्षेत्र की भूमि में अक्षोहिणी सेना का होना सम्भव कैसे ? इसका उत्तर यह है कि थोड़ी सी कुरुक्षेत्र की भूमि आज प्रतीत होती हैं। उस समय में यह वृहदाकार में थी-- समस्त हरियाणा राजस्थान तथा पंजाब का कुछ भाग इसमें सम्मिलित था, आज भी राजस्थान के वहुत से कूप इस रूप से अनुभूत होते है। पुरातन समय में हिमालय को अवधिमानकर एशिया महाद्वीप दो क्षेत्रों मे विभाजित किया गया था उत्तर कुरु दक्षिण कुरु। उत्तर कुरु में चीन, जापान, रूस आदि देश आते थे। दक्षिण कुरु मे भारत एवं इसके सहयोगी राज्य आते थे। इसके पूर्व उक्त क्षेत्र अजनामवर्ष के नाम से जानां जांता था, वाद में इसका नाम महाराज भरत के नाम पर पड़ा, महाभारत काल के क्षत्रिय कौरव तथा पान्डव भरत वंशी ही थे।

उस समय ऐसे दिव्य पदार्थ भी बहुत रूप में थे- जिनसे खाद्य-सामग्री प्रभृति समस्या का समाधान अति तुच्छ हो जाता है। जैसे भारद्वाज महर्षि ने चतुङ्गिणी सेना सहित भरत को संतृप्त किया— वह उनकी दिव्य तपः शक्ति ही थी। इस काल में भी इस प्रकार के साधन थे। ऋषि वर्ग भी थे, मणि आदि दिव्य रत्न भी थे।

११. भाषा की दृष्टि से यह सरल, श्रीमद्भागवत लच्छेदार काव्यों से युक्त है- अतः एक की रचना नहीं इस आक्षेप पर यह समाधान है कि विषयानुसार वर्णन होता है। यदि रचयिता विशिष्ट प्रज्ञावान् है, तो अवश्य ही वह अनेकों प्रकार की पद्य रचना कर सकता है। फिर भी महाभारत में कूटश्लोकों

को देखिये—कितनी गम्भीरता है ।

१२ अजनाम वर्ष नाम होते हुए भी भरतवंश के आधार पर यह देश भारतवर्ष कहलाया । इससे सिद्ध होता है कि समस्त भारत में उनका साम्राज्य था, अन्यथा उनके नाम पर इस देश का नाम परिवर्तित कैसे होता, तथा उस समय का भारत आज के भारत से बड़ा था । शल्प राज ईरान के सम्राट थे वे युधिष्ठिर के मातुल थे, पाण्डवों ने हिमालय को अवधि मानकर उत्तर देश को उत्तर कुरु तथा दक्षिण देश को दक्षिण कुरु नाम से संकेतित किया था । अब भी चीन में उत्तर कोरिया कुरु देश का ही खण्डशेष है, दक्षिण कुरु अपने स्थान पर यत्किञ्चिद्रूप से वर्तमान ही है । आज भी हिमालय गङ्गा, भारत आदि का परिचय शब्द प्रमाण से जो परम्परानुगत हैं, उससे प्राप्त होता है– अतः भारत की दृष्टि से देखा जाय तो सभी घटनायें सत्य सिद्ध होंगी ।

# सत्य का स्वरूप

**प्रो० डा० रघुनाथ गिरि**

अध्यक्ष दर्शन विभाग

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

हमारे दैनिक जीवन में सत्य शब्द का प्रयोग इतना अधिक होता हैं कि हमें इस प्रश्न में कि "सत्य क्या है?" आश्चर्य हो सकता है क्योंकि इससे ऐसा ध्वनित होता है कि सत्य शब्द का अर्थ अस्पष्ट, संदिग्ध एवं विवादास्पद है पर जब भी हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं अथवा इसको सुनते हैं तो हमें यह पूर्ण विश्वास रहता है कि हम :श्रोता या वक्ता के रूप : अथवा दूसरा व्यक्ति :श्रोता या वक्ता के रूप में : इसके अर्थ से भली–भाँति परिचित है। हमें या उसे इस अवसर पर किसी प्रकार के सन्देह की सम्भावना नहीं रहती है। अतः उक्त प्रश्न की स्थापना के लिये हमें सत्य शब्द के प्रयोग के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने की आवश्यकता प्रतीत होती हैं। मानव सभ्यता के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद काल से ही सत्य शब्द का प्रयोग होता चला आ रहा है। वेद के मन्त्र–दृष्टा ऋषियों ने सृष्टि के प्रारम्भ में सर्व प्रथम ऋत और सत्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है।[1] सत्य को पृथ्वी जल, तेज, वायु, प्रकाश आदि का आधार माना है।[2] सत्य बोलने वाले तथा सत्य कर्म करने वाले को महत्व दिया है।[3] सत्योक्ति से अपनी सर्वतोन्मुखी रक्षा की कामना की है।[4] अपने को अनृत से सत्य की ओर जाते हुए देखा है[5]। उन्हे यह पूर्ण विश्वास है कि सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं।[6] उपनिषद के मंत्रों में सत्य को ज्ञान और अनंत आनन्द के साथ ब्रह्म का स्वरूप माना गया है।[7] उपनिषद का ऋषि इस तथ्य से अवगत प्रतीत होता है कि सत्य का मुख स्वर्ण से बन्द रहता है और वह आवरण इतना गहन होता है कि उसको हटा देना उसके

---

१– ऋतं च सत्यं च मिद्धान्तपसोध्यजायतः ऋग्वेद १०/१८०/१
२– सत्येनोत्तमिताभूमिः ऋग्वेद १०/८५/१
३– सत्यंवदन्सत्य कर्मन् : ऋग्वेद ९/११३/४
४– सा मा सत्योक्तिः परिपात विश्वतः। ऋगवेद १०/३७/२
५– इदमहमनृतात् सत्यमुदमि। यजुर्वेद ।
६– सत्यमेवजयते नानृतम्।
७– सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० २/१/१।

अपने सामर्थ्य के बाहर है अतः वह देवता से प्रार्थना करता है कि वह आवरण को हटा दे जिससे सत्य का साक्षात्कार हो सके ।[8] महाभारत कार को सौ अश्वमेघ यज्ञ से एक सत्य अधिक गुरुतर प्रतीत हुआ है ।[9] श्रीमद् भागवतकार पर —सत्य के ध्यान में अपने को निमग्न रखना चाहते हैं ।[10] गीता में वाचिक तप में सत्य प्रिय और हित के साथ आता हैं ।[1] महाभारत तथा पुराणों में अनेक स्थलों पर सत्य को भूतहित के रूप में परिभाषित किया गया है ।[2] पतंजली ने अष्टांगयोग के पृथमांग यम के पंचाग में सत्य को एक अंग माना है ।[3] जैन दार्शनिकों ने भी पंच महाव्रत में सत्य को एक महाव्रत स्वीकार किया है। भगवान बुद्ध ने दुःख, दुःख–समुदाय तथा दुःख–निरोध एवं दुःख–निरोध मार्ग को आर्यसत्य के नाम से अभिहित किया है। सुकरात ने भी सत्य को ज्ञान, सौन्दर्य एवं शिव से अभिन्न माना है। पुराणों में विष्णु के सहस्त्र नामों में से सत्य भी उनका एक नाम है तथा सत्य को ऊपर का अन्तिम लोक माना गया है ।[4] आचार्य शंकर इस नैसर्गिक लोक व्यवहार को सत्य और अनृत का मिश्रण मानते हैं जिसमें यह मैं, यह मेरा आदि व्यवहार हुआ करता है ।[5] वाचस्पति ने सत्य और अनृत की व्याख्या करते हुए कहा है कि सत्य चेतन आत्मा है और अनृत बुद्धि, इन्द्रिय, देह आदि जड़ वस्तुयें हैं ।[6] माहात्मा गाँधी सत्य को ईश्वर मानते है। उनके अनुसार ईश्वर को सत्य कहने के बजाय सत्य को ईश्वर कहना अधिक उप–युक्त है क्योंकि ईश्वर के सम्बन्ध में विवाद है और सत्य निर्विवाद मान्य है। वे सत्य को स्व–प्रकाश मानते हैं। वे किसी महाशक्ति को जो सबसे ऊपर नियमन और नियंत्रण में समर्थ है अल्लाह, खुदा, गाड या ईश्वर कहने की अपेक्षा सत्य कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका सत्याग्रह सत्य शक्ति है, आत्म शक्ति है, प्रेम शक्ति है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से आधुनिक काल तक सत्य की मान्यता अप्रतिहत रूप से प्रवाहित होती हुई दीख पड़ती है। इतना ही नहीं दार्शनिक भी अपने लक्ष्य सत्य की खोज मानता है। वैज्ञानिक भी अपने को सत्यान्वेषी ही समझता है, तर्कशास्त्र में सत्य की स्थापना उसका विवेचन और परीक्षण होता है। आचार शास्त्र में सत्य एक नैतिक आदर्श के रूप में आता है और न्यायालय में सत्य के आधार पर भी निर्णय किये जाते हैं धर्म का आधार भी सत्य समझा जाता है। इस प्रकार दर्शन के विविध शाखाओं में, विज्ञान, धर्म और विधिशास्त्र में सत्य को एकाधिपत्य परिलक्षित होता है। ऐसो स्थिति में सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा का उठना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

सत्य शब्द के उक्त समस्त प्रयोगों को सावधानी से देखने पर यह प्रकट होता है कि सत्य शब्द का

---

८– हिरण्वमयेनपात्रेण सत्यस्यपिहितं मुखमृ । तन्त्वं पूषन् अपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ।
९– अश्वमेघ सहस्त्रं च तुलयावृतम् । अश्वमेघ सहस्त्रा वुद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
१०– सत्यं परं धीमहि भाग १/१/१

१– अनुद्वेककरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् १७/१५
२– यदभूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणन् । अग्नि ३७१/७ । शा० ३२६/१३ ।
यदभूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा । वन २०८/५ ।
३– अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः
४– भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् १ ।
५– अन्यन्त विविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञान निमित्त सत्यानृते मियुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिको यं लोक व्यवहारः
६– सत्यं चिदात्मा, अनृतं वुद्धीन्द्रिदेहादि ।

प्रयोग दो प्रकार से हुआ है। एक संज्ञा के रूप में और दूसरा विशेषण के रूप में। संज्ञा के रूप में इसका अर्थ अस्तित्व, सत्, तत्व, तथ्य, परमशक्ति ईश्वर, ज्ञान, सर्वमान्य, अनुभव, आत्मा आदि है। विशेषण के रूप में प्रयोग होने पर भी यह सर्वत्र इसका अर्थ समान नहीं रहता है जैसे — जब यह वाणी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ होता है — यथार्थ अनुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति।[1] कर्म के विशेषण के रूप में इसका अर्थ होता है — सत्, शुभ, उचित, न्याययुक्त आदि। जब यह किसी प्रस्थापना या प्रकथन का विशेषण बनता है तब इसका अर्थ होता है— तथ्य के अनुरूप, तथ्य संगत आदि। सत्य शब्द के उक्त सभी अर्थों की विवादग्रस्तता का स्पष्ट विवेचन करना इस छोटे निबन्ध की सीमा के बाहर की बात है केवल दिग्दर्शन मात्र के लिए कतिपय अर्थों का हम निर्देश करना चाहते है। सर्व प्रथम हम सत् अर्थ को देखें वह भी कम विवादास्पद नहीं है। किसी के मत में क्षणिक ही सत् है।[2] तो किसी के लिए सत् त्रिकालाबाधित है।[3] किसी के लिए उत्पादव्ययध्रौव्य संयुत है।[4] किसी के लिए सत् प्रमेय है किसी के लिए अज्ञेय। कोई सत् को जड़ मात्र मानता है, कोई चेतन, कोई जड़ चेतन दोनों और कोई जड़ चेतन उभय के विलक्षण। किसी के मत में सत् अद्वैत है तो किसी के लिए द्वैत और किसी के लिए विशिष्टाद्वैत। किसी के लिए वह एक है तो किसी के अनेक। ऐसी स्थिति में सत् या अस्तित्व रूप अर्थ को निर्विवाद, स्पष्ट एवं सदिग्ध मानना सम्भव नहीं। इस प्रकार तत्व, तथ्य, आत्मा, ईश्वर, ज्ञान आदि सभी अर्थ विवादग्रस्त हैं और इनका निश्चित स्वरूप निर्धारित करना असम्भव सा लगता है। क्योंकि दर्शन एवं दार्शनिकों में सम्प्रदाय भेद के कारण इन्हीं अर्थों के स्वरूप भेद हैं।

सत्य शब्द के विशेषण रूप अर्थ पर विचार करने पर भी एक ओर विशेष्य के भेद दीखता है तो दूसरी ओर विवध मान्यतम के भेद से। जैसे वाणी के विशेषण के रूप में सत्य का अर्थ है यथार्थ अनुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति और कर्म के विशेषण के रूप में इसका अर्थ है उचित एवं शुभ कर्म आदि। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या वाणी में सत्यता की कसौटी यथार्थ अभिव्यक्ति मात्र है इस पर विचारकों में महान मतभेद है। मनु अप्रिय यथार्थ कथन का निषेध करते हैं।[5] महाभारत में यथार्थ कथन से अधिक महत्व दिया गया है।[6] परन्तु यह भी कोई ऐसी स्पष्ट

---

Truth is by nature self evidence- ( Young India 27-5-26, 18 : )

I call that great power not by the name of Allah not by the name of Khuda or God but by the name of Truth. For me truth is God and Truth is over-rides all out pians- ( Harijan 20/47-113 )

सत्याग्रह—Truth force, Soul force, or Love force.

It can easily conquer hate by Love, untruth by truth vilence by self suffering- ( Harijan 21-7-40-214 )

१— दृष्टं श्रुतं चानुमितं स्वानुभूतं यथार्थतः
कथनं सत्यमित्युक्त परपीडा विवर्जितम। व्यास भाष्य २/३० लिंग प्र० प्र० ८/१३

२— यत् सत् तत् क्षणिकं। बौद्ध दर्शन क्षणभङ्गवाद

३— शंकराचार्य

४— जैन दार्शनिक

५— सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

६— सत्यरूप वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। शा० ३२९/१३/

अवधारणा नहीं है जिसके आधार पर सत्य के स्वरूप का निर्धारण हो सका हो। हित के विषय में अनेक प्रकार का विरोध उत्पन्न हो सकता है जैसे स्व-हित, पर-हित में विरोध, शरीर, मन, बुद्धि एवं आध्यात्मिक हित में विरोध, व्यक्ति और समाज हित में विरोध, राष्ट्र और मानव-हित में विरोध, मानव और प्राणी हित में विरोध आदि। इसलिए अत्यन्त भूत हित कोई ऐसी कसौटी नहीं है कि निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सके। उधर यथार्थ अनुभूति का यथार्थ कथन भी कम विवाद का विषय नहीं पहले यह निर्णय करना ही कठिन है कि व्यक्ति को यथार्थ अनुभूति है या नहीं क्योंकि यथार्थ अनुभूति होने पर और अनुभूति को यथार्थ मानने में महान भेद है। यह कैसे जाना जा सकता है कि किसी व्यक्ति की अनुभूति यथार्थ है या वह उसे केवल यथार्थ मानता है। वह व्यक्ति स्वयं भी यह निर्णय किस आधार पर कर सकेगा कि उसकी यह केवल मान्यता ही है अथवा उसको यथार्थ अनुभूति भी है। अतः अनुभूति की यथार्थता की सिद्धि नहीं हो सकती।

साथ ही साथ अनुभूति की अभिव्यक्ति की समस्या भी कम जटिल नहीं लगती। अनुभूति की अभिव्यक्ति शब्द, संकेत या प्रतीकों द्वारा ही हो सकती हैं। अतः यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या शब्द, संकेत या प्रतीक अनुभूति को पूर्ण-रूपेण तथा यथार्थ रूपेण व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं? क्या समस्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इनके माध्यम से सम्भव है? क्या अभिव्यक्ति हो जाने मात्र से अभिव्यक्ति पूर्ण हो जाती है या जिसके लिए अभिव्यक्ति हो रही है उसके समझ लेने पर? यह कहना भी कठिन है कि एक व्यक्ति जिन भावों को व्यक्त करना चाहता है समझने वाला उसके संकेतों से उन्हीं भावों को समझता है। अतः यथार्थ अभिव्यक्ति का निर्णय भी दुष्कर ही है।

कर्म के विशेषण रूप में भी सत्य कम विवादास्पद नहीं है। कर्म में औचित्य शुभता या कर्तव्यता का निर्धारण करना कर्म में सत्यता का निश्चय करना है। लेकिन इसकी भी कोई सर्वमान्य कसौटी नहीं है। गीता में भगवान कृष्ण एक ओर यह स्वीकार करते हैं कि कर्म और अकर्म के स्वरूप के निर्णय के सम्बन्ध में विद्वान लोग भी मोहित हो जाते हैं क्योंकि कर्म की गति बड़ी दुष्कर है और दूसरी ओर कार्य और कार्य की व्यवस्था के लिए शास्त्र की प्रामाणिकता को महत्व देते हैं।[1] शास्त्रों के परस्पर विरोधी वचनों को देखते हुए युधिष्ठिर के ये वचन की श्रुतियां भिन्न हैं[2], स्मृतियां भी अनेक हैं, ऐसा कोई एक ऋषि नहीं है जिसकी बात सर्वमान्य हो, अतः धर्म का स्वरूप गहन अन्धकार में है। इसलिए महाजन जिस मार्ग से चले वही धर्म है[3], ठीक लगता है किन्तु महाजन कौन है? यह प्रश्न यहां दूसरी समस्या उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता। साथ ही साथ यह प्रश्न भी उठ सकता है कि कर्म स्वरूपतः शुभ होता है या शुभफल देने के कारण। यदि कर्म को स्वरूपतः शुभ मान लिया जाय तो देशकाल परिस्थिति के भेद से उसमें कोई भेद नहीं आ सकता, वह सभी के लिए सदा के लिए सभी स्थान के लिए शुभ होगा और यदि शुभ फल के कारण कर्म में शुभता आती है तो फल की उत्पत्ति के पहले वह कर्म शुभ कैसे कहा जा सकता है?

सत्य जब किसी प्रस्थापना का बिधेय या विशेषण बनता है तब भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं रहता क्योंकि किसी प्रस्थापना या प्रक्कथन को सत्य होने के लिए उसके द्विविध सम्बन्ध को स्पष्ट करना होगा। इनमें प्रथम सम्बन्ध वाक्य और वाक्य से अभिव्यक्त प्रस्थापना का होगा और दूसरा सम्बन्ध प्रस्थापना या प्रक्कथन का तथ्य के साथ। वक्ता किसी न किसी वाक्य का प्रयोग करता है जिससे वह कुछ कहना या प्रस्तावित करना चाहता है

१— किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
................ ... .... गहना कर्मणोगतिः।

२— तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यं व्यवस्थितौ।

३— श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना, नेकोऋषिर्यस्यवचः प्रमाणम्
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गत स पन्थाः।

उसकी इस प्रस्थापना की सत्यता उसके तथ्य संगत होने पर आधारित मानी जाती है । अतः यहां यह प्रश्न उठ सकते हैं कि क्या प्रस्थापना वाक्य ही है ? क्या प्रस्थापना की वाक्य से अभिव्यक्त कोई धारणा, भावना या इच्छा है ? क्या प्रस्थापना वाक्य और तथ्य के सम्बन्ध से अतिरिक्त है ? आदि और इनके सबके सम्बन्ध में विवाद सम्भव है । उसी प्रकार तथ्य के स्वरूप और तथ्य का प्रस्थापना के साथ संगति, उस संगति के ज्ञान का माध्यम आदि भी अनेक विवादग्रस्त प्रश्न हैं जिनका स्पष्ट समाधान या सर्वमान्य उत्तर सम्भव नहीं ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्य तत्व के रूप में, सामाजिक, नैतिक या धार्मिक मूल्य के रूप में या तार्किक निर्णय के रूप में कोई निश्चित पदार्थ या अवधारणा नहीं है । यह सत्य है और यह सत्य नहीं है यह निर्णय करना अनेक मान्यताओं और परिस्थितियों पर आधारित है जिसके कारण कभी सब कुछ को सत्य और कभी सब कुछ को सत्य से भिन्न कहा जा सकता है । ऐसी स्थिति में यह समस्या सामाजिक न होकर प्रश्न ही बनी रह जाती है जिस पर विचार और मनन की अधिक आवश्यकता है ।

# सम्पत्ति, परिवार तथा समाज में धर्म-नीति का प्रयोग और परिणाम

**डा० राम भरोसे लाल कटियार**

दर्शन शास्त्र विभाग

डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

धर्म-नीति को सम्पत्ति के क्षेत्र में स्वार्थ के कारण पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त न हो सकने से मानव-मात्र को विपन्नता, क्लेष एव चरित्रहीनता को सहन करना पड़ता है। धनोपार्जन के अनैतिक साधनों के प्रयोग के पश्चात् भी यदि धन ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता तो भी मान लिया जाता कि कुछ तो प्राप्त हुआ है। परन्तु महान खेद की बात तो यह है कि चरित्र ह्रास के साथ-साथ निर्धनता ही मनुष्य के पाले पड़ी है। इस प्रकार हमारे लोक तथा परलोक दोनों ही नष्ट हुए हैं।

महाभारत के रचयिता ने उचित ही कहा था कि मैं बाँह उठाकर, पुकार कर कहता हूं परन्तु लोग मेरी सुनते नहीं। यदि अर्थ और काम की ही प्राप्ति अभीष्ट है तो भी धर्म का पालन करो।

धर्म–नीति का सम्पत्ति तथा परिवार जैसी संस्थाओं के क्षेत्र में स्पष्ट–रूप से प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है और उसी के द्वारा मोक्ष भी सुलभ हो सकता है। तभी कणाद ने धर्म को 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः कह कर परिभाषित किया था। अर्थ तथा काम की सिद्धि के एकाङ्गी प्रयास पाश्चात्य जगत को केवल भौतिक एवं शारीरिक सुखों तक ही सीमित कर वह वहां की सभ्यता एवं संस्कृति को, दुर्गुणों तथा दुष्परिणामों से भर दिये हैं। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति संयम और त्याग के लिये ही उन पर बल देती रही है। परिणामतः हमारे देशवासी कञ्चन, कामिनी तथा कादम्ब की ओर आँख मूँद कर भागे चले जा रहे हैं। उनकी अर्थ एवं काम लिप्सा भारत के सुशिक्षित ही नहीं, धूर्त चारवाकों तक को लज्जित करने वाली है।

कारण स्पष्ट है। हमने पुरुषार्थ-चतुष्टय में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं किया है। मनुष्य की प्रकृति के चारो पहलुओं-तन, मन, बुद्धि तथा आत्मा-को ध्यान में रख कर ही हमें मनुष्य–जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण करना चाहिये। मोक्ष की प्राप्ति तन तथा मन की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके नहीं की जा सकती है। और केवल तन तथा मनकी ही तुष्टि बुद्धि तथा आत्मा के विकास के बिना, कोई अर्थ नहीं रखती। इंगलैण्ड की सुखवादी विचार धारा के अनुरूप वहां का परम्परागत अर्थ–शास्त्र विकसित हुआ जिसे केवल अनर्थ शास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है। क्योंकि, मनुष्य-मात्र

की सुख–सुविधाओं का ध्यान न रखकर कतिपय पूँजी-पतियों के द्वारा स्वार्थवादी दृष्टि कोण से अपार धन संचय ही जीवन का परम् लक्ष्य माना गया। उसी व्यवस्था पर देश की आर्थिक नीति आधारित होने के कारण आज महान विपत्तियों के साथ-साथ भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी घोर संकट में है।

परन्तु भारतीय संस्कृति पर आधारित बताई जाने वाली गांधीवादी विचार-धारा भी केवल साधुवादी, त्याग वृत्ति मय एवं वर्तमान परिस्थितियों से मेल न खाने वाली सिद्ध हुई है। और जिसे भारतीय भी अपनाने में संकोच तथा असमर्थता व्यक्त करते हैं। कारण कहीं खोजने नहीं जाना है। यह दृष्टिकोण मार्क्स तथा एंजिल्स की विचार–धारा का प्रतिवाद है जो साधुवादी प्रवृत्ति पर आधारित होकर तन तथा मन को क्लिष्ट साधना के द्वारा आवश्यकता से अधिक मारने पर बल देता है। और यह भी मनुष्य के व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास पर बल न देकर केवल उसके आध्यात्मिक पहलू पर ध्यान देता है अतः एकाङ्गी तथा समय के विपरीत है। इसमें आत्म पूर्णत्व के सिद्धान्त का परित्याग है और समन्वय की नीति पर सामाजिक व्यवहार को आधारित नहीं किया गया है।

अतः सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण के साधनों को भारतीय धर्म–नीति के आधार पर समाज अथवा ट्रस्टियों के हाथ में, उनकी प्रकृति में सुधार लाकर, इस प्रकार देना होगा जिससे वर्तमान स्वार्थी, स्पर्धापूर्ण तथा पूँजीवादी समाज, जो अधिकारों पर ही बल देता है, को स्वार्थ हीन, सहयोगी तथा समाजवादी समाज में परिवर्तित किया जा सके, जो कर्त्तव्यों को महत्ता प्रदान करता हो, जिससे समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनी शक्ति तथा इच्छा के अनुसार भौतिक समृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति कर सकने के हेतु पर्याप्त अवसर तथा सहयोग प्राप्त हो सके। जब तक सम्पत्ति को मनुष्य मात्र की भलाई का साधन मानकर उसे मनुष्यों के व्यक्तित्वों से निम्न स्तर नहीं प्रदान किया जायेगा तब तक व्यक्तियों के उत्थान के लिए आवश्यक सामग्री नहीं उपलब्ध हो पायेगी।

सम्पत्ति, व्यवसाय तथा आर्थिक कार्यों को साध्य न मानकर साधन माना जाना चाहिए। उसका उपयोग मनुष्य के अन्दर उपस्थित रचनात्मक शक्ति को विकसित कर चिंतन तथा खोज की ओर अग्रसर करने में होना चाहिये। अतः सभी 'निष्क्रिय' सम्पत्ति को व्यक्तियों से सामाजिक हितों के लिए ले लिया जाना चाहिए, क्योंकि सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति को उसके समाज के प्रति कर्त्तव्यों के आधार पर ही मिलना चाहिए।

इसी प्रकार परिवार जैसी संस्था के क्षेत्र में भी धर्म नीति के नियमों का मूर्त–रूप में प्रयोग वाँछनीय है क्योंकि व्यक्तिवादी आधार परिवार के सदस्यों में ही विषाक्त सम्बन्ध उत्पन्न करवा देता है। नैतिक नियमों की अनुपस्थिति में भारतीय संस्कृति का 'वसुधैव कुटुम्बकम्, का आदर्श तो कभी चरितार्थ किया ही नहीं जा सकता है। पाश्चात्य सुखवादी व्यक्तिवाद ने स्त्री-बच्चों को भी सम्पत्ति में परिणत कर दिया है जिन्हें लाभ तथा सुख की सामग्री माना जाता है। वासना, लोभ, डाह, अधिकार जताना जैसे दुर्गुणों को बढ़ावा मिलता है और बाल विवाह, पर्दा प्रथा, घर की चहार–दीवारी में एकाकी जीवन बिताना संकीर्णता, वैधव्य–यातना तथा प्रेम–हीन जीवन बिताना तथा सन्तानों में मनोविकारों का उत्पन्न होना आदि ऐसे दोष हैं जिनसे हिन्दू-समाज की निष्पत्ति नहीं हो पा रही है।

नर की जलन तथा डाह ने समाज में एक ऐसी दरार डाल दी है जिसके कारण मनोमालिन्य, झगड़े, लड़ाइयां तथा अलगाव की भावना चारो ओर परिलक्षित होती है। संग्रह की प्रवृत्ति ने स्त्रियों को वस्तु में इस प्रकार परिणत कर दिया है कि वे स्वतंत्र व्यक्ति नहीं मानी जा सकती हैं। उन्हें किसी व्यक्ति पर मरण—पर्यन्त निर्भर माना गया है जब कि उन्हें मनुष्यों के सहारे नहीं, उनके सहयोगी की तरह उनके साथ जीवन-यापन करना चाहिये। उन्हें व्यक्ति विशेष की आश्रित न होकर समाज के उपयोगी सदस्यों की भांति रहना चाहिए और पिता, भाई तथा पुत्र के समान दूसरों को मानकर उनसे यथा-योग्य बर्ताव करना चाहिये।

परन्तु मनुष्यों की काम-वासना ने ऐसा भयंकर रूप

ग्रहण कर रखा है कि नारी आज केवल भोग्या बन कर रह गई है और उसी संदर्भ में उसे लेकर हमारा समाज अपनी घृणित विकृतियों को प्रकट रहा है। नारी को अपने व्यक्ति—स्वरूप को स्वतन्त्र रूप से विकसित कर समाज में स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करने में अत्यन्त कठिनाई उत्पन्न हो रही है। भौतिकता-वादी विचारधारा सुखोपभोग की ओर इस प्रकार अग्रसर हो रही है कि वह विवाह के प्रमुख उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति को गौण बनाकर शारीरिक—सुखों को इतनी महत्ता प्रदान करती है कि परिवार नियोजन के अनेक उचित—अनुचित साधन अपना कर भी रति क्रिया में लीन रहने को ही एक-मात्र उद्देश्य समझा जाने लगा है। प्रत्येक समय सुन्दर दिखलाई पड़ने के प्रयत्न में आज की परिस्थितियों में अपने सीमित साधनों का दुरुपयोग तथा उनके अर्जन में जघन्य पापों में लिप्तता हमारे देश को पतन के ऐसे गर्त में ढकेल रही है जहां से शीघ्र छुटकारा पाना कठिन है।

संयम तथा त्याग के जिन सिद्धान्तों को भारतीय दार्शनिक तथा धार्मिक परम्पराओं ने सिखलाने का प्रयास किया था वे सर्वथा विस्मृत कर दी गई हैं। ऐसा इस कारण भी हुआ है कि जीवन के शाश्वत नियम भी देश-काल-पात्र के अनुसार ही लागू हो सकते हैं और उनका निरन्तर पुनरावलोकन होते रहना आवश्यक है। वर्तमान दशाओं में उनका पुर्ननिरीक्षण कर हमें उनका प्रयोग समाज की नवीन रचना में कुछ इस प्रकार करना होगा कि इस सामूहिक—उत्पादन, सामूहिक शोषण तथा सामूहिक—विनाश के युग में सामूहिक— कल्याण तथा सामूहिक— मोक्ष सम्भव हो सके।

यद्यपि धर्म—नीति के विशेष सिद्धान्तों का आज की विशेष परिस्थितियों में निरूपण स्थानाभाव के कारण यहां सम्भव नहीं है फिर भी इतना संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा कि यदि उन्हें लागू किया जाय तो मनुष्य की संग्रहशील प्रवृत्तियों को नियंत्रित करके मनुष्य मात्र को संपत्ति के उचित उत्पादन तथा वितरण के द्वारा निश्चिन्तता तथा आत्म-पूर्णत्व के सुअवसर प्रदान किये जा सकते हैं। तभी मनुष्य की यह महान धन लिप्सा समाप्त होकर रचनात्मक प्रवृत्ति के अग्रसर होने से संसार को उन वस्तुओं की उपलब्धि होगी जिन्हें प्राप्त करना अन्यथा सम्भव न होता। जब दर्शन-शास्त्र की तकनीक, धर्म-नीति, विज्ञान का सहयोग प्राप्त कर जगत के कल्याण को अग्रसर होगी तो मनुष्य की अनुपम शक्तियां, जो आज विग्रह, युद्ध तथा विनाश की ओर अग्रसर हैं, उसके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख होंगी। मनुष्य की भौतिक साधनों के संचय में रत शक्तियां, जो अर्थ और काम को ही परम-लक्ष्य माने हुये हैं, धर्म तथा मोक्ष की ओर भी प्रेरित होंगी। और तब प्रेम, भ्रातृभाव, करुणा, क्षमा, दया, सहकारिता, सहयोग, सेवा तथा सद्भाव जैसे सद्गुण मनुष्य को प्राकृतिक विपदाओं को भी सरलता से सहन करने की शक्ति प्रदान करेगें, मनुष्य द्वारा मनुष्य पर विपत्तियों के पहाड़ ढाने का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा।

और क्योंकि नैतिक—नियमों का भारतीय आधार अद्वैत दर्शन है, परम्-सत्ता के स्वरूप का साक्षात्कार समस्त विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्वों को अपने सामाजिक परिवेश में आत्मसात् कर उन्हें एक ही इकाई के पूरक तत्त्व बना देने की योग्यता प्रदान करेगा। और तब पूँजीवाद तथा समाजवाद अथवा साम्यवाद, अध्यात्मवाद और जड़वाद, अधिकार और कर्त्तव्य, स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व, दर्शन तथा विज्ञान, पूर्व तथा पश्चिम, अमीरी एवं निर्धनता, संग्रहशीलता तथा रचनात्मकता, होड़ अथवा प्रतिस्पर्धा एवं सहकारिता अथवा सहयोग, प्राचीन विवेक तथा आधुनिक—ज्ञान, योगज-ज्ञान तथा बौद्धिक वस्तुपरक ज्ञान, सभी हमारे समाज के जीवन को सुखी, समृद्ध एवं सफल बनाने में सहायक सिद्ध होंगे।

इस प्रकार के समाज में समाज की पूँजी होगी और पूँजीपतियों का समाजीकरण हो सकेगा। उसके सदस्य भौतिक समृद्धि का उत्पादन त्याग-वृत्ति से कर रहे होंगे और उनका त्याग समाज की समृद्धि के लिए होगा। उस समाज में गरीबी होगी क्योंकि 'ईशावास्यमिदं सर्वं' के अनुसार किसी की कोई वस्तु नहीं होगी, और उसमें समृद्धि होगी क्योंकि उसका प्रत्येक सदस्य अपने उपयोग के लिए आवश्यक सभी वस्तुयें सरलता से प्राप्त व प्रयुक्त

कर सकेगा। व्यक्तिवादी रईसी भी होगी क्योंकि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास अपने ढंग से करने में समर्थ होगा, परन्तु सहकारिता, सहयोग, प्रत्येक व्यक्ति का समान ध्यान रखना, सेवा-भाव तथा कर्त्तव्य-बोध समाज को समाजवादी स्वरूप प्रदान करेगा।

धर्म-नीति के आचरण से समाज के सदस्यों के व्यक्तित्वों का उचित संघटन, सामञ्जस्यपूर्ण कार्य-करना, बौद्धिक उन्नयन तथा आध्यात्मिक रूपान्तरण संभव हो सकता है। और तभी पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति संभव हो सकेगी। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन व्यक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मद तथा अविवेक से छुटकारा दिलवायेगा। इसी से चार मूल-भूत सद्गुणों- विवेक, वीरता, संयम तथा न्याय- का विकास सम्भव है। त्याग, निरीहता, कर्तव्य-निष्ठा और मानव-मात्र की सेवा इत्यादि सद्गुण ऐसे समाज के सदस्यों की आत्मा से स्वतः फूट निकलेंगे। लोगों में भ्रातृ भावना, शुभेच्छा, सहानुभूति और प्रेम का प्रादुर्भाव होगा।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का मनुष्य से, मनुष्य का समाज से तथा समाजों का समाजों से व्यवहार यदि धर्म-नीति पर आधारित किया जाय तो ऐसी अनन्त संभावनायें उत्पन्न हो सकती हैं जिनसे विज्ञान के लाभों से भी अधिक लाभ हो सकता है। यदि नीति-शास्त्र का समावेश व्यष्टि तथा समष्टि के जीवन में संभव हो सके तो पृथ्वी पर स्वर्ग को उतार कर उसे त्याग-वृत्ति से भोग कर दिव्य-मानव सदृश भगवत् काम-कर्म करते हुए मनुष्यमात्र अपवर्ग की ओर अग्रसर हो सकता है।

# श्री राम चरित मानस में 'विश्राम' : अर्थ और महत्व

डा० रामजी सिंह (भागलपुर विश्वविद्यालय)

'मानस' यदि कुछ है तो मूल्य ही है और वह मूल्य है, 'रामत्व'। राम का अर्थ है, ब्रह्म। "राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।"[1] "राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी।"[2] "राम सच्चिदानन्द दिनेसा।"[3] "राम सो परमातमा भवानी।"[4] यही विश्व की चेतना का मूल स्रोत है—"जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू।"[5] राम ही पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर और परात्पर पुरुष है।[6] उसके अतिरिक्त तो कुछ है भी नहीं "जड़ चेतन जग जीवजत सकल राममय जानि।"[7] कोई भी लोक या ब्रह्माण्ड राम से रिक्त नहीं है। उनकी माया ने ही उनकी भौहों के सकेत पर सृष्टि की रचना की है, "भृकुटि विलास जासु जग होई।"[8] और बिना किसी दूसरे की सहायता के सृष्टि उत्पन्न की "जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।"[9] इसीलिए उनके अवतार का रहस्य भी कोई क्या जान सकेगा? "हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई।"[10] वास्तव में राम का रहस्य ही तर्क से परे है—"राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी॥"[11] यही नहीं, राम मन, वचन और कर्म से अगोचर है—"मन क्रम वचन अगोचर जोई। दशरथ अजिर विचर प्रभु सोई।"[12] इसीलिए तो "आदि अन्त कोई जासु न पावा।"[13] "निगम नेति सिव अन्त न पावा"[14] कहा गया है। "रामस्तु भगवान स्वयम्"—ऐसा महारामायण में बताया गया है इसीलिए तो "सीयराममय सब जग जानी"[15] कहकर राम की वन्दना की गई है। जो भाव में ब्रह्म है, वही व्यवहार में धर्म है। इसीलिए

---

१—श्रीरामचरित मानस १।१२०।६ तुलनीय, व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद १।१९८
हरि व्यापक सर्वत्र समाना १।१८५।५
व्यापक एक ब्रह्म अविनासी १।२३।६

२— " " १।१२०।३,
३— " " १।१११६।१
४— " " १।१११९।३
५— " " १।१११७।४
६— " " २।९३।४
७— " " १।७,
८— " " १।१४८।२
९— " " १।१८६।३
१०— " " १।१२०।२
११— " " १।१२१।३
१२— " " १।२०२।५
१३— " " १।१११८।४
१४— " " १।२०२।८
१५— " " १।८।२

बाल्मीकि ने "रामो विग्रहवान धर्मः"[16] कहा है। राम का अर्थ है, धर्म। "धर्मात्मो भगवतो लोके रामस्य धीमतः।" अतः रामाभिमुखता ही धर्म एवं राम-विमुखता ही अधर्म है—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।[17]

राम-भक्ति के बिना सब व्यर्थ है—

"सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥"

राम-भक्ति के अभाव में योग भी कुयोग और ज्ञान भी अज्ञान है—"जोगु कुजोग ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥"[18] इसी प्रकार सुख, धर्म और कर्म भी राम-भक्ति के बिना व्यर्थ है—"सो सुख करम धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥"[19]

राम विमुख के लिये न सुख सम्भव है—"विमुख राम सुख पाव न कोई,"[20] न उसकी मुक्ति ही शक्य है—"रघुपति विमुख जतन कर जोरी। कवन सकइ भव बन्धन छोरी॥"[21] व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग विज्ञान आदि सब राम-भक्ति से ही सम्भव है।[22] राम विमुख तो ब्रह्मा का शरीर पाकर भी व्यर्थ हो जाता है—"राम विमुख लहि विधि सम देही।"[23] संसार में जो कुछ है, सब राम के ही नाते है—"नाते नेह राम के मनियत सुहृद् सुसेव्य जहाँ लौ॥"[24] जीव का सच्चा स्वार्थ भी यही है—"स्वारथ सोंच जीव कहूं एहा।"[25] और परमार्थ भी यही है—"सखा परम परमारथ एहू।" संक्षेप में, हम यही कहना चाहेंगे कि मानस में जो कुछ भी है, उसका मूल्य और मापदण्ड "रामत्व" ही है।

यह ठीक है कि राम का 'रामत्व' तुलसी से भिन्न न होकर उसका आत्मबोध मात्र बन गया और इसीलिए राम की शरणागति मानसकार के लिये श्रेष्ठतम जीवन-मूल्य बन गये और राम भक्ति रामचरित-मानस का पर्याय बन गया। इसलिये तो राम-नाम, राम-ध्यान, राम-भक्ति और राम-चरित्र के चार आयामों में तुलसी का मानस ओत-प्रोत है। अस्तु, रामचरितमानस भक्ति का काव्य है जिसके आदि मध्य और अन्त में भगवान रामचन्द्र ही प्रतिपाद्य प्रभु हैं "प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।"[26] यह भक्ति जैसा नारद ने कहा है—"सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा"[27] या जैसा शांडित्य—भक्ति-सूत्र में भी कहा गया है कि यह परमात्मा के प्रति परम अनुराग है—"सा परानुक्तिरीश्वरे।" इसके आगे कुछ नहीं "न पारमेष्ठय न महेन्द्रधिरार्थं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धधीरपुनर्भवं वा मय्यार्पितात्मेच्दति मद्विनान्यत्।"[28] यह भक्ति स्वयं अमृत स्वरूपा है, यही कारण है कि भक्त भक्ति के आगे मुक्ति का भी निरादर कर देते हैं—"अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।"[29] चारो प्रकार की मुक्तियाँ फिर भी भक्त के द्वार पर खड़ी दासी

---

१६—बाल्मीकीय रामायण, ३।२७।१३
१७—विनय-पत्रिका, १७४
१८—रामचरित मानस २।२९०।२
१९— „ „ २।२९०।१
२०— „ „ ७।१२२।१८ अन्धकार बरु रविहि नसावै। राम बिना न जीव सुख पावै॥ हिम ते अनल प्रगट बरु होई। विमुख राम सुख पाव न कोई॥
२१— „ „ १।२००
२२— „ „ ७।९५।३
२३— „ „ ७।९६।२
२४—विनय-पत्रिका, १७६
२५—रामचरित मानस ७।९६।१
२६— „ „ १७६
२७—नारद-भक्ति-सूत्र, २
२८—श्रीमद्भागवत महापुराण, ११।१४।१४
२९—रामचरितमानस, ७।१२२

बनने को आतुर रहती हैं—"भक्ति द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्यास्य लोलायते।"[30] वास्तविकता तो यह है कि मुक्ति तो भक्तों को अनायास ही प्राप्त हो जाती है—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाई। अन इच्छित आवइ बरिआई॥"[31] यही कारण है कि भर अर्थ, धर्म, काम और यहाँ तक मोक्ष को भी भक्ति के समक्ष तुच्छ मानते है—"अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्वान। जनम जनम रति राम पद यह वरदान न आन॥"[32] सनकादि ब्रह्मलीन मुनि समाधि के सहज सुख को छोड़कर भी भक्ति-गंगा में डूबते रहते हैं—"मुनिगुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी।"[33] मुनि वशिष्ट जैसे ब्रह्मज्ञानी भी जनम-जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटे जनिनेहुँ।[34] की ही कामना करते हैं। इसीलिए कवि कहते हैं—"चहौं न सुगति संपति कछु रिधि-सिधि विपुल बड़ाई।

हेतु रहित अनुरागु रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥[35]

इसको प्राप्त कर किसी को इच्छा ही नहीं होती—"यत्प्राप्य न किंचित इच्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नौत्साही भवति।[36] वस्तुतः भक्ति साधन और साध्य दोनों ही है—"साधन सिद्धि राम पद नेहू।"[37] नारद ने भी कहा है—"फलरूप त्वात्।"[38] इसीलिए गुरु वशिष्ट कहते हैं—"प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।"[39] सारी विपत्तियों और अनर्थों का मूल है, प्रभु के भजन की विस्मृति। अभक्ति ही विपत्ति है। "कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई।"[40] तो जीव दृष्टि से भक्ति रागात्मक, माया के निवारण में समर्थ, सर्वसुलभ, स्वतन्त्र सुखदायिनी, भय-रहित, पावन, श्रुति सम्मत, सद्यः फलदायक और युग धर्मानुकूल सुसाध्य होने के कारण श्रेष्ठ है। भगवान् की दृष्टि से भी भक्ति ही श्रेष्ठ है, भगवान को भी केवल भक्ति प्यारी है—"रामहि केवल प्रेम पियारा।"[41] पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।[42] भक्तियुक्त नीच से नीच प्राणी भी उन्हें प्राण प्रिय है—"भगतिवंत अतिनीचव प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असिमन जानी।"[43] और वे भक्ति का ही एक-मात्र नाता मानते हैं—"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता॥"[44] जिनको कर्म, वचन और मन से भगवान की ही गति है और जो निष्काम भाव से भगवद्-भजन करते है, उनके हृदय में भगवान निवास करते हैं "तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउं सदा विश्राम।"[45]

---

३०—बोधसार तुलनीय नारद-पाँचरात्रः—हरिभक्ति महादेव्याः सर्वा मुक्त्यादि सिद्धयः।
भक्त स्याद्भुतास्तसयाद्ये टिकावदन्द व्रताः॥
३१—रामचरित मानस, ७।२०।३
३२— „ „ ३।१३०
३३— „ „ ७।६४
३४— „ „ ७।७२
३५—विनय पत्रिका १०३
३६—नारद-भक्ति-सूत्र, ५
३७—रामचरित मानस, २।२२९।४
३८—नारद-भक्ति-सूत्र, २६
३९—रामचरित मानस, २।२९०
४०— „ „ ५।३२।२
४१— „ „ ७।१३७, २।२१९
४२— „ „ ७।११६
४३— „ „ ७।८६
४४— „ „ ३।३५
४५— „ „ ३।१६

तो मानस में भक्ति ही सर्वोपरि है और भक्ति का अर्थ है, राम भक्ति। भक्ति के अतिरिक्त शेष सभी कुछ स्वप्न जैसा शून्य है-"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।" [46] राम-भक्ति में बाधक माता को भी भरत जैसे योग्य व्यक्ति "वर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुंह परेउ न कीरा" [47] और पिता को भी "मरन काल विधि मति हरि लीन्ही" [48] कह देते हैं। इसी प्रकार राम-विरोध की आशंका से लक्ष्मण बड़े भाई भरत के प्रति भ्रातृत्व भी भूल संकुल-युद्ध के लिये तैयार हो जाते हैं-"राम निरादर कर फलु पाई"। [49] यही नहीं वे भरत के लिये भूखे भेड़िये से भी अधिक भयानक हो जाते हैं- "जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेई लपेट लवा जिमि बाजू।" [50] भक्त के लिये भगवान का पक्षपात भी तुलसी को मान्य है और भक्त का अपराध भी ओझल हो जाता है- "जेहिं अघ बधेउ व्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली ।। सोई करतूति विभीषण केरी। सपनेहु सो न राम हियँ हेरी ।।" [51] तुलसी राम-भक्ति में यह भी भूल जाते हैं कि मंदोदरी अपने पतिहन्ता को दोष न देकर पति को ही दोष देती है। शायद यह दैन्य भाव को ही पुरुषार्थ मानने की पराकाष्ठा है- "राम विमुख अस हाल तुम्हारा" [52] 'अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं।"[53] 'रामत्व' का मूल्य इतना ऊँचा है कि इसके आगे बौद्धिक गुणों की भी अवहेलना हो गयी है। राम समस्त बौद्धिक गुणों से हीन भक्त को ही प्रिय मानेंगे, भक्ति से हीन विद्वान और महात्मा को नहीं-......भगतिहीन विरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।" [54] पता नहीं, यह पिता की दुर्बलता है या उसका गुण। 'रामत्व' के आगे केवल बौद्धिकता की ही अपेक्षा नहीं हुई है कर्म एवं तप आदि को भी गौण समझा गया है। "बस एक ही मापदड है-रामत्व।"

"सोइ सर्वज्ञ गुनी सोई ज्ञाता।
सोइ महि मंडित पंडित दाता ।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता।
रामचरन जाकर मन राता ।।
नीति निपुन सोई परम सयाना।
श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना ।।
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा।
जो छल छांड़ि भजइ रघुवीरा ।।" [55]

यही नहीं 'रामत्व' के लिये मानस में कभी-कभी तो मर्यादावाद एवं लोक-व्यवहार को भी भुला दिया गया है। राम-भक्ति-साधना में जिस सीता के लिए "जिअ विनु देह नदी बिनु बारी। तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी" [56] कहलाया किन्तु उर्मिला की व्यथा को इसलिये ओझल कर दिया क्योंकि राम-भक्ति साधन में लक्ष्मण के लिये वह बाधक होती। माँडवी को तो खैर कभी पूछा ही नहीं। उसी प्रकार दशरथ-कौशल्या के वात्सल्य या सीता के दाम्पत्य का इतना भावपूर्ण चित्रण इसीलिए हुआ कि उसका सम्बन्ध राम और राम-भक्ति से था।

---

४६- रामचरित मानस ३/३९/५ देखिए १/११७
४७- ,, ,, २/१६२/२
४८- ,, ,, २/१६२/३
४९- ,, ,, २/२३०/४
५०- ,, ,, २/२३०/६
५१- ,, ,, १/२९/६
५२- ,, ,, ६/१०४/१०
५३- ,, ,, ६/१०४/१२
५४- ,, ,, ७/८६/९
५५- ,, ,, ७/१२७/१
५६- ,, ,, २/६५/७

भक्ति ही मानस का प्रतिपाद्य विषय है। भक्त की यह भावना है कि वह अपना उद्देश्य समझे "जिनके मन भए हैं रस सगुन। तिनके लेखे कवन मुकति अगुन।" इसीलिये तो मनु-सतरूपा यही वरदान मांगते है कि भगवान के अपने भक्त जो सुख और गति पाते हैं, वही उन्हें मिलें– "सोई सुख सोई गति सोई भगति सोई निज चरन सनेहु।" [57] विभीषण भी (तेहि)" मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु।" [58] जिस दिन राम ने जीव को अपना 'निज जन' [59] समझ लिया उसी दिन उसका जीवन और जन्म सफल हो गया– " जीवन जन्म सुफल मम भयऊ " [60] इसीलिये सनकादि चारों ऋषि अविचल प्रेमभक्ति के सिवा और कुछ नहीं मांगते– "प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम " [61] भक्त कुल श्रेष्ठ भरत को भी "केवल कृपा तुम्हारिहि" चाहिए। [62] शिव ने भी " निज पद भगति" ही माँगी, [63] फिर और वर माँगा। तो यह भक्ति कुछ ऐसी चीज जरूर है जिसमें जीव को सब कुछ मिल जाता है। जब तक यह प्राप्त नहीं होती है तब तक यह लोक एवं परलोक में सुख-शांति नहीं मिल सकती है। [64] मानस की रचना का उद्देश्य भी यही सुख एवं शान्ति प्राप्त करना रहा है जिसे तुलसी ने " स्वान्तः सुखाय" [65] कहा है। इसके श्रवण मात्र से ही शांति मिलती है, जिसे मानसकार ने 'विश्राम' कहा है मुझे लगता है कि 'विश्राम' शब्द मानस का मर्म शब्द है। यह मानस के प्रतिपाद्य विषय को भी स्पस्ट करता है और प्रारम्भ से अन्त तक इसकी ध्वनि गूँजती रहती है। सम्पूर्ण मानस में विश्राम शब्द कुल ३१ वार प्रयुक्त हुए है, [66] जिसमें १० वार शारीरिक विश्राम या शयन, [67] १० वार मानसिक सुख एवं शाँति [68] ७ वार आध्यात्मिक आनन्द[69]

---

५७– रामचरित मानस १/१५०
५८– " " १/१७७
५९– " " ७/१२३
६०– " " ७/१२५
६१– " " ७/३४
६२– " " ७/३६
६३– " " ७/१०८
६४– " " ७/१०७/७ छंद
६५– " " १/१/७
६६– विश्राम शब्द बालकांड में ११ बार ( १/३१५, १/३५/७, १/१०६/३, १/१३६/५, १/१८८/१, १/९१/२ १/१९२, १/१९७/६, १/२१७, :/२३८/५, १/३५५)
अयोध्याकान्ड में ६ वार (२/१०८, २/१९८, २/२०१, २/२२१/८, २/२४८, २/२७१/५)
अरण्यकांड में १ बार (३/१६ )
सुन्दर कांड में ३ बार, (५/१, ५/८/२, /५ ४९),
लंका कांड में ५ वार (६/१५/१. ६/३४/६, ६/७८, ६/१२/१, ६/११९/१) और
उत्तर कांड में ५ वार (७/८२, ७/८९, ७/९०, ७/११/७, ७/३०/३ ) आया है। इसमें १६ वार 'विश्राम' ९ वार 'विश्राम' ५ बार 'विश्राम' एक वार 'लोक विश्राम' एक वार 'लोक दायक विश्राम' ९ वार 'लोक–विश्राम' एक बार 'सिव विश्राम' एवं एक बार 'परम विश्राम' आया है।
६७– रामचरित मानस १/२१७, १/२३८/५, १/३५५, २/१०८, २/१९८, २/२२१/८, २/२७१/५., ५/१, ६/११९
६८– " " ७/८९, ७/८२, ६/७८, ५/४६, २/२४८, १/१०७/६, १/१९२, १/१९१/२ १/१८८/१, १/३१/५
६९– " " १/३५/७, १/१३८/५, ५/८/२, ६/३४/६, ७/९०, ७/११५/७, ७/३०/३

एक बार कथा - वार्ता [70] एक वार रक्षा एवं [71] एक वार याम [72] के अर्थ में आया हैं । यहां हमारा विशेष अभिप्राय 'विश्राम' को मानसिक एवं आध्यात्मिक अर्थों को स्पष्ट करने का है जिसकी भूमिका प्रस्तुत की जा चुकी है।

इसे हम चाहें तो शास्त्र के उपक्रम एवं उपसंहार दो हेतुओं से भी परीक्षण कर सकते हैं, यद्यपि शास्त्रोक्त सात बताये गये हैं–

उपक्रमोपसंहारावन्यासोह पर्वता फलग । अर्थवादी-पपत्तीद्वचलिंग तात्पर्य निर्णय ।। [73] (१) उपक्रम— रामचरित मानस के आरम्भ से अंत तक भक्ति की ही गंगा प्रवाहित होती रहती है । मानस महिमा के ही क्रम में इसको पंडितों को विश्राम देने वाला कहा गया है – " बुध विश्राम सकल जन रंजनि । राम कथा कलिकलुष विभंजनि ।। " [74] और सद्यः इसका समर्थन भी है — "रामचरित मानस एहि नामा । सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा ।।" [75] 'विश्राम' शब्द "पूर्व थका हुआ" का संकेत करता है । विद्वान लोग पुराणादि के अध्ययन से भ्रमित और परिश्रान्त हो जाते हैं क्योंकि 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका ।।' [76] उन्हें तो मानस में विश्राम मिलेगा अनेकों जन्मों में अनेकों प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ और दान आदि कर्म करने पर भी भ्रम बढ़ा ही [77] "देखऊ करि सब करम गोसाई । सुखी न भयंऊ अबहिं की नाई ।" [78] ज्ञान विज्ञान, विवेक और वैराग्य भी भक्ति के बिना सब फीके हैं- भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे । लवन विना बहु बिंजन जैसे ।। [79] इसलिए काक भुशुण्डि "अविरल शक्ति विसुद्ध तव " [80] ही मांगते है । 'विश्राम स्नानमेकं कविवर वचसाम "– यह श्रुतियों के अनुसार भी है । तर्क तो अप्रतिष्ठित होते है–तर्कोऽप्रतिष्ठानात् । कहा ही गया हैं- तावत् सर्वाणि शास्त्राणि विवदन्ते परस्परम् । इसीलिए "ज्ञानपंथ कृपान कै धारा " [81] को छोड़कर अतिदुर्लभ कैवल्य परमपद के रूप में राम-भक्ति को स्वीकार किया गया है। निषेधात्मक रूप से राम भक्ति से काम मद, दान आदि समाप्त हो जाते हैं- "सुनत नसाहिं काम मद दंभा ।" मनके विषय अगिन के समान जल जाते है एवं सुखी हो जाते हैं "मन करि विषय अनल बन जरई । होई सुखी जो येहि सर परई ।" भावात्मक रूप से इससे विश्राम और शांति मिलती है ।

उपसंहार– इसी बात को पुनः ग्रन्थ समापन में भी कहा गया है । ग्रंथ का समारंभ 'स्वान्तः सुखाय'से किया गया है और अंत में तुलसी को 'परम विश्राम, प्राप्त हुआ –

'पायों परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूं ।"[83] यों तुलसी का जो "स्वान्तः सुखाय" है वही उनका 'परम विश्राम' भी है । कामी को जिस प्रकार नारी, लोभी को सम्पत्ति लगती है उसी प्रकार भक्त को भगवान की भक्ति चाहिए । इसके लिए प्रभु की 'कृपा लवलेस ' रूप से भी प्राप्त होनी ही चाहिए । उनकी कृपा से विश्राम मिल जाता हैं—

---

७०– रामचरित मानस १/१०'/३
७१– ,, ', ६/११२/१
७२– ,, ,, १/१९२
७३– वेदांत सार, १८१
७४– रामचरितमानस, १/३१/५
७५– ,, ,, १/३५/७
७६– ,, ,, ७/४५/२
७७– ,, ,, ७/९६/१
७८– ,, ,, ७/९६/५
७९– ,, ,, ७/८४/५
८०– ,, ,, ७/८४
८१– ,, ,, १/३४।३, ४३।२
८२– ,, ,, ७/५३
८३– ,, ,, ७/१३० छंद

सुनहुँ पुनीत राम गुन ग्रामा ।
तुम्हरी कृपा लहेहु विश्रामा ।।[84]

इसका अर्थ है कि संसयात्मा को विश्राम नहीं मिल सकता। संशयात्मा विनश्यन्ति । संशयात्मा की दशा तो सर्पदंशित मनुष्य की तरह हो जाती है– संसय सर्प ग्रसेउ उरगादा। दुखद लहर कुतर्क बहु व्राता।" इसलिए जो इस भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान के लिए साधन करते हैं वे मूर्ख हैं– जो असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ।"[85] गीतावली में भी राम को 'विश्रामधाम[86] कहा गया है। राम कृपा का अर्थ यहाँ पर 'ईश्वर–विश्वास" भी समझा जा सकता है। विना वश्वास के भक्ति नही। "रक्षिष्यतीति विश्वासः।" तो विना विश्वास के राम द्रवीभूत नहीं होते और राम कृपा के बिना स्वप्न में भी विश्राम नहीं होता—

बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम कृपा विनु सपनेहूं जीव न लह विश्राम ।।"[87]

विनय–पत्रिका- में भी कहा गया है कि बिना विश्वास के कभी भी विश्राम नहीं मिल सकता– "कबहूं मन विश्राम न मान्यो।"[88] जब तक जीव आस्था से ईश्वर का भजन नहीं करता, उसे विश्राम नहीं– " तव लगि कुशल न जीव कहुँ सपनेहूं मन विश्राम।" जब लगि भजत न राम पद, सोकधाम तजि काम ।।[89]

काम के रहते कुशल नहीं– "काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।"[90] मन को भी विश्राम नहीं मिल सकता है–" नाचत ही निसि– दिवस मरयो।"[91] इस भव-सागर रूपी लंका में मोह रूपी रावण, अहंकार रूप कुम्भकर्ण एवं शांति हरण रखने वाला काम रूपी मेघनाद है – 'मोह दशमौलि तदभ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।[92] इसलिये एक ही आश्रय है, राम-भक्ति का– "तत्र एव त्वद्भक्ति, सज्जन, समागम, सदा भवतु मे राम विश्रामेकं।" मानस में भी कहा कि

"एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास ।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसी दास ।।"[93]

नहिं कलिकरम न भगति विवेकू। राम नाम अवलंबन एकू ।।[94], विनय पत्रिका में भी फिर कहा है– "विश्वास एक राम-नाम के।"[95] कवितावली में भी कहा गया है- नरक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे।[96] लगता है, भक्ति के दोनों तत्त्व-आत्म-समर्पण एवं आत्म विलय अपने उत्कर्ष-बिंदु पर पहुँचे हैं। 'मानस' की परिसमाप्ति के समय पार्वती का यह आत्मबोध "उपजी राम-भक्ति दृढ़, बीते सकल क्लेश"[97] जितना भावमय है, उतना ही तुलसी की स्वानुभूति भी सुस्मित एवं सौम्य है, "रघुवंस भूषण चरित यह नर कहहिं सुनहिं जो गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ।।"[98]

संसार का यह बंधन तभी छूट सकता है जब राम की

---

८४– रामचरित मानस ७/११५/७
८५– ,, ,, ७/११५/१
८६– गीतावली ३/२
८७– रामचरित मानस ७/९०
८८– विनय पत्रिका ८८
८९– रामचरित मानस ५/४६
९०– ,, ,, ५/४६
९१– विनय पत्रिका ५८/४
९२– ,, ,, ५७/८
९३– रामचरित मानस
९४– ,, ,, १/२७
९५– विनय-पत्रिका १५५
९६– कवितावली ७/५०
९७– रामचरित मानस ७/१२९
९८– ,, ,, ७/१३०

कृपा हो।[99]। "द्रवे जानकी कंत तव छूटे संसार दुख को" संक्षेप में हम कह सकते है कि—
मानस के उपक्रम एवं उपसंहार दोनों में आध्यात्मिक अनुभूति की रसात्मक वाङ्मय से तर्ककर्कश मोक्ष शास्त्र – काव्य की राम भक्ति के मधु से अत्यन्त हो गया है—

"रामचरित जो सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।।" [100]

'विश्राम' मुख्यतः तीन अर्थों में प्रयुक्त हुए है, शारीरिक परिशान्ति– निवारण, मानसिक सुख एवं आध्यात्मिक शांति। हालांकि जगहं जगह पर एक अर्थ दूसरे अर्थ को भी खींचते रहे है। जहां तक 'विश्राम' का अर्थ शारीरिक विश्राम से है, उसमें विश्राम एवं शयन दोनों के अर्थ आ गये हैं।

रिषय संग रघुवंस मनि करि भोजनु विश्राम। [101]

प्रभु ने ऋषियों के साथ ही सब काम किये। संग भी चले 'हरषि चले मुनिवृन्द सहाया' [102] स्नान भी किया 'तव प्रभु ऋषिन्ह समेत नहाये'।। [103] और साथ रहे भी— 'उतरे तहँ मुनिवृंद समेता' [104] लगता है जब से रघुनाथ जी "निसिचरहीन करौं महि" [105] का हाथ उठाकर प्रण किया तो आज ही विश्राम का अवसर मिला। विश्राम का शयन में तो प्रयोग है ही—

"करि मुनि चरन सरोज प्रणामा।
आयसु पाई कीन्ह विश्रामा।।" [106]

जेहि सिसुपा पुनीत तरु रघुवर किय विश्रामु।।" [106(क)]
दशरथ जी के वचन से तो और यह भी स्पष्ट हो जाता है जब वे विश्राम की वात कहते हैं—

"लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे विश्राम गृहुँ रामचरन चितु लाइ।।" [107]

इसी प्रकार भरद्वाज के आश्रम में भी रात्रि विश्राम की बात है—

"राम कीन्ह विश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहि सिरु नाइ।।" [108]

निषाद राज भी भरत जी को अतर्यामी कृपायतन रामचंद्र के लिये उन्हें आश्वस्त कर निश्चित होकर विश्राम करने का अनुरोध करते हैं—

"चलिअ करिअ विश्रामु यह विचारि दृढ़ आनि मन।" [109]

भरत जी श्रद्धासिक्त भाव से उन सभी स्थलों को प्रणाम करते है जहाँ रामचन्द्र जी ने वन जाने के समय थोड़ा सा भी निवास किया क्योंकि भगवान के क्षणिक संसर्ग से भी वे स्थल तीर्थ हो गये-

"-जहँ-जहँ राम वास विश्रामा। तहँ-तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा।।" [110] भगवान अपने विश्राम स्थल बता रहे है-
"जहँ–जहँ कृपासिन्धु बन कीन्ह वास विश्राम।" [111]

---

९९— दोहावली १३६
१००— रामचरितमानस ७/५३/१
१०१— रामचरितमानस १/२१७
१०२— ,, ,, १/२१२/२
१०३— ,, ,, १/२१२/२
१०४— ,, ,, १/२१३/४
१०५— ,, ,, ३/९
१०६— ,, ,, १/२३८/५
१०६—(क) ,, ,, २/१९८
१०७— ,, ,, १/३५५
१०८— ,, ,, २/१०८
१०९— ,, ,, २/२०१
११०— ,, ,, २/२२१/८
१११— ,, ,, ६/११८/१

इसी शारीरिक विश्राम का भाव जनक जी के चित्रकूटयात्रा के समय भी परिलक्षित होता है जब उन्होंने रास्ते में भी विश्राम नहीं किया

"दुघरी साधि चले ततकाला । किए विश्रामु न मग महिपाला ॥" [12] जिस प्रकार जनक जी भगवान से मिलने के लिए विश्राम न कर सके उसी प्रकार हनूमान भी भगवत् कार्य निस्पन्न किये बिना मेनाक के अनुरोध पर भी कैसे विश्राम करते–

'राम काजु कीन्हें बिना मोहि कहाँ विश्राम'। [13] रामकाज के लिये खरा होना ही चाहिए " कहां विश्राम" का तो यह भी अर्थ हो सकता है कि प्रभुकाज में श्रम ही नहीं हुआ, अतः विश्राम की जरूरत ही क्या है ? इसी अर्थ में एक जगह "शिव-विश्राम विटप" का उल्लेख आया है। इस वृक्ष का प्रभाव है कि इसके तले विविध समीर की सुशीतल छाया रहती है और इसके नीचे शिव जी बैठकर विश्राम प्राप्त करते है।

'त्रिविध समीर सुशीतल छाया। शिव-विश्राम विटप श्रुति गाया ॥' [14] मानस पीयूस यहां विश्राम का अर्थ कथावार्ता ही मानता है क्योंकि महात्माओं के लिये विश्राम हैं। जैसे "करि भोजन मुनिवर विज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ।" [15]

"ऋषय संग रघुवंशमनि करि भोजनु विश्राम।" [16]

"एहि विधि कहत राम गुनग्रामा । पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।" [17]

"हर हिए राम चरित आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये।"

श्री रघुनाथ रूप उर आवा। परमानन्द अमित सुख पावा। [18]

लेकिन मानस में विश्राम के लिये शारीरिक सुख की अपेक्षा मानसिक शांति पर अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि मानस वस्तुतः मानस-रोग का निदान है। इसीलिये रामकथा उन्हे विश्राम प्रदान करेगा ही-

" बुध विश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलिकलुष विभंजनि।" [19]

विद्वान लोगों की शास्त्र–चर्चा एवं वाद–विवाद थकाने वाली चीज होती है। शुष्क तर्क से कभी भी शांति नहीं मिल सकती। इसीलिए रामजी ने गौतम को शापित किया था 'यः पठेत गौतमी विद्या नहि शान्तिमाप्नुयात्।" केवल मनुष्य की बात कौन कहे देवता सहित पृथ्वी के मन में जब भय शोक एवं संदेह आकाशवाणी के कारण दूर हुआ उन्हें भी मन का विश्राम तभी मिला।

"गये देव सब निज-निज धामा ।
भूमि सहित मन कहु विश्रामा।" [20]

मनः स्थिति अविश्रान्त रहती है तो फिर सुख नहीं हो सकता राम बन गमन से सम्पूर्ण अयोध्या के नर–नारी का शारीरिक सुख कुछ भी नहीं गया लेकिन फिर भी मानसिक क्लेश कितना था, यह सहज ही समझा जा सकता है जब राम उन्हें चित्रकूट से अयोध्या पुरी वापस जाने की प्रार्थना कर रहे हैं तो सारा समाज भयभीत हो उठता है, मानों समुद्र के बीच में ही जहाज डगमगा गया हो-

"रामवचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महु

---

११२– रामचरित मानस २/२७१/५
११३– बाल्मीकि ५/१, ५/१२ अध्यात्म रामायण ५/१/३३
११४– रामचरित मानस १/१०६/३
११५– ,, ,, १/२३७/५
११६– ,, ,, १/२१७
११७– ,, ,, ५/८ /२
११८– ,, ,, १/१११/७-८
११९– ,, ,, १,१३१,१५
१२०– ,, ,, १/१८८/१

विकल जहाजू । " 121
इसीलिये वशिष्ठ राम–दर्शन से प्राप्त विश्राम की प्रार्थना करते हैं ।
"लोग दुखित दिन दुई दरस देखि लहहुँ विश्राम । " 122
'कुशल'वाहर से एवं 'विश्राम' अन्दर से सम्बन्ध रखता है । राम–भक्ति के विना 'न कुशल है न विश्राम ।
"तव लगि कुशल न जीव कहुँ सपनेहुं मन विश्रांम । ' 123
यह ठीक है कि स्वाभाविक संतोप से ही विश्राम मिलता है — " कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष विनु । " 124 विना संतोष के काम का भी नाश नहीं हो सकता— 'विनु संतोष न काम न साहीं' । 125 और विना कामनाओ के त्याग के सुख कहाँ ? "काम अछत सुख सपनेहूं नाहीं ।" 126 और फिरे जीव अशांत एवं उद्विग्न रहता है— नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो ।" 127 माया ही मन है और मनोविकास ही ह्रास है, अतः दूसरे के ह्रास में माया पलटा खा गयी । काक भुशुण्डी प्रत्यक्ष देखी बातों को माया कैसे कह दें ? सौ कल्प के अनुभव को दो घड़ी का अनुभव कैसे स्वीकारें ? यही कारण है कि उन्हें करोड़ों प्रकार से मन को समझाने पर भी शाँति नहीं मिली— "कोटि भाँति समझावहुँ मनु न लहइ विश्राम । " 128 सचमुच यहाँ "तरकि न जाहिं बुद्धि मन वानी" वाली वात है और इसको सोचकर — "रामहिं भजहि तर्क सब त्यागी । 129 तजि कुतर्क संसय सकल, भजहु राम रघुवीर करुनाकर सुन्दर सुखद " 130 का आदेश दिया गया है । सबके द्रोह, 131 मोहवश 132, राम विमुख 133 और कामी कभी भी सुखी 134 नहीं रह सकते हैं, उन्हें स्वप्न में भी सम्पत्ति, सुमंगल एवं शान्ति संभव नहीं है–"

" ताहि कि संपत्ति सगुन सुभ सपनेहुँ मन विश्राम ।
भूत द्रोह रत मोहवस राम विमुख रति काम ।" 135

राम भक्ति केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु विश्व के लिए मंगलदायक है । इसीलिए रामजन्म का मंगलमय पावन अभिजित मुहूर्त्त सब के लिए भौतिक दृष्टि से "मध्य दिवस अति सीत न घामा" के कारण "पावन काल लोक विश्रामा ।" 136 माना गया । जग निवास का प्रकटना माया का पर्दा हटने पर ही संभव है । प्रभु के आविर्भाव का समय अखिल लोक को शांति प्रदान करने वाला है-

" सुर समूह विनती करि पहुँचे निज निज धाम ।
जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम ।।" 137

यही कारण है कि अखिल लोक विश्रामदायक होने के कारण

---

१२१-- रामचरित मानस २/३४९/ १
१२२– ,, ,, २/२४८
१२३– ,, ,, ५/४९
१२४– ,, ,, ७/८९
१२५– ,, ,, ७/९०/१
१२६– ,, ,, ७/९०/१
१२७– विनय पत्रिका ९१
१२८– रामचरित मानस ७/८२ ख
१२९– ,, ,, ६/८३/२
१३०-- ,, ,, ७/९०
१३१-- ,, ,, ५/३८/७ चौदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्टइ नहिं सोई
१३२– ,, ,, ७/४०
१३३– ,, ,, ६/१०४/१० राम विमुख अस हाल तुम्हारा ।।
१३४– ,, ,, ७/११२ कामी पुनि कि रहहिं अकलंका ।।
१३५– ,, ,, ६/७८
१३६– ,, ,, १/१९१/२
१३७– ,, ,, १/१९२

भगवान को सुखधाम सुख सिन्धु, सुखराशि आदि कहा गया है। सचमुच भगवान का आनन्द से आविर्भाव और आनन्द में ही तिरोभाव हो जाता है- आनन्द ध्येय खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जीवन्ति आनन्द प्रत्यभिसंविशन्ति।" राम का अर्थ है- आनन्दे में रमण। "रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानंदे चिदात्मनि।" इसीलिये वशिष्ट राम का नाम राम इसलिए रखते हैं कि वे अखिल लोक विश्रामदायक है— "जो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा" 138 उस सुख का लवलेश मात्र भी जिन्होंने एक बार भी स्वप्न में प्राप्त कर लिया है। उसके सामने ब्रह्म सुख भी व्यर्थ हो जाता है —

"सोई सुख लवलेश जिन्ह वारक सपनेहुँ लहेऊ।
ते नहिं गनहिं खगेश ब्रह्म सुखहि सज्जन सुमति।।" 139

किन्तु इस "विश्राम" को प्राप्त करने के लिए दो शर्तें हैं एक निषेधात्मक और दूसरा भावात्मक। निषेधात्मक रूप में कोई भी राम विमुख व्यक्ति चाहे वह बलि हो या रावण, जयंत हो या कैकेयी, विश्राम ही प्राप्त कर सकता है— "रघुपति विमुख जतन कर कोरी।
कवन सकइ भव बंधन छोरी।।" 140
"अंधकार बरु रविहिं नसावै।
राम विमुख न जीव सुख पावै।।" 141
हिम ते अनल प्रगट बरु होई।
विमुख राम सुख पाव न कोई। 142

यह स्वाभाविक भी है क्योंकि हमें यह विश्राम या शांति आत्मा में ही मिलता है। भगवान राम जगदात्मा हैं अतः आत्मा का जगदात्मा से विरोध किसी स्थिति में वाँछनीय नहीं। ऐसे व्यक्ति को विश्राम कहां?

"जगदात्मा प्रानपति रामा। तासु यिमुख किमि लहि विश्रामा।।" 143

विश्राम की भावात्मक शर्त है, राम-कृपा। काकभुसुण्डी गरुड़ से यही कहते हैं—"सुनेउँ पुनीत रामगुन ग्रामा। तुम्हरी कृपाँ लहेउँ विश्रामा।।" 144 भक्ति के लिए विश्वास चाहिए। विना विश्वास के भक्ति नहीं।

"भजत कृपा करिहैं रघुराई।" "विना विश्वास के भक्ति नहीं होती, विना भक्ति के राम द्रवीभूत नहीं होते और राम कृपा के विना स्वप्न में भी विश्राम नहीं होता-

"राम कृपा विनु सपनेहुँ जीव न लह विश्रामु।।" 145

माया की प्रचंड सेना संसार भर में छायी है। काम क्रोध और लोभ इसके सेनापति हैं और दंभ, कपट और पाखंड उसके योद्धा। वह माया रघुवीर की दासी है जो राम कृपा के विना नहीं छूटती—

"छूट न राम कृपा विन नाथ कहउँ पद रोपि।। 146

राम कृपा से तुलसी को "परम विश्राम" भी मिला—

"पायो परमु विश्राम राम समान प्रभु नाही कहूं।" 147

जिनके वचन कर्म और मन से भगवान की ही गति है और जो निष्काम भाव से उन्हें भजते हैं, उनके हृदय में भगवान का निवास रहता हैं। इसका अर्थ है, भक्ति के लिए निष्काम और अनन्यता अपेक्षित है ऐसे के लिए "मुकुति निरादहिं भगति लोभाने" कहा गया है। भक्ति योग वास्तव में आत्मा-परमात्मा का सच्चा शाश्वत योग है। इसीलिए भगवान का भक्त के हृदय में निवास स्वाभाविक ही है—

---

१३८— रामचरित मानस १/१९ ७/६
१३९— " " ७/८८
१४०— " " १।२००
१४१— " " ७।१२२।१६
१४२— " " ७।१२२।१०
१४३— " " ५।३४।६
१४४— " " ७।११५।७७
१४५— " " ७।९० (क)
१४६— " " ७।७१ (ख)
१४७— " " ७।१३०

"वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निष्काम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम ।।" 148

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि जब ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्व अन्तर्यामी है ही तो भक्ति से विशेष क्या लाभ ? वस्तुतः भक्ति के लाभ-नुकसान का हिसाब ही नहीं। "मुकुर मलिन अस नयन विहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना ।।" केवल "प्रभुता देहि, धन देहि, यशो देहि," आदि की रट लगाने [illegible] क्या विश्राम मिलेगा ? जब तक सकल कामना हीन होकर रामभक्ति में रसलीन नहीं होंगे तब तक विश्राम असंभव है। असल में हम राम का विश्वास न देख पाते है न समझ पाते हैं भगवान आकाश से लेकर पाताल तक एवं सातों लोकों में व्याप्त है-

"पद पाताल सीस अज धामा ।
अपर लोक अंग-अंग विश्रामा ।।" 149

भक्ति की प्रणति शरणागति में है, इसलिए शरणागत को स्वयं ही विश्राम मिल जाता है। भगवान को इसलिये "प्रनत विश्राम" 150 कहा गया है। बालि और विभीषण को 152 सालोक्य 153 शबरी का सायुज्य, जटायु 154 को सारूप्य एवं सालोक्य दोनों की प्राप्ति होती है। रावण के अत्याचार से सभी देवता "प्रणतपाल भगवंता" की शरण में गये और फिर सभी देवता, पृथ्वी एवं ब्रह्मा सहित सभी को "विश्राम" ही मिला-"भूमि सहित मन कहुँ विश्रामा ।" 155 यहां प्रश्न उठ सकता है कि "विश्राम" का उच्च से उच्च अर्थों में मोक्ष से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? मोक्ष को यदि "सरिता जल जलनिधि मँह जाई" के रूप में ससीम का असीम में पर्यवसान समझा जाय तो शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्मज्ञान और उसके फल में कार्यान्तर का अभाव माना जायेगा। फिर वेत्ता और वेद्य, जीवात्मा और परमात्मा, भक्त और भगवान का भेद कैसे रहेगा ? "भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु, चतुर्नाम बपु एक"। लेकिन जीव और ब्रह्म में द्वैत प्रमाणित किये बिना भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन कैसे होगा ? फिर ईशानुकंपा की भी कोई जरूरत नहीं। लेकिन यह तो अद्वैत की भूमिका है, भाव और भक्ति की नहीं। भक्ति के क्षेत्र में लौकिक जीवन के सुखों को पारलौकिक या आध्यात्मिक जीवन को आनन्द में पर्यवसान कर एक लोकोत्तर भाव भूमि का निर्माण करना पड़ता है। भक्ति में भगवान की भगवत्ता के साथ-साथ उनकी करुणामयता का समन्वय है। उसी प्रकार भक्त में समर्पण एवं भगवत-मति को ही उसका एक मात्र कर्त्तव्य एवं अभिनिवेश माना जाता है। तुलसी साहित्य में भक्ति और मुक्ति आमने-सामने हैं किन्तु भक्ति का इतना आकर्षण हैं कि उसके आगे मुक्ति का मूल्य भी कम हो जाता है " अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने।" 156 भरत को राम-भक्ति के सामने 'निर्वान' 157 सनकादि ऋषियों की समाधि 158 वशिष्ट जोग,जथा ब्रतदान' 159 भूल जाते

---

१४८– रामचरितमानस ३।१
१४९– ,, ,,
१५०– ,, ,,
१५१– ,, ,, ४।११।१
१५२– ,, ,, ६।११६
१५३– ,, ,, ३।३६
१५४– ,, ,, ३।३२
१५५– ,, ,, १।१८८।१
१५६– ,, ,, ७।११९
१५७– ,, ,, ७।१३०
१५८– ,, ,, ७।६४
१५९– ,, ,, ७।४८

हैं। भक्ति इस प्रकार सर्वोच्च जीवन मूल्य बन जाती है। मुक्ति तो स्वयं इसके पीछे दौड़ती है, अनइच्छित आवइ वरिआई। 160 उसे 'विश्राम' क्यों नहीं मिलेगा "तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम" 161। इसी कारण मानसकार को भी 'परम विश्रामु' 162 मिला और 'मानस' का उपसंहार भी राम भक्ति निरूपण से ही हुआ–

"श्रीमद् रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये "163 भाव और शब्द दोनों दृष्टियों से राम के बिना विश्राम संभव नहीं। 'विश्राम शब्द में भी 'राम' (वि:-राम) छिपा ही हुआ है।

भाव की दृष्टि से तो है ही। "राम बिनु विश्राम मूढ़! बिचारु लखि पायो कहीं "- इसीलिये कहा गया है। भगवान राम 'विश्रामहारी' तो हैं ही इसलिए भक्त कहता है- "सदा भवतु मे राम विश्रामेकं।" तुलसी के अनुसार मोक्ष दुखः के आत्यन्तिक निरोग को ही कहते हैं। जड़-चेतन की मृषा-ग्रन्थि के छूटने, देह जनित विकारों को त्यागने, जीव का आत्मावस्था में अनुराग, तुरीयावस्था की स्थिति और भय मूल भेद भावके विनाश से आत्मानुभव के सुख को ही मोक्ष कहा जाता है। अब भेदात्मक ज्ञान का आत्यन्तिक नाश हो जाता है तो ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है और यही मोक्ष है। तो यह भक्त की अवस्था भी परमानन्द और ब्रह्मानन्द की अवस्था है जिसे हम चाहें तो तुलसी के शब्दों में "परम विश्राम" भी कह सकते हैं। तो इस प्रकार "विश्राम" एवं "परम विश्राम" में हम भेद कर सकते हैं। चाहे मोक्ष–सुख हो या भक्ति, सबके लिए तुलसी रामकृपा को अनिवार्य मानते हैं-

"तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई ।
रहि न सकई हरि भगति बिहाई ॥" ७।११९।६

---

१६०– रामचरित मानस ७।११९।४
१६१– " " ३।१६
१६२– " " ७।१३०।३
१६३– " " ७। अन्तिम श्लोक

# मानवीय संप्रेषण–पद्धति का एक विश्लेषण

डॉ० मोतीलाल गुप्त

जोधपुर विश्वविद्यालय

हमारे सामाजिक जीवन में भाषिकी संप्रेषण एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्रिया है। सामाजिक ढाँचे को जोड़ने-तोड़ने में संप्रेषण सर्वदा सक्रिय रहता है: हमारे देश में तो इसके अनेक उदाहरण हैं। देश के कई प्रान्तों का निर्माण भाषिकी संप्रेषण के आधार पर हुआ है और अब भी, यदाकदा, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि को लेकर नई व्यवस्था की बातें कही जाती हैं। यद्यपि विचाराभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं परन्तु वाणी का प्रयोग अधिकाधिक सशक्त होता रहा है, और सप्रेषण–क्रिया में इसे प्रमुख स्थान दिया गया है। संप्रेषण का विश्लेषण, भारतीय विद्वानों द्वारा, प्रचुर मात्रा में हुआ है और यूरोप–अमेरिका के आधुनिक विद्वान भी इस प्रक्रिया की गुरुता से लाभान्वित हुए हैं।

मानवीय वाणी के दो पहलू हैं— (१) अभिव्यक्ति तथा (२) ग्रहण एक प्रकार से विचाराभिव्यक्ति और विचार–ग्रहण एक-ही क्रिया के दो पूरक अंग हैं। अभि–व्यक्ति यदि ग्रहण नहीं की जाती तो निरर्थक है, और बिना अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता। इन दोनों के बीच एक माध्यम का होना आवश्यक है क्योंकि यदि माध्यम नहीं होगा तो 'वक्ता' और 'श्रोता' के बीच संबन्ध स्थापना की कठिनाई होगी। वाक्य पर्याय में चार आधार माने गए हैं-इन्हें आधार चतुष्ट्य कहा गया है— (१) प्रयोक्ता अथवा वक्ता (२) ग्रहीता अथवा श्रोता, (३) अभिधेय अथवा प्रतिपाद्य और (४) ज्ञान अथवा शब्द ज्ञान। वाणी की सफलता हेतु आधार चतुष्टय आवश्यक है। भर्तृहरि ने इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी इसकी उपयुक्तता प्रतिपादित की है। उनका कहना है कि सर्व प्रथम 'इच्छा' का होना अनिवार्य है। अभिव्यक्ति का सूत्र इच्छा में ही स्थायित्व प्राप्त करता है। इच्छा के होने पर 'शब्द भावना' की उत्पत्ति होती है—मस्तिष्क में एक बेतरतीब वातावरण छा जाता है और उसमें चयन–क्रिया काम करती है और 'प्रयत्न' अनिवार्य हो जाता है। परिणाम स्वरूप कुछ निश्चय होता है और वाणी फूट पड़ती है जिसे हम उच्चारण कहते हैं। यह अभिव्यक्ति का एक क्रम हुआ जिसका संबन्ध 'वक्ता' अथवा 'प्रयोक्ता' से है। इसी के अनुरूप 'श्रोता' में दूसरा क्रम चलता है जिसका आरंभ श्रव्य वाणी से होता है जिसे 'नाद' कहा गया है। इससे 'स्फोट' की उत्पत्ति होती है। स्फोट पर भारतीय विद्वानों ने काफी विचार किया है जिसे विदेशी विद्वान फूट पड़ना, विकसित होना, स्पष्ट होना, निकल पड़ना आदि शब्दों से व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। स्फोट के द्वारा 'शब्द-ग्रहण' का कार्य सम्पन्न होता है और तदुपरान्त अभिव्यक्ति को 'स्वरूप' प्राप्त होता है जिसमें वांछनीय अर्थ की संप्राप्ति होती है।

भारतीय विद्वानों की एक धारणा यह भी रही है कि 'शब्द' 'ब्रह्म' है और विचाराभिव्यक्ति' 'आत्मा' से आरम्भ होकर 'आत्मा' तक पहुंचती है। वाणी और अर्थ का

शाश्वत संबंध तो बताया गया ही है, यहाँ तक कि महा कवि कालिदास ने भगवान शंकर और पार्वती की वंदना करते समय 'वागर्थाविव संपृक्तौ' का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय 'वाक्' और 'अर्थ' के सर्वदा संयुक्त रूप से है। परम्परा से वाणी का स्वरूप सप्ताधारीय बताया जाता रहा था—ईश्वर, माया, विंदु, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। भर्तृहरि ने इस पर अधिक वैज्ञानिक रूप से विचार किया और पिछले तीन आधारों पर विशेष बल दिया। कुछ लोगों ने तो भर्तृहरि के इस विश्लेषण पर यहाँ तक कह डाला कि चूँकि भर्तृहरि 'परा' में विश्वास नहीं करते अतः वे बौद्ध होंगे। 'परा' का संवन्ध आत्मा से है और वाणी का उद्‌गम पश्यन्ती स्तर पर अधिक स्पष्ट होता है जिसे मध्यमा और वैखरी समुचित आधार प्रदान करते हैं।

भारतीय विद्वानों ने एक और महत्वपूर्ण बात बताई। पाणिनि और भर्तृहरि इस बात पर एक मत हैं कि वाणी की इकाई 'वाक्य' है शब्द नहीं। शायद इसीलिए भर्तृहरि ने अपनी कृति को 'वाक्य पदीय' कहते हुए 'वाक्य' को प्रथम स्थान दिया है। शब्द, पदग्राम, ध्वनिग्राम तो वाक्य के विश्लेषित स्वरूप में प्राप्त होते हैं—वे अभिव्यक्ति की इकाई नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनसे अर्थ की प्राप्ति नहीं होती जो वाणी का साध्य होता है अर्थ की प्राप्ति तो वाक्य से ही होती है। मनुष्य 'शब्द' नहीं बोलता वाक्यों में बोलता है। शब्द तो उसकी अभिव्यक्ति क्रिया के लघु साधन मात्र हैं। भर्तृहरि इस बात को तो मानते हैं कि ध्वनिग्राम और शब्दों में कुछ अर्थ निहित रहता है परन्तु वह तभी स्पष्ट और कारगर हो पाता है जब वाक्य में उनका प्रकाशन होता है। जैसे—आकाश में बादल घुमड़ आते हैं उसी प्रकार अनेक शब्द एकत्र हो जाते हैं और 'प्रयत्न' इस बात का होता है कि शब्दों का यथोचित उपयोग किया जाये और इस उपयोग की स्पष्टि वाक्यों द्वारा होती है। उनका कहना है कि प्रमुख भाषिकी तथ्य पूर्ण वाक्य होता है—शब्दों का कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता वे तो केवल कुछ संकेत मात्र हैं जिनके अर्थ की सार्थकता तभी होती है जब उन्हें व्यवस्थित वाक्यों में पिरोया जाता है। आधुनिक विद्वान भी इस तथ्य को मानते हैं परन्तु उनमें से अनेक 'अर्थ' को दूर रखकर भाषा मात्र को विभिन्न स्तरों पर विश्लेषित करने की क्रिया करते हैं। परन्तु इधर 'अर्थ' का पक्ष प्रबल होता जा रहा है और भाषा को उससे दूर रखकर विश्लेषण-क्रिया की मान्यता कम होती जा रही है।

भारतीय विद्वानों—पाणिनि, भर्तृहरि, आदि ने वाणी का सम्यक् अनुशीलन किया और उसकी संप्रेषण-क्रिया पर समुचित प्रकाश डाला जो न केवल परम्परा के सुधरे हुए रूप का द्योतक है वरन् वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है और जिसकी उपयुक्तता आज का भाषिकी विद्वान् एवं ध्वनि-शास्त्री भी स्वीकार करता है।

# परमात्मा, भक्ति एवं भक्त

डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी

वी० एस० एस० डी० कालेज–कानपुर

इस संसार में जितने भी दर्शन हुए हैं, दार्शनिक एवं चिन्तक हुए हैं, सभी ने सत्य क्या हैं? वास्तविकता क्या है ? और हम एवं यह संसार क्या है ? इसकी खोज में महान श्रम किया है। सत्य की इस खोज के इतिहास की यात्रा बहुत लम्बी एवं सुदीर्घकाल व्यापी है जिसके विस्तृत वर्णन में में न जाकर, केवल यह बता देना चाहता हूं कि प्राचीन और नवीन दोनों युग की खोजों का निष्कर्ष यही है कि एक चेतन तत्त्व ही ऐसा है , जिसे सत् कहा जा सकता है, और जिसके अस्तित्त्व को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता है। यथा—

"कश्चिद् धीरः प्रत्यक् आत्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्" –(कठोपनिषद्)

"न चास्तिवेत्ता मम चित्सदाहम् ।" — (कैवल्योपनिषद्)

"सदेव सौम्य दमग्र आसीत्"— (छान्दोग्योपनिपद्)

यद्यपि 'नहिज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' ज्ञान के समान पवित्र और श्रेष्ठ इस संसार में कोई अन्य वस्तु नहीं है, तथापि जब कि बड़े—बड़े ज्ञानी पुरुष भी विनाशी नामरूपात्मक माया से आच्छादित तुम्हारे उस अमृत स्वरूपी परब्रह्म का वर्णन करते-करते अन्त में नेति-नेति कहने लगते हैं, और निरुपाय हो जाते हैं। तब हम लोगों के सदृश सामान्य जन को वह— ब्रह्म कैसे अनुभूति में आ सकता है। इसलिए हमें कोई ऐसा सरल उपाय चाहिए जिससे हमें गहन ज्ञान भी हो जाये, और परमात्मा का भी दर्शन हो जाय। गीता और कठोपनिषद आत्मज्ञान की कठिनता की ओर संकेत करते हैं—

'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येन वेदनचैव कश्चित् ॥'
गीता २।२९

"आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानु शिष्टः।" कठो० २।७

शङ्कर ने वे० सू० भा० में लिखा है कि बाष्कलि ने-बा से ब्रह्म के बारे में बार–बार पूछा पर वे चुप रहे। केनोपनिषद् कहता है कि 'वह मुँह बन्द करके बतलाया जा सकता है, आंखों से दिखायी न देने पर उसे देख सकते हैं और समझ में न आने पर वह ज्ञात होने लगता है। ब्रह्म ज्ञान के लिए ऐसी साधना अपेक्षित है कि सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में एक ही आत्मा प्रतीत होने लगे। ऐसी स्थिति प्राप्त करना सरल नहीं है। छान्दोग्योपनिषद में कथा हैं कि— 'श्वेतकेतु के पिता ने पुत्र के ब्रह्म से सृष्टि समझाने के लिए उदाहरण देकर कहा — बरगद का एक फल लो– देखो- इसके भीतर क्या है ? भीतर के लघु बीज को तोड़कर देखो क्या है ? कुछ नहीं। इसी कुछ नहीं से यह विशाल वृक्ष और इस प्रकार कुछ नहीं से विशाल विश्व है। अन्त में कहा है- 'श्रद्धस्य' यही विश्वास यही श्रद्धा भक्ति का मूल है-

मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के अधिक निकट है। ज्ञान चिन्तन एवं विचार पर आधारित होता है।– मस्तिष्क की दृढ़ और निरन्तर कसरत चाहता है। भक्ति प्रेम पर आधारित होती है।, जो हृदय की-स्वाभाविक प्रक्रिया है। शाण्डिल्य सूत्र कहता है-

"सापरानुरक्तिरीश्वरे' निरतिशय प्रेम।

यह भक्ति श्रीमद्‌भागवत के अनुसार-

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणपाद सेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्।"

जिस प्रकार संख्या गिनाने के लिए बच्चों को कंकड़ पत्थर आदि का सहारा लिया जाता है उसी प्रकार परमात्मा का बोध कराने के लिए लकड़ी, मिट्टी, पत्थर की मूर्ति का आश्रय लिया जाता है -

"अक्षरागमलब्धये यथास्थूल वर्तुलदृषत्परिग्रहः।

शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामर्याचनम्।।"

भक्ति मार्ग इसीलिए सभी के लिए सहज एवं सरल होता है। ज्ञान का मार्ग तो–

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।" (गीता।)

इसलिए प्रत्यक्ष एवं सरल मार्ग अपनी आध्यात्मिक उन्नति का भक्ति का है। देहेन्द्रिय धारी संसारी मनुष्य के लिए अव्यक्त गति को पाना अत्यन्त कठिन है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में दोनों मार्गों को आध्यात्मिक कहा है-

'गुह्यं अध्यात्मसंज्ञितम्।'

और इन दोनों मार्गों में अपनी प्राप्ति कही है। अपनी इस रुचि के अनुसार व्यक्ति मार्ग ग्रहण करता है। इन मार्गों में कोई उत्कृष्ट और कोई अनुत्कृष्ट नहीं है। दोनों समान आत्मिक विकास की पूर्णता पर पहुँचा देने वाले हैं। हां भक्ति मार्ग का पथिक मार्ग की भीषणता से आक्रान्त नहीं होता है। भक्ति मार्ग का पथिक तो- तू मेरी गति है। तू मेरा पोषण करती है। तू मेरा स्वामी है, तू मेरा साक्षी है, तू मेरा विश्राम स्थान है, तू मेरा अन्तिम आधार है, तू मेरा सखा है- इस प्रकार प्रेम पूर्वक लाड़प्यार से जिस स्वरूप का आकलन हो सकता है, ऐसे सत्य संकल्प, सकलैश्वर्य-सम्पन्न दयासागर, भक्तवत्सल, पवित्र, परम उदार, परम कारुणिक, परम पूज्य, सर्व सुन्दर, सकल गुण निधान, प्रेमगम्य, व्यक्त, प्रत्यक्ष रूप धारी सुलभ परमेश्वर के ही स्वरूप का सहारा मनुष्य भक्ति के लिए लिया करता है।

अर्जुन भी भगवान् की शरण का सहारा अन्त में लेता है। ज्ञान विज्ञान की महान बातें सुनकर वह कहता है—

"मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्,

यत्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतोमम्।

एवमेतद्यथात्थवात्मानं परमेश्वर,

द्रष्टुमिच्छामितेरूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।"

भगवान कृपा कर कहते हैं—

"पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।"

यद्यपि परमात्मा अजन्मा निराकार और निर्गुण भी है, फिर भी—

"अजोऽपिसन्नव्ययात्मामूतानामीश्वरोऽपिसन्।

प्रकृतिस्वामधिष्ठायसंभवाभ्यात्ममायया।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

दर्शयामासपार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।'

भगवान के दिव्य रूप को ही देखकर महापुरुष अर्जुन कहता है—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातन स्त्वं पुरुषो मतो मे।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।

महात्मा अर्जुन इस प्रकार अपने समक्ष प्रकट भगवान की स्तुति करता है। वह भगवान के दिव्य स्वरूप एवं दिव्य कर्मों को जानता है। उसे भगवान की कृपा से, अनुग्रह से दिव्य दृष्टि एवं दिव्य बुद्धिप्राप्त हुई है। नहीं तो जैसा कि भगवान का स्वयं का कहना है—

अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीतनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो ममभूत महेश्वरम्।।

किन्तु महात्मा पुरुष—

"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः
भजन्त्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादिमव्ययम् ।।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्चदृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्चमां भक्तयानित्ययुक्ताउपासते ।।
अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इतिमत्वाभजन्ते मां बुधाः भाव समन्विताः ।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणाबोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मा नित्यं तुष्यन्तिचरमन्तिच ।
तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।।
ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते ।
तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः ।।
नाशयाम्यातमभावस्थ. ज्ञान दीपेन भास्वता ।"

इसलिए वे १८ वें अध्याय में स्पष्ट कहते हैं—

"सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्योमोक्षयिष्यामि मा शुचः ।"

जिस प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला शोक मोह से परे हों जाता है, उसी प्रकार भक्त भी—

ब्रह्म भूतः प्रसन्नात्मानशोचति कांक्षति ।
समः सर्वेषुभूतेषुमद्भक्तिं लभते पराम् ।।
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।
चेतसासर्वकर्माणि मयिसन्यस्य मत्परेः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादातरिष्यति ।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।।

अतः—

तमेवशरणंगच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात्पराशन्तिं स्थानं प्राप्स्यस्यसिशाश्वतम् ।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं तें प्रतिजाने प्रियोऽसिद्धे ।। ७

# सर्व धर्म समन्वय और मानववाद

**प्रो० संगमलाल पाण्डेय**

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सभी धर्मों के समन्वय के कई सिद्धांत प्रचलित हैं। एक सिद्धांत यह है कि प्रत्येक धर्म की अपनी उपासना-पद्धति है और सभी उपासना-पद्धतियाँ अपने में पूर्ण हैं। दूसरा सिद्धांत यह है कि प्रत्येक धर्म में एक ही परमात्मा का वर्णन है अर्थात् प्रत्येक धर्म का लक्ष्य एक ही है और वह भगवत्प्राप्ति है। तीसरा सिद्धांत यह है कि प्रत्येक धर्म सामान्य मानव धर्म को, विशेषतः सार्वभौम नैतिकता को विकसित करता है और इस कारण सभी धर्म समन्वय योग्य हैं। चौथा सिद्धांत यह है कि प्रत्येक धर्म एक विशेष देश, काल तथा पात्र और उनके समाज, संस्कृति तथा भाषा से सम्बन्धित है और इस कारण उनका एक और विशिष्ट महत्त्व है तो दूसरी ओर वे लोकधर्म को संतुष्ट करते हैं। इन सभी सिद्धान्तों का स्पष्ट विरोध इस मत से है कि कोई धर्म अन्य धर्म से उत्कृष्टतर नहीं है। जो लोग मानते हैं कि उनका धर्म अन्य धर्मों से उत्कृष्टतर है ये सब धर्म समन्वय के विरोधी हैं और वास्तव में वे अन्ततोगत्वा कट्टर पंथी हो जाते हैं और इस प्रकार धर्ममात्र के शत्रु हो जाते हैं। कारण, कोई धर्म किसी प्रकार का विद्वेष या किसी प्रकार की हिंसा की शिक्षा नहीं देता है। यही कारण है कि महात्मा गान्धी ने सभी धर्मों को समान माना है और उन्होंने सर्वधर्म समन्वय के स्थान पर सर्व धर्म समभाव की शिक्षा दी है। उनका तात्पर्य है कि सभी धर्मों का समान भाव से आदर करना चाहिए। अनेक धर्मों और अनेक संस्कृतियों के इस लोक में ऐसा न मानना हिंसा का वरण करना है। अतएव वर्तमान जगत की विभिन्नता में विराजमान एकता को देखते हुए सर्व धर्म समभाव बीसवीं शती की एक विशिष्ट देन है। कम से कम इस शती ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोई धर्म अन्य धर्मों से श्रेष्ठतर नहीं है। सभी धर्मावलंबियों को आपसी प्रेम में रहना है। वैदिक ऋषियों की यह प्रार्थना कि हम सभी एक साथ भोजन करें, एक साथ कार्य करें, एक साथ ज्ञान प्राप्त करें और किसी से विद्वेष न करें और हम सब मिलकर अपनी रक्षा करें, आज का सत्य है।

पुनश्च सभी धर्मों के अनुशीलन से पता चलता है कि उनमें किसी एक मानवीय सम्बन्ध पर विशेष बल दिया गया है। उदाहरण के लिए यहूदी धर्म ने पिता पर अधिक बल दिया है तो मसीही धर्म ने पुत्र पर। यहूदी धर्म भगवान् को पिता या परम पिता मानता है और पितृभावना को मानवता का आधार मानता है। मसीही धर्म इस परम पिता का खंडन नहीं करता किन्तु वह उसके पुत्र को अधिक महत्व देता है। जेसस क्राइस्ट भगवान् के पुत्र हैं। उनका त्यागमय जीवन योग्य और भगवद्भक्त पुत्र का त्यागमय जीवन है जो मानवता का आदर्श है। इस्लाम मत भगवान् के दूत को अधिक महत्व देता है, मुहम्मद साहब भगवान् के दूत हैं, वे भगवान् का संदेश लाये हैं और उस संदेश पर आचरण करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। शाक्तमत में और आदिम

जन जातियों के मत में भगवान् को माता के रूप में माना गया है और मातृदेवी की उपासना को मानवमात्र का कर्त्तव्य निश्चित किया गया है। बौद्ध धर्म में उस गुरू को जिससे ज्ञान प्राप्त किया है विशेष महत्त्व दिया गया है' जैन धर्म में मुनि या साधक को आदर्श मानव माना गया है। पौराणिक हिन्दू धर्म में वेदव्यास और पुराण-वक्ता व्यास को महत्त्व दिया गया है जिन्होंने धर्म का मन्थन किया और अनुभव तथा मिलन के एकात्मभाव को पहचाना। वैष्णवों ने राम और कृष्ण को क्रमशः धर्म-विग्रह और धर्म के रक्षक के रूप में स्वीकार किया। उनके मत से इनके चरित्र में समस्त मानवीय सम्बन्धों के आदर्श की पूर्ति हुई है। सनातन हिन्दू में पिता के रूप में ब्रह्मा या प्रजापति या भगवान् शंकर की उपासना होती है, माता के रूप में पार्वती की पूजा की जाती है, पुत्र के रूप में कहीं कार्तिकेय की तो कहीं गणेश की आराधना होती है, गुरू के रूप में श्रीकृष्ण की या व्यास की पूजा होती है. आदर्श मानव के रूप में राम को पूज्य माना जाता है और दूत के रूप में हनुमान को प्रतिष्ठित किया गया है। अपने लम्बे इतिहास में सनातन हिन्दू धर्म ने सभी प्रकार के मानवीय सम्बन्धों पर बल दिया है और मानव जीवन को समृद्ध करने वाले समस्त संवन्धों को धार्मिक महत्त्व प्रदान किया है। इस प्रकार सनातन हिन्दू धर्म सभी धर्मों में समन्वय, ऐक्य या समभाव का मूर्तिमान् रूप है। इसने धर्म के रूप को जितना उजागर किया है उतना अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होता है। इस प्रकार हम निम्नलिखित मंगलाष्टक में सभी धर्मों का समभाव करते हैं और इसे सनातन हिन्दू धर्म का सार मानते हैं—

मङ्गलं भगवान्वेदो मङ्गलं विधिशासनम्।
मङ्गलं भगवांश्छिष्यो मङ्गलं शैक्षपद्धतिः ॥१॥
मङ्गलं भगवान् बुद्धो मङ्गलं श्रुतदेशना।
मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं श्रुतसाधना ॥२॥
मङ्गलं भगवांस्तातो मङ्गलं पितृभावना।
मङ्गलं भगवान्पुत्रो मङ्गलं त्याग जीवनम् ॥३॥
मङ्गलं भगवान्दूतो मङ्गलं श्रुतनोदना।
मङ्गलं भगवान्व्यासो मङ्गलं धर्ममन्थनम् ॥४॥
मङ्गलं भगवान् रामो मङ्गलं धर्मविग्रहः।
मङ्गलं भगवान् कृष्णो मङ्गलं धर्मरक्षणम् ॥५॥
मङ्गलं भगवान् साधु मङ्गलं धर्म पालनम्।
मङ्गलं भगवान् धर्मो मङ्गलं धर्मसङ्गमः ॥६॥
मङ्गलं सच्चिदानन्दो मङ्गलं स्वात्मदर्शनम।
मङ्गलं लोक मर्यादा मङ्गलं लोकसंग्रहः ॥७॥
मङ्गलं भारतं वर्षं मङ्गलं तस्य संस्कृतिः।
करोति सङ्गमश्चेत्थं सर्वं धर्मं समन्वयम् ॥८॥

इन श्लोकों की व्याख्या न करके हम यहाँ केवल इतना कहना चाहते हैं कि सभी धर्मों का समन्वय करना विविध मानवीय सम्बन्धों का संरक्षण करना है और मनुष्य के विविध आपायों पर वल देना है। सर्वधर्म समन्वय ही सच्चे मानववाद का प्रमुखतम सिद्धान्त है। जो सर्वधर्मसमन्वय को नहीं मानता वह वस्तुतः मानव-वादी नहीं है। वह मानव की वहुमुखी प्रतिभा को न मानकर उसे एकमुखी मानता है। इस कारण वह मानव को समृद्ध न करके उसे हीनतर वनाता है।

सर्वधर्मसमन्वय को मैं भारतीय संस्कृति की विशिष्ट देन मानता हूं। भारतीय संस्कृति की चार शक्तियाँ उल्लेख योग्य हैं—१. गुरुशक्ति, २ भाषाशक्ति, ३. मनुष्यशक्ति और ४ देशशक्ति। इन्हीं शक्तियों को देशशक्तिचतुष्टयम् नामक ग्रंथ में मैंने विस्तार से निरूपित किया है। इन शक्तियों के प्रभाव के रूप में ही सनातन हिन्दू धर्म में सभी धर्मों का समन्वय हो गया है। यही कारण है कि धार्मिक स्वतन्त्रता और धार्मिक सहिष्णुता जितनी भारत में है उतनी आज भी किसी देश में नहीं है। हमें भारत को इस विशिष्टता को बनाये रखना है। भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रभाव के कारण ही बीसवीं शती में सर्वधर्म-समन्वय को एक अनिवार्य सिद्धान्त मान लिया गया है।

स्पष्ट है कि ऐसा सर्वधर्मसमन्वय इहलोकवाद या मत-निरपेक्षता से सम्बन्धित है क्योंकि इहलोकवादी भी धर्म के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आयामों को मानता है। वस्तुतः धर्म को शुद्ध और यथार्थ रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता है। साधु-संत इस धर्म के पालन में लगे हैं वे आदर्श मामव हैं और उनसे मानवता का वैसे ही कल्याण होता है जैसे सुवृष्टि से। इस कारण मानवीय सम्बन्धों को सुनिश्चित और सुव्यवस्थित करने में उनकी बहुत बड़ी भूमिका है। ऊपर संस्कृत में जो मंगलाष्टक वर्णित है उसमें इसी कारण साधु को भी भगवान् माना गया है।

# साम्यवाद या कर्मवाद

## डॉ० ओ० पी० मिश्र, खीरी

समस्त ज्ञान और विज्ञान का उद्देश्य मनुष्य को अंधकार से प्रकाश, असत् से सत् और भंगुरता से अमरत्व की ओर ले जाना है। साहित्य, प्राकृतिक विज्ञान तथा मानविकी का केन्द्र–विन्दु मनुष्य और केवल मनुष्य है। साहित्य चाहे वह किसी देश, काल या भाषा का हो, मनुष्य के हृदय तथा आत्मा का उन्नयन (Elevation-of soul) करने में संलग्न रहा है। प्राकृतिक विज्ञान (रसायन शास्त्र, भौतिकी, वनस्पति शास्त्र, भूगर्भशास्त्र) का ध्येय यही रहा है कि मनुष्य विविध खाद्य और पेय से सम्पन्न हो, तथा वह पानी में मछली जैसा और व्योम में पखेरू जैसा उड़कर स्वतंत्रता का सम्यक् उपभोग कर सके। विज्ञान ने उसे जो शक्ति प्रदान की है- वह ईश्वर प्रदत्त है क्योंकि "मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिं।" विज्ञान से भी संभव हुआ है, ईश अनुकम्पा से तो वह सम्भव रहा ही है। मानविकी, मानव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, क्रियाकलापों का अध्ययन है और वह भी उसे निरन्तर वर्द्धोन्मुख वनाती है। मानविकी के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र का प्रयास रहा है कि वे मनुष्य को आजादी तथा रोटी की व्यवस्था कर सकें। इसी प्रयास के परिणाम स्वरूप, सामंतवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद तथा सर्वोदय का अस्तित्व हमारे सामने आया है।

पूँजीवाद का सूर्य जब अस्ताचल गामी हो गया तब समाजवाद एवं साम्यवाद का बालरवि झांका यद्यपि पूँजीवाद के चिह्न अब भी शेष हैं। समाजवाद का विकसित रूप है– साम्यवाद, जिसके प्रतिपादन तथा विवेचन का श्रेय काल मार्क्स (१८१८– १८८३) को प्राप्त है। उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific sociolism) अथवा साम्यवाद (Communism) का विश्लेषण अपने अनेक ग्रन्थों तथा भाषणों में किया जिसमें साम्यवादी घोषणापत्र (The communist Manifesto) तथा पूँजी (Das Capital) उल्लेख्य है। साम्यवाद उस समाज की कल्पना करता है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था नहीं होगी तथा उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व और नियंत्रण होगा। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जायेगा और उसकी आवश्यकतानुसार दिया जायेगा (From each according to his capacity and to each according to his need) परिणामत: समाज वर्ग हीन होगा और इसमें सम्पन्न और विपन्न की विषमता नहीं होगी एवं श्रम और पूँजी के बीच घर्षण नहीं होगा। कार्ल मार्क्स के मतानुसार उक्त समाज शोषण रहित होगा क्योकि उसमें ('M-C-M' (Money-Commodity-More money) का समीकरण काम करना बंद कर देगा।

साम्यवाद लाने का प्रयास सर्वप्रथम रूस में बोलशेविक क्रान्ति, 1917 से प्रारम्भ हुआ। जार शासकों तथा शोषकों की समाप्ति हुई तथा व्यक्ति के स्थान पर समाज को वरीयता प्रदान की गई है। आर्थिक नियोजन के माध्यम से, गरीबी, भुखमरी, विषमता, बीमारी, तथा

विवशता, के भूतों को वशीभूत करने का प्रयास प्रारम्भ किया गया। इसी उत्साह में मुद्रा के उन्मूलन का भी यत्न किया गया क्योंकि इसे ही शोषण तथा समस्त बुराइयों का मूल समझा गया। रूस का साम्यवादी दल साम्यवाद लाने के लिये जी जान से जुटा रहा। आज ६ दशकों के बाद भी रूस में मार्क्स का साम्यवाद नहीं आ सका है। वहाँ न तो " सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद" स्थापित हुआ है और न "राज्य का लोप" हुआ है।ऊँच-नीच का व्यवहार अब भी है और वह विभिन्न रूपों में प्रकट हुए बिना नहीं रहता।

रूस की भांति चीन, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, हंगरी आदि देशों में भी साम्यवाद को और भी अधिक विकसित तथा व्यवहृत करने का प्रयास किया गया किन्तु वहां भी साम्यवाद सम्भावित सफलता नहीं प्राप्त कर सका स्वयं भारत में साम्यवादी दलों ने भी ऐसा ही प्रयास किया किन्तु अनेक आन्तरिक संघर्षों एवं वाह्य अवरोधों के कारण हमारे देश में साम्यवाद का पौधा जड़ें नहीं पकड़ सका

साम्यवाद अपने दर्शन एवं संदेश में बड़ा प्रलोभक, मोहक एवं स्वप्निल है किन्तु यथार्थ में वह रोटी तो जुटा देता है किन्तु आजादी को खतरे में डालता है। इस राजनीतिक- आर्थिक पद्धति में समष्टि की बलि-वेदी पर व्यष्टि की आहुति दे दी जाती है। यही कारण है कि साम्य वादी देश में व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं गरिमा आहत हुई है और पूंजीवादी क्षेत्रों में इन्हे जेल की संज्ञा देने में भी संकोच नहीं किया गया है। आजादी के अभाव में साहित्य, संगीत, कला और दर्शन का जो उत्कर्ष होना चाहिए था वह इन देशों में नहीं हुआ। यदा-कदा तो इन देशों में उन साहित्यकारों को दंड़ित या निर्वासित किया गया जिन्होंने अपनी कृतियों में साम्यवादी रीति-नीति की आलोचना करते हुये अपनी स्वतंत्र अस्मिता का परिचय दिया।

कर्मवाद साम्यवाद से कहीं अधिक पुराना संदेश है हमारे वेदों, पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में कर्मवाद की जो प्रतिष्ठा की गई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यजुर्वेद की अग्र-लिखित ऋचाएँ इसका प्रमाण हैं–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।"

— ४० वां अध्याय

अर्थात् कर्म करते हुए हम १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करे।

इन्द्र इच्चरतः सखा।" - अर्थात् ईश्वर उद्यमी की सहायता करता है अथवा ईश्वर कर्मशील का मित्र है।

विश्व के अन्य ग्रन्थों में दीर्घजीवी होने की कामना है है तथा नुस्खे भी जुटाये गये हैं किन्तु कर्म करते हुए शतायु होने की अभिलाषा जो हमारे उक्त वेद में की गई है, वह अप्रतिम है। अवस्था से अधिक कर्म पर बल हमारी भारतीय संस्कृति की अन्यतम विशेषता है। कर्म या पौरुष के चमत्कार को इस वेद में अनेक ढंग से व्यंजित किया गया है कर्म और जय के मध्य विज्ञान जैसे कारण और परिणाम के सम्बन्ध को स्थापित करते हुए एक ऋचा इस प्रकार है।

"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।"

अर्थात् कर्म मेरे दाये हाथ में है तो विजय बाएँ हाथ में। इस प्रकार कर्म के जादुई प्रभाव का चित्रण कर्म करते हुए सतत आगे बढ़ाने की सशक्त भूमिका है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त श्रीमद् भगवद् गीता हमारे साहित्य, संस्कृति और दर्शन का मर्म है। गीता में तो आदि से अन्त तक पलायनवाद की निन्दा करते हुए कर्म वाद की स्तुति की गई है। रण स्थल में अर्जुन को शस्त्र त्याग से विमुख कर उसे अन्यायियों तथा अत्याचारियों से युद्ध रत होने के लिए प्रेरित किया गया है—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्र हृदय दौर्बल्ययं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

इसलिये " हे अर्जुन ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ता। हे परंतप! हृदय को तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिये खड़ा हो जा।" गीता में कर्म की महत्ता के साथ इसे जो सात्विकता प्रदान की गई है वह कर्म का अध्यात्मीकरण (Spiritualization) है। इस ग्रन्थ में कर्म को फल से न जोड़ कर कर्म के महत्व को एक नया आयाम दिया गया है।

गीता के दूसरे अध्याय का अग्रलिखित श्लोक प्रेरणा और प्रकाश का पुंज है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि ॥

अर्थात् तेरा कर्म में अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के फल तथा कर्म न करने में भी आसक्त न हो।

वेदों, पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में कर्मवाद की जो विवेचना भौतिक तथा आध्यात्मिक स्तर से की गई हैं वह आज भी प्रासंगिक, प्रेरक और फलप्रद है।

हिन्दी साहित्य के रस सिद्ध कवियों तथा साहित्यकारों ने भी विश्व को एक कर्मस्थल मानकर अधिक से अधिक कर्म करने तथा वल संचयन की संस्तुति की है। सुप्रसिद्ध महाकवि एवं नाटक कार स्व० जय शंकर प्रसाद ने लिखा—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्व कर्म रंगस्थल है।
है परम्परा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना वल है ॥
— कामायनी (कामसर्ग)

बिना कर्म करते हुए फल की प्राप्ति शोषण, बुराई, अपराध और पाप है। आज विश्व के लगभग सभी देशों में जो धनिकों और निर्धनों के बीच अन्तर और वैमनस्य बढ़ रहा हें वह इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और भक्ति को कर्म की तुलना में अधिक महत्व देने से रिक्तता, अंधविश्वास और पाखण्ड का आतंक फैला है

उक्त कर्मवाद पर आचरण कर विश्व के पूँजीवादी, समाजवादी, और मिश्रित अर्थव्यवस्था के देश रोटी और आजादी दोनों एक साथ प्राप्त कर सकते हैं। रोटी और आजादी का सह अस्तित्व साम्यवाद में यदि असम्भव है तो कर्मवाद में यह सहज परिणाम है।

भारत के संदर्भ में कर्मवाद, हमारी आर्थिक विषमता, सामाजिक विश्रृंखलता, राजनीतिक स्खलन और वौद्धिक अप्रतिवद्धता एवं स्तर हीनता का समाधान है। यदि हम सब कर्म करते हुए अपनी जीविका कमाएँ और जीवन जिएँ तो कोई कारण नही कि हम पुनः अपराजेय, आत्म निर्भर और आत्म विश्वासी न हो सकें।

# गोस्वामी तुलसीदास का समाज दर्शन

डाँ० निशानाथ दीक्षित, उन्नाव

भारतीय समाज दर्शन पर धर्म का शाश्वत अनुशासन रहा है। जीवन व्यापार की विविध शिरायें यहाँ की धरती में सतत धर्मानुकूल रही हैं। धर्म की यह मान्यता जीवन की व्यष्टि व समष्टि दोनों क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित करती रही है। कभी कभी यह भी देखा गया है कि धर्म की यह मान्यता रूढ़ि में परिवर्तित होकर कालांतर में धर्म के स्वस्थ स्वरूप को कुण्ठित भी करती रही है। इस रूढ़िगत भावना के कारण हमारा धार्मिक दृष्टिकोण समय समय पर एक देशीय हो गया है जिसके कारण जीवन की गति में अनियमन उत्पन्न हुआ है। भारत की ऋषि परम्परा में जीवन की सम्यक अनुभूति व अभिव्यक्ति के हेतु अनेक संस्पर्श प्रस्तुत किये हैं। इन्हीं संस्पर्शों में से किसी एक की अतिशय उपासना ही समय समय पर विकृति का कारण बनती रही है जिससे जीवन का संतुलन बिगड़ा है समाज ने इन विकृतियों को परखा भी है और उनका संशोधन व परिमार्जन भी हुआ है और जीवन को पुनः स्वस्थ व संतुलित दृष्टि बिंदु प्राप्त हुआ है। यह व्यवस्था सामान्यतः एक प्रकार से सामंजस्य विधान के रूप में ग्रहण की गई है आर्य संस्कृति के आदि प्रणेता महर्षि वेदव्यास, प्रबुद्ध चेतना के प्रेरक भगवान गौतम व धर्म की रागात्मक अनुभूति के संचालक गोस्वामी तुलसी दास जी सांस्कृतिक समन्वय साधना के मूल विधायकों में स्वीकृत हैं। इन महान विभूतियों ने स्खलित मानव जीवन को धर्म का सबल सम्बल प्रदान किया है

जीवन की गति अनेक मार्गी है जो प्रायः रूढ़ि अथवा परम्परा द्वारा अपना गंतव्य निर्धारित करती है। इन सभी मार्गों के अपने पृथक् अनुशासन हैं जिन्हें हम धर्म का आंशिक स्वरूप कह सकते हैं। इनमें से किसी एक की अवहेलना धर्म का आँशिक ह्रास है हमारा दैनिक जीवन उक्त धार्मिक व सामाजिक धमनियों द्वारा संचरित होता है। जैसे राजतंत्र शास्त्रतंत्र व लोकतंत्र, यह सभी तंत्र अपनी मान्यताओं द्वारा जीवन के लक्ष्य का निर्धारण करते हैं। सामान्यतः इनका संस्पर्श आदर्श परक है पर व्यवहार की धरती में इनके मध्य सामंजस्य का अभाव है। और इसी हेतु सामाजिक अथवा वैयक्तिक धरातल पर जीवन के चरण सदैव सम न होकर विषम भी हो जाते हैं। सामाजिक एवं वैयक्तिक धरातल पर विचार वैषम्य का प्रारम्भ ऐसी ही स्थिति में होता है। महर्षि वेदव्यास, गौतम बुद्ध व गोस्वामी तुलसीदास प्रभृति विभूतियों की यही देन है कि उन्होंने इस विचार वैषम्य के मध्य सामंजस्य की सृष्टि की है जिसके द्वारा युग धर्म को मर्यादा प्राप्त हुई है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गोस्वामी जी का युग सर्वाधिक विचार वैषम्य का युग रहा है। उन तक आते आते भारत का धार्मिक वातावरण नाना प्रकार की मान्यताओं से प्रभावित हो चुका था। सांप्रदायिक आग्रह हठवादिता की कोटि तक पहुँच चुका था। पर इस प्रकार का आग्रह सत्याश्रित ही नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने समाज का जो स्वरूप देखा था वह सांस्कृतिक दृष्टि से असन्तुलित, धार्मिक दृष्टि से भ्रमित व सामाजिक दृष्टि से स्खलित था। गौतम बुद्ध व गोस्वामी तुलसीदास जी के

मध्य प्राय: दो हजार वर्षों का अन्तर है। इस दीर्घ काल के अन्तर में भारतीय जन जीवन को अनेक महापुरुषों ने प्रभावित किया है। उनमें से प्राय: सभी का जीवन विषयक दृष्टिकोण एक देशीय था। गोस्वामी तुलसीदास उस श्रंखला के प्रथम व्यक्ति हैं। जिन्होंने जीवन की सम्पकता को सम्यक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। अतीत वर्तमान व भविष्य के मध्य एकसूत्रता की योजना द्वारा उन्होंने जीवन की परम्परागत अखंडता का अत्यन्त सजीव चित्र अंकित किया है यह दृष्टिकोण ही उनके सामाजिक संगठन का आधार है।

गोस्वामी तुलसीदास जी का समाज केवल सचल आकृतियों का ही समाज नहीं हैं। उनकी भावभूमि में जन्म लेकर विकास पाने वाले प्राणी आचरण की विशेष-ताओं द्वारा ही जीवन की नानागतियों में मानव स्वरूप की यथार्थ व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। साथ ही उन्होंने विधि और निषेध के रसात्मक परिचय द्वारा ऐसे सामाजिक धरातल की प्रतिष्ठा भी की है जिसकी स्थापना के हेतु मानव आदिकाल से संघर्ष करता आया है। ऐसे ही मानव जीवन व मानव समाज की परिकल्पना गोस्वामी जी ने की है। एक वाक्य में,गोस्वामी जी का काव्य मानवता की सम्यक अभिव्यक्ति का काव्य है। मानव के प्रति असीम समवेदना उनके काव्य का मर्म है। उनकी यह प्रसारमयी रागात्मक पुनीत अनुभूति मानव बंधुत्व तक ही सीमित न रहकर नर नारायण के मध्य सम्बंध भावना की सृष्टि करने में सफल सिद्ध हुयी।

मनुष्य एक ओर अकिंचनता से दलित है और दूसरी ओर वैभव विभूति के अंहकार में चूर्ण। माया की इसी विडम्बना ने मानव को त्रस्त कर रखा है। संतवाणी के अनुसार इस व्याधि का त्राण एक मात्र ईश्वर की शरण ही है। प्रकृति से गुण दोष समन्वित मनुष्य ईश्वर की कृपा का अभिलाषी अवश्य है। मनुष्य की सद्वृत्तियां उसे प्रभु की ओर प्रेरित करती हैं और असद् वृत्तियां उसे भ्रम में भी डालती हैं। गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में ऐसे ही अनेक स्वरूप विकसित हुए हैं। जो व्यक्ति समाज का मार्गदर्शन करते है। इन्हीं व्यक्तियों से समाज का निर्माण होता है और व्यक्तिगत प्रवृत्तियां ही लोक प्रवृत्तियों का रूप ग्रहण करती हैं। इसी कारण मानस कार गोस्वामी तुलसीदास ने व्यष्टि और समष्टि की मान्यताओं को समान रूप मे ही स्वीकार किया है। व्यष्टि की मर्यादा ही अन्ततोगत्वा समष्टि की मर्यादा बनती है, यही गोस्वामी जी का सामाजिक मापदण्ड है।

मानसकार गोस्वामी जी ने इसीलिए लोकमर्यादा व व्यष्टि मर्यादा के संगठन हेतु एक प्रकार की आधार शिला की प्रतिष्ठा की है। कैकेयी को दिये गये वचनों के पालन द्वारा महाराज दशरथ ने अपने लिये व अपने पुत्रों के लिये तथा व्यापक रूप से सम्पूर्ण अयोध्या के लिए अत्यन्त विषम परिस्थित उत्पन्न कर दी है। दम्पति के एकान्त व्यापार ने कैसी दारुण परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, यह विचारणीय व चिन्त्य है। इस घटना ने धर्म की जटिल कसौटी प्रस्तुत कर दी। राम, भरत, लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता, कौशल्या व महाराज दशरथ इस घटना चक्र से विशेष प्रभावित हुए हैं। राम काव्य की यह विशेषता है कि यह सभी पात्र अपने को समाज- सापेक्ष मानते हैं। सर्वाधिक विषम परिस्थिति भरत के सम्मुख है भरत के निकट राजपद ग्रहण धर्म सम्मत है अथवा धर्म विमुख? इस प्रसंग को जिस सर्वांगीण दृष्टि बिन्दु से गोस्वामी जी ने ग्रहण किया है, राम काव्य के अन्य ग्रन्थों में उसका ऐसा समीक्षात्मक स्वरूप विकसित नहीं हुआ। अयोध्या की इस राजनीतिक उलझन के अन्तर्गत पारिवारिक जीवन की दुरभिसन्धि की भावना भी निहित है। नीति व शास्त्र के विधान का निर्देश भी उसमें आरोपित है और लोकमत की प्रतिक्रिया भी। भरत के निकट इन सामाजिक समस्याओं के साथ–साथ राम के प्रति उनके हृदय की आत्मीय भावना भी अपना स्थान रखती है।

सीता और लक्ष्मण सहित राम वन चले गये हैं। शोक, वियोग व ग्लानि के भार से दबकर महाराज दशरथ अपनी इह लीला समाप्त कर चुके हैं। अयोध्या दारुण हाहाकार में निमग्न है। सभी दिशायें शोकाकुल हैं। तुलसी के शब्दों में–

' श्री हत सर सरिता वन बागा, नगर विशेष भयावनलागा।
हाट–बाट नहिं जाहि निहारी,
जनुपुर चहुँ दिसि लागि दवारी॥

गुरु का आदेश पाकर भरत ननिहाल से लौटने पर कैकेयी से सुनते हैं " तात बात मैं सकल संवारी, मैं मन्थरा सहाय विचारी।। कछुक बात विधि बीच विगारेउ, कैकेयी का यह वचन यथार्थतः विचारणीय है। सपत्नी कौशल्या को राजमातृत्व पद से वंचित कर और उसे अपने लिए सुरक्षित कर कैकेयी को अद्‌भुत सन्तोष है। स्त्री के लिए वैधव्य दारुण यातना है। आगे चलकर कैकेयी को जिस तिरस्कारपूर्ण लोक निन्दा का सामना करना पड़ा उससे भी उसका हृदय विचलित नहीं हुआ। यह है जीवन में अति संकुचित एक पक्षीय दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण। पिता की मृत्य की अप्रत्याशित सूचना पाकर भरत अत्यन्त विह्वल होकर यह कह उठते हैः- "चलत न देखन पायउँ तोही, तात न रामहिं सौंपेउँ मोही। कैसा उदात्त भाव है, क्षण भर पश्चात् कैकेयी से यह सुना-

"भरतहिं बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम वन गौन
हेतु अपनपौ जानि जिय, थकित रहे गहि मौन।।"

इस प्रसंग में कैकेयी के यह शब्द कितने जघन्य हैं- 'तात राउ नहिं सोचन जोगू, वढ़इ सुकृत जस कीन्हेउ भोगू।

अयोध्या के इस अमित उत्पात का अत्यन्त द्रावक चित्र उस समय उपस्थित होता है जब भरत पितु क्रिया से शुद्ध होकर राज सभा में आते हैं। राजसभा में भरत के राज सिंहासन ग्रहण की चर्चा गुरु वशिष्ठ से प्रारम्भ होती है गुरु के श्री मुख से निकले हुये नीति परक शास्त्र इतिहास सम्मत शब्द भरत के लिए आदेश से भी अधिक है।

तजेहु राम जेहि बचनहिं लागी।
तनु परिहरेउ प्रेम विरहागी।।
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना,
करहुँ तात प्रिय बचन प्रमाना।।
अवसि नरेश बात फुर करहू।
पालहु प्रजहि सोक सब हरहू।।
वेद विदित सम्मत सबहीं का,
जेहि पितु देइ सो पावई टीका।"

और इन सबसे उच्च है गुरु का व्यक्तित्व।

"करहु राज परिहरहु गलानी,
मानहुं मोर वचन हित मानी।।"

वशिष्ठ सदृश गुरू के वचनों में भरत को विश्वास न हो तो भरत के शील की मर्यादा ही क्या ? राजधर्म की मर्यादा का निर्वाह करते हुए गोस्वामी जी ने मन्त्रि परिषद से भी वशिष्ठ के प्रस्ताव का समर्थन करा दिया। "कीजिय गुरु आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि। रघुपति आये उचित जस, तस तव करेहु बहोरि।।"

मन्त्रिपरिषद वशिष्ठ के प्रस्ताव के इस अंश का समर्थन नहीं कर सका—

सौंपेहु राज राम के आये, सेवा करेहु सनेह सुहाये।।

भरत को गुरू वाणी में धर्म का आंशिक स्खलन दीख पड़ता है। एक ओर वे गुरुजनों की वाणी से बोझिल है दूसरी ओर मां के ममतामय वचनों से—

पूत पथ्य गुरू आयसु अहई।

पर—यद्यपि यह समुझत हौं नीके,
तदपि होत परितोष न जी के।'

इसलिए—'अब तुम विनय मोरि सुनि लेहू,
मोहि अनुहरत सिखावन देहू।'

क्या गुरू वाणी में धर्म की निरपेक्ष्य प्रतीति नहीं है ? क्या गुरू वाणी धर्म-सम्मत नहीं है ? यह प्रश्न भरत के इन शब्दों को सुनकर अवश्य उठता। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु-स्थिति की जटिलता का आभास एकमात्र भरत को ही है। यह एक गम्भीरतम विषय है कि भरत एक साथ गुरू के 'वचन', मन्त्रियों के 'अनुमोदन' व माता की मृदुवाणी को स्वीकार करने में असमर्थ है। सम्पूर्ण भावस्थिति का विवेचन करने पर यह परिलक्षित होता है कि भरत को गुरुजनों की वाणी में समष्टि संरक्षण के तत्व अधिक दीख पड़ते हैं।

दशरथ-मरण तथा रामवन-गमन जैसी भीषण विधि-विडम्बना से भरत ही उसके केन्द्र हैं अतः परिस्थिति के निकट भरत दोषी हैं। इस तथ्य की यथार्थता भरत को भली भांति परिलक्षित हो रही हैं। आगे गोस्वामी जी ने इस पारिवारिक, सामाजिक व राजनीतिक जटिलता का धर्म सम्मत हल उपस्थित करने का प्रयास किया है।

भरत का सिंहासन ग्रहण न करना मात्र शिष्टाचार नहीं। राम के प्रति आत्मीयता की विज्ञप्ति भी इसका एक मात्र कारण नहीं है। राजसभा में अतिशय ममत्व के

कारण वशिष्ठ जी ने एक प्रकार की जटिलता उत्पन्न कर दी है। मन्त्रिमण्डल ने वशिष्ठ जी के कथन का पूर्ण प्रतिपादन नहीं किया है—

'करहु राज परिहरहु गलानी।
मानहुँ मोर बचन हित मानी।।'
सौंपेहु राज राम के आये, सेवा करहु सनेह सुहाये।"
कीजिय गुरू आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि,
रघुपति आए उचित जस तस तव करेहु बहोरि।।

भरत को परिस्थिति की जटिलता का आभास स्पष्ट आभासित हो रहा है। मां केकयी के जघन्य कार्य की प्रतिकूल प्रतिक्रिया का उन्हें पूर्ण बोध है। अतः भरत को गुरू निर्देश, मन्त्रि-अनुमोदन व मां की मृदु वाणी में उन सबकी मानसिक शिथिलता का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी पड़ता है—

"संसय सील प्रेम बस अहहू,
सबहिं उचित सब जो कछु कहहूं।"

भरत की सात्विक बुद्धि एवं अन्तःकरण इस अन्धकार पूर्ण परिस्थिति में भी अपना मार्ग खोज लेता है—

"हित हमार सिय पति सेवकाई।
सो हरि लीन मातु कुटिलाई।।"
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू,
बैठि बात सब सुनहु सचेतू।"

मर्माहत भरत की वाणी से इस समय जैसा तीक्ष्ण व्यंग्य निकला है वह किस सहृदय को विगलित नहीं कर देता—

लखन रामसिय कह वन दीन्हा,
पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा।
लीन्ह विधवपन अपजस आपू,
दीन्हेहु प्रजहिं सोक सन्तापू।
मोहि दीन्ह सुख सुयस सुराजू,
कीन्ह कैकयी सब कर काजू।"

इस अवसर पर परिस्थिति की असमर्थता भरत को संतृप्त व विह्वल कर देती है। अत्यन्त संतृप्त हृदय से वे कहते हैं—

यहि ते मोर काह अब नीका,
तेहि पर देन कहहु तुम टीका।

भरत के वचन सत्य सापेक्ष्य हैं। यह अयोध्या के भावी सम्राट का राजतिलक नहीं है, वरन् यह अयोध्या के उत्पात का विधिवत् उपसंहार है। कैकेई के दो वरदान धर्म की अत्यन्त जटिल भूमि उपस्थित करते हैं—

जो राम ने किया वह करणीय था और जो भरत ने किया वह श्रेयस्कर था। भरद्वाज के शब्दों में—

"तुम्ह कह भरत कलंक यह, हम सबकहँ उपदेस।
राम भगति रस सिद्धि हित, भा यह समय गनेस।।

जिस राजपद के लिए वह वातावरण उपस्थित हुआ था, उससे दूर रहकर दोनों भाइयों ने आने वाली पीढ़ी के लिये एक नवीन, प्रशस्त जीवन-मार्ग निर्देशित किया है।

# भगवत्कृपा–रहस्य

**प्रो० विश्वम्भर नाथ द्विवेदी**

वी० एस० एस० डी० कालेज, कानपुर

भगवत्कृपा भक्ति-वेदान्त का प्रमुख सिद्धांन्त है। भगवदनुकम्पा, भगवद्नुग्रह आदि इसके नाम हैं। यद्यपि भावुक भक्ति की भक्त-भावना के दर्पण में भगवान् का प्रतिबिम्ब स्पष्ट आभासित होता है, किन्तु भक्त अपने ही भीतर भगवान का दर्शन भगववत्कृपा के विना नहीं कर सकता। भगवत्कृपा की अमृतमयी वृष्टि का प्रसाद जब तक भक्त के साथ जगत् में नहीं होता, तब तक भीतर बाहर सब जगह व्यापक रहने वाला भगवान भी उसके लिए नहीं के बराबर है, क्योंकि भगवान् भाव अथवा भावना में ही सर्व प्रथम अस्तित्व ग्रहण करता है। भाव ही भगवान् की सगुण, साकार एवं सापेक्ष सत्ता का मुख्य कारण है। किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावेषु विद्यते देवस् तस्माद् भावो हि कारणम्॥

अर्थात् देव (भगवान) काष्ठ, पत्थर व मिट्टी आदि की प्रतिमाओं में नहीं, बल्कि भक्तजनों के भावों में रहता है। अतः भाव ही भगवान की उपासना का मुख्य हेतु है। भाव में व्यापक भगवान वैसे ही प्रतिबिम्बित रहता है, जैसे बालक के हाथ में स्थित दर्पण में सूर्य का प्रकाश। तद्नन्तर विभिन्न प्रतिमाओं में वही (भाव प्रतिबिम्बित) भगवान उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जैसे बालक के हाथ में स्थित दर्पण के (प्रतिबिम्बित) सूर्य का प्रकाश आस-पास की विभिन्न वस्तुओं पर बालक की इच्छानुसार पड़ता रहता है। दर्पण के प्रकाश को मनमानी जहां-तहां पहुंचाना जैसे बालक की इच्छा पर निर्भर है, वैसे ही तृण से लेकर ब्रह्म पर्यन्त (आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त) कहीं भी भगवान की सत्ता को स्वीकार करने का बल भक्त की भावना में है।

रामचरित मानस में भगवान शंकर का ऐसा ही एक दिव्य प्रेम भाव, भगवान के सर्वत्रव्यापक होने की घोषणा करता है। यदि उसे प्रकट ही देखना है, तो पहले अपने हृदय में उसी प्रेम भाव को जगाना होगा, जिसकी पुकार में भगवान सर्वत्र प्रकट हो जाता है।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम से प्रगट होंहि मैं जाना॥
देश काल दिसि विदिसिहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जग मय सब रहित बिरागी।
प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥ बालकाण्ड १८४/५-७

भाव–क्षेत्र में भगवान के अवतार का स्वरूप ऊपर बताया गया, किन्तु यहाँ यह बात सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भगवत्कृपा के बिना भाव–जगत में भी भगवान का अवतरण अथवा आविर्भाव संभव नहीं है। हम जानते हैं कि प्रायः सभी मनुष्य भावों एवं संवेगों का एक नैसर्गिक उत्तराधिकार लेकर संसार में आते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। प्रत्येक मनुष्य की भावात्मक तरलता उसे बलपूर्वक काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं

मत्सर युक्त प्रवृत्तियों में बहा ले जाती है, किन्तु वही भावात्मक तरलता उन्हें भगवान की शरण में तब तक नहीं ले जाती, जब तक स्वयं भगवत्कृपा से ही उसका भाव-क्षेत्र स्वच्छ, पवित्र एवं सतोगुणी नहीं बन जाता।

साथ ही हम यह भी जानते हैं कि समस्त चराचर प्राणियों का अकारण कल्याण करने के लिए भगवत्कृपा सदैव उन पर अविराम अमृत-वृष्टि के समान बरसती ही रहती है, फिर भी उनका भाव-क्षेत्र परिष्कृत एवं संस्कारित नहीं होता। यह उनके जीवन की कैसी विडम्बना है ? पानी में भी मछली प्यासी ही रह जाती है। वे फिर भी अपने जीवन में भगवान की ओर उनकी अजस्र कृपा की अनुभूति नहीं कर पाते। ऐसा क्यों ? यह प्रश्न अवश्य विचित्र है, किन्तु उसका उत्तर सरल है। वास्तव में उनका भाव-क्षेत्र श्रद्धा से समतल नहीं है, विश्वास की स्थिरता से रहित है, और उसमें शास्त्रों के अध्ययन अथवा श्रवण की धूप, अभ्यास और चिन्तन की वायु तथा सत्संग की खाद से प्राप्त होने वाली उर्वरता का अभाव है। यही कारण है कि भगवत्कृपा का सदैव वर्षण होते रहने पर भी उनके भाव-क्षेत्र में कोई सुफल-सत्य नहीं उपजता। ऐसे जन गोस्वामी जी के शब्दों— में "फूलहिं फरहिं न बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद" के अनुसार बेंत के तुल्य माने जा सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ईश्वरानुभूति अथवा ईश्वर साक्षात्कार (दर्शन) के लिए श्रद्धा और विश्वास को ही दिव्य दृष्टि के रूप में स्वीकार किया है वे कहते हैं-

"भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥"

वाल काण्ड श्लोक-२

अतः भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार श्रद्धा और विश्वास से युक्त साधना द्वारा अपने जीवन में निरन्तर विद्यमान रहने वाली भगवत्कृपा की अनुभूति ही भगवत्प्राप्ति किंवा भगवान का साक्षात्कार है— यह कहना अनुचित न होगा अतएव कहा जाता है—

कृपैव प्रभुता गता—अर्थात् भगवत्कृपा ही प्रभु बन जाती है।

व्यवहार और परमार्थ, पृष्ठ १४३

## भगवत् कृपा का स्वरूप

भगवान की सतत प्रवाहशीला सहज कृपा सार्वकालिक है, अतएव सब कालों में रहती है। वह सतत प्रवाहशीला है, उसका प्रवाह कभी नहीं रुकता। उसमें न न्यूनता है न अधिकता है। न वह काल सापेक्ष है और न साधनों पर निर्भर। वह अहेतुकी है। अतएव वह अकारण ही सब पर बरसती रहती है। वह देश, काल, वस्तु और व्यक्ति से परे भी है और उन सब में अनुस्यूत भी है। [1] वह भगवद्भिन्न रूप-रहिता रहकर भी सर्व रूपों में प्रकाशित होती है। [2] वह अपने मूल आधार में एक रस है। आशय यह है कि कृपा और कृपालु दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं। [3] हम जो कुछ भी कृपालु से इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति की अभिलाषा रखते हैं-- वह हमें 'अभिलाषिणी' नामक भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। जो अभिलाषा देता है, वही उसकी प्राप्ति के साधन भी देता है। [4]

इस प्रकार जब जहाँ जो कृपालु का भी स्वरूप है, तब वहाँ वही कृपा का भी स्वरूप है। आत्मा-परमात्मा का भेदाभेद १— दोनों ही 'कृपा' है। वास्तव में भगवान की मूर्ति ही भगवत्कृपा का रूप है, भगवान के विग्रह से भिन्न भगवत्कृपा का कोई दृश्य रूप नहीं है। [5]

अतः सभी भगवद्विभूतियों में अरूपिणी भगवत्कृपा

---

१— मत्तः परतरं नान्यत् किंचदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ गीता— ७/७

२— फिर भी वह वेदान्त की माया नहीं है।

३— गिरा अर्थ जल बीच सम, कहियत भिन्न न भिन्न। रामचरित मानस बालकाण्ड— १८

४— ददामि बुद्धियोगम् तं येन मामुपयान्ति ते। गीता— १०।१०

५— प्रभु मूरति कृपामयी है।

का स्वरूप झलकता हैं, क्योंकि वे सब विभूतियों स्वयं भगवान के ही तेजस्-अंश से उत्पन्न हैं[1] अतएव घोर तमसाच्छन्न विश्व प्रपंच में भी हमारे अन्तर्वाह्य नेत्रों के भीतर जो सूर्य ज्योति एवं आशा का प्रकाश बेरोंक-टोंक झांकता हुआ प्रतीत होता है– वह भगवान की 'अरूपिणी' कृपा की ही मंगलमयी ज्योति है'

वह जीव मात्र को सतत प्राप्त रहती है। इसे पाना नहीं होता, केवल पहचानना पड़ता है। यह सार्वकालिक है, अतः इसकी प्राप्ति हेतु किसी विशेष समय की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। सतत प्रवाहशीला होने मात्र से इसको सुखद-शीतल स्पर्श प्राप्त होता रहता है। यही कारण है कि जब प्राणी को अपनी आशा-आकांक्षा की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण विश्व दिवालिया दिखायी पड़ता है, और वह प्राणी परम असहाय तथा निराश-सा हो जाता है, तब भी यह भगवत्कृपा ही– जो सदैव 'जननी' कृपा के रूप में उसके साथ ही रहती है– उसे सहलाती है, धीरज बंधाती है, उसमें आशा का संचार करती है और इतना ही नहीं, अपितु उसे विश्वसनीय साहस देकर पुनः कर्त्तव्य मार्ग पर चलने हेतु अथवा संग्राम में उतरने हेतु प्रेरित करती है।

इस प्रकार यद्यपि यह 'अरूपिणी' एवं त्रिकालाबाधित 'कृपा' एक तत्त्व है, एक रस है, अखण्ड एवं अविनाशिनी है तथापि जीवमात्र के कल्याण के लिए उसके प्रेय एवं श्रेय की समस्त सुविधायें जुटाने हेतु वह स्वयं कभी जननी कभी उज्जीवनी, कभी प्रबोधिनी, कभी प्रपंचिनी, कभी कभी प्रशिक्षणी प्रणयिनी, कभी अभिलाषिणी, कभी प्रापणी एवं कभी अभिव्यंजनी आदि अनेक ऐसे रूपों को ग्रहण करती रहती है जिनसे जीवमात्र को ऐहिक और पारलौकिक अथवा एकान्तिक और आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करने के समान अवसर एवं समान सुविधायें प्राप्त होती रहती हैं।[2]

निःसन्देह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, अपराधीन, परम प्रेमास्पद एवं परम कृपालु परमेश्वर की 'कृपा' स्वयं उनका ही 'सहज स्वभाव' है, जो कभी किसी निमित्त के बिना ही भागवत आनन्द का सरल-सरल तरल-तरल पावन-प्रवाह बनकर जगत का सतत कल्याण करता है। इस पावन-प्रवाह में स्वयं उन्हीं के सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य एवं माधुर्य आदि गुणों की सुरभि तथा शीतलता मिश्रित रहती है जिसे पाकर अर्थात् जिसका अनुभव करके जगत का प्राणिमात्र कृतार्थ हो जाता है।

वस्तुतः इस दुःख बहुल एवं दुःखमूलक संसार में जीव का सुख भगवत्कृपा की अनुभूति ही तो है। इससे भिन्न तो सब दुःख ही दुःख है।

## दुःख शोकादि में भी भगवत्कृपा हितकारिणी

ऊपर वर्णित भगवत्कृपा के स्वरूप से कदाचित् यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या दुःख शोकादि की व्यवस्था में भी भगवत्कृपा का हितकारिणी होना अनुभव सिद्ध है? यदि है तो इसका प्रमाण क्या है?

अभी आपको आर्कषिणी और विकर्षिणी रूपा भगवत्कृपा का नाम बताया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि भगवत्कृपा का परिणाम अथवा फल प्राप्ति सर्वदा सुखदा एवं आर्कषिणी ही होती है। अतः प्रभु की कृपा का एक रूप 'आर्कषिणी' भी है, किन्तु यह प्रारम्भ में विकर्षिणी का रूप ग्रहण करके आती है। यह विकर्षिणी भी अपना सहज सौरभ तभी प्रकट करती है, जब वह 'तापिनी' होकर हृदय में प्रपंचसंवेदन के प्रति 'तापिनी' बन चुकती है। आशय यह है कि जब ईश्वर-वियोगिनी वृत्ति प्रपंच-संयोग में ताप और ज्वाला का अनुभव करने लगती है—संसार की सुरभि में दुरभिसन्धि की आशंका रस में विष, सुरूपता में कुरूपता, सुकुमार में मारकत्व, मधुर स्वर में नीरस एवं कर्णभेदी गड़गड़ाहट, प्रिय संबन्ध में बन्धन, समता में विषमता तथा आत्मत्व में परत्व की दारुण प्रतीति करने लगता है—तब यह 'तापिनी' संसार

---

१-- यद् यद् विभूति मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥ गीता १०।४१

१– दुःखालयमशाश्वतम्–गीता ८/१५
२– व्यवहार और परमार्थ- पृष्ठ १४३-१५४

से जीव का विकर्षण करके प्रभु की आकर्षण धारा में डाल देती है। उस समय उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा भी कोई प्रेमी है, मैं अकेला और असहाय नहीं हूं, कोई मेरी ओर अवलम्बन का वरद हस्त बढ़ा रहा है, वह मुझे अपनी ओर बलात् खींच रहा है, वह मेरा वास्तविक प्रियतम है, जो मुझ संसार-परित्यक्त को भी अपना रहा है, उसी के पास मेरा वास्तविक निवास है, अब तक तो मैं घोर अन्धकार में, भ्रम में, पराये घर में भटक रहा था, दयनीय जीवन काट रहा था, भ्रमवश दुःख को सुख मान बैठा था, मैं जहाँ हूं वहाँ तो प्रकाश, शान्ति और सुख में से कुछ भी नहीं है। मुझे अपने प्रियतम के उस रसमय मधुमय प्रदेश में चले जाना चाहिये। जहाँ सतत सुख शान्ति एवं प्रकाश स्वरूप केवल वही नित्य विहार करता है। मानव की उक्त प्रकार की अनुभूति ही इस तथ्य में प्रमाण है कि दुःख शोकादि की अवस्था में भी भगवत्कृपा हितकारिणी ही होती है।[1]

## कृपा का अभिप्राय और उसका भगवत्स्वरूप के साथ साम्य

सामान्यतः अनुकम्पा, दया, कृपा, करुणा आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थ में बोले जाते हैं, किन्तु भक्ति सिद्धांत की दृष्टि से देखने पर इन शब्दों में प्रकृत्या भेद है। अनुकम्पा एक ऐसा भाव है, जो किसी स्वामी के हृदय में सेवक आदि की असहायावस्था, विवशता एवं अत्यन्त समर्पणशीलता का उसके दर्शन अथवा श्रवण द्वारा अनुभव करके उस सेवक आदि के उपकारार्थ उत्पन्न होता है। दया वह भाव है जो किसी विपन्न, दीन-हीन दुःखी व्यक्ति के प्रति जाग जाता है। अतएव यदि हम करुणा को रस विशेष के अन्तर्गत न लें, जैसे उत्तर रामचरितम् के रचयिता भवभूति[2] ने लिया है—तो दया और करुणा प्रायः समान दशाओं एवं समान आलम्बनों को पाकर जागते हैं।[3] 'अनुग्रह' और 'पुष्टि' शब्द अवश्य ही 'कृपा' के अधिक निकटवर्ती शब्द हैं।

अब केवल 'कृपा' शब्द रह जाता है, वह उक्त शब्दों का सजातीय होकर भी प्रकृत्या उनके पर्याप्त मात्रा में आगे है। कृपा विशेषतः भगवत्कृपा—जिसे आज हम समझने का प्रयास कर रहे हैं—न तो किसी वातावरण विशेष पर आश्रित है और न ही किसी विशिष्ट आलम्बन पर अनिवार्यतः निर्भर है। वह तो भगवान को भग+वान् और प्रभु को प्रभुता सम्पन्न तथा विभु को व्यापक बने रहने हेतु बाध्य करने वाली उनकी अपनी नैसर्गिक प्रकृति क्रिया-प्रवृत्ति है, जिसके बाहर भगवान कभी रह ही नहीं सकते। वह भगवती कृपा ही, भगवान की शक्ति चक्रवर्तिनी है, और है उनकी अपनी परम प्रेयसी पटरानी, अखिल ब्रह्माण्ड की योग-मोक्ष-व्यवस्थापिका साम्राज्ञी तथा कर्म-प्रवाह में पतित एवं सतत जन्म-मरण के भवचक्र में पड़े हुए सम्पूर्ण भूतों को अपनी-अपनी मुक्ति अथवा मुक्ति के लिए निर्बाध अवसर देने वाली त्रि-शक्ति[4] स्रोतस्विनी भागीरथी। इससे जीव मात्र का हित ही हित होता है, वह चाहे कर्म प्रवाह की किसी भी स्थिति में क्यों न हो।[5] यह 'कृपा' ही एक ऐसा पार-

---

१— प्रस्तुत सन्दर्भ में मिलाइये—

(क) अनुग्रहोऽयं भवतः कृतौ हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः
यद् दन्त शूकत्व ममुष्य देहिनः, क्रोधोऽपितेऽनुग्रह एव संमतः। श्रीमदभागवत १०/१६/३४

(ख) भिक्षुगीतम्—(तितिक्षुद्विजोपाख्यान) श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध २३वां अध्याय

(ग) विपदः सन्तु नः शाश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
श्रीमद्भागवत १/८/२५

२— एकोरसः करुण एव निमित्त भेदाद् भिन्नः सलिलमेवस्तु तत्ससमग्रम्॥ (उ० रा० च० ३/४७)

३— देखिये 'करुण' चिंतामणि—डा० रामचन्द्र शुक्ल

४— तीन शक्तियाँ—सृजन-पालन एवं प्रलय की त्रिमूर्ति शक्ति

५— सुरसरि सम सब कर हित होई। श्रीराम चरितमानस, बालकाण्ड १३/९

मार्थिक तत्व है जो स्वयं ही अपने धारक अथवा आधार की केन्द्रीय शक्ति बन गई है। 'कृपैव प्रभुतां गता' अर्थात् कृपा स्वयं ही प्रभु की 'प्रभुता' बनकर समस्त चराचर प्राणि मात्र के लिए लौकिक 'हित' और पारलौकिक श्रेय बिखेर रही है। सम्पूर्ण विश्व उसकी एकरसा ममतामयी छाया में पालित-पोषित एवं समृद्ध हो रहा है। उसकी सत्ता में ही भगवान की सत्ता है, उसका अनादित्व भगवान का अनादित्व है, और उसकी अनन्तता भगवान की अनन्तता है। संक्षेप में भगवान की भगवत्ता की समस्त संभावनाएँ, उसकी कृपा रूपी तत्व पर अध्यारोपित संकल्पों के सिवाय अन्य कुछ नहीं हैं। यहाँ तक कि भगवान को सिद्ध-संकल्प केवल इसीलिए कहा आता है कि उनके संकल्प मात्र को सिद्ध प्रमाणित कर देने वाली उनकी अमोघ शक्ति 'कृपा' सदैव उनमें विद्यमान रहती है। यह कृपा स्वयं प्रभु में ही सतत विद्यमान रहने वाला उनका स्वरूप सिद्ध कोई सहज स्वाभाविक गुण है, जिसमें वह स्वयं किसी निमित्त के विना ही अपनी कृपा, जीव मात्र पर बरसाता रहता है। अतएव मेघ जलमय, प्रभु कृपामय तथा प्रभुमूरति कृपामयी है—इत्यादि कथन सर्वथा उपयुक्त हैं।

एक बात और है—वस्तुतः प्रत्येक जीव विकास (Evolution) की एक धारा में प्रवाहित हो रहा है, और यह भगवत्कृपा उस विकासोन्मुखी जीव को विकास के मार्ग द्वारा आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँचने में 'जननी' के समान सहायिका है। पशु-प्रवृत्ति से उठाकर मानव-प्रवृत्ति एवं देव-प्रवृत्ति की सीमा में जीव को पहुँचाने का कार्य भगवत्कृपा ही तो करती है।

## भगवत्कृपानुभूति

भक्ति मार्गी साधना का भावयोगी, सर्वप्रथम श्रद्धा का सम्बल लेकर इस मार्ग में प्रवेश करता है। भावना के मन्दिर में आविर्भूत भगवान को वह कभी मन-मन्दिर में, कभी भगवान की प्रतिमाओं में और कभी भगवान की विभूतियों में मानसी प्राण प्रतिष्ठा द्वारा प्रतिष्ठित कर उनकी उपासना करता है। उसकी उपासना नवधा भक्ति की पद्धतियों से नित्य निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती जाती है। इस साधनावस्था में उसे भगवत्कृपा का परोक्ष ज्ञान ही रहता है, क्योंकि अभी उसकी साधना शास्त्रोपदेश, गुरुदीक्षा एवं भक्ति मार्गी रूढ़ियों की लीक पर चल रही है। साधक की यह जीवन-स्थिति भगवत्कृपा के परोक्ष ज्ञान की दशा है। यही स्थिति अत्यन्त दृढ़ एवं पुष्टि होकर भगवत्कृपा की 'परोक्ष प्रतीति'[2] का स्थान ले लेती है। यहीं आकर साधक की श्रद्धा विश्वास में समरस होकर अचल हो जाती है। कितने ही प्रलोभन, आकर्षण एवं संकट उसे डिगा नहीं सकते, किन्तु अब भी भगवत्कृपा की अपरोक्षानुभूति उसे सिद्ध नहीं हुई है, यद्यपि उसकी भूमिका तैयार हो चुकी है।

भगवत्कृपा की अपरोक्षानुभूति—अर्थात् जिसे हम सच्चे अर्थ में भगवत्कृपानुभूति कह सकते हैं—उस साधक के जीवन में तब जागती है, जब भगवत्स्वरूप के आकार वाली एक मात्र वृत्ति में समरस हुआ उसका अन्तःकरण अन्य सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों से निदान रहित होकर भगवान के सच्चिदानन्द घन स्वरूप में इतना तन्मय हो जाय, ऐसा ओत-प्रोत हो जाये कि उसे देह-गेह आदि पार्थिव एवं स्वर्ग-मोक्ष आदि अपार्थिव पदार्थों की स्मृति भी न रहे। यही भगवत्कृपानुभूति है, यही भाव समाधि है।

भगवत्कृपा की ऐसी भाव समाधि के परमानन्द में लीन भक्त को समाधि और व्युत्थान सभी दशाओं में, भीतर-बाहर सभी स्थानों में ब्रह्मा से लेकर तृण समूह तक सभी पदार्थों में, तथा कथित सुख दुःखमयी सभी परिस्थितियों में ऊँच और नीच में सर्वत्र केवल भगवत् कृपा की ही अनुभूति होती है, वह सब कुछ को और सब

---

१– व्यवहार और परमार्थ–पृष्ठ १४३

१– जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगत दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ श्रीरामचरित मानस उत्तरकाण्ड

कुछ में भगवत्कृपा को ही पाकर अमर हो जाता। उसकी अन्य समस्त अनुभूतियां डूब जाती हैं, वह भगवत्कृपामय हो जाता है। वह कृत्यकृत्य हो जाता है। इस दशा को चाहे आप ब्रह्म-भाव कहलें अथवा आत्मभाव अथवा पराभक्ति किन्तु निर्गुण–सगुण का यह भेद– जिसके कारण ब्रह्म भाव एवं पराभक्ति के मध्य शाब्दिक अथवा व्यावहारिक भेद की कल्पना खड़ी हो जाती है – व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।[2]

यहां यह प्रश्न सम्भव है कि मोक्ष मार्गी साधक की मुमुक्षा के समान, भक्ति मार्गी साधक की साधना का आधार, उसकी किस इच्छा को स्वीकार किया जाये? उत्तर में यही कहा जायेगा कि भगवत्कृपा की वास्तविक अनुभूति वाला भक्त-जन, भगवान की सेवा के अतिरिक्त सामीप्य मुक्ति भी नहीं चाहता। वस्तुतः भक्त के आचार की व्यावहारिक संगति के लिए भगवान का सामीप्य केवल सेवा के लिए तो चाहिये किन्तु सेवारहित सामीप्य, फिर चाहे वह मुक्ति ही क्यों न हो–उसे नहीं चाहिए।[3]

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सच्चे भक्त, भीतर बाहर सर्वत्र भगवान का दर्शन कर सकते हैं, उपासना कर सकते हैं, उनकी स्तुति कर सकते हैं, किन्तु उनकी अनुभूति में भगवान नहीं अपितु भगवान की कृपा हो जाती है। अतएव यहां सर्वत्र अनुभूति के साथ भगवत्कृपा को ही रखा गया है। वस्तुतः स्वरूप की ही अनुभूति होती है, किन्तु जो रूपवान है, उसका दर्शन सम्भव है, स्पर्शादि द्वारा उसकी सेवा सम्भव है, किन्तु स्वरूप और साकार की अनुभूति नहीं बनती।

अतएव भगवत आनन्द का अनुभव प्राप्त कर चुका हुआ भक्त कभी भगवत्कृपा का आश्रय नहीं छोड़ता। गोस्वामी तुलसीदास जी भगवत्कृपामयी सीता के बिना भगवान राम का सामीप्य प्राप्त करना असम्भव मानते हैं। उनकी 'विनय पत्रिका' सर्व प्रथम इसीलिए मां सीता के हाथों में अर्पित की गई है। सम्भव है कभी माता सीता कृपापूर्वक श्रीराम के समक्ष इस गरीब तुलसीदास की करुण–कथा की चर्चा कर दें और इस प्रकार श्रीराम जी का अनुग्रह तुलसी को सुलभ हो सके।

इस प्रकार रामचरित मानस में भी वे माता सीता की स्तुति के व्याज से भगवत्कृपा की ही स्तुति करते दीख पड़ते हैं–

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्व श्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥
रा० च० मा०बालकाण्ड श्लोक ५

भगवान की 'रूपिणी' कृपा की पहचान उस समय हो जाती है, जब वह हमारे इष्ट के स्मरण में हेतु बनकर 'साधन' का रूप धारण कर लेती है। तब वह कृपा अपने पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में अनुकूलता उत्पन्न करने पर पहचानी जाती है, परन्तु यह दृष्टि (दर्शन) अथवा परिचय पुरुषार्थ की उपाधि पर आधारित होने से सोपाधिक है। अतः यह भगवत्कृपा की सच्ची पहचान नहीं है। सच्ची कृपा की अनुभूति (वेला) में अपनी इच्छा या आवश्यकता पर दृष्टि ही नहीं जाती इसमें तो प्रत्येक परिस्थिति में ही उसका समीक्षण (पहचान) होता है, प्रतीक्षण नहीं और प्रार्थना भी नहीं।

महाप्रभु चैतन्य कहते हैं- निज इन्द्रिय प्रिय इच्छा तार नाम काम, कृष्णेन्द्रिय प्रिय इच्छा तार नाम प्रेम– अर्थात् भगवान की इन्द्रियों की जो भी प्रिय इच्छा है, वही पश्य भक्तकाम अर्थात् मनोरथ है, वही सर्वोत्कृष्ट भगवत्

---

१– यो मां ति का सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ गीता ६/३०
२– सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
रा० च० मा० बालकाण्ड ११५/१
३– अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म रति रामपद, यह बरदान न आन॥
रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड २०४

प्रेम है। भगवदिच्छा से भिन्न भक्त की कोई आकांक्षा नहीं। अस्तु जो सदा से हमारे पास है, उसके लिए क्या प्रतीक्षा, क्या प्रार्थना और क्या परिचय । उसकी तो केवल अनुभूति ही चाहिए।

इस संदर्भ में अनन्त श्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्द जी के शब्द उल्लेखनीय हैं– उसकी अनेक रूपता वैसे ही है, जैसे रासलीला के समय श्रीकृष्ण की अनेक रूपता अथवा ब्रह्मा के प्रति (श्रीकृष्ण द्वारा) अनन्त रूप का दर्शन। कृपा की अनुभूतिमयी पहचान हो जाने पर उसमें स्मरण, प्रतिष्ठा और निष्ठा की भी आवश्यकता नहीं रहती। जो कुछ है, नहीं है, भासता है, नहीं भासता, प्रिय है, अप्रिय है, भेद है, अभेद है,– सब भगवत्कृपा का ही विलास है।

भगवत्कृपा की अनुभूति का एक लक्षण उसका शाश्वत मंगल विधान भी है। भगवान के मंगलमय विधान में अमंगल का अत्यन्ताभाव है। इस मान्यता के प्रतिकूल भाव हमारे मन में कभी न बनना चाहिये, किन्तु वह बनता इसलिए है कि हम प्रायः मिलने वाली वस्तु पर ध्यान देते हैं, हम यह ध्यान नहीं देते कि दी जाने वाली वस्तु के दाता का मेरे प्रति हार्दिक भाव कैसा है। भगवान के हार्दिक भाव की धुरी पर ही उनकी आकर्षिणी एवं विकर्षिणी कृपा कार्य करती हैं। इनमें भक्त को आकर्षिणी अनुकूल पड़ती हो और विकर्षिणी प्रतिकूल, ऐसा नहीं है। यह अनुकूलता–प्रतिकूलता का भाव एक मध्य वर्ती व्यापार मात्र है, जो कि व्यावहारिक है। पारमार्थि क तत्व तो यही है कि भगवत्कृपा चाहे आकर्षिणी हो या विकर्षिणी, परन्तु उन दोनों का परिणाम, मंगलमय ही होता है। वस्तुतः वे देकर भी कृपा करते हैं और लेकर भी कृपा ही करते हैं। [2]

## भगवत्कृपा का अहेतुकी स्वभाव

प्रायः यह भी प्रश्न उठता रहता है कि भगवत्कृपा 'अहेतुकी' कैसे हो सकती है, जबकि काल विशेष एवं साधन, विशेष उस भगवत्कृपा की सिद्धि अर्थात् अनुभूति के मूल में हेतु रूप से विद्यमान रहते हैं। इस प्रश्न का समाधान भगवान की 'प्रणयिनी' कृपा के आंचल में निहित है। यह पहले ही बता चुके हैं कि भगवत्कृपा न तो काल सापेक्ष है और न साधनों पर निर्भर। यह दोनों उसके लिए नगण्य हैं। भगवान ने गीता में कहा है– मनुष्याणाम् याणां सहस्रेषु कश्चियाति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः। अर्थात् भगवान की कृपा का समान रूप से पक्षपात रहित सम्बद्ध प्राप्त करने वाले विश्व के सभी प्राणियों में हजारों में कोई एक ही उसकी कृपा के पारमार्थिक स्वरूप की पहचान के लिये यत्न करता है, और उन प्रयत्नशील सर्व साधन सम्पन्न साधकों में भी कोई-कोई ही मुझे यथार्थ रूप से पहचाना है— सब नहीं।

भाव यह है कि जगत का कोई प्राणी ऐसा नहीं है जो भगवत्कृपा के पोषण में न हो– सब हैं, किन्तु भगवत्कृपा की पहिचान करने का प्रयास सब नहीं करते, उनमें से कुछ ही लोग भगवत् कृपा से इस दिशा में आगे बढ़ते हैं। ये लोग साधन सम्पन्न भी भगवत्कृपा से ही होते हैं, किन्तु फिर भी वे भगवत्कृपा को नहीं पहचान पाते। इससे यही मानना पड़ता है कि भगवत्कृपा यदि साधन-साध्य अथवा काल–सापेक्ष होती है तो निश्चय ही प्रत्येक यत्नशीलं एवं साधन सम्पन्न साधक को उसकी वास्तविक पहचान कभी तो अवश्य होती। किन्तु सत्य तो यह है कि वह न तो काल—सापेक्ष है और न साधन साध्य। इसीलिए उसकी पहचान कभी नहीं होती। इस प्रकार वह शक्ति किसी हेतु, निमित्त या प्रयोजन से

---

१-- तुम मुझमें प्रिय तव परिचय क्या ? महादेवी वर्मा

२-- (क) त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं ह्रतं तदैवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्चिय आत्ममोहनात्।।

(ख) ब्रह्मन् यमनुगृणामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यनमदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मा चावमन्यते।।

श्रीमद्भागवत— अष्टम स्कन्ध २२/१६ व २४

प्रेरित नहीं जान पड़ती। अस्तु जब भगवत्कृपा की शक्ति अहेतुकी ही कार्य करती है तो उसे 'प्रणयिनी' कृपा ही कहना चाहिए। यह प्रणयिनी कृपा ही अपना स्वरूप बोध हजारों में उस किसी एक को कराती है, जिसके नितान्त निर्मल एवं पावन चित्त भूमि पर उसका अखण्ड अस्तित्व बना रहता है– वह विक्षेपों से एक क्षण के लिए भी बाधित नहीं होता है। गोस्वामी जी ने ठीक ही तो कहा है —

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।

## भक्त और भगवत्कृपा

भक्ति-सिद्धान्त में भगवत्कृपा ही भगवत्-प्राप्ति का मूल आधार है। अनुक्षण कृपामय भगवान की कृपा की प्राप्ति एवं भगवत्प्राप्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। वस्तुतः भगवत्कृपा ही तो भगवान हैं, जिसने उन्हें भगवत्ता प्रदान की है। कृपा ही वह अद्वितीय, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय एवं सतत प्रवाहशीला परम शक्ति है– भक्त की भक्ति के परिपाक काल में स्वयं प्रभु (कृपैव प्रभुतां गता) बन जाती है और वही भक्त की साधनावस्था में मातृवत् उसका उज्जीवन करती है। जब जब उनकी भक्ति-साधना में विघ्न अथवा ह्रास आता है, तब तब उसकी वृद्धि–समृद्धि, तुष्टि-पुष्टि एवं योग–क्षेम के लिए वह 'जननीकृपा, ही 'उज्जीवनी' बन कर जाती है।

हमने श्रीमद्भागवत महापुराण से पढ़कर ज्ञात किया है कि ध्रुव और प्रह्लाद दोनों ही भक्त थे। दोनों में भगवत्कृपा के प्रति अगाध श्रद्धा एवं असीम विश्वास था। दोनों ही को यहां भक्त के क्षेत्र में यदि हम किसी विशिष्ट जाति, देश, काल, संस्कृति एवं वातावरण की परिधि से बाहर केवल भक्त के रूप में देखें तो हमें ज्ञात होगा कि साधनों और सिद्धि दोनों दृष्टियों से भगवत् कृपा ने दोनों का समान रूप से पालन-पोषण किया और उन्हें भक्ति के चरम लक्ष्य भगवत्सान्निध्य की प्राप्ति करा दी। सान्निध्य पाकर वे भक्त युगल, कृतार्थ हो गये, धन्य हो गये। ध्रुव अटल पद पा गये और प्रह्लाद, भक्त शिरोमणि बन गये।

परन्तु भगवत्कृपा ने क्या पाया? भगवत्कृपा ने वही सन्तोष प्राप्त किया जो सन्तोष कोई सुतवत्सला माता अपनी (एक मात्र माता पर निर्भर रहने वाली) सन्तानों के पालन-पोषण में प्राप्त करती है, नितान्त निःस्वार्थ स्नेह की तुष्टि मात्र।

## सकाम एवं निष्काम भक्ति के भेद से परिणाम भेद

इस प्रकार सकाम एवं निष्काम दोनों प्रकार के भावों से वासित हृदयों में यद्यपि भगवत्कृपा का समरस वर्षण अखण्ड और अजस्र रूप से होता रहता है, तथापि फल प्राप्ति में दोनों हृदयों में अन्तर आ जाता है। कारण स्पष्ट है — सकाम भक्त की हृदय भूमि की पासुंलता पर बरसा हुआ भगवत्कृपा का अमृत रस-विन्दु भी उसी प्रकार मलिन हो जाता है, जिस प्रकार कर्मानुसार देह के बन्धन को स्वीकार करने वाले चेतन-निर्मल एवं सहज सुखनिधान 'जीव' को मलिन सत्त्व प्रधान 'माया' की मलिनता अपने आवरण में लपेट लेती है।[2]

इसके विपरीत निष्काम भक्त की हृदय भूमि की निर्मलता पर बरसी हुई भगवत्कृपा की अमृत धारा उस हृदय-भूमि को नित्य निरन्तर शीतल, पवित्र, दिव्यभावों से उर्वर, निष्कलुष, तथा ज्ञान[3] एवं आनन्द से भरपूर बनाये रखती है। यही वास्तव में निष्काम भक्त के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसे पाकर वह 'सारूप्य' मुक्ति की भी इच्छा त्याग देता है।[4]

प्रथम (सकाम) भक्त की उपलब्धि उसकी संकुचित पात्रता के कारण ससीम और स्वल्प है, दूसरे (निष्काम) भक्त की उपलब्धि उसकी विशाल पात्रता के कारण असीम एवं अनन्त है। यहाँ दोनों प्रकार के भक्तों की भक्ति-भेद से परिणाम में अन्तर स्पष्ट है।

---

१– कृपा के अनन्तानन्त प्रभावों एवं प्रकारों की 'अवर्णनीयता' के आधार पर वह कृपा अनिर्वचनीय है।
२– भूमि परत भा ढ़ावर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी॥ किष्किन्धा काण्ड १३/६
३– तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेनभास्वता॥ गीता १०/११
४– नेकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पाद सेवाभिरता मदीहाः। श्रीमद्भागवत ३/२५/३४

# असमिया और ब्रज साहित्य में कृष्ण

डॉ० रमानाथ त्रिपाठी

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि असम प्रदेश में शिव शक्ति और वैष्णव धर्म का प्रचार प्रसंग बहुत पहले हो चुका था। आरम्भ में तांत्रिक साधनों का प्राधान्य था। इनमें मदिरा और सुन्दरियों का सेवन होता था। सच में तांत्रिक साधन एक उच्चकोटि की साधना थी। प्रलोभनीय वस्तुओं के मध्य जितेन्द्रिय पुरुष ही साधना कर सकते थे, सभी नहीं। आगे चल कर ये उपासनाएं बहुत ही विकृत हुईं। इन्द्रिय लोलुप जनों ने बड़ा ही अनाचार फैलाया। १० वीं शती के कालिका पुराण में तांत्रिक उपासनों का विस्तृत वर्णन है, किन्तु उसमें एक भविष्यवाणी भी है कि इस प्रदेश का उद्धार वैष्णव भक्ति से होगा।

यह वैष्णव भक्ति लायी गयी सन्त शंकरदेव द्वारा। वे असमीया साहित्य पर इस प्रकार छा गये कि वैष्णव युग का विभाजन उन्हीं को लक्ष्य कर किया जाता है— प्राक् शंकर युग और शंकर परवर्ती युग।

१५ वीं शदी के आसपास समग्र भारत में ही जब वैष्णव आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। इसकी ये विशेषतायें थीं-

१- विष्णु को परब्रह्म मानना।
२- यज्ञ-तपस्या की अपेक्षा भक्ति या प्रेम से भगवान् की सहज प्राप्ति मानना।
३- भक्ति में ऊँच-नीच का भेद न रहना।
४- अहिंसा, प्रेम-दया आदि कोमल वृत्तियों को प्रोत्साहन देकर सुष्ठु नैतिक जीवन यापन का आदर्श प्रस्तुत करना।
५- प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत साहित्य का रूपान्तर कर उन्हें समृद्ध करना।

असमीया और ब्रज भाषाओं के भक्ति साहित्य में भी ये विशेषताएं लक्षित होती हैं।

प्राक् शंकर युग में प्राचीन उपाख्यानों को लेकर काव्य लिखे जाने लगे थे, किन्तु सच में नव वैष्णवयुग का शुभारम्भ संत शंकर देव से हुआ। इन्होंने १५वीं के शेष भाग में लिखना प्रारम्भ किया। इनके समय में भी पूर्वी असम में केंचाई खाती (कच्चा मांस खाने वाली) तामेश्वरी देवी और पश्चिमी असम में कामाख्या देवी की उपासना का प्राधान्य था। युग का विरोध करते हुए शंकर देव ने शुद्ध भागवती धर्म का प्रचार किया। असम में कृष्ण-भक्ति की परम्परा इन्हीं से चली। इन्होंने कृष्ण को परब्रह्म माना तथा एक शरणीया भक्ति पर जोर दिया। इन्होंने असमीया भाषा के अतिरिक्त ब्रजबुलि में भी रचना की।

ब्रजबुलि एक कृत्रिम भाषा थी। यह ब्रज भाषा नहीं थी। विद्यापति के कृष्ण भक्ति विषयक मैथिली पदों से पूर्वांचलीय लोग प्रभावित हुए थे। अपने से पश्चिम की भाषा और वह भी कृष्ण विषयक, इसी को उन्होने ब्रजबुलि कहा। शंकर देव ने असमीया-मिश्रित ब्रजबुलि

का प्रयोग अंकीया नाट अथवा वरगीतों के लिए किया है। वरगीतों में वात्सल्य, शान्त और दास्यभाव का वर्णन हुआ है! उन्होंने राधातत्त्व की उपेक्षा की है। किन्तु गोपियों के साथ रसकेलि का वर्णन किया है—

**केशव करिल केलि गोपिन संग रंगे**

'केलि गोपाल नाट' में कृष्ण गोपियों के साथ वैसी ही छेड़छाड़ करते हैं, वैसे ही वस्त्र–मोचन करते हैं जैसे कि ब्रजभाषा के कवियों के कृष्ण। किन्तु राधा की अपेक्षा उन्होंने रुक्मिणी के प्रेम-वर्णन में विशेष रुचि दिखायी है, रुक्मिणी पत्नी है, प्रेमिका नहीं। शंकर ने कृष्ण को मानव रूप में चित्रित किया है। रुक्मिणी के सौन्दर्य का ज्ञान कर उन्होंने विरह-व्यथा का अनुभव किया है-

श्रीकृष्ण हेंठमाथ कय निश्वास फोकारल
शुनिते यामिनी यमिनी जाइ नयने निन्दा नाहि आये।

कृष्ण रुक्मिणी के रूप में संयोग शृंगार का भी वर्णन मिल जाता है। ब्रजभाषा-काव्य में इस प्रकार का दाम्पत्य उपलब्ध नहीं है। हां, एक बात की समानता है कि जयदेव-चंडीदास विद्यापति की प्रेम-प्रमत्ता राधा का उन्मादक प्रेम यहाँ नहीं है। शंकर ने राधा तत्त्वका वहिष्कर किया तो ब्रज-कवियों ने राधा को परकीया से स्वकीया वनाने की चेष्टा की। शंकर ने कृष्ण के शौर्य का भी वर्णन किया है, ब्रजभाषा में इसका अभाव है।

शंकर देव के शिष्य माधव देव ने कृष्ण के वात्सल्य का अधिक चित्रण किया है। ब्रज कवियों के समान माधव-देव ने भी मक्खनचोर कृष्ण को यशोदा द्वारा दंडित कराया है।

लवनु चोर बुलि यशोदा माइ।
गोकण्ठ पाश बांछय जदुराय॥

श्रीधर कन्दली ने असमीया में कान खोवा (कान खाने वाला, कनकटा) कविता लिखी। सूर के दो पदों से इसका साम्य है-

घुमटि जाओ रे ओ कानाइ हुरे कान खोवा असे।
सकलो शिशुर कान खाइ खाइ आसइ तोमार पाशे॥

ओ कन्हाई, सो जाओ रे, कनकटा आ रहा है। वह सभी बच्चों के कान खाकर तुम्हारे पास आ रहा है,।

सूर की यशोदा भी कहती है—

खेलन दूर जात कत कान्हा?
आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा॥
इक लरिका अब हीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के लरिका जानत जाहि॥

यहीं पर सूर और कन्दली दोनों ने कृष्ण के अनेक अवतारों का वर्णन किया है। अन्तर यह है कि कन्दली के कृष्ण अपने एक-एक अवतार और पराक्रम का वर्णन कर कहते हैं कि मैंने वहां कहीं कानखोवा नहीं देखा, यह तेरा कानखोवा कौन-सा है? सूर ने स्वाभाविकता की रक्षा कर ली है। उनके पद में कृष्ण नहीं वलराम कहते हैं कि तुमने ये-ये अवतार लिये तब हाऊ कहां थे? सूर के कृष्ण तो सच में हाऊ से डरे हुए हैं। कन्दली ने इतना और दिखाया है कि कृष्ण को डरा हुआ जानकर यशोदा घवड़ा उठती है और वे कृष्ण को गोद में बिठा कर दूध पिलाने लगती हैं।

कन्दली की एक और कविता उपलब्ध है। यशोदा कृष्ण को जगा रही हैं कि तुम्हारे सखा द्वार पर खड़े हैं। वे क्षुब्ध होकर कहते हैं, आज मैं नहीं उठूँगा। अपने अवतारों और शक्ति के बारे में बता कर कहते हैं, तेरे घर आकर मुझे गायें चरानी पड़ती हैं और रूखा-सूखा भात खाना होता है। तू मुझे जड़ कानू (मूर्ख कन्हैया) और कलीया (कलूटा) कहती है। तेरे घर आकर मेरा नाम दधि चोरों में हो गया है। मैं बाँस की वंशी बजाता हूं, इससे मेरे ओठ फट जाते हैं और रक्त निकल आता है। राज-पटेश्वरी होकर छह रत्ती की बांसुरी क्यों नहीं बनवा देती—

दुई ओठ फाटि तेज बहि जाय
बासर वंशी बजाते।
छय राति सोनार बंशी गड़ाय ने द
राज पटेश्वरी हुइ।

यशोदा उन्हें मना लेती हैं, तो लपक कर उनकी गोद चढ़ कर दूध पीने लगते हैं। बस इसीलिए तो उठ नहीं रहे थे।

माधव देव के 'पिम्परा' गुचुरा झुमुरा (चींटी हटाने-

का नाट) और सूर के एक पद में साम्य है। सूर की एक गोपी ने कृष्ण को माखन चोरी करते समय पकड़ लिया। अभी तक कृष्ण बहाना बनाकर बच जाते थे, आज रंगे हाथ पकड़े गये—

सून्यो निपट अँध्यारो मंदिर दधि भाजन में हाथ।
अब कहु कहा बनैहो ऊतर नाहिन कोऊ साथ॥

कृष्ण कम चतुर नहीं, झट बोल पड़े—

मैं जान्यो यह घर आपनो है, या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न कौं कर नायो॥

इधर माधव देव की ब्रजबुलि में संवाद देखिये—

गोपि बोले एथा तुमी आइला कि कारणे।
मोर घर बुलि आइलो बोले नारायणे॥

गोपी- हे कृष्ण, तुहु घर नाहिं जानि आवल।
इहात कोने दोष नाहिं। हमार लवनु कलसि भितरे,
कैंचन हस्त निवेसिये थिक ?

यहां भी कृष्ण वही उत्तर देते हैं, पिम्परा अर्थात् चींटी निकालने के लिए—

पिम्परा गुचाइते लागि हात दिया आछि।

हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य में भ्रमर गीतों की विशेष महत्ता है। सूरदास ने भ्रमर गीत का प्रवर्तन किया था। १६वीं शती के गोपाल आता के 'गोपी-उद्धव संवाद नाट' में भ्रमरगीत से साम्य मिल जाता है। यहाँ भी ऊद्धव कृष्ण की चिट्ठी लेकर ब्रज वासियों को समझाने आते हैं। वे गोप-बालाओं के प्रेम और विरह-दुःख से प्रभावित होकर लौटते हैं। अन्तर यह है कि ब्रजभाषा के उद्धव निर्गुण पन्थी दिखाये गये हैं और असमीया ब्रजबुलि के उद्धव कृष्ण को ही परब्रह्म कहकर उनके प्रति पुत्र आदि की मोहदृष्टि दूर करने के लिए कहते हैं। सूर अथवा नन्ददास की गोपियों की तरह गोपाल आता की गोपियां भी विकल होकर पूंछती हैं—

कहरे उद्धव कह, प्राणर बान्धव हे,
प्राणर कृष्ण कबे आवे।

वे कृष्ण की कपट प्रीति की निन्दा करती हैं—

तोहारि कानुर संगे पिरिति न करब हा मोरे
कपटि जाहेर सम नाइ।

शंकर देव- परवर्ती युग में चरित-पोथी अधिक लिखी गयीं। रामायण और भागवत के आँशिक अनुवाद और अंकीया नाटों की भी परम्परा चलती रही। कलापचन्द्र नामक कवि ने राधा चरित लघुकाव्य लिखा, इन्होंने भी परपुरुष उन्मत्ता राधा का चरित्र नहीं अपनाया। इन्होंने कृष्ण विरहिणी राधा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है—

किञ्चतो नाहिके प्रभा तान शरीरत।
नाहि श्रुति ज्ञान आस राधार देहत॥
नाहि गात मांस अस्थि–चर्म मात्र सार॥
देखिला उद्धवे हेन अवस्था राधार॥

यहां सूर की राधा याद आ जाती है—

अति मलीन बृषभानु कुमारी।
अधोमुख रहति उरध नहि चितवत ज्यों गथ हारे थकित जुआरी॥

१८वीं शती से असमीया साहित्य दरबारी साहित्य हो गया। इस समय हिन्दी में रीतिकाल चल रहा था। इस युग के दोनों भाषा–साहित्यों में गम्भीरता का अभाव और कृष्ण भक्ति परम्परा का लोप देखा जाता है। दोनों में ही श्रृंगार–रसात्मकता आ गयी थी। आगे चलकर असमीया में भी राधा–तत्त्व का समावेश हुआ। भूषण-हरण झुमुरा' का लेखक ज्ञात नहीं, किन्तु इसमें राधा-कृष्ण के दांवपेंच का वर्णन है।

सृष्टि में प्रणय और वात्सल्य के भाव प्रमुख हैं, इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार रूप में कृष्ण के चरित्र और चरित का गठन हुआ। ब्रह्म के साथ ही साथ वे चंचल माखन चोर, गोपी चित-चोर और ब्रज-उद्धारक के रूप में सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में चित्रित हुए हैं। इस नाते असमीया और ब्रज के कृष्ण में साम्य है। हां असमीया की अपनी विशेषता यह है कि उसमें कृष्ण के पति एवं योद्धा रूपों का भी वर्णन है तथा इस भाषा में केवल पदों का गायन ही नहीं हुआ अपितु उन पर गद्य–पद्य मिश्रित भाषा में नाट भी लिखे गये। किन्तु असमीया में मीरा, ताज और रसखान का अभाव है।

# हिन्दी का सामाजिक-सांस्कृतिक रूप

**डॉ० बचनदेव कुमार**

राँची विश्वविद्यालय, राँची

आप कन्याकुमारी के समुद्रतट पर खड़े हों, तो हिन्द महासागर की नीलाभ जलराशि अरब और बंगाल सागरों के श्वेत-हरित जल को अपने में समेटती दिखाई देगी। दूर-दूर से आने वाली विभिन्न रंगों की अन्तर्धारायें विराट महासमुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं। हिन्दी की जातीय प्रकृति भी ऐसी ही है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्व० दिनकर जी ने भारत की जिस सामाजिक संस्कृति की चर्चा की है, उसका निखरा हुआ रूप हिन्दी में परिलक्षित होता है। भारत जैसे विशाल और वैविध्य-पूर्ण देश में फैली विभिन्न सांस्कृतिक और भावात्मक संस्थाओं को हिन्दी ने एक सूत्र में आवद्ध करने का गुरुत्तर कार्य किया है। यह संगम प्रयाग और कन्याकुमारी से कम पवित्र नहीं है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की परम्परा से लेकर नव्य भारतीय आर्य भाषाओं तक की भाषिक संपदा को बहुविधि समेटने का कार्य हिन्दी ने किया है। वैदिक और लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पालि और भारत के मानचित्र पर प्रचलित विभिन्न लोकभाषाओं की परम्पराओं और उपलब्धियों का आदर्श समन्वय, हिन्दी प्रस्तुत करती है। पूरे देश का प्रतिनिधित्व और नेतृत्व करने वाली यह भाषा अपनी सहायक बोलियों तथा निकटवर्ती संबद्ध भाषाओं से परिवृत्त तथा परिपुष्ट है। नूतन समन्वयात्मक प्रयोगों के लिए हिन्दी की प्रकृति तथा प्राणभूमि सदा अनुकूल रही है। इसी कारण, हिन्दी में भारत की विविधताएं अपनी संपूर्ण मौलिकता के साथ गुंथी हुई हैं। यह सामाजिक संस्कृति हिन्दी की विशिष्ट संपत्ति है।

हिन्दी की समन्वयात्मक प्रकृति का ही यह परिणाम है कि वह पूरे हिन्द की भाषा है। वह किसी सीमित क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा नहीं है। बंगाल, उड़ीसा, असम, तमिलनाडु, कश्मीर जैसे राज्यों में बंगला, ओड़िया, असमिया, तमिल, कश्मीरी भाषाएं बोली जाती हैं। लेकिन यह स्थिति हिन्दी की नहीं है। वह इस विशाल देश के किसी राज्य विशेष की भाषा न होकर समूचे आर्यावर्त्त की भाषा है। कई भाषाएं जाति विशेष की भी होती हैं। जैसे मुण्डा लोग मुण्डारी बोलते हैं और हरियाणा के अहीर अहीवाटी बोलते हैं। हिन्दी किसी जाति विशेष की भाषा नहीं है। उसका बेधड़क प्रयोग भारत की सभी जातियों के लोग साधिकार करते हैं। साथ ही हिन्दी किसी एक धर्म द्वारा स्वीकृत भाषा भी नहीं है। इस्लाम के लिए अरबी, उर्दू, जैन धर्म के लिए प्राकृत और बौद्ध धर्म के लिए पालि भाषा को स्वीकृति मिली है। लेकिन, हिन्दी इस तरह किसी विशिष्ट धार्मिक संप्रदायक की भाषा नहीं। उसने भारत के विशाल भूखण्ड पर प्रचलित सभी धर्मों को वाणी दी है। सभी धर्मों को अपनी समाहार शक्ति द्वारा समेट कर विविधता में एकता की स्थापना का आदर्श हिन्दी ने

परिलक्षित किया है। जिस तरह हिन्दी किसी एक राज्य, किसी एक जाति एवं किसी एक धर्म की संपत्ति नहीं, इसी तरह यह भाषा किसी एक दर्शन और विचारधारा को लेकर नहीं बढ़ती है। धर्म, न्याय और जीवनदृष्टि विषयक किसी एक विचारणा को ही अभिव्यक्त करना हिन्दी ने नहीं सीखा है। अपितु, भारत की सुदीर्घ चिंतन परम्परा में व्याप्त सभी दार्शनिक पद्धतियों का सुन्दर समन्वय हिन्दी में हुआ है। समस्त भारतीय जीवन-दर्शन का सामंजस्य उपस्थित कर हिन्दी ने देश की बिखरी हुई मनीषा को समेटने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। समन्वय की इस गंगा में देशी और विदेशी सभी भाषाओं की शब्द-संपदा का समाहार उपलब्ध है। महान् अर्जनशील भाषा होने के कारण हिन्दी ने विगत अनेक शताब्दियों में विभिन्न जातियों, स्थानों और संप्रदायों के भाषा-साहित्य के सम्पर्क से इतना अधिक ग्रहण कर उसे पचा-पचाकर अपनी प्रकृति में ढाल लिया है कि अब उनके मूल स्रोतों को खोजने में भी कठिनाई होगी। हिन्दी की सबसे बड़ी स्वभावगत विशेषता उसकी उदारता है। भाषा की सजीवता और उदारता के कारण ही हिन्दी में अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्द समा गए हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साथ ही द्रविड़ भाषाओं की शब्दावली को भी हिन्दी ने पूरी सहृदयता के साथ अंगीकर किया है। आज हिन्दी की शब्द-संपदा किसी एल मूल की नहीं है, अपितु उसमें विभिन्न देशी-विदेशी भाषा-परिवारों का आकलन हुआ है। किसी को विश्वास भी नहीं होगा कि अचार मूलतः पुर्तगीज शब्द है और रिक्शा चीनी भाषा का अवदान है। इसी तरह फ्रेंच से रेस्तरां, जापानी से सायोनारा, रूसी से स्पुतनिक, अरबी से शहर जैसे शब्द भी हिन्दी में आकर घुल-मिल गये हैं। अंग्रेजी, अरबी, फारसी भाषाओं से आगत शब्दों की सूची तो बहुत लम्बी है, जिसका उदारतापूर्वक स्वागत हिन्दी ने किया है। हिन्दी की इस समन्वयात्मक प्रकृति के संदर्भ में ही भारत के संविधान के अनुच्छेद ३५१ में स्पष्ट निर्देश किया गया है—केन्द्रीय सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा के विकास को इस प्रकार उन्नत बनाये कि वह भारत की मिश्रित संस्कृति के समस्त तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उपयोग में लाये जाने के लिए विकसित हो सके तथा हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भारत को अन्य भाषाओं में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को रूप और शैली में हस्तक्षेप किये बिना आत्मसात् करते हुए और अपनी शब्दावली के लिए जहाँ आवश्यक अथवा अपेक्षित हो, प्राथमिक रूप में संस्कृत तथा गौण रूप में अन्य भाषाओं से शब्द लेकर उसे संपन्न बनाये।

हिन्दी ने अपने व्यक्तित्व के इस सामाजिक-सांस्कृतिक रूप का विराट् परिचय दिया है। अपनी सर्जनात्मक शक्ति और समाहार प्रतिभा के सहारे आज हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर आसीन हो रही है। इसका कारण मात्र यही है कि हिन्दी भारत की बहुआयामी सांस्कृतिक परम्पराओं और उपलब्धियों के समन्वय का सागर है। इस सागर में भारत भूमि पर विचरण करने वाली विभिन्न जातियों, धार्मिक संप्रदायों, आचार-दर्शनों और सांस्कृतिक सरणियों का संगम हुआ है। देवात्मा हिमालय के तुषारमण्डित शिखरों की शुभ्र धवलता ही नहीं, अपितु भारत की सुजला सुफला शस्य श्यामला धरती की सारी मधुरिमा और हिन्दुस्तान के पैर पखारने वाली समुद्र तरंगों की फेनिलता भी वर्तमान है हिन्दी में। समूचे देश की सामाजिक संस्कृति का प्रतिनिधि समवाय है यह भाषा। इसी कारण सम्पूर्ण भारत को भावात्मक एकता के सूत्र में बांध कर रखने की अप्रतिम क्षमता केवल हिन्दी में है। अन्य कोई भारतीय भाषा इस कौशल के साथ इतने विशाल देश के वैविध्य को समेटने में समर्थ नहीं। अपनी सरलता, व्यंजकता और एकीकरण की क्षमता के कारण हिन्दी ने भारत के हर कोने में भारतीय जनता को आकृष्ट किया है। हिन्दी की आकर्षण शक्ति ने ही मिथिला में विद्यापति, अवध में तुलसीदास, पंजाब में गुरु गोविन्द सिंह, ब्रज में सूरदास, महाराष्ट्र में एकनाथ, काशी में कबीर, असम में शंकरदेव को आकृष्ट किया। समूचे देश की भौगोलिक सीमा में बिखरी सांस्कृतिक विरासतों और जीवन मूल्यों का विस्मयकारी समन्वय हिन्दी में हुआ है। हिन्दी का द्वार

सभी भाषाओं, सभी जीवन दर्शनों, सभी सम्प्रदायों और सभी संस्कृतियों के लिए निरन्तर प्रशस्त है। हिन्दी में यह सामर्थ्य है कि वह इस देश की विभिन्न भाषाओं में-से छनकर सामाजिक केन्द्रीय भाषा का स्वरूप ग्रहण करे। हिन्दी में यह औदार्य है कि वह विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों को समेटकर भारत की सामाजिक संस्कृति की इकाई तैयार करे। भावात्मक और रचनात्मक एकता के एक सूत्र में बांधने की इस विलक्षण क्षमता के कारण हिन्दी का व्यक्तित्व दिव्य बना है। हिन्दी की दिव्यता, भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रकृति के संवहन में सुरक्षित है। हिन्दी रणनिनाद की भाषा नहीं। अवसर आने पर सोये लोगों को जगाने और अन्याय से टकराने का संदेश हिन्दी ने अवश्य दिया है, लेकिन वह कलह और विद्वेष की भाषा नहीं है। गौतम, बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी से लेकर पंडित नेहरू तक इस देश के चिंतकों ने प्रेम, अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व का जो संदेश दिया है उसी की सार्थक अभिव्यक्ति हिन्दी ने भी की है। हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है कि युद्ध दर्शन की अपेक्षा लोकमंगल और विश्वमैत्री के प्रस्तुतीकरण में हिन्दी के रचनाकारों ने विशेष रुचि दिखलाई है। प्रारम्भ से ही यह भाषा समन्वय, एकता और बन्धुत्व की वाहिका रही है। तुलसी और कबीर, जायसी और रहीम, सूर और मीरा, रसखान और नन्ददास जैसे सभी कवियों का अभिप्रेत भारतीय जनजीवन को अध्यात्म और प्रेम के सूत्र में गूंथना ही था। इन सब कवियों ने हिन्दी को भारत भर में व्याप्त विविध मत मतान्तरों और आचार पद्धतियों के समन्वय का साधन बनाया। लोकमंगल की जिस विशिष्ट भंगिमा को गोस्वामी तुलसीदास ने स्वीकार किया था, उसी का उद्घोष इन पंक्तियों में हुआ है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।  
सुरसरि सम सब कहं हित होई॥

हिन्दी भी गंगा की तरह सबका हित करती रही है। उसका संकल्प समन्वय की विराट चेष्टा है। युगानुरूप अभिव्यक्ति कौशल और परिवेश के साथ जुड़कर हिन्दी ने निरन्तर एकता और समन्वय की भावना को प्रोत्साहित किया है। विश्वबन्धुत्व एवं समन्वय के मार्ग पर हिन्दी के साहित्यसेवी लगातार आगे बढ़ते गये हैं, इसका प्रमाण है अमीर खुसरो, तुलसीदास और कबीर से लेकर भारतेन्दु, निराला, प्रेमचन्द और दिनकर का लेखन। हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति और भावात्मक एकता की अनिवार्य कड़ी है, इतना निःसंदिग्ध है। राष्ट्रीय ऐक्य के संगठन में देश की अन्य भाषाओं का योगदान ईंट के समान है, जब कि हिन्दी इन ईटों को जोड़ने के लिए सीमेंट का काम करती है। हिन्दी ने भारत की विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओं में संचित ज्ञानराशि को एकीकृत कर राष्ट्रीय एकता की दिशा में उर्वरता लाने का समर्थ प्रयास किया है। आज वह समस्त भारतीय विचारणा की वाहिनी बन चुकी है, क्योंकि इस महान् देश के चिंतकों, सौंदर्य साधकों, व्यवहार मनीषियों और तत्वज्ञों की साधना को वह समुद्र की तरह मुक्त रहकर आत्मसात् करती चली जा रही है। इसी सहृदयता ने हिन्दी के सामाजिक सांस्कृतिक व्यक्तित्व को तीव्रता दी है। हिन्दी के पास वह राष्ट्र-दृष्टि है, जिससे भारत की एकता के तन्तु जुड़ते हैं। इसी विशिष्टता के कारण आज हिन्दी भारत भर में फैले महामानव समुद्र की वत्सलता का पात्र बनी है। ●

# ३. समाज कला तथा संस्कृति-पर्व

# हिन्दू–संस्कृति

**–बाबू सम्पूर्णानन्द जी**

संस्कृति शब्द का प्रचार तो आज-कल बहुत है, परन्तु इसके अर्थ का बोध उस मात्रा से बहुत कम है। साधारणत: तो लोग इसका प्रयोग सभ्यता के अर्थ में करते हैं। सभ्यता और संस्कृति साथ-साथ कहने पर भी बहुधा या शब्द विन्यास, अलंकारिक मात्र होता है। अभी थोड़े ही दिन हुए श्री पुरुषोत्तम दास टन्डन के उद्योग से काशी में संस्कृत सम्मेलन हुआ था। उसमें सम्मिलित होने वाले पण्डितों के लिए वर्णाश्रम ही भारतीय (हिन्दू या आर्य) संस्कृति का प्रतीक है। संस्कृति के यदि कोई-और भी अंग या भेद होते हैं, तो उस सम्मेलन में किसी ने उनका नाम नहीं लिया। वर्ण भेद, जन्मगत हो या कर्मगत परन्तु उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपने गुण कर्मानुसार यथोचित स्थान मिल सके। ताकि वह अपना और समाज का अधिक से अधिक अभ्युदय और सम्भवत: अपना पारलौकिक कल्याण भी कर सके। आश्रम मत-भेद का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति के जीवन का इस प्रकार नियमन किया जाये कि उसके सहज गुणों के विकास को अधिक से अधिक अवसर मिल सके। जो स्थान समष्टि के जीवन में वर्णभेद का है, वही व्यष्टिके जीवन में आश्रम-भेद का है। दोनों ही सामाजिक संगठन के पहलू हैं, अत: सभ्यता के अन्तर्गत हैं। सभ्यता और संस्कृति सर्वथा असम्बद्ध न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। संस्कृति अभ्यान्तर, सभ्यता बाह्य तत्त्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है। परन्तु सभ्यता की सद्य नकल की जा सकती है। अफ्रीका का आदिम निवासी कोट–पतलून पहन सकता है यूरोपियन ढंग के बगलों में रह सकता है। कल कारखाने चला सकता है। फिर भी उसका सांस्कृतिक स्तर अंग्रेज जैसा हो जाये, यह आवश्यक नहीं है। धोती कुर्ता पहन लेने, आसन पर बैठकर दाल रोटी खाने, फूस की झोपड़ी में रहने और चर्खा चलानेसे ही भारतीय संस्कृति का रंग नहीं चढ़ जाता। संस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वासों से है। एक ही धर्म के अनुयायी, एक दूसरे के बहुत निकट खिंच आते हैं। परन्तु ऐसा नियम नहीं है कि ऐसे लोगों की संस्कृति एक हो। पूर्वी बंगाल के मुसलमान की संस्कृति, सीमा प्रान्त के पठान की सस्कति से भिन्न है। वह पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं से अधिक मेल खाती है। यूरोप के रहने वाले ईसाई, यहूदी, मुसलमान लोगों की संस्कृति प्राय: एक-सी है, यद्यपि वे लोग विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं।

संस्कृति समष्टिगत समान अनुभवों से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले हुए एक ही प्रकार के गिरि निर्झर, नदी, सागर को देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुख-दु:ख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्राय: एक-सा होता है। उनकी सामूहिक आशाऐं और आकाक्षाएं प्राय: एक-सी होंगी। वाङ्मय हृदय के उद्वेग का सूचक होता है। कवि, नाट्यकार, तथा लेखक लोगों के अन्तस्थल में झंकृत होने वाले तारों की स्वर लहरी को वाग्वद्ध कर लेता है, यदि वह ऐसा करने में असफल होता है तो उसकी कृति कृत्रिम, असफल और लोक में अपनी रह जाती है। इसका

तात्पर्य यह है कि जिन लोगों की अनुभूतियां एक-सी होंगी, उनमें वाङ्मय ही एक या एक-सा ही होगा। यही कारण है कि रहीम, जायसी, रसखान, कबीर, मुसलमान होते हुए भी लोक प्रिय हो गये। परन्तु नसीम या दूसरे उर्दू कवियों की रचना, चाहे वे हिन्दू ही रहे हों, थोड़े से नगर-वासियों तक ही पहुँच सकी। समान अनुभूति, धर्म-भाव में भी समता उत्पन्न कर देती है। ईश्वर भले ही एक हो परन्तु वह रुद्र भी है और शंकर भी। राजनीतिक पराजय, दुस्काल, महामारी, युद्ध से घिरी हुई जनता को वह रुद्र रूप में भी देख पड़ेगा; परन्तु विजय, सुख-सम्पत्ति, शान्ति के समय वही शंकर हो जाता है। नित्य नये देश पर राज्य स्थापित करने वाले, नित्य मंदिर तोड़कर मस्जिद की प्रतिष्ठा देखने वाले विदेशी और विधर्मी नरेशों के भूलुण्ठित मुकटों पर पांव रखकर उनके प्रजानन को जजिया लेकर जीवन भिक्षा देने वाले अरब के लिए खुदा कहहार और जब्बार किन्तु साथ ही मुसलमान के प्रति रहमान और रहीम था। परन्तु उसी समय हिन्दू-पराधीनता के जाल में जकड़ा हुआ, अपने मन्दिरों का नित्य ढहना देखने वाला अपनी स्त्रियों की रक्षा में असमर्थ हिन्दू-निर्बलों के बल रणछोड़ भगवान के द्वार पर नाक, रगड़ रहा था और रासलीला की ताताथेई में अपने हृदय की धड़कन को दबाना चाहता था। धर्म वही, परन्तु कहाँ गुप्तकाल का वाङमय और कहां पठान-मुगलकाल का भक्ति और रीतिकाव्य। आज हमको स्वतन्त्र हुए बहुत दिन नहीं हुए और अभी तो हम बहुत से कष्टों से अभिभूत हैं, फिर भी वह पहले जैसी निराशा नहीं है। आत्मनिर्भरता की मात्रा बहुत बढ़ गयी है। इसकी प्रतिच्छाया आज के वाङमय में स्पष्ट देख पड़ती है। आज लोगों के हृदयों में वह दैन्य नहीं है, कोई महाकवि आज भक्ति काल जैसी रचना करके लोकप्रिय नहीं बन सकता। आज ऐसे भगवान की खोज है, जो निर्बलों का नहीं, वरन सब लोगों का बल हो,। लोकानुभूति का प्रभाव योगियों तक पर पड़े बिना नहीं रहता, एक ओर नानक कबीर तथा दूसरी ओर गोरक्षा की वाणियों को मिला लीजिये। जो याचना-भाव नानक-कबीर में है, गोरक्षा उससे अपरिचित है।

लोकानुभूति का दार्शनिक विचारों के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध है। अच्छा से अच्छा, गम्भीर से गम्भीर, दार्शनिक विचार हो; परन्तु जनता उसे व्यापक रूप से विशेष अवस्थाओं में ही अंगीकार करती है। व्यक्तिवाद, समाजवाद अध्यातमवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, प्रधानवाद शून्यवाद, बुद्धि विलास के लिए सभी वाद अच्छे हो सकते हैं; परन्तु कोई ऐसी परिस्थति होती है, जिसमें किसी समाज विशेष को कोई वाद-विशेष रुचि का प्रतीत होता है। कालान्तर में वह विचार-धारा उस स्थान को खो बैठती है। वादों के संघर्ष का इतिहास बड़ा रोचक है। उसमें मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का इतिहास निहित है।

संस्कृति उस दृष्टि कोण को कहते हैं, जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि क्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर रहता है। थोड़े में यह कह सकते है कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है, जो आज की अनुभूति है वह कल संस्कार के रूह में अवशिष्ट रह जाएगी और कल की अनुभूति सम्भवतः दूसरे ढंग की होगी। इसलिए दृष्टिकोण भी बदल जायेगा। दूसरे शब्दों में यह समझ लेना चाहिए कि लकड़ी, पत्थर की भांति निश्चल, एक रस पदार्थ नहीं होती, वह बदलती रहती है। जब हम किसी देश या राष्ट्रकी संस्कृति की चर्चा करें तो उस काल विशेष का भी उल्लेख कर देना चाहिए, जो हमारे ध्यान में है। अन्यथा हमारा कथन निरर्थक होगा। यूरोप तो वही है, परन्तु आज से ६०० वर्ष पहले की संस्कृति, एक दूसरे से बहुत भिन्न है। १९१७ के पूर्व और उसके बाद के रूस की सांस्कृतिक अवस्था में आकाश पाताल का अन्तर है। ऐसी दशा में यूरोपियन या रूसी संस्कृति कहने से किसी निश्चित भाव का बोध नहीं हो सकता। ऐसे प्रयोग सुनने में सरल लगते है, परन्तु भ्रामक होते हैं।

परन्तु इस कथन का ताप्पर्य यह नहीं है कि संस्कृति जल्दी से बदली जा सकती है। जो बातें संस्कृति को संवारती हैं, उनमें इतना स्थायित्व होता है कि संस्कृति भी बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती है। देश का जलवायु बदलता ही नहीं, न उसके भौगोलिक या दूसरे प्राकृतिक

दृग्विषयों में परिवर्तन होता है। देश के राजनीतिक इतिहास और आर्थिक संगठन के बनाने में बहुत कुछ हाथ उसकी भौगोलिक स्थिति का होता है। इस लिए घटनाओं में उलट-फेर होते हुए भी राजनीतिक और आर्थिक जीवन की रूप रेखा भी बहुत कुछ एक-सी होगी, इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्मृति, पुरानी सामूहिक अनुभूतियों के संस्कार भी संस्कृति को जल्दी बदलने से रोकेंगे। राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक क्रांति भले ही हो जाये और एक बार वर्तमान और अतीत के सम्बन्ध को विच्छिन्न भी कर दे, परन्तु कुछ काल में जब क्रांति के चण्डांशु का तेज से कुछ धीमा पड़ता है तब पुरानी स्मृतियाँ फिर जागने लगती हैं और संस्कृति की धारा को पुराने मार्ग पर ले जाने का पुनः यत्न करती हैं। क्रांति का संस्कार मिटाया नहीं जा सकता परन्तु नये के नयेपन में पुराने की झलक आ जाती है।

इस भूमिका में ही हम भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं। भारतीय जनता में हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है। भारत का वह भाग जिसके, हम आज नगारिक हैं सर्वतः हिन्दू प्रधान है। वैदिक और पौराणिक काल के ही नहीं, प्रत्युत वर्तमान काल तक की प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनायें इसी भूभाग में घटीं और प्रायः सभी आदरणीय व्यक्तियों का यही आर्य - क्षेत्र था और है। यहाँ रहने वालों को बहुत कुछ समान अनुभवों का सामना करना पड़ता है। इन अनुभवों से जो संस्कार बने हैं, लोगों के विचार जैसे साचों में ढले हैं, उनका द्योतन संस्कृत में होता है। प्रादेशिक भाषाएँ भी एक ही प्रकार के भावों से स्फूर्ति पा रही हैं, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि तुलसी और सूर, मीरा और कबीर नरसी, रामदास और तुकाराम, प्रेमचन्द्र और रविठाकुर को सारा देश अपना मानता है। इस वेदनासाम्य के सबसे बड़े प्रतीक इस युग में महात्मा गाँधी हुए हैं। उनकी वाणी में भारतीय हृदय अपने स्पन्दन की प्रतिध्वनि सुनता था।

इस हमारे देश में हिन्दुओं के अतिरिक्त ईसाई और मुसलमान भी रहते हैं। ये लोग यहीं के निवासी हैं, परन्तु इनके धार्मिक विचार फिलिस्तीन और अरब से आये हैं। मुसलमानों का ईरान, ईराक और अरब से दीर्घ काल तक जो सम्बन्ध रहा, उसके कारण उनके विचारों पर उन देशों की छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। हिन्दुओं के वंशज हैं हिन्दुओं के बीच में रहते हैं। इसलिए बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनमें हिन्दुओं से उनकी समता है। साथ ही उनका प्रभाव उनके पड़ोसी हिन्दुओं पर भी पड़ा है। इस प्रकार सैकड़ों वर्षों में एक मिली–जुली संस्कृति बन गयी है। इसकी प्रधान धारा तो वही है, जो आर्य जीवन के आदि पुरुषों, वेद के शब्दों में 'नः पूर्वेपितरः' प्राचीन ऋषियों और मुनियों के समय से चली आ रही है, बीच बीच में यह सूखने लगी; परन्तु बुद्ध और महावीर, शंकराचार्य और चैतन्य, नानक और कबीर, तुलसी और सूर, राम कृष्ण, और दयानन्द ने उनके पथ को फिर से प्रशस्त किया। इसमें कई सहायक छोटी धाराएं मिली हैं, इसके जल में बूँदे हैं, जिनके स्रोत शकद्वीप, ईरान, ईराक अरब में हैं। आर्य, द्रविड़, शक, पठान और मुगल ने मिल कर इस प्रासाद का निर्माण किया है। आज इसमें प्रबल वेग से यूरोप और अमेरिका से बहती हुई कई नदियाँ मिल गई हैं।

इस मिली-जुली संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका ताना वही है जिसे आर्य या हिन्दू नाम से उपलक्षित किया जा सकता है। बाने के सूत इधर–उधर से आये हैं परन्तु वे सब ताने पर आश्रित हैं। गंगा में बहुत-सी छोटी बड़ी नदियां मिली हैं परन्तु मिलने पर जो पयस्विनी बनती है, वह गंगा ही कही जाती है। इस न्याय से भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति भी कह सकते हैं। भारत के बाहर जब लोग भारतीय संस्कृति का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका संकेत इस संस्कृति की मुख्य धारा की ओर ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि 'भारतीय दर्शन' की चर्चा करने वाले के सामने सांख्य, योग वेदान्तादि आर्य दर्शन होते हैं।

इस हिन्दू या भारतीय संस्कृति ने अपने को धर्म, वांङमय, चित्रकला, मूर्तिकला के रूप में व्यक्त किया है। समय-समय पर इसके स्वरूप में हेर–फेर होता रहता है अशोक कालीन संस्कृति, गुप्त कालीन संस्कृति से भिन्न थी। पठान और मुगल काल में संस्कृति ने कुछ और ही रंग पकड़ा था और उसी समय में उत्तर तथा दक्षिण

भारत में अन्तर था। फिर भी इन सब देश, कालानुगत भेदों के रहते हुए भी उसमें कुछ तो विशेषता है, कुछ अपना पृथक व्यक्तित्व है, जो भेद में भी अभेद को बनाये हुए है। यदि ऐसा न होता तो एक नाम से पुकारना किसी भी अंश में सार्थक न होता। यह विशेषता इनकी प्रधान धारा, आर्य या वैदिक धारा से आयी है। यही वह गुण है जो इसको अन्य संस्कृति से भिन्नता प्रदान करता है, जो भारत का, मानव के लिए संदेश है। विश्व संस्कृति की रचना में, भारत की यही देन होगी। यदि इसे एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द 'आध्यात्मिकता' होगा। इस बात को बहुत दिन हुए स्वामी विवेकानन्द ने यों समझाया था, यदि पश्चिम के लोगों के सामने कोई नयी योजना रखी जाती है तो उनका पहला प्रश्न यह होता है 'क्या इससे मेरी आय में वृद्धि होगी? भारतीय ऐसे अवसर पर यह पूछता है, क्या इससे मोक्ष मिलेगा? इसका तात्पर्य यह नहीं कि यहाँ सब लोग विरक्त, तपस्वी, मुमुक्ष हैं। भाव केवल इतना ही है कि हमारी सामूहिक आत्मा का सुझाव आध्यात्मिकता की ओर है, हम प्रश्नों को आध्यात्मिक दृष्टि कोण से देखते हैं। जो बात आध्यात्मिक स्तर पर रखी जाती है, वह हमको अधिक रुचती है। व्यक्ति-व्यक्ति की मनोवृत्ति में बड़ा अन्तर है, पर सब मनोवृत्तियों का समन्वय करके उनके महत्तम समापवर्त्य के रूप में जो समष्टि मनोवृत्ति, समुदाय प्रवृत्ति बनती है उसका ऐसा ही रूप है।

इस आध्यात्मिक भाव का विश्लेषण करने से इसमें दो-तीन मुख्य विश्वासों का सम्मिश्रण मिलता है। सबसे पहली धारणा तो अद्वैत धारणा है। द्वैतवादी दार्शनिक भी हुए हैं; परन्तु द्वैतवाद विद्वद्गोष्ठियों तक ही रह गया। मध्वादि सम्प्रदायों के भक्तों ने लोकभाषा में भले ही द्वैत-वाद का प्रतिपादन किया हो, परन्तु श्रोताओं ने उनके शब्दों में से भी खींच-खाँचकर अद्वैतभाव की ही पुष्टि की। विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवादों में जो सूक्ष्म भेद हैं, उनकी ओर सामान्य जनता की सरल बुद्धि ने ध्यान नहीं दिया; उसने उन सबमें से सीधा-सादा 'अद्वैत भाव जीवात्मा और परमात्मा का तात्विक अभेद मात्र पकड़ लिया।

अद्वैत भावना का परिणाम, कट्टरपन का अभाव है जो इस संस्कृति की दूसरी विशेषता है। हिन्दू की नस-नस में यह बात भर गयी है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथ जुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

इसके लिए दूसरे के धर्म को सर्वथा मिथ्या मानना, दूसरे की उपासना-शैली को सर्वथा नरक ले जाने वाली समझना, असम्भव नहीं तो बहुत कठिन होता है। क्रोध की तो दूसरी बात है, परन्तु यों उसका हाथ दूसरे के देवालय को ढहाने के लिए उठता नहीं। इसीलिए वह सुगमता से अपने उपास्यों की सूची में वृद्धि कर लेता है और अपने देव-देवियों के नाम पर उस कट्टरपन से नहीं लड़ पाता, जो और-लोग दिखला सकते हैं। पर-धर्मावलम्बियों के साथ जैसा उदार व्यवहार हिन्दुओं ने किया, वह वस्तुतः अप्रतिम है।

अद्वैत भावना का दूसरा परिणाम अहिंसा भाव और दया है। हिन्दू क्रोध भी करता है, क्रूरता भी दिखलाता है, मत्सर, द्वेष, निर्दयता में नीचातिनीच गहराई तक भी पहुँच जाता है। फिर भी उसकी बुद्धि, अहिंसा निष्ठ ही होती है। जब सभी प्राणी अपने ही रूपान्तर हैं तब कौन किससे द्वेष करे, कौन किसका अहित करे। रागद्वेष जनित स्वार्थ के वशीभूत होकर हिन्दू भी बुरा से बुरा काम कर बैठता है परन्तु सामान्यतः उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक होती है, आक्रमणात्मक नहीं। बल होते हुए भी वह अकारण, केवल अपने लिए, दूसरों से कम ही छेड़-छाड़ करता है। अज्ञानवश या मोहवश निर्दयता भी करता है परन्तु प्रत्यक्ष जीव दया, तिर्यक प्राणियों के प्रति समवेदना उसको अधिक रुचती है।

माया ऐसा शब्द है; जिसकी व्याख्या करने में बड़े-बड़े विद्वान भी संकोच कर सकते हैं; परन्तु भ्रम, मिथ्या धोका- यह सब उसके पर्याय बन गये हैं। दार्शनिक सूक्ष्मताओं से अनभिज्ञ अपढ़ ग्रामीण भी ऐसा मानता है कि जगत, माया है। माया बुरी चीज है, इसको तोड़ना चाहिए इन्द्रिय विषयों के पीछे दौड़ने से माया का बन्धन और दृढ़ होता है। अत. हमको इन्द्रिय निग्रह का अभ्यास करना चाहिए। प्रत्येक हिन्दू यति नहीं होता; परन्तु हिन्दू के

चित्त में विषयवासना-विरति की प्रतिष्ठा बैठी हुई है। वह त्यागी को भोगी से ऊँचा मानता है, चाहे स्वयं त्यागी न हो सके। हिन्दू जीवन में किसी कारण तपस्या का थोड़ा बहुत वातावरण रहता है। व्रत, उपवास' जागरण हिन्दू घरों में होते ही रहते हैं। अमुक दिन मांस नहीं खाना, अमुक दिन अन्न नहीं खाना, शाक जातीय होते हुए भी अमुक वस्तुओं को त्याज्य मानना- इनसे हिन्दू बचपन से ही परिचित रहता है।

कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर अटल विश्वास हिन्दू-संस्कृति की दूसरी विशेषता है। ईश्वर या अन्य उपास्य की पूजा करते हुए और योग क्षेम के लिए सैकड़ों देव–देवियों की डेवढ़ियों पर माथा टेकते हुए हिन्दू अन्ततोगत्वा अपने को ही सुख–दुःख का दायी मानता है। इस विश्वास से उसमें अपूर्व शक्ति आती है, वह भले ही विपत्तियों से कातर हो जाये, फिर भी दुःख उसको दूसरों की भाँति विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उसके लिए उतनी महत्व की चीज नहीं है। वह ऐसा मानता है कि यह अनुभव उसे लाखों वार हो चुका हैं और अभी न जाने कितनी वार होना है। इसीलिए तो वह अपने महापुरुषों की देहावसान–तिथि नहीं मानता। जिसको बराबर यह उपदेश मिलता है कि स्वर्ग और नरक भी अनित्य हैं, उसमें कष्ट सहने की अद्भुत छमता आ जाती है।

योग द्वारा विश्वास भी, इस संस्कृति का एक गुण है। योग की दार्शनिक परिभाषाएं कुछ हों; परन्तु साधारणतः यह कह सकते हैं कि आत्मसाक्षात्कार की साधना का नाम योग है। उसके भजन-ध्यान आदि कई पर्याय प्रचलित हैं परन्तु यों कह सकते है कि हिन्दू की ऐसी धारणा-सी है कि किन्हीं उपायों से इसी जीवन में ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है और मनुष्य अपने को देवोमय बना सकता है।

इतना दिग्दर्शन पर्याप्त होना चाहिए। इससे हिन्दू की मानसिक बनावट का– और यह मानसिक बनावट ही संस्कृति का मूल है— परिचय हो जाता है। थोड़े में कह सकते हैं कि इस लोक में रहते हुऐ भी हिन्दू की दृष्टि परलोक ढूँढ़ती है। उसके सामने राम, कृष्ण, जनक के चरित्र रहते हैं।— जिन्होंने राजपाठ के साथ ज्ञान वैराग्य को सफलता से मिला दिया था।

आज कुछ परिवर्तन हो रहा है। पश्चिम के मौलिकता प्रधान प्रभाव ने चकाचौंध पैदा कर दी है। जिस रूप में हमारा धर्म सामने आता है, जिस प्रकार की रूढ़ियों को पुष्ट करता प्रतीत होता है, उससे आज की समस्याएं उलझती नहीं प्रतीत होती हैं। हमारे विद्वान विज्ञान से अनभिज्ञ हैं और व्यावहारिक जगत से दूर हैं। वह विज्ञान और मार्क्सवाद जैसी विचार धाराओं का तर्क पूर्ण उत्तर नहीं दे सकते। फलतः पुराने विचारों और संस्कारों की ओर से वैरस्य होता जाता है। पुरानी स्मृतियां नष्ट नहीं हुई हैं। परन्तु व्यंग और तर्क से उनको भुलाने का यत्न किया जाता है। हमारी आंखों के सामने संस्कृति कलेवर बदल रही है।

रूढ़िवादिता अच्छी नहीं होती। जहां तक कि नये सम्पर्क, नये और पुराने विचारों के संघर्ष, हमारी बुद्धि को उदार बनाते हैं- हमको उनका आदर करना चाहिए। हमारी संस्कृति नवयुग की प्रतीक, नयी विचार–धारा रूपी सहायक सरिता के मिलने से परिपुष्टि होगी। नवीन, प्राचीन में मिलकर उसकी शोभा को बढ़ायेगा। अतीत ज्यों का त्यों लौटाया नहीं जा सकता; संस्कृति वर्तमान के अनुरूप होनी ही चाहिए

परन्तु यह भी न होना चाहिए कि नवीन की खोज में प्राचीन खो जाये। हमारी विशेषताएं मनुष्य मात्र के लिए उपादेय हैं। अद्वैत भावना, अद्वेष, अहिंसा, दया तपस्या इन्द्रियनिग्रह और कर्म सिद्धान्त पर आस्था की आवश्यकता सब को है। इसके अभाव में संस्कृति स्वार्थमूलक पशुता का परिवर्द्धित और विकृति सस्करण होकर रह जाती है। हमारा यह सन्देश, हिन्दू संस्कृति का यह सार, दिग्दिगन्त में फैले; इससे जगत का कल्याण होगा। यदि मानव समाज का पुर्ननिर्माण इन आधारों के साथ आधुनिक विज्ञान के सिद्ध तत्त्वों को मिलाकर किया जा सके, तो सचमुच मनुष्य जाति का भविष्य उसके अतीत और वर्तमान दोनों से उज्ज्वल और श्रेयस्कर होगा।

# राजस्थान की कावड़ : लोक संस्कृति की घर-गंगा

डा० महेन्द्र भानावत

जयपुर

राजस्थान की काष्ठकला में कावड़ का कई दृष्टियों से अत्यधिक महत्व है। लकड़ी का यह छोटा-सा मन्दिर जहाँ धार्मिकता के आस्था-विश्वासों का सुमेरु है, वहाँ कला का जीता-जागता लोक-कीर्ति-स्तूप भी है। विविध कपाटों में खुलने-बंद होने वाली यह देवल, कहते हैं, प्रारम्भ में एक ही पाट की थी जो पटड़ी कहलाती थी और जिसे गंगरार (चित्तौड़) के किसी खाती ने बनायी थी, परन्तु कावड़ के ऊपर ही ऊपर जो टिकिट लगा रहता है, उससे यह बात कहीं मेल नहीं खाती। टिकिट के अतिरिक्त उसके प्रथम पाट के दरवाजे के दोनों किवाड़ों तथा नीचे की ओर गौशाला की पेटी व उसके भीतर की गुप्त बाड़ी की जो इबारतें देखने को मिलती हैं, उनसे तो यह लगता है कि यह कावड़ काशीपुरी की अन्नपूर्णा देवी के मन्दिर से निकली हुई है और इसे प्रचारित करने में वहाँ की कुन्दणाबाई नामक ब्राह्मणी का हाथ रहा है।

## कुंदणाबाई की कावड़

प्रत्येक इमारत के अन्त में कुंदणाबाई के दस्तखत-मय छाप से यह लगता है कि यह कुंदणाबाई या तो इस मन्दिर की प्रमुख स्वामिनी रही होंगी या फिर कोई खास पुजारिन। ये इबारतें इस प्रकार हैं—

(अ) ये कावड़ कासीपुरी के अन्नपूर्णा देवी के मन्दिर में बनती व मिलती है। दः कुंदणाबाई बामणी (टिकिट पर का लेख)

(ब) इस कावड़ को धूप देकर खुलाओ। धूप देकर खुलावे वो सवरग (स्वर्ग) में जाता है। सच मानो जूठ मत मानो। दः कुंदणाबाई।
(पहले पाट के बायें दरवाजे का लेख)

(स) सच मानो जूठ मत मानो। जो कावड़ को नाश करे वो नरक में जाता है। आधी कावड़ सुलावे तो सवा रुपय आखी का ढाई रुपया। दः कुंदणाबाई
(पहले पाट के दायें दरवाजे का लेख)

(द) इस पेटी के अन्दर जो पैसे डाले वो मेरे पास आते हैं। कासीपुरी में अन्नपूरणा देवी के मन्दिर पर मेरे पास आते हैं, जिससे गायों को घास डालते हैं और मेरे एक हजार कावड़ें फिरती हैं। दः कुंदणाबाई बामणी
(गौशाला की पेटी का लेख)

## कावड़ कई देवताओं का मन्दिरः

यह कावड़ एक देवल है। देव मन्दिर है। कई देवताओं का मन्दिर है। कावड़-वाचक, कावड़िया भाट जब इसका वाचन करता है तो सर्वप्रथय अपने नाम ठाम के परिचय के बाद कावड़ परिचय में— 'ये श्री भगवान रामचन्द्र जी की रामायण पढ़ते हैं। इसको आप ध्यान लगाकर सुनिये। ये श्री रामचन्द्र भगवान की कावड़ हैं' कहता है। अतः स्पष्ट है इस कावड़ का उद्देश्य भगवान श्री राम की रामायण गाथा सुनाना और अंत में (जैसा कि कावड़ में, अंत में, राम लक्ष्मण जानकी के दर्शन कराये जाते हैं) उनके दर्शन कराना है। पूरी कावड़ के वाचन के बीच-बीच में भगवान की कावड़, दियाँ री देवला, ईसर री कावड़, परमात्मा री कावड़ जैसे वाचन इसके प्रमाण हैं।

## कावड़ : चलता फिरता मन्दिर

यह कावड़ मन्दिर, स्थिर मन्दिर नहीं है। चलता फिरता मन्दिर है, इसके दर्शनार्थ भक्तों को कहीं जाना नहीं पड़ता। स्थिर मन्दिर के दर्शनार्थ हर भक्त जा भी नहीं सकता परन्तु यह मन्दिर तो एक ऐसा मंदिर है, जो भक्तों को अपने पास न बुलाकर स्वयमेव ही भक्तों के गृह-द्वार पहुँच जाता है। तो फिर क्यों न भक्त लोग इस घर आयी गंगा का अधिकाधिक पुण्य प्राप्त करें? इस कावड़ को धूप देना, धूप देकर इसे खुलवाना और खुलवाकर, दर्शन कर भेंट पूजा चढ़ाना बड़ा पुण्यकारी है। यह पुण्य कोई छोटा मोटा पुण्य नहीं है। सात लोकस्वर्ग में जाने का और नाम अमर हो जाने का पुण्य है।

## कावड़ : सबका मन्दिर सबकी कावड़

यह काठ मन्दिर सबका है। इसका भगवान सबके दर्शन के लिए खुला है। सूर्य की किरण के साथ इसका द्वार सबके दर्शन के लिए खुल पड़ता है और संध्या की अंतिम किरण के साथ यह देव संध्या-रात्रि के लिए सबसे छुट्टी पा लेता है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, अवर्ण-सवर्ण सभी के लिए इस मन्दिर का पट–प्रसाद खुला है। कुम्हारिन सिरियादी, जाटणी करमाबाई, सोनी अवदा, रावल रुपादे, कीर काल, वैश्या गणका, चमार रैदास, छींपा नामदे, नाई सेण, कुम्हार कूंजो जी, धन्ना, कबीरा, जैसलतोलदि, आदा आदि लोकमन के भक्तों की स्मृति को शिलालेख करती हुई यह कावड़ उन अनेकानेक श्रद्धालुओं को भी बांचती है, जिन्होंने अपनी श्रद्धा भक्ति से प्रेरित होकर चना–ज्वार के रूप में अपनी हैसियत का दान चढ़ाया, दक्षिणा दी। चाहे यह दान-दक्षिणा ऊँट, बैल, धाणी, पालकी की हो अथवा वीणा, धानचून तथा सवा रुपये से लेकर पांच सौ रुपये मय ओढावणी पोशाक के हो, किसी के लिए कोई फर्क नहीं है। सब समान अधिकारी हैं कावड़ खुलवाने के, धूप देने तथा बंचवाने के।

## कावड़ : लोकजन की प्रतीक

राम की यह कावड़ केवल राम की ही कावड़ नहीं है। इस के पाट रामायण के चरित्रों के अतिरिक्त महाभारत के पांडव, कुंती, द्रोपदी, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, कृष्णलीला के विविध दृश्य, चीर-हरण, नागनाथन बालक्रीड़ा, गोपी स्नान, सुदामा मैत्री, गोपीचंद, भरथरी, राजा हरिश्चन्द्र, शनिदेव, श्रवण, ब्रह्मा, लक्ष्मी, रामदेव तथा उन अनेकानेक दानी पुरुषों एवं पति-पत्नियों से चित्रित हैं जो कावड़ बंचवाकर कावड़मय होते रहे हैं।

## कावड़िया भाट

अकेला कावड़िया भाट अपनी कावड़ को लिये-लिये हर गाँव, जाति तथा व्यक्ति को अपना तीर्थ समझता है। भाट कावड़ बाँचकर पुण्य लेता है तो अन्य लोग कावड़ बंचवाकर पुण्य प्राप्त करते हैं। जहाँ कहीं कावड़ बंचवानी होती है, कावड़िया बैठकर अपनी गोद में कावड़ रख लेता है और उसके हर पाट, हर चित्र को मयूर-पंख का स्पर्श देता हुआ बड़े लयकारी ढंग से उसका वाचन करता रहता है। वाचन का यह ढंग रोमदला की पड़ वाचन से मिलता जुलता है। वाचन का ढंग ही क्यों, कई स्थलों पर दोनों के चित्र-बोल भी मिलते हुए पाये जाते हैं। यथा—

१– पड़-आर ये गिया बद्दरी काया सद्दरी
  कावड़-गिया तो बद्दरी काया नर सद्दरी

२– पड़-राम लक्ष्मण री जोड़ी सन में लंका तोड़ी
  कावड़ आ राम लक्ष्मण री जोड़ी छिन में लंका तोड़ी

३– पड़ सेत नीं छोड़े सूरमा सत छोड़याँ पत जाय
  सत की बाँधी लक्ष्मी तो फिर आय मले।
  कावड़-सत मत छोड़ो साँवरा सत छोड़ियाँ पत जाय
  सत रे बांदी पिर थर्मा आण मिलेला आय।

४– पड़-धना जाट की खेती वावे तूंबा नपजे मोती
  कावड़-धन्ना भगत री खेती तूंबारा बीज बाया मोती निपजिया।

## कावड़ : निर्माता खैरादी :–

कावड़ बनाने का काम बसी के खैरादी लोग करते हैं। यहाँ इनका यह पुश्तैनी धन्धा है। इसके लिए विविध रंग खैरादी स्वयं तैयार कर लेते हैं। ये रंग पत्थरों से तैयार किये जाते हैं। सर्व प्रथम कवेलू के टुकड़े कर

उन्हें घट्टी में पीस लिया जाता है और तब उसमें गोंद मिलाकर उसे खूब घोटा जाता है। घोटने की यह क्रिया इटाला कहलाती है। कावड़ पाटों पर सर्व प्रथम इसी का लेप कर दिया जाता है। इसके सूखने पर बड़ल्यास गाँव के लाल पत्थर को अच्छा घिसकर उसमें गोंद मिलाकर लगाया जाता है। यह लेप कोई पाँच बार किया जाता है और तब इसपर लाल रंग लगाया जाता है। यह रंग लगाने के बाद फिर चित्र मांडनों का काम प्रारम्भ किया जाता है। परन्तु अब कावड़ कोरने में इतनी मेहनत कोई नहीं करता। अब तो बाजार से बने बनाये रंग आते हैं। इन्हीं से तुरत-फुरत कावड़ तैयार कर ली जाती है। आजादी के बाद इन कावड़ों का उतना वाचन नहीं रहा। ये अब सज्जा की वस्तुएं भर हैं। अतः इनका व्यवसाय प्रारम्भ हो गया। फलतः विदेशों में जितनी इनकी माँग बढ़ी, उतनी हमारे देश में भी नहीं।

इन कावड़ों के पाटों की संख्या भी घटती-बढ़ती रही। वर्तमान में अमूमन दो प्रकार की कावड़ें चलती हैं-आठ पाट वाली तथा दस पाट वाली। साइज भी काफी घट-बढ़ती रही। बड़ी से बड़ी कावड़ चार फीट की मेरे देखने में आयी है। साधारणतया एक फीट की कावड़ें चलती हैं। कावड़िया भाट इसे चौरतूणे चौरस कपड़े में बड़े यत्न पूर्वक संभाले रखता है।

## कावड़:–लोक शिक्षण का उपयोगी माध्यम

यह कावड़ अपने पारंपरिक रूप में लोक शिक्षण का अत्यन्त सरल किन्तु बोधगम्य माध्यम था। धर्म और नैतिक शिक्षा की बहुत बड़ी पढ़ाई इससे समाज के प्रत्येक वर्ग-तबके को प्राप्त होती रही। यही नहीं, कला और सांस्कृतिक अभिरुचि का भी यह महत्वपूर्ण सोपान रहा। हमारे समाज-परिवार के आदर्श जीवंत रूपों के चित्रांकन से जहाँ संपूर्ण ग्रामजीवन एक सांस्कृतिक सम्य इकाई में भाव बैठ पाता था, वहाँ अपनी-अपनी आस्था उम्मीदगियों की दृढ़ पालना का भी संबल लेता था। हवा बदलने से यह सारा परिवेश बदल गया। अब नई हवा ने, इन्हीं विविध रंगों को आज के अनुकूल उपयोगी बनाने के प्रयोग प्रारम्भ कर दिये। इससे इन सांस्कृतिक थातियों को नये संदर्भ देने से नया जीवन प्राप्त हुआ।

## कावड़: विविध प्रयोग–उपदेश

अब इन कावड़ों का उपयोग शिक्षा के अनेक पहेलुओं में किया जाने लगा है। परिवार नियोजन, पौढ़ शिक्षा, अल्पबचत, अन्धविश्वास, हड़ताल, अनुशासन, बेराजगारी, नारी शिक्षा जैसे विषयों को लेकर आवश्यकतानुसार कावड़ पाट चित्रित कर लिए जाते हैं और तब उन चित्रों के आधार पर कोई आलेख तैयार कर उनका वाचन किया जाता है। इससे लोकमानस पर उस बात का गहरा असर होता देखा गया है। स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों को कोई चित्रमय कहानी, कविता, नाटक, गीत आदि लेकर पाठ को अधिक से अधिक सरल कर असरकारी बनाया जा सकता है। अभी ऐसे प्रयोग व्यापक रूप में नहीं हुए हैं। शिक्षा विभाग तथा शिक्षक इसका माध्यम लेकर आज की शिक्षा को अधिकाधिक मनोरंजक बना सकता है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी कावड़ का उपयोग बड़े सुन्दर रूप में किया जा सकता है। आवश्यकता है अच्छे प्रयोग धर्मियों की जो, शिक्षा-संस्कृति की रुचियों का गहन अध्ययन लिए हों और जिन्हें इन पारम्परिक कलानिधियों से गहरा लगाव हो। अब तो कावड़ों में परंपरा से हटकर मनचाहे चितराम कराये जा रहे हैं।

मैंने पर्यटन स्थलों, तीर्थ स्थानों, विविध लोक नृत्यों उत्सवों तथा जनजातियों संबन्धी संपूर्ण जानकारी देने वाली कई कावड़ें नई बनी देखी हैं। यह शुभ लक्षण ही है। नहीं तो इन कावड़ों का अस्तित्व ही लोपगोप हो जायेगा। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में इन कावड़ों के कई उपयोगी रूप बनाये जा सकते हैं।

# महाप्राण निराला की भक्ति-भावना

—डॉ० वचनदेव कुमार

राँची विश्वविद्यालय, राँची

विद्रोही कवि निराला, जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित साहित्य-सृजन करते रहे, वही सहसा अपने को भगवान् की ओर उन्मुख कर दें, ईषत आश्चर्य बोधक अवश्य लगता है। निराला न तो किसी मृगेक्षिणी की फटकार खाकर ही ईश्वरोन्मुख हुए, न विद्यापति की तरह जीवन की अस्तवेला में पाप—प्रक्षालनार्थ भक्ति-गीत लिखने लगे, न सुजन समाज को रिझाने के लिए 'हरि गोविन्द सुमिरन' का बहाना करते रहे, न नौ सौ चूहा खाकर बिल्ली चली हज को जैसी लोकोक्ति को चरितार्थ करते रहे बल्कि इस क्रांतिकरी कवि के अंतस्थल में भक्ति की अंत:सलिला सदा स्पंदनशील रही। अनेकानेक क्रांतिकारियों की जवीन-कथा हमें ज्ञात है, जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम में सम्मिलित होने के पूर्व मां काली के मंदिर में प्रविष्ट हो आशीष ग्रहण करते थे। अत: वे अंग गलितं मुंडं पलितं विहीनं जातं तुंडम् की स्थिति-प्राप्ति के पश्चात् कांपती थर-थराती उंगलियों से सुमिरनी पकड़कर अंत समय में रामोच्चार कर अपवर्ग प्राप्ति के आकांक्षी नहीं थे, वरन् उनके कवि-जीवन के आरम्भ-विन्दु से ही उन पर हम आस्तिकता एवं भक्ति का मजीठ रंग पाते हैं।

गीतिका के प्रारम्भिक गीत को ही देखें:—

वर दे वीणावादिनी वर दे।
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत—मंत्र नव
भारत में भर दे ।
काट अन्ध-उर के बन्धन—स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष—भेद-तम हर, प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।

इसके कारण अनेक कहे जा सकते हैं; किन्तु समाज-शास्त्रीय आधारों पर कहा जा सकता है कि निराला का सारा जीवन ही करुण-काव्य रहा। उनके सांसारिक दुखों का क्या कहना ? शैशव-काल से ही वे जीवन-रण में जूझते रहे और पुरस्कार स्वरूप उन्हें पराजय ही मिली। सरोज के असमय निधन ने तो उनकी कमर तोड़ दी। अरमानों की चिता धूं-धूं कर जल उठी।

दु:ख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूं आज,जो नहीं कही-सरोज स्मृति (अनामिका)

इतना ही नहीं, तन भग्न हो उठा है, मन रुग्न हो उठा है तथा जीवन विपन्न हो उठा है। अत: इस रिक्तसार आनन्द-शून्य जीवन से क्या होनेवाला है। सांसारिक व्यक्तियों से तरह—तरह की आशांए कीं, किन्तु कहीं मनोरथ पूरा नहीं हुआ। अत: चित्त—शांति के लिए सांत्वना की अमोघ औषध के लिए अब प्रभु के अतिरिक्त और कौन आश्रय—स्थल हो सकता ? इस तरह निराला ने अपने को ईश्वर की ओर मोड़ दिया। उनके काव्य में भक्त्यात्मक मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के अध्ययन के पूर्व भक्ति पर संक्षेपत: विचार कर लेना आवश्यक है। भक्ति की परि—

भाषाएं इस प्रकार दी गई हैं:–

१। सा परानुरक्तिरीश्वरे

ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है।

२। सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा

भक्ति, ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूप है।

३। स्नेह पूर्वं मनु ध्यान भक्तिरित्युच्चते बुधै :

पंडितों के द्वारा स्नेहपूर्वक परमात्मा में ध्यान लगाना ही भक्ति है।

४। ईश्वर के प्रति भक्ति परम प्रेम के सिवा और कुछ नहीं।

अतः भक्ति उसे कहेंगे जब भक्त अपने को लघुतम मानता है और भगवान् को महत्तम और उसके समक्ष अपने पापों का चित्रगुप्तखाता उपस्थित करता हुआ, उसे नाना विशेषणों से विभूषित करता हुआ शरण में ले लेने की प्रार्थना करता है। निराला भी अपने भगवान् की प्रशंसा से अघाते नहीं। वे परमरमण, पापशमन तथा स्थावर–जंगम के जीवन हैं। वे अक्षर अमर है। उन्होंने अमित असुरों का संहार किया है। उनकी कृपा के लिए वे आशुतोष ही हैं।

यथा—

तन मन धन वारे हैं
परम–रमण, पाप-शमन
स्थावर जंगम जीवन
उद्दीपन संदीपन
सुनयन रतनारे हैं।
उनके वर रहे अमर
स्वर्ग धरा पर सचर,
अक्षर–अक्षर–अक्षर
अक्षर अमित मारे हैं।
दूर हुआ दुरित, दोष
गुंजा है विजय-घोष
भक्तों के आशुतोष
नभ–नभ के तारे हैं। (अर्चना, पद सं०४६)

इस तरह निराला अनेकानेक गीतों में ईश्वर की महत्ता का स्तवन करते हैं। कई पदों में कबीर की तरह सांसारिक उदारता एवं भयंकरता का वर्णन करते हैं, क्योंकि जब तक संसार सारयुक्त मालूम पड़ता रहेगा, तब तक व्यक्ति उसके नागपाश से मुक्त नहीं होगा। उदारता और भयंकरता से संबद्ध पंक्तियां देखें :–

लिया-दिया तुमसे मेरा था,
दुनिया'सपने का डेरा था–
× × ×
कठिन यह संसार, कैसे विनिस्तार ?
उर्म्मि का पाथार कैसे करे पार ?
अयुत भंगुर तरंगी, टूटता सिन्धु
तुमुल, जल बल–भार,क्षार-तल कुल विन्दु,
तट-विटप लुप्त, केवल सलिल-संहार।
ऋतु–वलय सकल शय नाचते यहां,
देख पड़ता नहीं, आंचते हैं यहां,
(पद सं० ७५)

अतः इन विकार विभीषिकाओं से संत्रस्त होकर कवि भगवान् की शरण के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं समझता। इसलिए उसकी याचना है–

जगज्जाल छाया,
माया ही माया
सूझता नहीं है पथ
अंधकार आया
तिमिर–भेद दो। अर्चना, पद० सं०६०।

पुनः वह वासना–क्षय के लिए प्रार्थना करता है क्योंकि राम और काम एक मय नहीं। वह कहता है—

मानव का मन शांत करो है
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ से
जीवन को एकान्त करो है

इसके साथ ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि की पंक्तियाँ स्मरण आती हैं। जहां भाव साम्य दर्शनीय है–

अन्तर मम विकसित करो
अन्तर तर है
निर्मल करो, उज्ज्वल करो
सुन्दर करो है
जाग्रत करो उद्यति करो– निर्मल करो है
(गीतांजलि, पद सं)

भक्ति औरर विनय की भूमिकाएं– कोई भी प्रगाढ़

भक्त अपने भगवान के समक्ष विनत होकर अपने हृदयस्थ-भावों का प्रकाशन करता है, वह अपनी वास्तविक स्थितियों का स्पष्टीकरण करता है, अपने दोषों का स्वीकरण करता है तथा अपने कल्मष – प्रक्षालन के लिए तरह–तरह से निवेदन करता है। अतः विनय, भक्ति की आवश्यक शर्त है और यह विनय–भाव, मुख्यतः सात सरणियों में प्रवाहित होता है—

१। दीनता
२। मानमर्षता
३। भयदर्शना
४। भर्त्सना
५। आश्वासन
६। मनोराज्य
७। विचारण

१। दीनता–विषयक गीतों में निराला ने अपने आराध्य को पूर्णतः सक्षम-समर्थ मानकर अपने कष्टों के निवारणार्थ प्रार्थना की है। इन गीतों में दीनता की दलित-गलित स्थिति नहीं है, जो अन्य वैष्णव कवियों में दर्शित होती है। वे कहते हैं—

विपदा हरण हार हरि के करो पार
प्रणय से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार—
आराधना पद सं० २१

२। आश्वासन की भूमिका में कवि का पूर्व-विचलित, भ्रांत मन शनैः आश्वस्त होता दीखता है कि जब उस पर उसके प्रभु की वरद-सुखद छाया है, तो पुनः आंतरिक और वाह्य शत्रुओं की समवेत शक्ति भी बाल–बांका नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ पंक्तियां देखें:—

राम के हुए तो बने काम,
संवरे सारे घन, धन धाम-(आराधना पद सं० २१)

३। मनोराज्य की भूमिका में निराला ने अपने इष्ट से इस प्रकार की इच्छा व्यक्त की है। प्रभु चाहे तभी भवसागर से उद्धार, कराल–काल से रक्षा तथा भू-भार–हरण संभव है। वे कहते हैं—

भजन करि हरि के चरण, मन।
पार कर मायावरण, मन।
कलुष के कर से गिरे हैं
देह- क्रम–के तेरे फिरे है
विषय के रथ से उतर कर
बन शरण का उपकरण, मन
(अर्चना पद सं० ७८)

तथा

पतिता हुआ हूं भव से तार,
दुस्तर दव से कर उद्धार
तू इंगित से विश्व अपरिमित
रच रच कर करती है अवसित
किस छाया से किस छायाश्रित,
में बस होता हूं वलिहार।
(अर्चना पद सं० ९५)

४। विचारण की भूमिका में कवि का मस्तिष्क पक्ष प्रधान हो उठा है। वह आत्मनिवेदन की अपेक्षा दार्शनिक जटिलताओं में उलझ जाता है, माया, जीव ब्रह्मादि के व्यूह-भेदन में उद्यत हो जाता है। निराला इस बुद्धिवादी युग के कवि हैं, आज जब विज्ञान, आस्था की शल्य-चिकित्सा में संलग्न है, वहां निराला जैसे कवि के गीतों में दार्शनिक चिंतन का आग्रह न हो, ऐसा असंभव है।

विचारण संबंधी कुछ पंक्तियां देखें—

तिमिर-हरण तरणितरण किरण वह है
नित दानव मानवगण चरण-शरण है।
कला–सकल करतल तम,
अविगत, रविनत, अविरत
आनत आनन शत–शत
मरण–मरण है। (आराधना पद सं० ६९)

× × ×

मन से मिले न मिले हरि के पद,
वंश हुए न हुए न वंशवद।
(आराधना पद सं० ८२)

विनय की सप्तभूमिकाओं में मानमर्षता, भयदर्शना तथा भर्त्सना का भाव निराला के भक्तिपरक गीतों में आश्चर्यजनक रूप से खटकता है। मानमर्षता में अभिमान-भंजन, भयदर्शना में भयोत्पादन द्वारा प्रभु-पद में आसक्ति तथा भर्त्सना में दुत्कार फटकार के द्वारा आराध्योन्मुखता की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। ये तीनों भूमिकाएं गोस्वामी

तुलसी के पदों में पूर्णतः दर्शित होती है। कारण स्पष्ट तुलसी का दास्य-अपने शीर्ष विन्दु पर है, उनका अहम सर्वाशंतः द्रवित हो उठा है। उनके गीतों में आराध्य-अराधक का द्वैत तिरोहित हो उठता है। बस जिधर दृष्टि जाय, केवल वही, केवल वही है। किन्तु निराला का पौरुष दीप्त अहम् इस प्रभु लगन की कठिन आंच में भी पिघल नहीं सका। निराला शरण की कामना करते हैं, मुक्ति की आकांक्षा करते हैं, फिर भी अपने को इतना तुच्छ, इतना पाप पंकिल, इतना कल्मष आविष्ट नहीं मानते, जिसके लिए उन्हें बार-बार अपने को डराना है, अपनी भर्त्सना करनी पड़े। इसलिए तुलसी जहां आत्मि-विलयन कर पाते हैं, वहां निराला अपने व्यक्तित्व-विन्दु को भी मिटने नहीं देते, भले ही वह बिन्दु, सिंधु के समक्ष परिमाणता में ही क्यों न हो।

भक्ति और प्रपत्तिः– भक्ति और प्रपत्ति दोनों शब्द समानार्थवाची है। ईश्वर में परम अनुरक्त को भक्ति कहते हैं, ऐसा पहले लिखा गया है। भगवद्रूप प्राप्य वस्तु की इच्छा रखने वाले उपायहीन व्यक्ति की पर्यवसायिनी निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति है। अतः प्रपत्ति में उपायान्तरों या साधनों का सर्वथा त्याग निहित है, किन्तु भक्ति में साधन भी स्वीकृत हैं। प्रपत्ति भक्ति की वह चरम एवं तल्लीनावस्था है जिसमें भक्त अपने को भगवान् की शरण में छोड़ देता है। प्रपत्ति दो प्रकार की होती है– १–मार्जार स्वरूपा–२–मर्कट स्वरूपा। मार्जार और मर्कट-दोनों के शिशु साथ रहते हैं, किन्तु जहां मार्जार स्वयं अपने बच्चे को पकड़े चलता है, वहां मर्कट के बच्चे उससे चिपके रहते हैं। प्रपत्ति की अक्षरावस्था तब होती है, जब भक्त एवं सर्व धर्मों को छोड़कर उसकी शरण में पहुंच जाता है और वह सफल चिंताओं से मुक्त हो जाता है, इसकी चिंता स्वयं प्रभु करने लगता है।

प्रपत्ति के छः अंग माने गये हैं–

१. आनुकूल्य संकल्प
२. प्रातिकूल्यवर्जन
३. राक्षिष्यतीति विश्वास
४. गोप्तृत्ववरण
५ आत्मनिक्षेप
६. कार्पण्य

१. ईश्वराराधन के लिए आवश्यक है कि प्रभु के अनुकूल अपना आचरण किया जाय, जहां काम है, वहां राम नहीं, तहां कपट, छलछिद्र है वहां प्रभु निवास कैसे सम्भव है? इसलिए भक्त शरणागति के पूर्व से ही तदनुकूल आचरण करता है। देखें:–

हरि भजन करो भू-भार हरो,
भवसागर निज उद्धार तरो
गुरूजन की आशीष सीस धरो,
सन्मार्ग अभय होकर विचरो।
(आराधना पद सं० ५१)

२. आनुकूल्य संकल्प के साथ ही प्रातिकूल्यवर्जन सम्बन्ध है। प्रपत्ति बाधक जितने भी पदार्थ हैं सबको दूर से ही नमस्कार कर लेना चाहिए। निराला का कहना है–

अब ईश्वर ने एक से एक आर्तों, अनाथों, दीन-दलितों का रक्षण किया है तो, वह, निराला का न करे, ऐसा सम्भव नहीं। यथा–

अशरण शरण राम,
काम के छवि धाम
ऋषि-मुनि मनो हंस
रवि वंश अवतंस
कर्मरस निश्शंत
पूरो मनस्काम। (आराधना सं० ४८)

३. प्रभु को ही एक मानरक्षक चुनना गोप्तृत्ववरण है। संसार में जितने सगे संबंधी हैं, वे कभी नहीं साथ देते, फिर रक्षा की आशा तो निराधार ही है। कवि कहता है–

वही चरण शरण बने।
कटे कलुष गहन घने
लगे हैं तुम्हीं से मन,
उर नूपुर मधुर-रणन
तुम्हारे अजिर, आंग न
मंगल के गीत गाने। (आराधना पद सं० ६०)

४. आत्मनिक्षेप में भक्त अपना सब कुछ प्रभु को मानता है।

तन मनु मन, धन वारे हैं
परम रमण, पाप-शमन
स्थावर जंगम-जीवन
उद्दीपन, सन्दीपन,
सुनयन रतनारे हैं (अर्चना, पद सं० ४६)

५. अपने को तुच्छातितुच्छ अकिंचनाति–अकिंचत समझना कार्पण्य है, किन्तु निराला के गीतों में उनका यह रूप दृष्टिगत नहीं होता । यह विवाद-रहित है कि वह अनन्त, सर्वशक्तिसमर्थ, विराट् एवं वरेण्य है; किन्तु यह जीव भी बिलकुल उपेक्षणीय एवं महत्व-शून्य नहीं । सिन्धु की सिंवुता संभव नहीं यदि बूंदों का अस्तित्व न हो । महादेवी के रहस्यात्मक गीतों में यह भाव देखा जा सकता है ।

मक्ति और मुक्त : वैष्णव भक्तों ने कभी मुक्ति की आकांक्षा नहीं की, क्योंकि मोक्ष के उपरान्त भक्त और भगवान् का सम्बन्ध ही समाप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट लिखा है ।

ते जाने हरि भगति सयाने । मुकुति निरादहि
भगति लुभाने ।

तरणि तर दो
खे खेकर थके हाथ,
कोई भी नहीं साथ,
श्रम–सीकर–भरा माथ,
बीच–धार जो, ( अर्चना पद सं० ७२ )

शिल्प-योजना-निराला के भक्तिपरक गीतों में टेकयुक्त तथा टेकहीन दोनों प्रकार के पद हैं, किन्तु भक्त कवियों तक पाद पादाकुलक, शृंगार या चौपाई का टेक रूप में रखकर तथा रूप माला, सार, विधाता सरसी हरिगीतिका आदि के चरणों को अन्तरा की तरह प्रयुक्त कर गीतों का निर्माण नहीं किया है । टेकहीन पद तुलसीदास के शताधिक हैं । जैसे—

तू दयालु दीन हों, तू दानि हों भिखारी ।।
हों प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी ।।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसों ।
मो समान आरत नहिं आरति हर तोसों ।।
—विनयपत्रिका पद स० ७९

इस तरह निराला ने बारह मात्राओं के दस चरण, सोलह मात्राओं के दस चरण, बीस मात्राओ के दस चरण दस मात्राओं के दस चरण, सोलह मात्राओं के चौदह चरण, चौदह मात्राओं के चौदह चरण, दस मात्राओं के चौदह चरण, सोलह मात्राओं के बारह चरण, दस मात्राओं के सोलह चरण, बारह मात्राओं के चौदह चरण वाले टेकयुक्त पदों की रचना है। ऐसे समसामयिक चरणों की आवृत्ति वाले पद शरद ज्योत्सना की भांति भक्ति–मानस को आप्लुत्त–आप्यायित कर देते हैं ।

यहां भक्त-कवियों से एक अन्तर और दर्शनीय है कि उन्होंने सममात्रिक चरणों की संख्या इतनी नहीं बढ़ाई है। जहां निराला एक गीत में सोलह पंक्तियां रखते हैं, वहाँ तुलसी और सूर के आत्मपरक गीतों में आठ–दस पंक्तियां ही पर्याप्त हैं। छन्दों की प्रबन्धता का प्रश्न जहां उठता है, वहां भक्तकवि गीतों में बड़े लम्बे छन्दों का प्रयोग करते हैं । ऐसी बात नहीं कि भक्तकवियों के गीत बिलकुल कम मात्राओं वाले छन्द के नहीं है, फिर भी दंडकों का प्रयोग कम नहीं हुआ है । छन्दों के चरण चाहे जितने भी एक गीत में हों, उससे उतनी हानि नहीं होती, जितनी दीर्घ-प्रसारी छन्दों से होती है । अधिक मात्रा वाले छन्दों से होती है। अधिक मात्रा वाले छंदों से समुचित गायन प्रभाव उत्पन्न करना संभव नहीं । छन्द के मात्रा उच्चारण में ही गायक का दम फूलने लगता है, भीड़-मूर्च्छना उत्पन्न करने की गुंजाइश ही नहीं रहती । टेकयुक्त पदों में भी निराला ने निरालापन दिखलाया है । ये टेकयुक्त पद भी विनय पत्रिका या सूरसागर से बिलकुल भिन्न होते हैं । नीचे कुछ पदों को देखें ।

मेरी सेवा ग्रहण करो ।
शुद्ध सत्व से क्षण-क्षण
काष्ठा से रहित शरीर भरी है ।
(आराधना, पद सं० २४)

तन, मन, धन, वारे हैं
परम–रमण, पाप–शमन,
स्थावर—जंगम—जीवन,
उद्दीपन, सन्दीपन ।
सुनयन रतनारे हैं ।

(अर्चना पद सं० ४६)

ऐसे भी बहुत पद हैं जिनमें कवि का ध्यान टेकहीनता या टेकयुक्त पर केन्द्रित न रहकर तालनियोजन पर रहता है। उदाहरण के लिए एक दो पद की कुछ पंक्तियां देखें—

दो सदा सत्संग मुझको।
तनृत से पीछा छूटे,
तन हो अमृत का रंग,
अशन—व्यसन तुले हुए हों,
खुले अपने ढंग,
लगे तुमसे तन—वचन—मन दूर
दूर रहे अनंग।

(अर्चना पद सं० २१)

इसके अतिरिक्त चौथे प्रकार के भी कुछ पद लिखें हैं, जिन्हें स्तोत्र-पद्धति वाले पद कहते हैं।

इस प्रकार निराला ने भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए नई विधियों एवं नई शैलियों का अन्वेषण किया है। गतानुगतिक पद्धतियों से भाव-संप्रेक्षण संभव नहीं होता, ऐसा पथ-निर्माण कवि तो ही जानता है।

इसलिए अन्त में हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भक्तिपरक गीतों के सृजन में भी निराला ने अभूतपूर्व सफलता पायी है। आधुनिक विज्ञानवादी, शंका संकुल, द्विधा—विजड़ित युग मेंश ायद ही कोई हिन्दी का कवि मिले जिसमें निराला जैसी आस्तिकता एवं भक्ति—परकता देखी जाय। विनयवश निराला ने अर्चना की प्रस्तावना में लिखा है— रस सिद्धि की परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि हिन्दी भाषा—साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ सधारण जनों के जिह्वाग्र से स्मृति की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशामात्र है। 'किन्तु लोक-प्रियता एक रमनीयता की दृष्टि से निराला के भक्तिपरक गीत अन्वित हैं।

निराला की वेदना उस योद्धा की वेदना है जो विकराल, प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझना है, उस कलाकार की वेदना है, जो अपने काव्य—कानन के सुमनों के मृदु गन्ध पराग से हम द्वेष विष जर्जर संसार की सुरभित प्रेमहरित, स्वच्छन्द करने का संकल्प ले कर ही आया था, उस भक्त की वेदना है, जो आजीवन स्वधर्माचरण करता रहा है और अब सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित कर मुक्त हो जाना चाहता है।

# तमिल वेद : तिरुक्कुरल

—डा० श्रीधरन

राजा महाविद्यालय पुदुक्कोट्टै,

पुस्तकें दो तरह की होती हैं—सामयिक और सार्वकालिक।

समसामयिक पुस्तकों में तत्कालीन परिस्थितियों और समस्याओं का चित्रण मिलता है। ऐसी पुस्तकें बहुधा इतिहास, साहित्य और समाजशास्त्र के विद्वानों के लिए अधिक उपयोगी हैं। ये पुस्तकें महादेवी की बदली के समान हैं जो 'उमड़ी कल थी आज मिट चली।'

लेकिन कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक बन जाते हैं। सदियों तक इनकी आवाज की गूंज सुनायी देती है। इनके चिर जीवन और चिर यौवन का मूल कारण यह है कि इनमें मानव-जीवन की चिरन्तन समस्याओं, सत्यों, आदर्शों और सौन्दर्य के गूढ़ तत्व निहित होते हैं। ये ग्रंथ कभी पुराने नहीं पड़ते। ऐसी अमर कृतियों में तमिल भाषा का 'तिरुक्कुरल' नामक नीति ग्रंथ भी एक हैं।

'तिरु' आदरसूचक शब्द है और 'श्री' का पर्याय है। 'कुरल' तमिल का एक छंद विशेष है। दो चरणों का यह छंद वास्तव में दोहे से छोटा है। 'तिरु' उपसर्ग तमिल में उन ग्रंथों के नाम से पूर्व जोड़ा जाता है, जो अध्यात्म से सम्बन्धित हैं।

यह सन्देह उठता है कि कवि का असली नाम क्या तिरुवल्लुवर हो सकता है जो इस ग्रंथ के रचयिता हैं। तिरु तो श्री का पर्याय है। वल्लुवर एक निम्न जाति को सूचित करता है। इस जाति के लोग पुराने जमाने में सड़कों में घूमकर और ढोल बजाकर राजाज्ञाओं की घोषणा करते थे। शायद इस जाति में जन्म लेकर प्रसिद्धि पाने के कारण जातिवाचक शब्द व्यक्तिवाचक बन गया हो। इतना ही नहीं, उनकी तिथि, जन्म स्थान, माता-पिता और जीवन की प्रमुख घटनाओं के बारे में भी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। विज्ञापनबाजी के इस युग में हमें अचरज होना स्वाभाविक है कि देश के पुराने साहित्यकारों में प्रदर्शन की भूख बिलकुल नहीं थी। कइयों का वास्तविक नाम तक मालूम नहीं हो पाता। फिर भी, गुलाब को किसी भी नाम से पुकारने पर उनकी महक में कमी नहीं आयेगी। वैसे ही प्रामाणिक जीवन वृत्त के अभाव के बावजूद तिरुक्कुरल ग्रंथ के रसास्वादन में कोई बाधा नहीं हो सकती।

तिरुवल्लुवर के बारे में जो सामग्री मिलती है, उसमें और कबीरदास से सम्बन्धित किंवदंतियों में काफ़ी साम्य है। कहा जाता है कि उनके पिता ब्राह्मण थे और माता शूद्रा। लोक-लाज के भय से माता-पिता पुत्र को अनाथ छोड़कर चले गये। तिरुवल्लुवर आगे चलकर जुलाहे का काम करने लगे। ताना-बाना बुनते समय उन्होंने जीवन के ताने-बाने के बारे में भी सोचा। उन्होंने सोचा होगा कि जिस प्रकार इन्द्र धनुष के रंगों की डोरियां आपस में उलझकर आकर्षक कपड़ों के रूप में परिणत होती हैं, उसी प्रकार जीवन के विविध कार्यों और कर्तव्यों में सन्तुलन और समझौता स्थापित करके जीवन को सुन्दरतम बना

देना संभव है। मालूम नहीं कि उनके द्वारा बुने गये कपड़े अच्छे थे या यहीं, बिके या नहीं। मगर उनके द्वारा रचित तिरुक्कुरल उनकी अक्षय कीर्ति का आधार बन गया है।

तिरुवल्लुवर मद्रास शहर में मैलापूर नामक जगह में रहते थे। वहीं ईसा संत थामस धर्म प्रचार करते थे। इसलिए कुछ विद्वान तिरुक्कुरल पर ईसाई धर्म का प्रभाव ढूंढते हैं। मगर तिरुवल्लुवर की तुलना किससे हो सकती है तो केवल महात्मा कबीर से। दोनों निर्गुणोपासक थे, धार्मिक रूढ़ियों के विरोधी थे और सच्चरित्रता के समर्थक थे। लेकिन कबीर सम्प्रदाय-प्रवर्तक थे और मूलतः सन्त थे, जबकि तिरुवल्लुवर एक समर्थ कवि और उपदेशक थे। इसके अलावा तिरुवल्लुवर का दृष्टिकोण व्यापक था और जीवन के हरेक क्षेत्र को छूता था।

तिरुवल्लुवर की शिक्षा-दीक्षा के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। उनका ग्रंथ साबित करता है कि भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। इसीलिए तो उन्होंने जीवन के गूढ़ रहस्यों की अभिव्यक्ति के लिए लघुतम छंद का चयन किया। कुशल शब्द पारखी ही दोहे से भी छोटे कुरल छंद का सफल प्रयोग कर सकता है क्योंकि हर एक शब्द के अंदर कूट-कूट, गहरा अर्थ भर देना पड़ता है।

तिरुवल्लुवर के आध्यात्मपरक विचारों को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि उन्होंने संस्कृत के धार्मिक व नीतिग्रंथों को पढ़ा होगा या कम से कम उनका सार सुना होगा। राजनीत के विविध अंगों पर उनका प्रकाण्ड ज्ञान भी हमें अचरज में डाल देता है। काम भावना का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तिरुक्कुरल में मिलता है वह भी आश्चर्यजनक है।

तिरुक्कुरल में कुल १३३० कुरल (सुविधा के लिए दोहा मानें) हैं। ग्रंथ के तीन भाग हैं—धर्म अर्थ और काम। इनमें क्रमशः ३८,७० व २५ अध्याय हैं, तथा प्रत्येक अध्याय में दस दोहे हैं।

धर्म का प्रकरण निर्गुण ब्रह्म की प्रार्थना से शुरू होता है। वर्षा का महत्व, सन्यासी के गुण, गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता, संयम की आवश्यकता, आदि पर प्रकाश डाला गया है। अर्थ कांड में राजा के गुण-कर्म, शिक्षा का महत्व, राजनीति के विभिन्न अंग, राजनीतिज्ञों में अपेक्षित गुण, आदि का वर्णन हुआ है। 'काम' में पूर्वराग, सौन्दर्य वर्णन, गांधर्व विवाह, संयोग-वियोग के सरस और मार्मिक चित्रण मिलते हैं। तिरुवल्लुवर ने मोक्ष पर कुछ नहीं लिखा क्योंकि धर्म, अर्थ और काम के आदर्शों के उचित पालन से मोक्ष स्वयमेव मिल जाता है।

तिरुक्कुरल की विशेषता यह है कि इसमें किसी अमुक धर्म या देवता के प्रति आग्रह नहीं है। इसलिए हरेक तमिल भाषी इसे सार्वभौमिक धार्मिक ग्रंथ का दर्जा देता है। तिरुक्कुरल में जो उपदेश हैं, वे समय या स्थान विशेष के बंधन से मुक्त हैं। इसलिए कई देशों के विद्वान इस ग्रंथ से प्रभावित हो उठे हैं। लैटिन, जर्मन, रूसी, अंग्रेजी, आदि विदेशी भाषाओं के अलावा लगभग सब भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। हिन्दी में भी आधा दर्जन अनुवाद मिलते हैं।

**धर्म**

तिरुक्कुरल निर्गुण ब्रह्म के मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है। प्रथम कुरल का अर्थ है—जिस प्रकार वर्णमाला का आरम्भ 'अ' होता है, उसी प्रकार संसार की सृष्टि ईश्वर द्वारा हुई। अतः ईश्वर-भक्ति हमारे कर्तव्यों में सर्वोपरि है। आजकल नास्तिक बनना शिक्षित व्यक्ति का गुण माना जाता है। लेकिन तिरुवल्लुवर शिक्षा को तभी सार्थक मानते हैं, जब वह हमें ईश्वर के निकट पहुंचाने में सहायक होती है। चिन्ताओं को मिटाने के लिए तिरुवल्लुवर के अनुसार एक ही इलाज है—प्रार्थना

तिरुवल्लुवर वर्षा को ईश्वर का प्रतीक मानते हैं। पानी संसार के अस्तित्व का कारण है। वह भोज्य पदार्थों की सृष्टि करता है और स्वयं भी एक पेय है।

तिरुक्कुरल अन्य नीतिग्रंथों के समान गृहस्थाश्रम की निन्दा नहीं करता। खुद तिरुवल्लुवर गृहस्थ थे। तिरुवल्लुवर की मान्यता है कि आदर्श गृहस्थ तपस्वियों और देवताओं से श्रेष्ठ है। अतिथियों का स्वागत करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है, क्योंकि इसके द्वारा वह समाज की सेवा कर पाता है।

तिरुक्कुरल के अनुसार सन्यासी के दो आवश्यक गुण हैं—प्राणि मात्र के प्रति दया और जीवन के प्रति तटस्थ

दृष्टिकोण । वैराग्य सम्बन्धी दोनों में जैन-धर्म के विचारों की छाया दिखायी पड़ती है।

## अर्थ

विद्वानों का कहना है कि तिरुक्कुरल का यह भाग कौटिल्य से प्रभावित है। लेकिन वह विचार पूर्ण रूप से मान्य नहीं हैं। क्योंकि तिरुवल्लवर साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर जोर देते हैं। इस भाग में राजनीति का विशद और सूक्ष्म विवेचन हुआ है। यह उल्लेखनीय बात है कि तिरुवल्लुवर किसी दरबार से आश्रय नहीं पाते थे।

तिरुवल्लुवर सबसे पहले शासक में अपेक्षित गुण बताते हैं। इसके कर्तव्यों की सूची प्रस्तुत करते हैं। फिर मंत्री, सेना, आदि प्रशासन के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं। जनता को शासन का सबसे महत्वपूर्ण अंक मानकर तिरुवल्लुवर उसकी शिक्षा के लिए आग्रह करते हैं। आर्थिक विषमता मिटाने के लिए तिरुवल्लुवर सुझाव देते हैं कि लोगों को आवश्यकता से अधिक पैसा संग्रह नहीं करना चाहिए। वे स्मरण दिलाते हैं कि मृत्यु के बाद सम्पत्ति हमारे साथ नहीं आयेगी। लोभी लोग पृथ्वी का भार हैं। सम्पत्ति की सार्थकता तभी है जब वह काम आये। नहीं तो उसकी स्थिति उस कुंआरी के समान हैं जो वैवाहिक आनन्द के परिचय के बिना बूढ़ी हो गयी है।

## काम

इस प्रकरण के दोहों से प्राचीन तमिल समाज में प्रेम का स्थान और उस समय प्रचलित विवाह-पद्धति से परिचय मिल जाता है। तिरुवल्लुवर स्वस्थ दाम्पत्य प्रेम को ही मान्यता देते हैं, परकीया भावना को नहीं। यह भ्रम विद्वन् जगत में व्याप्त है कि तिरुक्कुरल का यह अंश वात्स्यायन के ग्रंथ में शारीरिक सम्बन्धों का ही बारीकी से विश्लेषण हुआ है। लेकिन तिरुक्कुरल एक नीत ग्रंथ है। शरीरपरक प्रेम का विशद चित्रण न करके प्रेम का महत्व, परकीया भावना की निन्दा और प्रेम के नैतिक पक्ष पर ही तिरुवल्लुवर ने लिखा है।

ये प्रेम सम्बन्धी दोहे नाटकीय हैं। बिहारी के समान तिरुवल्लुवर भी दो पंक्तियों में नायिका के सम्पूर्ण हाव-भाव का चित्रण उतारते हैं। संयोग-वियोग की विभिन्न मार्मिक अनुभूतियों को तिरुवल्लुवर शब्द-चित्रों के द्वारा कुशलता से प्रस्तुत करते हैं।

तिरुक्कुरल एक ऐसा विश्वकोश है, जिसमें जीवन के हरेक अंग पर कुछ न कुछ प्रामाणिक सामग्री अवश्य मिलती है। धर्माचार्य, राजनीतिज्ञ, विरक्त, गृहस्थ, आदि हरेक प्रकार के लोगों के लिए तिरुक्कुरल प्रेरणादायक है। आश्चर्य नहीं कि सारे तमिल समाज में सब लोगों के द्वारा पिछली कई शताब्दियों से समादृत एकमात्र ग्रंथ तिरुक्कुरल ही है।

# आधुनिक गुजराती कविता में प्रतीक विधान

प्रो० कमल पुंजाणी

हिन्दी विभाग, पी० श्री० एल० महेता म्युनि० कालेज जामनगर (गुजरात)

'प्रतीक' शब्द का प्रयोग किसी गोचर या दृश्य वस्तु के लिए होता है, जों किसी अगोचर या अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रतीक में सूक्ष्म अर्थ एवं प्रभाव की नियोजना होती है। प्रतीकवाद के समर्थक बाँदलेयर का मन है कि प्रतीक-विधान की प्रक्रिया स्वयं में इतनी अखण्ड है कि काव्य के अन्तर्गत विषय-वस्तु और रूप तत्व जैसे विभेद किये ही नहीं जा सकते। प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यंजना के लिए नये मार्गों का अन्वेषण, नये शिल्प-शैली की अवतारणा, नये विम्बों की योजना और नये प्रतीकों का विधान करना पड़ता है।

आधुनिक गुजराती कविता में प्रतीक-विधान का अध्ययन आधुनिक गुजराती कवियों को दो श्रेणियों में विक्स्त कर किया जा सकता है :–

(अ) प्रौढ़ कवियों की कविता में प्रतीक-विधान।

(आ) नवोंढ़ या नवोदित कवियों की कविता में प्रतीक विधान। आगे क्रमशः इस पर विस्तार से चर्चा की गई है।

आधुनिक युग के प्रौढ़ गुजराती कवियों में श्री उमाशंकर जोशी, सुरेश जोशी, शिवकुमार जोशी, गुलाममुहम्मद शेख, सुरेश दलाल, हरीन्द्र दुवे, नलिन रावल, लाभशंकर ठाकर इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्री उमाशंकर जोशी, भारतीय संस्कृति एवं तत्वज्ञान के अनन्य उपासक हैं। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत उनके काव्य-संग्रह 'निशीथ' में अनेकानेन अभिनव प्रतीक दृष्टिगत होते हैं। 'निशीथ' स्वयं एक प्रतीक काव्य है। उनके नवीनतम कविता-संग्रह 'अभिज्ञा' में आधुनिक युग के प्रचलित प्रतीकों के द्वारा तथाकथित सभ्य समाज पर तीखा व्यंग्य किया गया है। निम्नांकित पंक्तियों में 'होटल के बिस्तर' का चित्र-विधान द्रष्टव्य है–

"होटलमां सुखनी पथारी
सिंघुफेन समी धवल चादर
अरे, ना, मानवीनी कामनाना, रंगनुं, 'इन्द्र धनुष
उघडेल देखुं, ने महीं
डूसकांना डाघ"

( 'अभिज्ञा'– होटल मां सुखपथारी )

अर्थात् समुद्र-फेन जैसे श्वेत-सुखद होटल के विस्तर में मनुष्य अपनी आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाता वरन् आँसुओं के दाग ही छोड़ जाता है।

आधुनिक गुजराती कविता को नये प्रतीकों का उन्मेष प्रदान करने वालों में श्री सुरेश जोशी का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी-साहित्य में जो प्रतिष्ठा अज्ञेय जी की है, वही गुजराती साहित्य में श्री जोशी जी को प्राप्त है। उनकी कविता में प्रतीकों की योजना इस प्रकार होती है कि एक श्रेष्ठ चित्र-काव्य का सौंदर्य स्वयमेव उभर आता है। 'क्षितिज' में प्रकाशित उनकी एक प्रसिद्ध

कविता की ये प्रारम्भिक पंक्तिया देखिये—

"कोई घूंटें छे गरल
चन्द्रना खरल मां
लील बाझेली तष्ठा वडी जेवी आँखों मां
झमे छे लीलुं छम झेर"

( 'क्षितिज', अप्रैल, १९६३ )

चन्द्र के खरल में गरल घूंटने की कल्पना और लील भरे तालाब-सी आँखों जहर उभरने की उद्‌भावना कितनी रम्य और प्रभावोत्पादक है। सफेद रंग में नीले रंग के समिश्रण से कवि ने जो अनुपम भाव छवि चित्रित की है, वह चिर समय तक हमारे मन चक्षुओं पर अपनी छाप छोड़ जाती है।

श्री जोशी जी की इन रम्य रूपकों की सृष्टि के ठीक विपरीत आधुनिक जीवन की बिभीषिकाओं एवं विषमताओं को चरितार्थ करने वाली श्री गुलाम मोहम्मद शेख की "महाबलिपुरम्" शीर्षक कविता के इन प्रतीकों की रमणीयता कुछ और ही है—

"मनुष्यना स्वप्ननी धार अही अत्यन्त तीणी छे
पाकेला पशुअना पडखामां
मरेल माणसोना भूख्या दांतना निशान देखाय छे
भूंडना ढीला आंचलमांथी लथडतो
पंदर सो वरसनो घरडो पवन पास थाय छे,
अने अकस्मान् जीवती
मरघीओना काबरा पींछामां
गई कालना शिल्पीओना बरछट आंगलां
जरी स्पर्शवा खेंचाय छे"

अर्थात् यहाँ मनुष्य के स्वप्नों की धार बड़ी तीव्र होती है। पालतू पशुओं की पीठ में मृत मानवों के भूखे दांतों के निशान अंकित हैं। सुअर के शिथिल आंचल से टकराकर पन्द्रह सौ वर्ष का वृद्ध पवन बहता है। अकस्मात् जीवित मुर्गियों के चितकाबरे पंखों में बीते हुए कल के शिल्पियों की खुरदरी अंगुलियाँ तनिक स्पर्श पाने को खींच जाती हैं।

यह पूरी कविता एक प्रतीकमाला है और प्रत्येक प्रतीक जीवन-यथार्थ से समुद्‌भूत है।

हिन्दी कविता में बहुप्रचलित प्रतीक 'कमरा,' गुजराती कवि श्री सुरेश दलाल की "घरमां" शीर्षक कविता में एक विशिष्ट लाक्षणिकता से प्रस्तुत होता है—

"घरनी चार दीवालों
एमां
बंध काचनी बारी :
परदा पासे
सपनानुं एक आरस पंखी
आम आखाने शून्य नजरथी जोया करतुं"

अर्थात् कमरे की चारों दीवारों में शीशे की खिड़कियाँ बन्द हैं और परदे के पास बैठा संगमरमर-सा स्वप्न-पक्षी सारे आकाश को खोई-खोई निगाहों से देखा करता है।

वर्तमान युग की व्यस्तता एवं जटिलता ने मनुष्य के सुख-चैन को छीन लिया है। शांति एवं स्वस्थता के लिए छटपटाते हुए आधुनिक मानव की व्यथा श्री लाभशंकर-ठाकर की निम्न पंक्तियों में अंकित है—

"अकस्मातोंनी कारमी किकियारीमां
कचडाई गयेली
मारी सफेद पतासा जेवी ऊंघोनूं शुं ?"

( 'कविता,' जून, १९६८ )

अर्थात् अकस्मातों के भीषण चीत्कारों में कुचली गयी सफेद बतासा जैसी मेरी नींद का क्या होगा ?

अंतिम पंक्ति में ऊंघ के उपमान के रूप में प्रयुक्त 'पतासा' शब्द कितना सार्थक और सुन्दर है।

नवोदित कवियों में जयंत पाठक, राजेन्द्र शाह, प्रियकांत मणियार, रमेश पारेख, अरुण पारेख, करसनदास लुहार आदि अनेक युवा लेखकों का समावेश किया जा सकता है। इन कवियों की विशेषता यह है कि इन्होंने तुकान्त-अतुकान्त दोनों ही प्रकार की कविता में प्रतीक विधान का कौशल दिखाया है। जयंत पाठक की एक तुकान्त कविता इस प्रकार शुरू होती है—

"सूर्य पांखणी खरखर रेत खरे
ऊँची डोके ऊंट आभनों तडको चरे"

( 'काव्य गुर्जरी'—सं० १९६८ )

अर्थात् सूरज की पाँख से 'खर खर' ध्वनि करती हुई रेत गिर रही है और अपनी गर्दन ऊंची करके ऊंट आसमानी धूप चबा रहा है।

अतुकान्त पदावली में आलेखित ईसा और उसके क्रास का निम्न प्रतीक युवा कवि श्री अरुण पारेख की प्रतिभा का सुन्दर परिचय देता है—

"क्रास
लटकातो
इशु
हवे जीर्ण थई गयो छे.
तो चालो आपणे सारा
माणसने
शोधीने
शूलीए
लटकावीए."

( 'पुरवा आप्यो छु'–पृ० ७)

अर्थात् क्रास पर लटकते–लटकते ईसा अब जीर्ण हो चुका है, इसलिए, आइए, हम किसी दूसरे अच्छे आदमी को ढूँढ़कर शूली पर लटका दें।

आधुनिक गुजराती कविता में गजल का एक विशेष स्थान है। नवोदित कवियों की गजलों में साकी, सुरा और शराबखाने के प्रतीकों के बदले जीवन-यथार्थ को उभारने वाले प्रतीक ही अधिक संख्या में परिलक्षित होते हैं। युवां कवि श्री करसनदास लुहार की गजल की इन पंक्तियों को देखए–

''ऊगी रह्यां मकान...नो उत्सव नगर यहीं
चारे तरफ सिमेन्टनो उडतो गुलाल छे।
टहुकाओ टेपयंत्र विना सांभळु य क्यां ?
ज्यां कागझी फूलो ज वसंतोनो फाल छे

अर्थात् नगर में उगते हुए मकानों का उत्सव मनाया जा रहा है और चारों ओर सीमेन्ट का गुलाल उड़ रहा है। मैं बिना टेपरेकॉर्डिंग के मयूरों की केका कहाँ सुन पाऊंगा ? आजकल कागज के फूल ही वसन्त का सिंगार करते हैं।

इस प्रकार, आधुनिक गुजराती कविता के प्रतीक विधान का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्य भारतीय भाषाओं के समान इसमें भी अभिनव प्रतीकों की नियोजना की पर्याप्त क्षमता है। आधुनिक युग-बोध को जीवन्त रखने में इन प्रतीकों से पर्याप्त सहायता मिलती है। भविष्य की कविता के लिए यह प्रतीक-विधान एक अनोखी भूमिका का निर्माण करता है।

# तन का मन रखवारा

—डॉ० महेन्द्रनाथ राय

काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

आज मनुष्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी-बड़ी उपलब्धियों से संयुक्त है। अपने को सभ्यता में बहुत बढ़ा-चढ़ा मानता है। उसने बाह्य प्रकृति और मनोविज्ञान के अनेक रहस्यों की गुत्थियां सुलझाई हैं। लेकिन जब वह अन्तर में झांकता है तो देखता है कि उसकी सहजता नष्ट हुई है। विचारों से वह आक्रांत है। भीतर, देवासुर संग्राम चल रहा है। तनाव और द्वंद्व में वह उलझा हुआ है। बाहर की गुत्थियां उसने भले सुलझाई हों, भीतर वह उलझ गया है। आदमी मन-दो-मन का बोझ शिर पर रखकर कुछ दूर तक चल सकता है लेकिन सैकड़ों मन का बोझ जो विचारों के रूप में उसके मन पर लदा हुआ है जिसे वह नीद में भी नहीं उतार पाता, उसे लेकर कब तक चल सकेगा ? आदमी आज भीतर से विचारों के कारण अशांत है। क्षणभर को विश्राम नहीं पाता। शारीरिक कष्ट, बाहरी अभाव उतने कष्टकर नहीं होते, जितने मानसिक कष्ट और भीतरी अभाव। जिन्हें कोई अभाव नहीं है—जो सांसारिक सुख सुविधाओं से भरपूर हैं जिनका पारिवारिक जीवन भरापुरा है, वे भी उद्विग्न हैं। वे भविष्य के लिए चिंतित हैं। जो है—उसे बनाये रखने के लिए परेशान हैं। कोई अतीत पर रोता है, कोई भविष्य को लेकर चिंतित है। वर्तमान की चिंता किसी को नहीं है।

आज आदमी देहवादी बन गया है। वह नहीं सोच पाता कि उसका मन चंचल क्यों है ? विचार अशुद्ध क्यों है? संसय, असुरक्षा तथा भय से वह पीड़ित क्यों है ? सही यह है कि जिस तरह से हम शरीर की सफाई का ध्यान रखते हैं उसी तरह से मन की सफाई का नहीं। वस्त्रों की धुलाई तो करते हैं, लेकिन मन की नहीं कर पाते। मन पर बुरे कर्मों, विचारों और संस्कारों की अनेक पर्तें जमी हुई हैं। निरन्तर वे ही संस्कार उभरते रहते हैं, वे ही विचार स्फुरित होते हैं। हम सोचते हैं कि कहां से आ रहे हैं। वस्तुतः ये हमारे भीतर के ही हैं। मन, जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से जुड़ा हुआ है। हम जो भी कर्म करते हैं, उनके संस्कार बनते हैं और इन संस्कारों के अनुकूल फिर मन बनता है। मन की विशेषता है कि अपने अनुसार वह वस्तु जगत का स्वरूप गढ़ा करता है। महापुरुष कहते हैं कि यह शरीर का राजा है। जो इसके अधीन है, वह सब के अधीन है। जिसने इसको अधीन बनाया है, उसके अधीन सारा संसार होता है।

मन की चंचलता, हठवादिता, अधोमुखता आदि की चर्चा धार्मिक ग्रंथों, संतों और महापुरुषों के उपदेशों तथा साहित्य में मिलती है। सभी इससे परेशान हैं। संसारी जीवों की तो बात ही छोड़िये, बड़े बड़े साधक, योगी-यती भी इसका रोना रोते दीख पड़ते हैं। गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में मन की मूढ़ता और अपनी परवसता का बड़ा ही करुण चित्र खींचा है—कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

(१) मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिए सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ।

(२) मेरो मन हरिजू हठ न तजै ।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल बिसारि सकल सठ पुन खलपतिहिं भजै ।

सूरदास जी ने भी मन को सम्बोधित करते हुए लिखा है—

(३) रे मन मूरख जनम गंवायो ।
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ,
स्याम-सरन नहिं आयो ।

(४) मन, तोसों किती कही समुझाइ ।
नंद नंदन के चरण कमल भजि,
तजि पाखण्ड चतुराइ ।

गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका के छन्द में एक मर्म की बात कही है । उनका कहना है स्वर्ग-नरक, शत्रु-मित्र वस्तुतः मन के भीतर ही हैं । मन ने ही इन्हें बलात बनाया है । यदि यह विकार-रहित हो तो बाहर स्वर्ग-नरक की, शत्रु-मित्र की स्थिति है नहीं । मन के भीतर वे वैसे ही हैं, जैसे द्रव्य के भीतर संसार की अनेक वस्तुयें, वृक्ष के भीतर कठ पुतली, और सूत के भीतर वस्त्र । मन के चलायमान होते ही भीतर की वस्तुओं का प्रकाशन होने लगता है । जब हम किसी को देखते हैं, किसी को सुनाते हैं तो पूर्वाग्रह के साथ । भीतर से खाली होकर नहीं । इसीलिए हम किसी को नहीं देख पाते, किसी की नहीं सुन पाते । हम अपने को ही देखते हैं, अपनी सुनते हैं । हमारे ख्यालों के अनुकूल ही हमारे मन की दशा होती है । महापुरुष यह निर्देश देते हैं कि जब मनुष्य बहुत उद्विग्न हो तो उस समय उसे किसी ऐसे महापुरुष का ध्यान करना चाहिए जो स्थिर चित्त वाला और प्रशांत हो । अपने मन का तार इस तरह से जोड़ने पर हमारे भीतर भी स्थिर-चित्तता और शांति आने लगती है । गीता में अर्जुन-कृष्ण संवाद इस दृष्टि से द्रष्टव्य है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से सहमत होते हुए भी मन के निग्रह का एक उपाय बताया है—अर्थात् वायु के समान चंचल और असाध्य मन को अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

संत जन कहते हैं कि मनुष्य को हमेशा अपने को किसी के नियंत्रण में रखना चाहिए । उनका कथन है कि "बालकपन में माता पिता को, जवानी में गुरु को और यदि गुरु का भी शरीर न रहे तो उस परमात्मा को अपने को सौंपो, जो प्रतिक्षण तुम्हारो देखरेख रखे । क्योंकि यह मन बड़ा चंचल है, क्षण में ही अनर्थ कर सकता है ।" मन की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि बहुत देर तक किसी भी स्थान पर नहीं ठहरता । जिधर लग जाता है, लग जाता है । इसलिए उसे किसी केन्द्र से जोड़ना है जहां से उसे प्रकाश, शांति, शुभ विचार, प्रेम और करुणा की धारें मिलें । इसके लिए भीतर से शांत होने की आवश्यकता है । महापुरुष बताते हैं कि "जैसे तुम्हारे घर में शोर हो रहा हो तो तुम पड़ोसी की बात नहीं सुन पाते । ऐसे ही जब तुम्हारे अंतर में विचारों का संघर्ष हो रहा हो तो उस भगवान् की बात कैसे सुनोगे, जो तुम्हारे ही अन्तर में धीरे से बोल रहा है । अतः शोर मत करो । वे पुनः मौन की महिमा बताते हुए कहते है "मौन रहने से अपनी मानसिक शक्ति बढ़ती है । सहन शक्ति में बल आता है । अनेक पापों से हम बच जाते हैं, जो व्यर्थ बोलने से लगते हैं । दूसरों के शब्दों को सुनने का अवसर मिलता है । अंतःकरण शुद्ध और प्रसन्न रहता है । अपनी निर्बलताएं प्रकट नहीं होतीं । फिर आवश्यक बात हमें कहनी चाहिये । निश्चय है कि जो मनुष्य कड़वी बातें और अपनी बुराई सुनकर चुप रह सकता है, उसने मन को वश में कर लिया है । जो मनुष्य अपनी वाणी पर संयम कर लेते हैं, उनकी वाणी में वह शक्ति आ जाती है कि सब उसे पसन्द करते हैं और सुनने को उत्सुक रहते हैं । मौन अवस्था आगे बढ़ने पर साधक को निरोध अवस्था में पहुंचा देती है जो आत्मज्ञान प्राप्त करने का अंतिम साधन है । वाणी पर संयम वे मनुष्य कर लेते हैं, जिनका आहार पर अधिकार होता है अर्थात् सतोगुणी और स्वल्पाहार करते हैं ।

कर्मफल की व्यवस्था, सृष्टि की स्थिरता का सुनिश्चित आधार है। दुष्कर्मों के दुष्परिणाम भुगते बिना और कोई गति नहीं। जिसे प्रकृति के, परमशक्ति के न्याय-विधान में अटूट विश्वास होता है, वह उद्विग्न नहीं होता। कहा भी गया है कि जीव आपही कर्म करता है, उसका फल भी आपही भोगता है। आप ही संसार में भ्रमण करता है। आपही उससे मुक्त भी होता है। उसमें उसका कोई भी साझी नहीं। जो इस रहस्य को जान लेते हैं, जिन्हें कर्मफल के न्याय-विधान में गहरा विश्वास हो जाता है, वे स्वभावतः अच्छे विचारों और अच्छे कर्मों की ओर अग्रसर होने लगते हैं। थोड़ा विचार कीजिए क्या कारण है किसी की निन्दा, किसी को कटु वचन या किसी पर प्रहार करने की मनः स्थिति में हम भीतर से कांपने लगते हैं ? चेहरा विकृत हो जाता है। भीड़ से बचना चाहते हैं। एकांत और अंधकार खोजते हैं। इसलिए कि प्रकाश में अशोभन आचरण नहीं हो सकता। लेकिन किसी की प्रशंसा करते समय, किसी को गले लगाते समय हमारी शारीरिक प्रतिक्रिया हर्ष और प्रसन्नता की होती है। हम निर्भय होते हैं, हम प्रकाश में होते हैं, प्रकाश में कार्य सम्पन्न करते हैं। कारण यही है कि हर मनुष्य के भीतर जो चेतन सत्ता है, जिसके कारण उसके मन, बुद्धि अहंकार चलायमान हैं उसका स्वरूप ही प्रेम और करुणा का है। उसमें थोड़ी भी देर के लिए जो स्थित हो जाती है उसका व्यवहार बदल जाता है, उसकी शंकाएं मिट जाती हैं। उसे रोशनी मिल जाती है। हमारा चित्त ऐसा टेपरेकार्ड है जिसमें हमारे भले-बुरे विचार, कर्म-संस्कार अंकित होते रहते हैं। अवसर पर ये उद्घाटित हो जाते हैं। ईश्वर की उपस्थिति का बोध, उसके चेतन स्वरूप में विश्वास, उसकी सर्वशक्तिमान सत्ता पर भरोसा मनुष्य को स्थिर-चित्त बनाता है। संत जनों के साहचर्य में हमारा चित्त भी सतोगुणी बन जाता है। आत्मा के सर्वाधिक निकट होने से हमारा चित्त स्वभावतः सतोगुणी है। हमने अशुद्ध विचारों को उठा-उठाकर चित्त पर मल की अनेक पर्तें जमा कर दी हैं। उनकी सफाई करनी हैं। तरीका एक ही है जिससे इसकी सफाई हो सकती है। गोस्वामीजी के शब्दों में—

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोहतम सो सुप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइजासू॥
उघरहिं विमल विलोचन ही के।
मिटहिं दोष-दुख भव रजनी के॥

जो मन तामसी और राजसी वृत्तियों के कारण मूढ़ आलसी और प्रमादी बना हुआ है, राग द्वेष से आवृत्त है, वही सतोगुणी होने पर हमारे लिए मंगलमय बन जाता है। वरदान सिद्ध होता है। जिस प्रकार कमरे की चहार-दीवारी ही उस कमरे के आकाश को समष्टि रूप आकाश से अलग कर देती है, उसी प्रकार देह बोध सर्वात्म बोध से हमें अलग किये हुए है। प्रकाश स्वरूप महापुरुषों के ध्यान से हमारा अन्तर प्रकाशित होने लगता है। मन और बुद्धि के सहारे जीवन और जगत को समझना कठिन है। हम कौन हैं ? कहां से आये हैं ? कहां जाना है ? यह जगत् क्या है ? लोग कौन हैं ? हमें कैसा व्यवहार और वर्ताव करना चाहिए ?—इन प्रश्नों का समाधान अन्तर्मुखी होने पर ही मिल सकता है। हमारे ख्याल में प्रायः दुनियादारी के भाव रखते हैं। दुनियादार लोग रहते हैं। उनके चिंतन से हमारा मन भी दुनियादार बना हुआ है। थोड़ी देर के लिए यदि इसे 'सत्यलोक के निवासी सन्त-जनों की ओर लगा दें, ऊंची आत्माओं के सान्निध्य में जायें, तो हमारी आन्तरिक तपन शांत हो जाती है। अंतर का अन्धकार दूर हो जाता है। करने' न करने का विवेक जग जाता है।

आज मनुष्य को शारीरिक विश्राम से अधिक मानसिक विश्राम की आवश्यकता है। हम दिन रात दौड़ते रहते हैं पर दौड़ना बड़ी बात नहीं। ठहर जाना बड़ी बात है। हम दिन-रात बोलते रहते हैं, पर बोलना बड़ी बात नहीं, चुप रह सकना बड़ी बात है। हम दिन-रात सोचते रहते हैं पर सोचना बड़ी बात नहीं, चिंतन-शून्य हो जाना बड़ी बात है। अन्तर्मुखी होकर ध्यान के सहारे हम चिंतन-शून्य होने का प्रयास करते हैं। आज अन्तर्मुखी होने या आत्मकेन्द्रित होने का गलत अर्थ लगाया जाता है। इसके सही अर्थ अपने चैतन्य स्वरूप को

समझने के हैं। असलियत यह है कि जो अपने चित्त को वश में कर लेता है वह दूसरे के चित्त के मर्म को भी समझने लगता है। इस समझ के बाद हम बेहतर ढंग से जीने का सऊर हासिल करते हैं। सही माने में वैष्णव हो जाते हैं। पराई पीर जानने लगते हैं और हिंसक वृत्ति से मुक्त हो जाते हैं। जो अपने लिए पसन्द नहीं करते, दूसरों के साथ करने में डरने लगते हैं। इससे बढ़िया बात इस जीवन में और क्या होगी? संतोष, दया, विवेक से ही यह संसार रमणीय और सुखकारी बन सकता है। ऐसा महापुरुष बताते हैं। घट-घट वासी राम रमैया, कटुक वचन जनि बोले रे। कबीर साहब यह कहकर आगाह करते हैं कि जो तुम अपने लिए चाहते हो वही तुम्हें दूसरों के लिए भी चाहना है। महापुरुष कहते हैं कि "अपना हृदय निर्मल करो, दूसरों का प्रेम आपके हृदय में पैदा हो जायेगा। अपने मन का कपट दूर करो, देखो दुनियां में कितने निष्कपट लोग बैठे हुए हैं। अपनी वाणी को मीठी करो, फिर देखो तुम्हें कितनी मधुर वाणी सुनने को मिलती है। तुम किसी जानवर पर ही दया करो, देखो कि लोग तुम्हें कितना प्यार और स्नेह देते हैं।"

मनुष्य इस संसार में मेहमान बनकर आया है। उसे मुसाफिर कहा गया है। वह वस्तुतः इस दुनियां के रंगमंच का अभिनेता है। वह किसी चरित्र का अभिनय कर रहा है। पर मूलतः वह कुछ और ही है। इसका रहस्य, संचालक को मालूम है। उसे भी इस रहस्य से परिचित होना चाहिए लेकिन वह अपने स्वरूप को भूल बैठा है। उसके मन पर विचारों का पर्दा पड़ा हुआ है। उसका ख्याल गैरों से ही हटता नहीं है, तब उसका क्या होगा? कैसे वह सही दिशा पायेगा? उसे मन कब तक, कहां तक भटकायेगा?

संत कबीर कहते हैं–संतों!
तन का मन रखवारा।।
सोई जाने जो जानन हारा।।
मन ही देव, देवता मन ही, मन सेवा मन पूजा।
मन ही मन लै पाती तोड़े, मन ही मन को साजा।।
मन ही उट्ठै, मन ही बैठे, मन भीगा, मन न्यारा।
मन ही ताता मन ही सीतल, मन मीठा, मन खारा।
ध्यान लगाय बैठ घट भीतर, तजि दै विषय-विकारा।
कहत कबीर सुनो भई साधो सोइ जन जग सो न्यारा।।

--------

# समस्याओं का समाधान


## जगदाचार्य स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज

नौमिषारण्य.


आज का मनुष्य, समस्या–समाज का अंग बन गया है. वह जटिलतम समस्याओं से घिरा है. पारिवारिक समस्याएं हैं. सामाजिक समस्याएं हैं. राजनैतिक समस्याएं हैं. सांस्कृतिक समस्याएं हैं. जीवन के हर रास्ते पर समस्याओं के तीखे शूल बिछे हुए हैं. मनुष्य की हर गति लहू-लुहान हो रही है समस्याओं का कारण ज्ञान का अभाव नहीं है वरन मन के अपूर्ण नियंत्रण के कारण समस्याओं की बाढ़ आयी है. मन पर संपूर्ण नियंत्रण न होने के कारण सत्य का अनुसरण असाध्य हो गया है. आज का सत्य भी अविश्वास, आलोचना तथा वादविवाद की वस्तु बन गया है, जबकि भारतीय संस्कृति में सत्य के प्रयोग, जीवन को गंभीर बनाने तथा चेतना को उच्च स्तर में बदलने के लिए होते हैं. मन के अपूर्ण नियंत्रण के कारण धर्माचरण का प्रश्न गौड़ हो गया है.

आज शांति तथा एकता के लिए विभिन्न प्रकार के अनुबंध किये जाते हैं-वैज्ञानिक, उपयोग, आर्थिक समझौते तथा राजनैतिक संधियां. ऐसे प्रयासों से संसार के बाह्य स्वरूपों को कुछ समय के लिए संगठित किया जा सकता है। परन्तु एक सुदृढ़ तथा स्थिर एकता के लिए नियमों तथा सिद्धान्तों से परे एक अदृश्य किन्तु अधिक सशक्त आत्म-जगत की प्रेम–कड़ियों को जोड़ना आवश्यक है. आधुनिक विकास का दोष यह है कि एक ओर विज्ञान के द्वारा जहां उसने विश्व को निकट लाने का कार्य किया, वहीं धार्मिक आस्था एवं सद्भावना के अभाव में मानवीय कुटुम्ब के पुनर्निर्माण का कार्य हजारों वर्ष पीछे चला गया.

प्रश्न यह है कि संसार की एकता के लिए वस्तुतत मानवीय एकता के लिए हमें कैसा आधार चाहिए. क्या व्यवहारवादी आर्थिक आधार से इस प्रकार–की मानवीय एकता वस्तुतः पारिवारिकता प्राप्त की जा सकती है, आध्यात्मिक आधार द्वारा विश्व-परिवार का स्वप्न साकार किया जा सकता है. अब तक के अनुभवों से प्रमाणित है कि यांत्रिक जगत की उपलब्धियाँ, मानवता को आत्म-शून्य कार्यकुशलता के यंत्र में परिवर्तित कर देती हैं, जो मानवीय जीवन का उचित लक्ष्य नहीं है. ऐसी अर्थनीति अथवा राजनीति से मानव-जीवन का कल्याण नहीं हो सकता, जिसके भीतर आत्मा की सुगूढ़ आवश्यकताओं के लिए समुचित स्थान न होगा. मानवीय सभ्यता का वास्तविक स्वरूप उसके आत्मिक मूल्यों तथा मन की गहरी आकांक्षाओं से ज्ञात होता हैं. धर्म, सभ्यता का आन्तरिक पक्ष होता है. धर्म, अपने सभ्यता रूपी समाज के शरीर की आत्मा होता है और जब तक आत्माचरण की गतिविधियां सर्वोपरि नहीं होंगी, तब तक अन्य प्रकार के बाह्य आचरणों से स्थायी इतिहास–मूल्यों का निर्माण नहीं होगा.

एक विचारक ने लिखा है कि योजना एक सहयोगात्मक सृजन की योजना है, परमात्मा, मनुष्यों की सृजनशील गतिविधि के लिए आग्रहशील है, मनुष्यों की यह सृजन-शील गतिविधि ही वह वस्तु है जो संसार को बदलती है और इतिहास का निर्माण करती है. अतः मनुष्यों की गतिविधि का धर्मपरक, श्रद्धापरक तथा प्रेमपरक होना,

परमात्मा की प्रसन्नता के लिए आवश्यक है. इन्हीं गति-विधियों से मनुष्य, परमात्मा का पुत्र बनता है. एक प्राच्य विचारक का विश्वास है कि परमात्मा को पुत्र के अतिरिक्त कोई नहीं जानता. पुत्र बनने के लिए पिता की इच्छा-नुसार कार्य करना अनिवार्य होता ही है और इसीलिए मानवीय इतिहास साक्षी है कि संसार, प्रेम तथा सेवा के नेताओं का है.

आज की समस्याओं के मूल में प्रचलित अविद्या है. आज की शिक्षा नित्य का ज्ञान न देकर अनित्य का ज्ञान देती है, आत्म-ज्ञान न देकर परात्म ज्ञान देती है, मौतिक समृद्धि पर अधिकार करने का ज्ञान देती है। प्राचीन भारत में ऋषि–शिक्षा-प्रणाली थी, जो अनासक्त कर्म का ज्ञान देती थी. वह अध्यात्म विद्यार्थी, जिसके ज्ञान–प्रकाश में मनुष्य, वाह्य कर्मों की क्रिया-शीलता के साथ आत्मा-रोहण करता था. अध्यात्म विद्या, आचरण की शिक्षा थी. आचरण, उपासनामूलक था और कर्म तथा उपासना की प्रक्रियाओं से सत्य का ज्ञान होता था. यह सत्य-ज्ञान, स्वभाव को जाग्रत करता था. स्वभाव सहज साधक होता है. वह प्रभाव तथा अभाव से निर्विकार रहता है. इसीलिए उसके समक्ष समस्याएं नहीं होतीं.

समस्याओं की सघनता के प्रति चिंता सर्वत्र दिखायी देती है, किन्तु दुःख की बात यह है कि सर्वव्यापी चिंता के पास भी सोचने-विचारने की सही दिशा नहीं है. उसके पास कोई धार्मिक तथा सांस्कृतिक धरातल नहीं है. इसीलिए नींव-निर्माण का कार्य नहीं हो रहा है। रचनात्मक कार्य नहीं हो रहा है. तपस्या का कार्य नहीं हो रहा है।

लेकिन समस्याओं के प्रति चिंता समाप्त होने वाली नहीं है, समाधान खोजने की आकांक्षा करने वाली नहीं है। क्योंकि मानव-प्रकृति, सभ्यता की चकाचौंध में निरंतर अमानवीय एवं विनाशकारी तथा अनात्मीय प्रवृत्तियों की ओर गतिशील नहीं रह सकती और इस प्रयोजन में अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है. विकल्प-प्राप्ति का उपाय यह है कि भारत के संपूर्ण क्षेत्रफल को तीर्थक्षेत्रों में विभक्त कर प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को ऋषि-आश्रमों तथा गुरुकुलों के अधीन कर दिया जाये. जहाँ कल के नागरिक किन्तु आज के विद्यार्थी, अध्यात्म विद्या एवं ब्रह्म-विद्या का साधनाशील ज्ञानार्जन कर लोक-समाज की सेवा का व्रत धारण करें. तब समस्याओं का जन्म न होगा और वर्तमान समस्याएं स्वतः समाप्त हो जायेंगी

# भारतीय संस्कृति

रामनारायण सिंह चौहान
रायबरेली

बौद्धमिक्षु भदंत आनन्द कौसल्यायन रिक्शे पर बैठकर सांस्कृतिक सम्मेलन की अध्यक्षता करने जा रहे थे, रिक्शे वाले को यही बताया था कि जहां सांस्कृतिक सम्मेलन हो रहा है, वहां चलना है. मार्ग में रिक्शे वाले ने पूछा–'स्वामी जी, यह संस्कृत-सम्मेलन क्या होता है ?' आनन्द कौसल्यायन ने संशोधन किया—'संस्कृत सम्मेलन नहीं, सांस्कृतिक सम्मेलन हैं.' रिक्शे वाले को, उत्तर सुनकर' एक नया प्रश्न सूझा–'सांस्कृतिक सम्मेलन क्या होता है ?' उत्तर में भदंत आनंद कौसल्यायन ने अपने सांस्कृतिक ज्ञान की स्थिति स्पष्ट की—'दो दिन से जा रहा हूं अभी तक तो समझ में नहीं आया कि संस्कृति क्या है. आज यदि समझ गया तो, लौटकर बता दूंगा'

बौद्धधर्म, भारत में जन्मा एक ऐसा धर्म है जो, भारत के बाहर तो खूब पनपा और प्रतिष्ठा प्राप्त की किन्तु भारतीय जीवन को वह, अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर सका. इसका कारण यह है कि बोद्ध-धर्म, एक आत्महीन धर्म है और इसीलिए वह किसी संस्कृति की प्रतिष्ठा नहीं कर सका. भगवान बुद्ध ने अपने सभी दार्शनिक विचारों को सामयिक लाभ उठाने मात्र के लिए प्रचारित किया और समय के बाद उन्हें लादे रहने की निन्दा की है—बौद्ध धर्म, सामान्य जन–जीवन का धर्म भी कभी नहीं रहा उसका स्वरूप विशिष्ट लोगों की सुविधाओं के लिए परिवर्तित होता रहा है.

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम के सम्बन्ध में उल्लेख है– 'बुद्ध ने दरिद्रता तथा दासता को उठाना अपने कार्यक्रम का अंग नहीं बनाया था, प्रारम्भिक दिनों में, प्रतीत होता है कि, दरिद्रता तथा दासता की भीषणता को कम करने के छुटपुट प्रयास बौद्ध धर्म द्वारा किये गये थे. उन दिनों ऋण देने वाले को सम्पत्ति न होने पर ऋणी को सशरीर खरीद लेने का अधिकार था इसीलिए कितने ही असहाय ऋणी, ऋण पाने के लिए भिक्षु बन जाते थे. लेकिन जब महाजनों के विरोधी बन जाने का भय पैदा हुआ तो, बुद्ध ने घोषित किया—

'ऋणी को प्रबज्या नहीं देनी चाहिए.'
(महावग्ग, १/३/४/८)

इसी प्रकार दासों के भिक्षु बनने पर अपने स्वार्थ पर हमला होते देख जब दास-दासियों ने गुहार मचायी तो, बुद्ध ने घोषित किया—

'भिक्षुओं, दास को प्रबज्या नहीं देनी चाहिए '
(महावग्ग, १/३/४/९)

मगधराज बिंबसार, बुद्ध के अनुयायी थे, लेकिन जब राजा बिंबसार के सैनिक, युद्ध में जाने की जगह भिक्षु बनने लगे तो, सेनानायक तथा राजा बहुत घबड़ाये, आखिर राज्य का अस्तित्व अन्ततः सैनिक शक्ति पर ही आधारित हैं. बिंबसार ने जब पूछा कि राजसैनिकों को साधु बनाने वाला किस दंड का भागी होता है तो, अधिकारियों ने उत्तर दिया—'देव उस (गुरू) का सिर काटना चाहिए, अनुशासक (भिक्षु बनाते समय विधि-वाक्यों को पढ़ने वाले) की जीभ निकाल ली जानी चाहिए और गण (संघ) की पसली तोड़ दी जानी चाहिए'

राजा बिंबसार ने बुद्ध के पास जाकर शिकायत की तो बुद्ध ने घोषित किया—

'भिक्षुओं ! राज सैनिकों को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए.'

(महावग्ग, १/३/४/२)

इस उपर्युक्त अवसर-वादिता एवं जन-जीवन के साथ वेदना-साम्य के अभाव एवं आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकृत करने के कारण ही बौद्ध धर्म की कोई अपनी संस्कृति नहीं है. बुद्ध का धर्म-दर्शन, मूलतः प्रतीत्य-समुत्पाद है, जिसका प्रयोजन क्षणिकवाद की प्रतिष्ठा करता है, जबकि भारतीय संस्कृति, अनादि-अनंत को जोड़ने वाली एक ज्ञान-शृंखला है.

भारतीय संस्कृति, अद्वैत पर आधारित है, महाराज नामदेव की रोटियां लेकर कुत्ता भगा तो, महाराज नामदेव घी की कटोरी लेकर पीछे-पीछे दौड़ते-दौड़ते कहते हैं—'महाराज ठहरो, रोटियों में घी लगा दूं.' चोरी करने के उद्देश्य से घर में आने वाले व्यक्ति से एकनाथ महाराज कहते हैं—'जरा और ले जाओ.' भारतीय संस्कृति का समाज, चोरी करने वाले व्यक्ति को देखकर लज्जित होता है. वह अपने ऊपर क्रोध करता है और कृतघ्नता अनुभव करता है कि हमारे समाज में चोरी करने की विवशता भी है.

अद्वैत का अर्थ है—ऐसी भावना कि मेरे जैसे सभी हैं. गांधी के सेवाग्राम-आश्रम की बात है. कुछ दिनों से आश्रम में चोरी हो रही थी. आश्रमवासी चिन्तित होकर सावधान हो गये थे. एक रात को जब एक व्यक्ति चोरी करने के उद्देश्य से आश्रम में घुस आया तो, पहरे पर नियुक्त आश्रमवासियों ने उसे पकड़कर एक कोठरी में बंद कर दिया.

प्रातः होने पर आश्रमवासी प्रतीक्षा करने लगे कि गांधी जी नाश्ता करलें तो, चोर को उनके सामने लाया जाये. यही हुआ. जब गांधी जी ने जलपान कर लिया तो, आश्रमवासी चोर को कोठरी से निकालकर गांधी जी के सामने ले गये और गर्वपूर्वक बताया कि रात मे चोरी करने के लिए आये इस चोर को हमने पकड़ लिया है. तब तुरन्त ही गांधी जी ने पूछा—'इसको नाश्ता कराया ?'

गांधी जी के प्रश्न पर सन्नाटा छा गया. दूसरे आश्रमवासी, मानवीय संस्कृति की इस अनिवार्यता को भूल ही गये थे. किन्तु यदि गांधी जी भी भूल जाते तो, भारतीय स्वतंत्रता का सांस्कृतिक इतिहास कुछ अन्य ही होता. भारतीय संस्कृति में कोई अपवित्रता तथा अमंगल नहीं है वह सभी का समादर करती है. मानती है कि ईश्वर की दृष्टि में मानव-सेवा का कोई भी कार्य तुच्छ नहीं है.

भारतीय संस्कृति में 'धारणात् धर्मः' है. जो सारे समाज को धारण करता है, वह धर्म है. धारण, संपूर्ण मानव-जाति का है इसलिए भारतीय धर्म-संस्कृति में 'मानव-धर्मशास्त्र' है.' भारतीय संस्कृति का ध्येय है:

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत् ॥

भारतीय संस्कृति में अंध श्रद्धा को स्थान नहीं है. वेद, भारतीय संस्कृति का आधार हैं भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि परमेश्वर का स्वरूप ही मूलतः ज्ञान है. ज्ञान का अर्थ ब्रह्म है—'ज्ञानंब्रह्म' कहा भी गया है. भारतीय संस्कृति का आह्वान है—"मेरे पुत्रों, संसार में ज्ञान के लिए जीवन समर्पित करने वाले सैकड़ों लोग पैदा होते हैं. यहां भी ऐसे लोगों को पैदा होने दो यहां विचार-पूजा प्रारम्भ होने दो."

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं— हम-सब ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ने वाले बच्चे हैं कोई सारी सीढ़ियां चढ़कर दीवान खाने तक पहुंच गये हैं, कोई ऊपर की अंतिम सीढ़ी पर हैं, कोई बीच में हैं, कोई नीचे की सीढ़ी पर हैं, कोई सीढ़ी के पास खड़े हैं और कोई सीढ़ी के पास पहुंचने के लिए दौड़ रहे हैं. एक दिन सारे बालक दीवानखाने में आ जायेंगे उस दिन अपूर्व उत्सव होगा, मधुरतम संगीत होगा.'

लेकिन, भारतीय संस्कृति का आदेश—'सर्वेषाम् विरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ।' अर्थात् अब किसी का विरोध नहीं है. अब मुझे अपना ब्रह्मकर्म आरंभ करने दो, ब्रह्मकर्म प्रारंभ करने से पूर्व सबके साथ अविरोध होना अनिवार्य है. पहले स्नान-संध्या कैसे ? देव-दर्शन कैसा ? जप-तप कैसा ? पहले समाज में एकता का निर्माण कीजिये, मानव-जाति में-से पारस्परिक विरोध दूर कीजिये. कलह मिटाइये. द्वेष-मत्सर आदि का अन्त कीजिये और तब ब्रह्म-कर्म कीजिये.

आज के भारत का सांस्कृतिक स्वरूप बहुत गौरवमय नहीं है, इस समय भी जबकि गली-गली जगद्गुरू शंकराचार्य घूम रहे हैं. आज के शंकराचार्य भी अद्वैत भावना को मानने वाले हैं. ये शंकराचार्य मानव-समाज की विषमताओं को भी भली प्रकार -अनुभव करते हैं. किन्तु गौतमबुद्ध की भांति आज के शंकराचार्य भी सत्तापक्ष के साथ हैं, पूंजीपतियों के शुभचिंतक हैं और उच्चाधिकारियों के समर्थक हैं. जनजीवन की आशाओं आकांक्षाओं से इनका कोई सरोकार नही है, इन शंकराचार्यों का जन-आन्दोलनों अथवा जन-आक्रोशों से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए ये सैकड़ों-हजारों शंकराचार्य तथा संयासी न तो भारतीय संस्कृति के संवाहक हैं, और न भारतीय धर्म के निष्ठावान साधक.

भारतीय संस्कृति, पशुओं, पक्षियों तथा वनस्पति तक के प्रति उदार तथा आत्मीय हैं. तुलसी, वट, पीपल, आंवला, कदंब, वेल, पारिजात, जसवंती, अनार आदि कितने ही वृक्षों की पूजा या उनके प्रति सम्मान प्रकट करने का विधान भारतीय संस्कृति में है, शकुंतला के वर्णन में कण्व ऋषि कहते हैं—'शकुन्तला, वृक्षों को पानी पिलाये विना पानी नहीं पीती है.' वृक्ष-वनस्पति को भारतीय संस्कृति में मानवी भावना प्राप्त है.

ऋग्वेद में एक सांस्कृतिक श्लोक है :

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानां अमृतस्य नाभिः

अर्थात् अरे, यह गाय रुद्रदेव की माता है, वसुदेव की पुत्री है, यह आदित्य की वहन है, यह अमृत की निर्झर है.

नागदेव को भी दूध पिलाने का कर्तव्य, भारतीय संस्कृति की विशेषता है. भारतीय संस्कृति, चराचर से प्रेम करने वाली संस्कृति है. भारतीय संस्कृति शत्रु तथा मित्र के प्रति समान रूप से उदार तथा अभ्यागत तथा शरणागत के प्रति सर्वस्व के साथ समर्पित है शरणागत के लिए राजा शिवि, अपनी जांघ का मांस काट कर दे देते हैं. राजा मयूरध्वज आधा शरीर काटकर दे देते हैं और जब उन्हें ज्ञात होता है कि मेरी बायीं आंख में आंसू देखकर अतिथि चला जायेगा, तब वे कहते हैं——यह पानी मेरी आंख में इसलिए नहीं आया है कि शरीर को काट-कर मुझे देना पड़ रहा है बल्कि इसलिए है कि दाहिना अंग सार्थक हो रहा है और बायें को वैसा ही सौभाग्य नहीं मिल रहा है."

कवच-कुंडल दान करने के बाद कर्ण अपने पिता सूर्य से कहता है—"मैं मूर्ख नहीं हूं, मैं तो व्यावहारिक हूं. संसार उसे ही व्यावहारिक व्यक्ति कहता है, जो थोड़ी कीमत देकर बहुत-कुछ प्राप्त कर लेता है. मैं इस नश्वर शरीर को देकर अमर कीर्ति को प्राप्त कर रहा हूं, इस मिट्टी को देकर एक ऐसा यश ले रहा हूं जो, संसार के अन्त तक टिका रहेगा."

और गांधारी को जब यह ज्ञात होता है कि पति अंधे हैं, तब वह जन्म भर आंखों पर पट्टी बांधने का व्रत धारण करती है, लेकिन इस त्याग-तप से उसे ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है कि गांधारी के सामने भगवान कृष्ण थर-थर कांपते खड़े रहते थे.

भारतीय संस्कृति, संग्रहवादी है. वह, महत्तम वस्तु को प्राप्त करने के लिए लघुतम का त्याग करने की सीख देती है. बीसवीं शताब्दी की भारतीय सस्कृति में गांधी एकमात्र सांस्कृतिक महात्मा हुए हैं. उनका जीवन–चरित्र पढ़ने पर लोग अनुभव करते हैं कि वे बड़े, त्यागी–थे, किन्तु भारतीय संस्कृति की दृष्टि से वे, नाममात्र को भी त्यागी नहीं थे वरन् पूरी तरह परिग्रही थे. उनके प्रत्येक त्याग के पीछे एक अधिक मूल्यवान वस्तु-भावना पा लेने की योजना होती थी और यही कारण है कि अपने जीवन में ही उन्होंने सारे विश्व को अपनी बाहों में समेट लिया था.

भारतीय सस्कृति, प्रकृति तथा परमात्मा के साथ साम्य तथा समन्वय स्थापित करने वाली ज्ञानानुभूति-श्रृंखला है. भारतीय संस्कृति, जीवन तथा धरती की सापेक्षता में विद्यमान वह अलौकिक वैचारिकता एवं व्यावहारिकता है जो, उसे अमरता, अनश्वरता एवं अखंडता के सत्य से पूर्ण करती है. भारतीय संस्कृति, लघुतम जीवन की वह महत्तम आस्था है जो उसमें, सृष्टि तथा सृष्टा की विभूतिकी अनुभूति को आप्त-व्याप्त करती है.

भारतीय संस्कृति, जन्म-जीवन की आत्मगत आशाओं-आकांक्षाओं की वह प्रतिनिधि भावना है जो, आत्म-

कल्याण तथा आत्मोद्धार के प्रयोजन से समष्टि से एकाकार होने का आचरण करने को प्रेरित करती है. भारतीय संस्कृति, अनित्य जीवन की वह नित्यात्मक आस्था है जो, देश-काल की सीमाओं के पार जाकर संपूर्ण सृष्टि में अपने जीवन के अस्तित्व की खोज तथा उसकी प्रतिष्ठा करने वाले संस्कारों को जाग्रत एवं सुलभ करती है और भारतीय संस्कृति, वैचारिकता तथा आचरण की वह आत्म-प्रक्रिया भी है जो, मनुष्य को पशुत्व से पृथक कर उसे देवत्व की ओर उन्मुख तथा अग्रसर करती हैं.

भारतीय संस्कृति, आत्मा अथा प्रकृति के ज्ञान एवं दोनों के संगीत की वीणा है, जिस पर मुखरित होने वाला समवेत स्वर, प्रकृति-पदार्थों के प्रति प्रार्थना बनता है. क्योंकि जीवन तथा प्रकृति के चेतनाचेतन पदार्थों के रूपारूप अस्तित्व ही मानवीय संस्कृति को आध्यात्मिक चिंतन के धरातल प्रदान करते हैं. चिंतन की यही आत्म-स्तरीय प्रक्रिया, मानवीय संस्कृति को धार्मिकता प्रदान करती है और इसीलिए संस्कृति के आत्म-तत्व को धर्म कहा जाता है

भारतीय संस्कृति, मानवीय हिमालय की संस्कृति है, जो अपनी सरिता रूपी कन्याओं पर इस कारण क्रोध नहीं करता है कि देश-की स्थितियों के आग्रह पर वे, अन्य पवित्र-अपवित्र छोटी-मोटी जल-धाराओं को अपने हृदय-प्रवाह में समाहित कर लेती हैं. वह, अपनी बच्चियों को आशा से देखता है, अपने आशीर्वाद देता है और विश्वास करता है कि अंत में मेरी बालिकाएं अनंत सागर के पास पहुंच जायेंगी, भले ही टेढ़ी-मेढ़ी होकर जायें, लेकिन वे, अपने ध्येय को अवश्य प्राप्त कर लेंगी.

भारतीय संस्कृति, परिवार-संस्कृति है इसीलिए अद्वैत संस्कृति है इसीलिए ज्ञान-संस्कृति है सयम, कर्म तथा पुरुषार्थ की संस्कृति है. अहिंसा तथा शक्ति की संस्कृति है और इसीलिए देव-संस्कृति तथा अवतार-संस्कृति है, जो जीवन में उन सभी सुखों को सुलभ करती है, जिनकी कल्पना, ईश्वरीय सुखों के रूप में की जा सकती है ()

# कला : स्वरूप विवेचन और उपयोगिता

**डा० अखिलेश**

तिलक महाविद्यालय, औरैया.

'कला' शब्द का व्युत्पतिगत अर्थ 'कोश' में कई प्रकार से उल्लिखित है 'कला' का तात्पर्य उस क्रिया या शक्ति से है जो आनन्द प्रदायनी है 'कं आनन्दं लाति इति कला' अर्थात् जो आनन्द का आविर्भाव करे उसे 'कला' कहते हैं। कलाकार अपने अन्तरस्थ भावों को कला द्वारा व्यक्त करता है अतः भावाभिव्यक्ति का साधन कला है आनन्द भावना का मूल सौन्दर्य में निहित रहता है, सौन्दर्य रमणीयता और नवीनता में है, नवीनता से ज्ञान का प्रकाश होता है, ज्ञान मंगलमय है। अतः कला भी मंगलमयी है। जो संभाव्य सत्य है, नवीनता और रमणीयता से युक्त है—वही कला है।

## कला की परिभाषा–

'कला' का सैद्धान्तिक विवेचन हमारे यहाँ की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में अधिक हुआ है। अरस्तू ने कला को अनुकृति कहा है। क्रोचे अभिव्यक्ति को ही कला मानता है। शैली के अनुसार कल्पना की अभिव्यक्ति करना ही कला है। टालस्टाय ने कला को मानवीय चेष्टा की अभिव्यक्ति बतलाया है। हेगल महोदय कला को मनुष्य की क्रिया की सृष्टि कहते है। वायरन मस्तिष्क की सृष्टि सम्बन्धी चेष्टा को 'कला' कहता है। प्रख्यात फ्रेंच समालोचक फार्गुए ने कला को भाव की ऐसी अभिव्यक्ति कहा है जो तीव्रता से मानव हृदय का स्पर्श करती है।

भारतीय कवीन्द्र रवीन्द्र का मत है कि जो सत है सुन्दर है, वही कला है। कविवर प्रसाद जी 'काव्य और कला' नामक निबन्ध में कला की परिभाषा करते हुए लिखते हैं ''अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं और कला के प्रति अधिक पक्षपात पूर्ण विचार करने पर यह कोई कह नहीं सकता है कि अलंकार, वक्रोति, रीति और कथानक इत्यादि में कला की सता मान लेनी चाहिए। 'सारांश यह है कि कला के बारे में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों की नाना प्रकार की धारणायें हैं। इतना अवश्य है कि अधिकांश विद्वान कुशल अभिव्यक्ति में ही कला के दर्शन करते हैं। सच तो यह है कि प्रकृति सौन्दर्य से प्रभावित होकर जब कलाकार अपनी कृति में एक लय भरना चाहता है या अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा उसे अभिनव आकर्षण प्रदान करता है तभी कला का जन्म होता है।

## कला : स्वरूप विवेचन–

कला का कोई निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता और न उसकी वास्तविक विवेचना ही की जा सकती है। संवेदनशील मानव जो कुछ अनुभव करता है उसका प्रभाव उसके चेतन-अचेतन मस्तिष्क पर एक चिरन्तनता प्राप्त कर लेता है। उसकी अनुभूति का श्रय अपने जीवन में प्राप्त रस, विश्व की सौन्दर्य भावना और संस्कारों की तीव्रता तथा नित्य जीवन सम्बन्धी विचार धाराओं में है। कलाकार इन सबका एक ऐसा समष्टिगत रूप मृजित करता है कि उसकी कृति को देखकर आश्चर्य

चकित रह जाना पड़ता है। कलाकार की साधना उस मधुमक्षिका के समान है जो विभिन्न वनस्पतियों पुष्पों से रसदोहन कर अपनी मौलिकता का मावन देती और मधु के रूप में सर्वथा नवीन और अनुपम अमृत की सृष्टि करती है। तात्पर्य यह है कि कला अपनी विविध अभिव्यक्तियों के माध्यम से समग्रता की ही व्याख्या करती है, अतएव कहा जा सकता है कि अपूर्णता के प्रति विद्रोह का नाम कला है।

कला असीम है। सृष्टि की अनन्तता के साथ कला भी अनन्त है। मानव की सृजन-शक्ति भी अनन्त है। अतः कलाओ की स्वरूप-सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

## कलाओं की संख्या–

कलाओं का विवेचन 'कला' विलास' और 'कामसूत्र जैसे ग्रन्थों में विशद रूप से प्राप्त होता है 'कला विलास में स्पष्ट लिखा है कि नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में किसी न किसी कला को अनिवार्य समझा जाता था। विविध कलाओं का विकास ही नागरिक जीवन का इतिहास था। इस तरह कलाओं का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में नागरिक जीवन के लिये आवश्यक चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया गया है।

## कलाओं का वर्गीकरण–

पाश्चात्य कला चिन्तकों ने कलाओं को अनेक प्रकार से वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। एक वर्ग ने उसे प्राकृतिक कला ( Natural Art ) और ज्ञान एवं अभ्यास कला ( Art acquired by practice or knowledge ) के रूप में विभाजित किया है तो दूसरे ने सामान्य कला ( Popular Art ) और सांस्कृतिक ( Cultural Art ) के रूप में। किन्तु सर्वाधिक मान्य और प्रचलित वर्गीकरण 'उपयोगी' और 'ललित' कलाओं का है। इस वर्गीकरण में अनेक आपत्तियाँ की गई हैं, जिनमें क्रोचे का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके विचार में कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। अतः उसको खंडित नहीं किया जा सकता।

जिन कलाओं में उपयोगिता का प्राधान्य होता है उन्हें उपयोगी कला कहा जाता है। ये कलायें साधन रूप में हमारे लिये सुख संपादन करती हैं जबकि ललित कलायें सीधे तौर पर सुख संपादन करती हैं। उपयोगी कलाओं का मुख्य लक्ष्य सुख-सुविधा पहुँचाना और आवश्यकता की पूर्ति है। अतः उपयोगी कलाओं का न तो कोई निश्चित स्वरूप है और न सीमा ही।

ललित कलाओं का विभाजन लालित्य (सौन्दर्य) के आधार पर किया है। लालित्य का सम्बन्ध मानसिक सुख से है। अतः जिन कलाओं में लालित्य का प्राधान्य होता है, वे ललित कलायें कही जातीहैं। ये ललित कलायें मुख्य रूप से पाँच हैं– (१) वास्तु या स्थापत्य (२) मूर्ति (३) चित्र (४) संगीत और (५) काव्य इनमें से प्रथम तीन का सम्बन्ध नेत्रों से मानकर उन्हें नेत्रपरक कहा गया है। अन्तिम दो का सम्बन्ध श्रोत (कर्णेन्द्रिय) से है, अतः उन्हें श्रोतपरक कहा गया है।

## क्या काव्य एक कला है ?–

प्राचीन भारतीय आचार्य साहित्य काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं स्वीकार करते। 'काव्य मीमांसा' का अनुशीलन करने पर ज्ञात हाता है कि प्राचीन काल में उज्जयिनी काव्य शास्त्र की शिक्षा का केन्द्र थी और पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) शास्त्रकार शिक्षा का गढ़ था। इस प्रकार भारतीय ज्ञान को ये दो धारायें दो केन्द्रों पर प्रवाहित होती थीं। उन्होंने काव्य की गणना विद्या में की है और कलाओं की अविद्या में। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में विद्या और कला का स्पष्ट भेद वतलाया है –

> 'नतज्ज्ञानं न तच्छिलपम् न सा
> विद्या न सा कला।' १/११७

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में काव्य या साहित्य को कला न मानकर 'कला' शब्द का उल्लेख केवल नृत्य गीतादि के लिए ही किया है–

'नृत्यगीत प्रमृत्यः कला कामार्थ संश्रयः' उन्होंने कलाओं को कामोद्दीपन में सहायिका 'कामार्थ संश्रयाः'- बताकर कारण निर्दिष्ट कर दिया है। 'काव्य को कामर्थ संश्रयाः' कभी नहीं माना गया। भारतीय मनीषा में

काव्य के सम्वन्ध में अत्यन्त उच्च धारणायें थीं। काव्य को हमारे यहां आत्मा की कला माना गया है। आचार्य मम्मट ने इसीलिये उसके प्राण रूप रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। काव्य की अपेक्षा कला का आनन्द वहुत कुछ स्थूल और वाह्य कहा जा सकता है। उसमें चमत्कार पूर्ण क्षणिक अवसादन और प्रसादन की प्रधानता वनी रहती है। इसलिये चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत् काव्य को स्थान न देकर केवल समस्यापूर्ति को ही काव्य कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय विद्वान कला का सम्वन्ध विशेषकर वुद्धि से और काव्य का सम्वन्ध हृदय तथा आत्मा से मानते थे।

पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला के रूप में स्वीकृत किया है। इस प्रकार कला और काव्य उनकी दृष्टि में पृथक् नहीं। प्लेटो प्रतीक व्यंजना को कला मानता है और उनके शिष्य अरस्तू ने अनुकरण को कला माना है। 'डिवाइन कोमेडी' के प्रणेता दांते ने कला को प्रकृति की अनुकृति कहा है। उनका कथन है कि कला प्रकृति का उसी भाँति अनुकरण करती है जिस प्रकार शिष्य अपने गुरू का। कला के वारे में जाँन रस्किन की धारणा है कि प्रत्येक महान कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के साह्लाद की अभिव्यक्ति है। उसे हम कृति जन्म आह्लाद की अभिव्यक्ति नहीं मान सकते– All great art is the expression of man's great delight is god's work and not his own :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य प्राचार्यों ने कला को प्रकृति के-प्रतिमानवीय आह्लाद की-अभिव्यक्ति मानकर उसे महत्ता प्रदान की है।

## कला और उपयोगिता–

प्रकृति को नानाविधि परिवर्तित सौन्दर्य मंडित छटा को देखकर संवेदनशील मन आनन्दातिरेक से आन्दोलित होता है नैसर्गिक सुषमा के प्रति उसका आकर्षण सहज और स्वाभाविक है। उसके तार-तार स्पन्दित हो जाते हैं और भावाभिव्यक्ति के लिये आकुल–व्याकुल होता है। उसकी मानसतरंगों की अभिव्यक्ति स्थापत्य मूर्ति, चित्र, संगीतादि रूपों से तरंगायित हो उठती है। कलाकार की संवेदनशीलता और रस ग्रहण की क्षमता जितनी सूक्ष्म और सौन्दर्यान्वेषणी होगी—उसकी कला भी उतनी श्रेष्ठ और चिरन्तन सिद्ध होगी। कला जीवन को वाणी प्रदान करती है, नवीनतम आशा, उमंग और सारस्वत वैभव से आपूरित करती है, संघर्षों से जूझने का आमंत्रण देती है। कला जीवन-वृन्त का मधुमय पुष्प है, जीवन-सीपी का सुन्दर मोती है। कला आदि कवि के प्रथम श्लोक की भाँति स्वतः और सहज निर्धारित होती है। इसी नैसर्गिक सृष्टि से कलाकार की आत्मा को शांति और सन्तोष मिलता है, उसके अन्तर की गाँठ खुलती है और वह आकुलता से मुक्ति पाता है — यही उसका सवसे बड़ा पुरस्कार है और यही उसकी सर्वोत्तम उपलब्धि। क्या यह शांति और मुक्ति कला की उपयोगिता नहीं है? हमारे यहाँ के कालिदास, तुलसी, केशव, आदि ने काव्य साधना द्वारा शारीरिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त की थी, ऐसा लोक विश्रुत है। ये सभी तथ्य स्पष्ट रूप से कला की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं।

कलाकार की साधना समाज सापेक्ष्य होती है। उसका मूल्यांकन समाज करता है। दृष्टा-निरपेक्ष कला की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सच्चा कलाकार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा विगत का दर्शन, वर्तमान का समाधान और आगत का आदर्श उपस्थित करता है। उसकी कला निरपेक्ष होती है। तथाकथित इतिहास तो मात्र प्रधान व्यक्तियों और घटनाओं का विवरण देता है किन्तु अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में उत्कीर्ण कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, साँची के स्तूप और खजुराहो के जैन मन्दिर, आगरे का ताज आदि युगीन सांस्कृति चिन्ताधारा के मूर्त रूप हैं। मुगलकाल का इतिहास केवल बादशाहों की कहानियों उनके युद्धों एवं विजयों तक सीमित है लेकिन जायसी और तुलसी आदि की कलात्मक अभिव्यक्तियों में उस युग का आन्तरिक स्पन्दन ध्वनित होता है और भावी के लिए आशाप्रद सन्देश भी विद्यमान है। जागरूक कलाकार सदैव से अपने युग का नेतृत्व करता आया है लेकिन हमें भलीभाँति स्मरण रखना चाहिए कि कलाकार बन्दूक नहीं कलम कूँची छेनी और हथौड़ी चलाता है, वह लोगों को लाठी लेकर हाँकता नहीं, वांसुरी

बजाकर सृजन की प्रेरणा देता है, वह आप्त वचन नहीं कहता 'कान्ता सम्मित' उपदेश देता है। सच कहा जाय तो कलाकार गोविल्स नहीं, गोर्की है और यही उसकी महत्ता है।

जहाँ तक कला की उपयोगिता का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि कला कभी जीवन से अलग की वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य शरीर ही नहीं आत्मा भी है, मानव-जीवन की धारा शरीर और आत्मा, भौतिक आवश्यकताओं और आध्यात्मिक विश्वासों इन दो कूलों के बीच से प्रवाहित होती है। उसका स्थूल शरीर भूख-प्यास के अतिरिक्त आह्लाद, वेदना इच्छा तथा वासना आदि भी अनुभव करता है। अतः केवल उधर-पोषण और शरीर धारण मात्र को जीवन नहीं कहा जा सकता-जीवित रहना मात्र कहा जायगा। कला संकुचित मनोवृत्तियों के प्रति तीव्र विद्रोह करती है। संकीर्ण स्वार्थ-वृत्तियों में घिरा हुआ भावना-शून्य मानव तो न कलाकार हो सकता है और न कला पारखी। कला उन्हीं की वशवर्तिनी चेरी बनी है जिन्होंने अपना सर्वस्व निष्काम भाव से उसके चरणों में अर्पित किया है। इस प्रकार 'स्वान्तः सुखाय' के लिये की जाने वाली कलात्मक साधना 'बहुजन हिताय' का पर्याय बन जाती है – यहाँ कला की उपयोगिता है और यही उसका पूर्णत्व प्राप्त की साधना का रहस्य

# पर्यायवाची, विलोम तथा अनेकार्थी शब्द

**डा० रामस्वरूप आर्य**

वर्द्धमान कालेज, बिजनौर.

किसी भी भाषा के शब्द-भण्डार पर हम मुख्यतः दो प्रकार से विचार कर सकते हैं-एक तो मूल स्रोत की दृष्टि से तथा दूसरे अर्थ तत्त्व की दृष्टि से। स्रोत की दृष्टि से यदि हम हिन्दी शब्दों पर विचार करें तो इन्हें तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशी वर्गों में रखा जा सकता है तथा अर्थबोध के आधार पर इन्हें निम्नलिखित तीन वर्गों में रखा गया है–

१– पर्यायवाची शब्द

२– विलोमशब्द

३– अनेकार्थी शब्द

भाषा का प्राणतत्त्व अर्थ है : अतः सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । इस दिशा में जरा–सी भी असावधानी बड़ा अनर्थ उपस्थित कर सकती है । भाषा में अनेक शब्द एक अर्थ में व्यवहृत होते हैं, साथ ही एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए इनकी जानकारी होनी ही चाहिए। साहित्य का मर्म समझने के लिए भी इनका ज्ञान आवश्यक है । एक-दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो सकेगी ।

नारी शब्द के अनेक पर्याय हैं–वामा, भामा, कामिनी प्रिया आदि । एक दोहे में इनका प्रयोग देखिये—

वामा, भामा, कामिनी कहि बोली प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस ।।
–विहारी

निम्नलिखित दोहे में कृष्ण के लिए प्रयुक्त सार्थक पर्याय देखिए–

मनमोहन सों नेह कर तू घनस्याम निहार ।
कुंज विहारी सों विहरि गिरधारी उर धार ।।
–बिहारी

इस संक्षिप्त भूमिका के पश्चात् अब हम पर्यायवाची विलोम तथा अनेकार्थी शब्दों पर विचार करेंगे । पर्यायवाची की परिभाषा इस प्रकार दी गई है "पर्याय एक ही शब्द-भेद वाले वे दो या अधिक शब्द हैं, जिनका सामान्य अर्थ उनकी कम से कम एक विवक्षा से युक्त हो"

भाषाशास्त्रियों का मत है कि कोई भी दो शब्द पूर्णतः समानार्थक नहीं होते हैं। उनकी अर्थच्छाया में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य रहता है। एक भाषा में दो पूर्णतः समानार्थक शब्द मिलने कठिन हैं । दो विभिन्न भाषाओं में समानार्थ को वहन करने वाले शब्द मिल जाते हैं पर उनकी संख्या भी अधिक नहीं होगी । अतः इन्हें पर्यायवाची की अपेक्षा 'स्थानापन्न' कहना अधिक उपयुक्त होगा, कुछ उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी ।

हाथी के लिए पुस्तकों में अनेक पर्याय मिलते हैं, यथा हस्ती, द्विप, कुंजर, दन्ती, द्विरद, नाग आदि । ध्यानपूर्वक देखने पर इन सबका अपना अलग अर्थ-वैशिष्टय दिखाई पड़ेगा । हस्ती में हाथी के हाथ (सूंड) की ओर संकेत है, द्विप का अर्थ है सूंड के दो छिन्द्रों द्वारा पानी पीने वाला, कुंजर–कुंजो में रमण करने वाला, दन्ती–जिसके

(दो लम्बे) दांतों में विशेषता है, द्विरप में भी यही भाव है, नाग में हाथी का संबन्ध पर्व से है। पर्वत के पर्यायों में भूधर, अचल, शैल, तुंग आदि में सूक्ष्म अर्थ-भेद दृष्टव्य है।

इनकी अपेक्षा दो भिन्न भाषाओं में समान अर्थ के द्योतक शब्द सरलता से उपलब्ध हो सकते हैं, यथा–

हिन्दी–कर अंग्रेजी–टैक्स (Tax)
" प्रकृति " नेचर (Nature)
" दास अरबी गुलाम
" अपराध " जुर्म

अनेक बार किसी शब्द का अन्य भाषा में पर्याय मिलना कठिन अथवा कभी-कभी असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में लगभग–समान अर्थ वाले शब्द से काम चलाना पड़ता है, यथा–धर्म के लिए अंग्रेजी शब्द Religion अथवा अरबी 'ईमान' शब्द। कभी–कभी अन्य भाषा के पर्याय नें अर्थ की पूर्णता नहीं आ पाती। अतः ऐसी स्थिति में भ्रांति की संभावना रहती है, यथा विज्ञापन के लिए उर्दू शब्द 'इश्तहार'। इन दोनों में अन्तर है। सामान्यतया 'इश्तहार' कागज पर होता है या कपड़े अथवा दीवार पर जबकि 'विज्ञापन' में इनके अतिरिक्त शाब्दिक विचार भी सम्मिलित हैं।

अब हम 'हिन्दी भाषा' की पुस्तकों में दिये गये कुछ शब्दों के पर्यायों पर विचार करेंगे—

अंत–इति, अवसान, समाप्ति, उपसंहार।
अंजाम, फल, परिणाम, नतीजा।
अतिथि–पाहुन, मेहमान, आगन्तुक, अभ्यागत।
अनी–सेना, फौज, दल, कटक, चमू, चतुरंग।

इनमें क्रम की दृष्टि से यदि अन्य भाषा के शब्दों यथा 'अंजाम' 'मेहमान' और 'फौज' को अंत में रखा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

इसी प्रकार 'आचार्य' के पर्याय—गुरू, अध्यापक, उस्ताद-मास्टर आदि के अर्थ–भेद से छात्रों को अवगत कराया जाय तो अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ कुछ समानार्थी शब्द प्रस्तुत हैं जिनके सूक्ष्म अर्थ भेद की ओर भी संकेत किया जा रहा है। संभव है कुछ महानुभाव इन अर्थों से सहमत न हों। सुझावों का हार्दिक स्वागत है–

अज्ञ, मूर्ख –अज्ञ, जिसे ज्ञान न हो, अज्ञानी। मूर्ख जो समझाने पर भी न समझे 'मूरख हृदय न चेत जो गुरू मिलहिं विरंचि सम।'–तुलसी।

अवस्था, आयु–अवस्था, जीवन का जो काल व्यतीत हो चुका हो, यथा–इस समय मेरी अवस्था २५ वर्ष है। आयु, समस्त जीवन का काल, यथा–मेरे पिताजी ने ७० वर्ष की आयु पाई।

तट, तीर–तट, ठीक वह स्थान जहाँ सरोवर, नदी अथवा सागर का जल, भूमि का स्पर्श करता है। उसके आस-पास की भूमि कहलाती है।

तर्क, युक्ति–तर्क, किसी सिद्धान्त के पक्ष अथवा विपक्ष में प्रस्तुत किया जाता है। किसी कार्य के लिये उपाय को युक्ति कहते हैं।

निन्दा, अपवाद,—निन्दा, तथ्यों के आधार पर दोषारोपण। अपवाद, मिथ्या आरापों के आधार पर बदनामी।

मंत्री, सचिव–मंत्री, मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) देने वाला। सचिव, मंत्रणा को क्रियान्वित करने वाला।

व्यापार, व्यवसाय––व्यापार में सामान का क्रय–विक्रय होता है, यथा— कपड़े का व्यापार। व्यवसाय, जीवन निर्वाह के लिए अपनाया जाने वाला कार्य, यथा–अध्यापन, व्यवसाय।

विलोम शब्द :–विपरीत या उल्टा अर्थ देने वाले शब्द को विपरीतार्थक या विलोम शब्द कहते हैं। भाषा पर अधिकार के लिए इनकी जानकारी भी आवश्यक है। पुस्तकों में कहीं-कहीं इनके भी उपयुक्त उदाहरण नहीं मिलते—

यथा :– अर्जन का वर्जन ('त्याग' अधिक उपयुक्त होगा)
इति का आदि ('अथ' अधिक उपयुक्त होगा)
महान का लघु ('क्षुद्र' अधिक उपयुक्त होगा)

इसी प्रकार जहाँ स्वतन्त्र विलोम शब्द उपलब्ध हैं, वहाँ 'अन्' आदि के योग से उनका निर्माण उचित नहीं है।

अनेकार्थी शब्द :— भाषा में जहाँ अनेक शब्द एक अर्थ के द्योतक होते हैं। वहाँ एक शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं। अनेक अर्थों को द्योतित करने वाले शब्द अनेकार्थी कहलाते हैं, यथा 'सैंधव' का एक अर्थ है सेंधा नमक' तथा दूसरा अर्थ है 'घोड़ा'। यदि कोई 'सैंधवमानय' कहे तो प्रसंग के अनुसार ही इसका अर्थ लगाया जाएगा। भोजन के प्रसंग में इसका अर्थ 'सेंधा नमक' तथा कहीं प्रस्थान करने के अवसर पर 'घोड़ा' होगा। इसी प्रकार अनेकार्थी शब्दों का अर्थ—१- संयोग २- वियोग ३- विरोध, ४- प्रकरण ५- सामर्थ्य ६- देश ७- काल ८- व्यक्ति आदि द्वारा नियंत्रित होता है।

अनेकार्थी शब्दों का कहीं कहीं चमत्कारिक प्रयोग भी देखने में आता है। इनके प्रयोग से काव्य में विशेष रूप से व्यंजना का संचार हो जाता है, यथा—

'ऐ जगसूर मीउ मोहिं लागा'

—जायसी

पंक्ति में राजा रतनसेन अलाउद्दीन को 'जगसूर' शब्द द्वारा संबोधित करता है। यहाँ जगसूर में 'सूर्य' के साथ, साथ 'जगत् शूर' अर्थ भी संकेतित है। शेरशाह, सूरी वंश का है। यह अतिरिक्त व्यंजना भी मानी जा सकती है। श्लेष अलंकार के मूलाधार अनेकार्थी शब्द ही हैं।

पर्यायवाची, विलोम तथा अनेकार्थी शब्दों पर यहाँ सामान्य विचार ही प्रस्तुत किये गये हैं। इस दिशा में और अधिक गंभीर चिन्तन की आवश्यकता है।

# मानवीय संबंधों के घेरे में त्योहार

डा० बी० एन० सिंह

कानपुर

मनुष्य ऐसे क्षणों की खोज करता रहा है जहां वह कष्ट, परेशानी, दुःख व दैनिक जीवन के तनाव को भूल सके। जैसे आदिम-युगीन समाज में शिकार करना केवल भूख को शान्त करने की आवश्यकता मात्र नहीं था वरन् उत्साह एवं प्रसन्नता का प्रतीक भी था। शिकार के बाद कबीला उसके चारों ओर घूम-घूमकर नाचकर जश्न मनाता था। वह क्षण उसके लिए किसी पूर्व से कम नहीं होता था।

मनुष्य को सबसे अधिक प्रसन्नता उस समय हुई, जब उसने स्थायी रूप से क्षुधा को शान्त करने का स्थायी माध्यम ढूंढ़ निकाला। शिकार भी भूख को शान्त करने का एक माध्यम था, स्थायी नहीं। कृषि ने इस समस्या का निराकरण स्थायी रूप से कर दिया। इसके साथ ही पेड़, पौधे, फसल, जल, पशु अनेक चीजों के महत्त्व में अत्यधिक वृद्धि हुई। ये वस्तुयें मनुष्य व समाज की अंग बन गयीं। सुख व दुःख की कारण बन गयीं। इस तरह कृषि-समाज में, वर्षा का महत्त्व स्वतः बढ़ गया।

भारतीय त्योहारों की पृष्ठभूमि में जहां भौतिक जगत का पदार्थ जुड़ा है, वहां उसके साथ अनेक पौराणिक गाथाएं, धार्मिक विश्वास और अनुष्ठानों का पुंज भी परस्पर घुला–मिला है, जिसे सरलता से एक दूसरे से प्रथक नहीं किया जा सकता। इन सबका समाज पर मनोवैज्ञानिक दबाव है। वह विभिन्न-त्योहारों को केवल फसल और ऋतुओं से ही नहीं जोड़ता बल्कि दैवी घटनाओं से जोड़कर उसे धार्मिक व पवित्र बना देता है। इसीलिए भारतीय-त्योहारों में धार्मिक देवी-देवताओं, सामाजिक घटनाओं व विश्वासों का अद्भुत समीकरण दिखायी पड़ता है।

## जलवायु और त्योहार—

देश की जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियों ने भारत को कृषि-प्रधान देश बना दिया। कृषि और विभिन्न प्रकार की ऋतुओं में परस्पर घनिष्ट संबंध है। इनसे जुड़े हैं विभिन्न प्रकार के त्योहार व व्रत तथा असंख्य प्रकार के मानवीय सम्बन्ध प्रकृति ने भारतीय समाज को एक ओर कृषि-प्रधान देश बनाया, वहीं उसकी अनेक चीजों व घटनाओं को पूजा की सामग्री का उत्पादन भी दिया। प्रकृति की उपज, व्यक्तियों की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति करतीं हैं। इसके सुखद परिणाम को जब व्यक्ति सामूहिक रूप से मनाने लगा तो वे अन्तत त्योहार में परिणित हो गये। इसीलिए मैक्समूलर यह कहने में जरा भी संकोच नहीं करता है कि आर्य, प्रकृति-पूजक थे। इसलिए हिन्दुओं के अधिकांश त्योहार प्रकृति पर आधारित है।

भारतीय त्योहार मुख्यतया विभिन्न ऋतुओं और कृषि पर आधारित हैं। उदाहरण के लिए आषाढ़, सावन, भादों और क्वार वर्षा ऋतु के माह हैं। इन दिनों वर्षा व्यक्ति की गतिविधियों पर अंकुश लगाये रखती है।

अपने गाँव में सीमित होकर रह जाता है। सगे सम्बंधियों से वह अलग-थलग हो जाता है। यहाँ पर एक धार्मिक गाथा का उदाहरण दृष्टव्य है। आसाढ़ में देव-सोमी एकादसी का पर्व मनाया जाता है। कहते हैं इस दिन देव सो जाते हैं। देवता सद्गुणों के प्रतीक और कल्याण कारी हैं। दूसरे शब्दों में वर्षा में अच्छाई का लोप हो जाता है। इन दिनों समाज में गन्दगी और महामारी का जाल बिछ जाता है। मनुष्य के चारों ओर दुःख और कष्ट घेरा बनाये खड़े रहते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि इन महीनों में देवता के सोने के साथ-साथ समाज की गति-विधियाँ भी सुप्तावस्था में पहुँच जाती हैं। ठीक इन चार महीनों के पश्चात कार्तिक में देवोठान (देवोत्थान) एकादशी का पर्व मनाया जाता है। इस दिन देवतागण उठते हैं। इसके साथ ही समाज में पुनः सभी महत्वपूर्ण क्रियाकलाप आरम्भ हो जाते हैं। लग्न और विवाह जैसे महत्वपूर्ण कार्य भी आज से प्रारम्भ हो जाते हैं।

यहाँ पर ध्यान रखने की आवश्यकता है कि समाज के विकास की एक अवस्था में व्यक्ति प्राकृतिक घटनाओं की पुष्टि और समझने और समझाने की चेष्टा विभिन्न कथाओं द्वारा किया करता था। जैसा कि मेलानास्की ने अपनी पुस्तक "मिथ इन प्रिमिटिव साइकोलोजी" ( Myth in Primitive Psychology ) में लिखा है कि ये कथाएं जान बूझकर मन से गढ़ी हुई कहानियाँ नहीं हैं। धार्मिक कथाओं से सम्बद्ध जातियों का इन कथाओं की सत्यता में अटूट विश्वास हो जाता है। ये कथायें उनकी मानसिक आवश्यकताओं को सन्तोष पूर्ण ढंग से पूरा करती हैं, जितना भोजन उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को।

## त्योहारों में मिथ व प्रतीक की भूमिका—

त्योहारों का सीधा संबंध जहाँ एक तरफ भौतिक संसार से जुड़ा है, वहाँ ये आर्थिक-सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक ढाचें से भी जुड़े हैं। मिथ तथा प्रतीक त्योहारों को धर्म की शिला पर स्थापित करते हैं। हम जानते है, प्रत्येक त्योहार के साथ चाहे वह दशहरा दिवाली, होली अथवा अन्य कोई छोटा या बड़ा पर्व हो उसके साथ एक या एक से अधिक पौराणिक गाथायें जनमानस में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक रूप में त्योहार, धर्म का एक अंग भी बन गये हैं। जैसे दशहरे में राम ने काली की पूजा की, तभी रावण को राम मार सके। इसीलिए आज के दिन शक्ति की पूजा भी होती हैं। इसी प्रकार अन्य त्योहारों के साथ भी पौराणिक गाथायें जुड़ी हैं। अस्तु भारतीय धर्म, त्योहार व्रत तथा देवी-देवताओं को समझना अत्यन्त जटिल और दुरूह कार्य है।

वैसिलिस जे विटसाक्सिस ने लिखा है "वह धर्म अत्यन्त जटिल है, जिसमें तीन लाख देवी देवता हैं, फिर भी देवत्व के सघनतम सारतत्व के प्रति अपने अद्वैत दृष्टिकोण में वह अत्यन्त सरल है, वह ऐसा धर्म है जिसके देव-कथा-शास्त्र पर ऊपरी दृष्टि डालने पर उसे बचकाना कहने का लोभ हो सकता है, तब भी सज्ञान, नैतिकता और ब्रह्माण्ड-बोध की समस्याओं के प्रति अपनी गहनतम दृष्टि के कारण वह सहज विवेक की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।

## मानवीय संबंधों के आधार पर त्योहारों का विश्लेषण—

हिन्दू-त्योहारों का कोई संस्थापक नहीं है। शताब्दियों के जन-विश्वास, सांस्कृतिक व धार्मिक तत्त्व एवं भौतिक घटनाओं ने इन्हें कालान्तर में एक स्वरूप प्रदान कर दिया है। इन त्योहारों की ये विशेषता है कि इनमें मानवीय सामाजिक तथा रक्त-संबंधों के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। इन सामाजिक संबंधों में व्यक्ति एक प्रकार का रोमांच ( थ्रिल ) व सुख का अनुभव करता है। दूसरी तरफ सामूहिक लगाव, स्नेह, प्रेम-बन्धन, भाई चारे की भावना को महसूस करता है। इसीलिये इन त्योहारों को वह बार-बार मनाता है।

रक्षा-बन्धन जिसे कहीं-कहीं सलोनों भी कहते हैं। सलूनों फारसी के शब्दों 'साल' और 'नौ' से निर्मित हुआ है। 'साल-नौ' अर्थात् फसलों का नया वर्ष, सलूनों

से ही आरम्भ होता है। नया-वर्ष कृषि के जीवन में नूतन-उल्लास व हर्ष का सन्देश लेकर आता है।

रक्षा-बन्धन त्योहार की पृष्ठिभूमि में एक महत्वपूर्ण कहानी है। कहा जाता है कि इन्द्र जब युद्ध में जा रहे थे, तब उनकी पत्नी ने उनकी कलाई पर रक्षा-सूत्र बांधा था, जिसका अर्थ था शत्रु की पराजय और इन्द्र की विजय। मध्य युग में रक्षा-बन्धन किसी जाति-विशेष से सम्बन्धित न होकर बहनों की रक्षा के हेतु भाइयों की कलाइयों पर प्रतीक रूप में बांधा जाने लगा। दृष्टव्य है कि विदेशी शासक तक इन परम्पराओं में रुचि और भाग लेते थे जैसे हुमायू को चित्तौड़ की रानी कर्मवती ने राखी इसलिए भेजी थी कि वह शेरशाह शूरी से उसकी रक्षा करे। हुमायू ने उसे स्वीकार किया और उसकी रक्षा के लिए जब पहुँचा तब तक रानी जौहर कर चुकी थीं, पर हुमायूँ ने शत्रु को परास्त कर उसके उत्तराधिकारी को राज्य सौंप दिया। इस तरह रक्षाबन्धन केवल केवल भाई बहनों की सुरक्षा तक सीमित नहीं रह गया बल्कि इसमें राष्ट्रीय-सुरक्षा की भावना भी समाहित है।

दशहरा एक महत्वपूर्ण पर्व है। इसका शुद्धरूप 'दश पाप हर' है। हिन्दुओं में दस-पाप मुख्य माने जाते हैं। इन पापों के निराकरण के लिए ईश्वर से प्रार्थना व पूजा की जाती है। वास्तव में दशहरे के साथ जो दस-मुख वाले रावण की गाथा जुड़ी है— वह मात्र कल्पना ही है। रावण क्यों कि चार-वेद और छह-शास्त्रों का पंडित था, इसलिये उसे दस-मुख वाले की संज्ञा दी गयी. वास्तव में उसके कर्म, बहुत निम्न कोटि के थे। इसलिए व्यक्ति उससे असंतुष्ट थे एवं उससे घृणा भी करते थे।

दशहरा राम की विजय और रावण की पराजय के रूप में मनाया जाता है। दूसरे शब्दों में सत्य की विजय तथा राक्षसी प्रवृत्तियों की पराजय के रूप में इसे देखा जाता है। दशहरे को यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो यह पर्व खुले मैंदानों में मनाया जाता है, जहां विभिन्न जातियो के व्यक्ति एक साथ रामलीला की कथा से परिचित होते हैं। व्यक्ति बगैर किसी भेद-भाव के एक स्थान पर, एक मैंदान पर, एक पूजा स्थल पर एकत्र होकर राम-भावना का परिचय देते हैं। ये राष्ट्रीय बन्धुत्व की भावना से अनजाने ही जुड़ जाते हैं। इस दिन व्यक्ति विशेषरूप से एक दूसरे को पान 'खिलाकर मित्रता व बन्धुत्व की दुहाई देता है। वास्तव में यह त्योहार परस्पर भेद-भाव की भावना को जहां कम करने की प्रेरणा देते हैं वहां तामसी प्रवृत्तियों को त्यागने के लिए रावण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

दिवाली स्वच्छता व लक्ष्मी पूजा का मुख्य पर्व है। वह प्रतीक रूप में अन्धकार रूपी अज्ञान को दूर करने का संदेश देता है। अज्ञान ही परस्पर व्यक्तियों में मतभेद उत्पन्न करता है। ज्ञान सौहार्द्र को जन्म देता है। लक्ष्मी पूजा आर्थिक दरिद्रता के निराकरण के लिए की जाती है। वास्तव में यह त्योहार व्यक्तियों में आर्थिक-समानता की भावना को उत्पन्न करने की प्रेरणा देता है। इसलिये लक्ष्मी पूजा सभी छोटे—बड़े, धनी-निर्धन, ज्ञानी-अज्ञानी करते हैं। व्यापारियों के लिए नया वर्ष दिवाली से आरम्भ होता है। नये जोश व उमंग के साथ, वे अपने श्रम से, अपने देश को समृद्ध बनाने का संकल्प लेते हैं। इसके साथ ही भगवान राम के आदर्शों को आज स्मरण करते हैं। उनके आदर्श मानवीय-संबंधो को स्नेहमय बनाने के प्रेरक हैं।

होली फागुन में मनाया जाने वाला त्योहार है। इस समय किसान के घर अनाजों से भरे होते हैं। यह उनके हर्ष व उल्लास का माह है। उसके परिश्रम का फल अनाज भन्डार है। होलिका जो कलुषित भावना से प्रहलाद जीवित रह गये। इस तरह यह पर्व परस्पर ईर्ष्या, कलुषित भावना, घृणा आदि को तिलांजलि देने का दिन है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि रक्षा-बन्धन, दीवाली, होली तथा अन्य छोटे-बड़े त्योहार ऐसे हैं जो व्यक्तियों में भाई-चारे की भावना को जन्म देते हैं। वास्तव में भारतीय त्योहार राष्ट्रीय बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत हैं।

# तान्त्रिक साधना : स्वरूप एवं वैज्ञानिकता

—डा० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, कानपुर

आधुनिक युग वैज्ञानिक पर्यावरण के कारण प्राचीन उपासना पद्धति के प्रति प्रायशः नकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। प्राचीन उपासना के प्रतिमानों के विरुद्ध नव्य वैज्ञानिक संकल्पनाएं आधिभौतिक समस्याओं के समाधानों तक सीमित रहने पर भी मानव-जीवन में अपनी बलवती भूमिका बना चुकी हैं तथा अध्यात्म तत्त्व के प्रति भ्रान्त धाराणाएं वेगवती हो रही हैं। यद्यपि अनेक पौर्वात्य एवं पाश्चात्य चिन्तकों ने प्राचीन उपासना को परम सत्य का अन्वेषक माना है किन्तु सत्यान्वेषी वैशानिकों ने जिस यांत्रिक पद्धति का विकास किया है, उससे अभिभूत सामान्य व्यक्ति के मन में प्राच्य अध्यात्म विद्या के प्रति विकर्षण का भाव ही लक्षित होता है। यद्यपि वैज्ञानिकों द्वारा अन्वेषित सत्य प्रतीतिपरक ही हैं तथा क्षण-क्षणे परिवर्तमान ही रहते हैं किन्तु भौतिक उपादानों के प्रति आत्यन्तिक आसक्ति एवं व्यामोह के कारण मानव मन परामनोंवैज्ञानिक स्थिति तक पहुँच कर आत्मसत्ता के परम तत्त्व में विलीनीकरण की उदात्त परिकल्पना को भुला चुका है। इसके परिणाम स्वरूप प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के प्रति यत्किञ्चित विवेचन भी प्रायः सन्देहास्पद प्रतीत होता है। प्रस्तुत निबन्ध लेखन के समय भी ऊहा पोह की कुछ स्थिति उपर्युक्त कारणों से रही लेकिन सत्यान्वेषण के समय शंकालु चित्त बाधक ही बनता है, यह समझ कर तथा वैज्ञानिकता के आधार पर परीक्षित तथ्यों की विवेचना को संगत मानकर यह कहने में कोई संकोच नहीं कि जिस जड भौतिकवाद को सम्प्रति वैशिष्ट्य प्रदान किया जा रहा है, वह सत्य की लौकिक सीमा का भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, अलौकिकता का समावेशन तो मात्र कपोल कल्पना है। इसके विपरीत प्राच्य अध्यात्म विद्या, जड़-जीवन से ऊपर ऐसी शक्ति के रूप में संकल्पित हुआ है जहाँ जड़ता के स्थान पर चैतन्य की पूरी भूमिका और परमरस अथवा शाश्वत सत्य संप्रतिष्ठित है।

अध्यात्म तत्त्व के विवेचन क्रम में निगम और आगम शास्त्र का उल्लेख आवश्यक है। निगम वैदिक परम्परा को आश्रय देते हैं। निगम का सम्बन्ध मंत्र शक्ति से है तथा इसका सम्बन्ध ब्रह्मा से है। इसी के समान्तर कालान्तर में आगम शास्त्र की रचना हुई जिसे तंत्र कहा जाता है और इसका उद्भावक शिव को माना गया। शाब्दिक दृष्टि से तंत्र का आशय विस्तारण है। वैयाकरणों के अनुसार 'तन्' धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के योग से बना जिसका अर्थ है– 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेव इति तंत्रम्'. क्रमिक आगम में कहा गया है कि जो तत्व एवं मन्त्र से समन्वित होकर विविध विषयों का विस्तृत वर्णन करे और साधकों की रक्षा में सक्षम हो, वह तंत्र है–

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

व्युत्पत्तिपरक सन्दर्भों से प्रचलित 'तंत्र' का यद्यपि आज कोई सामंजस्य नहीं रह गया है तथा तंत्र की एक रूढ़ि परिकल्पना मन में बस गयी है किन्तु इस रूढ़ अर्थ में भी तंत्र अवहेल्य नहीं है। आज 'तंत्र' शब्द के उल्लेख मात्र से मानस में जो चित्र उभरता है वह एक ऐसे

कापालिक का है, जो रक्त-पिपासु, अलौलिक शक्त सम्पन्न, भयंकर कृत्यों को सम्पन्न करने वाला सिद्ध होता है। वस्तुतः ऐसी प्रतिच्छवियों की परिकल्पना हमारी अज्ञानता की परिचायक है। 'तंत्र' का यह रूप न तो कभी था और न है। 'तंत्र की विलक्षण सैद्धान्तिक परिभाषा को न समझ पाने के कारण हम अपनी अज्ञानता को तो नहीं धिक्कारते किन्तु तंत्र के प्रति अश्रद्धा अवश्य उत्पन्न कर लेते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रचलित सन्दर्भों में तंत्र क्या है?

वस्तुतः तंत्र भारतीय अद्वैतवादी चिन्तन का परवर्ती विकसित स्वरूप है। वेदान्त के जाटिल्य जाल में उलझे मानव को दार्शनिक चिन्तन के व्यूह में उलझा देखकर भारतीय मनीषियों ने वेदान्त के सरलीकरण हेतु आगम ग्रन्थों की रचना की और यहीं से ज्ञान के विस्तार और साधक-संरक्षा हेतु तंत्र का विकास हुआ। कालान्तर में अप्पय दीक्षित ने तंत्र और मंत्र के उद्भावक आगम और निगम को समन्वयमूलक सिद्ध किया और आगम चिन्तन को वैदिक और अवैदिक नाम दिया। वैदिक को दैवीसम्वद, मोक्षदायक माना गया और अवैदिक को आसुरी सम्वद् तथा बन्धन प्रदायक कहा गया। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

> दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता।
> मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

अद्वैतवेदान्त के परवर्ती विकास के रूप में परिकल्पित तंत्रशास्त्र में भी एकात्म्य भाव का वेदान्तपरक विवेचन हुआ है, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ तंत्र-प्रवर्तन क्रम में उसके प्रभेदों का विवेचन अभीष्ट है। तंत्र के वर्णन क्रम में तीन प्रकार के आगमों का उल्लेख हुआ है। (१) वैष्णवागम, (२) शैवागम और (३) शक्त्यागम। इन आगमों को माहेश्वर कहा गया है तथा भगवान शिव ने जगदम्बा पार्वती को आगमों का महत्त्व बताते हुए कहा है—

> यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षो,
> यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः।
> श्री सुन्दरी से वनत त्वराणां
> भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

जटिल आश्रम व्यवस्था, वर्ण, संस्कार, स्त्री-पुरुष एवं गम्भीर गार्हस्थिक परम्पराओं के कारण निगमानुशीलन दुरूह हो गया तो भगवान शिव ने उन सभी बन्धनों से रहित वर्णादि की समस्याओं से विरत सर्वजनोंपलभ्य आगम शास्त्र का प्रणयन किया। शिवानुशीलित आगमशास्त्रों में शैव और शाक्त आगमों का विशेष महत्व रहा है तथा तांत्रिक इतिहास में अनेक प्रकार की विचारणाएँ इन्हीं दोनों के सन्दर्भ में मिलती हैं। शिवोपासना की परम्परा वैदिक है तथा उपनिषदों में भी ज्ञात्वा शिव का प्रस्तार भिन्न रूप में हुआ है। तंत्राधारित ग्रन्थों में शिव और शक्ति को समान महत्व मिला है। पार्वती को शिव की शक्ति मानते हुए उन्हें अभिन्न माना गया और अर्द्धनारीश्वर के रूप में शिव की उपासना प्रारम्भ हुई। शक्त्युपासना पर वैदिक मातृकापूजन का प्रभाव रहा जो शिवोपासना परमतत्व के आधार पर विकसित हुई। शक्ति को चेतना और शिव को जड़ मानते हुए कहा गया कि शक्ति के निक्षेप से शिव लीला करते हैं और आत्मसात्-करने से समाधिस्थ हो जाते हैं। इस प्रकार शिव और शक्ति अभिन्न हैं। शिवपुराण के अनुसार 'परमात्मा शिव और माया पार्वती हैं तथा ये ही पुरुष और प्रकृति हैं—

> परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते।
> पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी॥

शिव और शक्ति की उपासना के लिए तांत्रिक पूजा का विधान प्रारम्भ में नहीं था तथा उपनिषदों और परवर्ती रचनाओं में सात्विक पूजा का ही उपस्थापन हुआ था किन्तु आगे चलकर तांत्रिक उपासना की प्रतिष्ठा हुई और शिव और शक्ति का नया रूप विकसित हुआ। इस नव्य उपासना पद्धति का वैशिष्ट्य निरूपण समीचीन प्रतीत होता है।

## शैव सम्प्रदाय और तंत्रोपासना—

शैव दर्शन का विकास वेदों से ही प्रारम्भ हो गया था तथा भगवान शिव की लीला का गायन पौराणिक ग्रन्थों तक होता रहा। शिव को आशुतोष कहा जात था तथा शिवोपासना को सरलतम माना जाता था। कहा भी गया है—

मूर्तिर्मृदा विल्वदलेन पूजाप्रयाससाध्यं वदनं च वाद्यम् ।
फलं तु तद्यन्मनसाभिकाङ्क्ष्यं निःश्वस्य विश्वेश्वर एव देवे ॥

परवर्ती चिन्तन में शिव की मानस पूजा का विधान हुआ और शिव कीं अपेक्षा लिंग पूजन का विधान किया गया। वस्तुतः लिंग और पिण्डिका के स्थापन के साथ ही प्रकृति और पुरुष की संकल्पना हुई और शिव तथा शक्ति को अन्योन्याश्रित रूप में वर्णित किया गया। लिंगोपासना प्रतीकोपासना है जिसमें देवी और महादेव का सामरस्य स्थापित करते हुए शिव को कूटस्थ दृष्टा मात्र माना गया तथा शक्ति को शिव की लीला माना गया। भक्त 'शिवोऽहं' की कल्पना करके शिव और उनकी शक्ति की उपासना में सन्नद्ध हुआ जिसके परिणाम स्वरूप शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की व्याख्या हुई तथा भक्त अपने सारे कर्मों को शिव की उपासना मानने लगा जिससे अनन्योपासना का पथ प्रशस्त हुआ। भक्त कहता है–

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं ग्रृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यत्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

## शक्त्योपासना—

शक्त्योपासना मूलतः जड़ तत्त्व के रूप में विद्यमान समाधिस्थ शिव की चेतन शक्ति की उपासना है। वस्तुतः संसार का हर प्राणी शक्ति की उपासना में रत है। सन्दर्भानुसार शक्ति के भेदों में वैपरीत्य सम्भव है किन्तु शक्ति की अवहेलना के उपरान्त सृष्टि में कोई तत्त्व शेष नहीं रहता। शक्ति की उपासना में मातृ-तत्त्व की वैदिक परम्परा ही विकसित हुई है तथा शक्ति के अनेकानेक रूपों की विवेचना आगमों ने भी की है किन्तु रूपादि की भिन्नता से शक्ति को अनेक तत्त्वों के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता है। शक्ति तत्त्व मूलतः एक है, जो नाना रूपों में वर्णित होता है–

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य विविधा वदन्ति व्यवहारकाले ।
भोगे भवानी पुरुषेषु लक्ष्मीः कोपे तु दुर्गा प्रलये तु काली ।

इस प्रकार जहाँ शक्ति को मूलतः एक माना गया है तथा उसके नाना रूपों को व्यवहारकाल में पृथक सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार आगमों में शिव और शक्ति में भी पार्थक्य नहीं रखा गया है। भारतीय मनीषियों ने शिव और शक्ति को एक माना है। इसका आधार भी वेदान्त है। मूलतः भारतीय चिन्तन की मूलभूत विशेषता परम तत्त्व की सम्प्राप्ति है जो एक है, अद्वितीय है, और और अक्षर है। परवर्ती चिन्तकों ने इसे शिवतत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया तथा उपास्य के रूप में शिव की अपेक्षा उसकी शक्ति को स्वीकार किया। इस प्रकार शाक्त्यागम का विकास हुआ और सम्पूर्ण तांत्रिक वांङ्मय में शक्ति को ही प्रामुख्य मिला। शक्ति की उपासना के लिए साधक को शक्ति का अर्जन करना पड़ता था तथा इसके लिए मंत्रादिक अनुष्ठानों के अलावा योगिकीयक्रम करना भी आवश्यक माना जाता था। इसीलिए आगमशास्त्र में मंत्र की अपेक्षा तंत्र को महत्व मिला। तंत्र एक प्रकार का उपाय है। मंत्र, मात्र पारमेश्वरी सत्ता से सम्बद्ध थे परन्तु तंत्र साधक और साध्य को समवेत व्याख्या में सक्षम सिद्ध हुए। सरलीकरण,संरक्षण एवं संसिद्धि में सहायक होने के कारण शिव-शक्त्योपासना में तंत्र का महत्व बढ़ता गया और तंत्र विद्या गोप्य और वरेण्य बन गयी तथा इसे कूट-व्याख्या द्वारा वोधगम्य बनाया गया लेकिन कालान्तर में इसी कूट शव्दावली को न समझ पाने के कारण साधकों ने गूढ़ यौगिक रहस्यों को लौकिक मान लिया तथा पशु-बलि, मद्यपान एवं मैथुनादि को महत्व देकर तंत्र की पवित्रता को विनष्ट कर दिया और तंत्रशास्त्र को घृण्य बना दिया। यदि शिव और शक्ति की वेदोक्त व्याख्या के परिपेक्ष्य में प्रवर्तित तंत्रागमों का अनुशीलन किया जाय तो यह नयी परम्परा पूर्व-चिन्तन का विकास ही प्रतीत होती है। पुष्पदन्त ने इस नये चिन्तन को ही नहीं समग्र चिन्तन धाराओं को साधन मात्र माना हैं तथा उनका एक ही लक्ष्य निर्धारित किया है – परम तत्त्व की उपासनायें पुष्पदन्त के अनुसार–

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतियतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि तंत्रो-

पासना में शक्ति का विशेष महत्व है लेकिन यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखे तो क्या यह स्पष्ट होता है कि शक्ति की उपासना अर्थात् स्त्री की उपासना ? वस्तुतः शक्ति को नार्योपासना मानना मौर्ख्य-वृत्ति का परिचायक है। हम किसी देव को इसलिए आराध्य नहीं मानते कि वह परम्परागत है, या उसका स्वरूप वेद-विहित है। वस्तुतः मानव अनादिकाल से ही शक्ति का उपासक रहा है। प्रकृत्योपासना के वैदिक युग में भी मंत्र दृष्टा ऋषियों ने शक्ति पुञ्जों को ही आराध्य माना हैं और शक्ति के भौतिक स्रोतों को परिवर्तनशील देखकर एक परमशक्ति की परिकल्पना की है। किसी भी देवता की नहीं वरन् उसकी शक्ति की ही उपासना होती है। लौकिक व्यवहार में भी व्यक्ति नहीं उसकी शक्ति के समक्ष हम विनत होते हैं। विज्ञान के द्वारा भी शक्ति के अजस्र स्रोत का अनुसंधायन होता है। विद्युत शक्ति से हटकर अणु, परमाणु और उद्जन स्रोतों के समुच्चय एवं उनके शिव अथवा अशिव प्रयोग का आधार शक्ति के श्रेष्ठतम स्रोत की अनुसंधित्सा ही है। वैज्ञानिक गवेषणायें शक्ति के अन्वेषण तक सीमित हैं और जो राष्ट्र-शक्ति के सूक्ष्मतम स्वरूप के अन्वेषण में जितना ही आगे है उतना ही शक्तिशाली है लेकिन आधुनिक गवेषणाएं भौतिक शक्तियों तक ही सीमित हैं, जबकि प्राचीन काल में ही भारत ने पराशक्ति की परिकल्पना कर ली थी, जो अणु-अणु में उद्भासित है। वह परमतत्त्व है जो 'अणोरणीयान् महतोमयीयान्' है। इसलिए शक्ति की उपासना कोई विलक्षण वस्तु या नारीत्व उपासना नहीं है। हां, प्रतीकों के द्वारा उसे अनेकानेक रूप प्रदान किये गए हैं किन्तु मूलतः यह परमतत्त्व ही है, जो अपनी शक्ति से सृष्टि करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं को सृष्टि कर्त्ता घोषित किया—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

अर्थात् 'अपनी त्रिगुणात्मिका माया को अंगीकार कर के स्वभाववश परतंत्र हुए इस समग्र भूत समुदाय को मैं बारम्बार उनके कर्मानुसार रचता हूं' स्पष्टतः यहां त्रिगुणात्मिका माया का संकेत हुआ है। किन्तु यह माया भी मुझमें ही विद्यमान है तथा मैं ही महत्–ब्रह्म रूप योनि में चेतन रूप बीज का स्थापन करता हूं, कहकर भगवान श्रीकृष्ण ने शक्ति और शक्तिमान में एकत्व स्थापन किया है—

मम योनर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान शिव और शक्ति, प्रकृति और पुरुष में अभेदत्व सिद्धि के पश्चात् यह तो स्पष्ट हो जाता है कि शक्त्योपासना का क्रम प्राचीन वेदान्त से सम्बद्ध है किन्तु हमारा मुख्य प्रतिपाद्य है वह विचारणा जिससे तंत्रशास्त्र का विकास हुआ और परवर्ती चिन्तन में तंत्र और शक्ति विशेषरूप से सम्बद्ध हुए।

शास्त्रकारों ने तंत्र को शक्ति की उपासना का महत्तम आधार माना है। शाक्त और शिव दोनों इस उपासना में महत्वपूर्ण हैं किन्तु मुख्यतयः शक्ति का स्फुरण साधना का उद्देश्य होता है और इसके लिए अनुभवगम्य स्वान्तः शक्ति स्फुरण की आवश्यकता होती है। इसके लिए यौगिक क्रियाओं की अनिवार्यता बतायी गयी और 'यो पिण्डे सः ब्रह्माण्डे, के आधार पर शरीर को ही साधनास्थल माना गया, जहां साधक समस्त सिद्धियों को प्राप्त करता है। इस साधना के लिए मात्र मंत्रशक्ति का विनियोग अल्पथा, अतः तंत्र (उपाय) की आवश्यकता पड़ी और इसी क्रम में तंत्र को शक्ति–स्फुरण का कारण माना गया। इसलिए तांत्रिक प्रचेष्टाएं अधिक व्यवहृत हुई। तंत्र का व्युत्पत्ति-परक रूप पूर्वाकलित हो चुका है किन्तु उसके शास्त्रीय स्वरूप एवं प्रचलित प्रतिमानों का विवेचन अभीष्ट है।

तंत्र शास्त्र स्वभावानुसार सात्विक, राजस और तामसिक तीन रूपों में विभक्त हैं। इनमें सात्विक तंत्र-साधना को दक्षिण और राजस् तथा तामसिक को वाममार्गी कहा जाता है। परवर्ती तंत्र साधना में वाममार्गी साधना या वामाचार को अधिक महत्व मिला है। तंत्रसाधना का प्रथम सोपान वज्रयानी साधना है जिसका उद्देश्य उपास्य-उपासकतादात्म्य अथवा जीवात्मा और परमात्मा का एकीभाव है। इस वज्रयानी परम्परा का विकास बौद्धों के महायानसम्प्रदाय से हुआ है, जिसका तांत्रिक रूप हीवज्रयान है। साधक का शून्यावस्था में पहुँचना ही वज्र है क्यों कि

यह अच्छेद, अभेद, और अदास्य होता है। कालान्तर में इसमें 'शक्ति' तत्व की प्रतिष्ठा हुई जिसे प्रज्ञापारमिता कहते हैं। रूप-वेदना संज्ञा-विज्ञान-संस्कार इन पांच स्कन्धों की पूजा के लिए पंचध्यानी उपासकों ने उनकी शक्तियों की कल्पना की और विज्ञान स्कन्ध पर ही वज्र-सत्त्व की स्थापना हुई, क्योंकि विज्ञान-स्कन्ध, ज्ञान की चलावस्था है। इन पाचों की परम शक्ति प्रज्ञापारमिता है, जिसे सिद्ध कर लेने पर मुक्ति मिलती है तंत्राचार्य अनंग ने प्रज्ञापारमिता को उच्चकुलोद्भव अथवा अन्त्यजोद्भव ललना कहा है क्योंकि ललनाकामी पुरुष सिद्धि को शीघ्र प्राप्त करता है। वज्रयानियों के अनुसार ललना पृथ्वी पर प्रज्ञापारमिता की प्रतिरूप है। यद्यपि कुछ लोग ललना शब्द से भोगवृत्ति का प्राधान्य मानते होंगें किन्तु ध्यातव्य है कि ललना की उपासना करते समय चित्त में विक्षोभ होने पर साधक का अध:पतन माना जाता था। वस्तुत: यहां ललना, शक्ति का स्वरूप है तथा सात्विक-दृष्टि सम्पन्न साधक ही इस उपासना में साफल्य प्राप्त कर सकता था। वज्रयानियों में ललना का महत्व इसलिए भी था क्योंकि साधना में विचलित करने वाली ललना ही है किन्तु उसके प्रति मातृभाव की सृष्टि होने पर विपथन की समस्त सम्भावनायें समाप्त हो जाती हैं और साधक निर्भय होकर साधना क्षेत्र में संचरण करता है।

आगे चलकर इसी वज्रयानी परम्परा के प्रभाव स्वरूप शैवों और शाक्तों ने भी तात्रिक-अभिचारों को उपासनोपक्रम में स्थान दिया और दक्षिण तथा वाम मार्गानुसार साधना प्रारम्भ हुई। शैवतांत्रिक साधना में दक्षिण मार्गी शैवों ने शिव सम्प्रदाय चलाया किन्तु वाममार्गी साधक कापालिक कहलाये। कापालिक श्मशान सेवी, भस्मविलेपी, नरमुन्डधारी होते थे तथा इनका विश्वास तंत्र में होता था। ये शिव के भैरव रूप की उपासना करते थे। प्रबोधचन्द्रोदय' में कापालिक का वर्णन इस रूप में हुआ है-

नरास्थि मालाकृत चारु भूषण: श्मशानवासी नृकपाल भूषण:
पश्यामि योगाञ्जन शुद्ध चक्षुषा,जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् ॥

शैवतांत्रिक सम्प्रदायों में शिव और कापालिक के अतिक्तिमुन्डी और जटी दो वर्ग और थे किन्तु तांत्रिक साधना में कापालिक ही अग्रणी रहे। इनके अतिरिक्त रससिद्धों की एक परम्परा भी विकसित हुई जिसका अन्यत्र अभिनिवेश अभीष्ट है। कापालिकों का उदय-काल आठवीं शती माना जाता है। ये श्मशानसेवी थे तथा नर-बलि में विश्वास करते थे। कापालिक सोम सिद्धान्त के संस्थापक थे। सोमा का अर्थ है उमा सहित शिव (सोमं सानुचरंदेवं- में सह उमयेति सोम:) अर्थात् शिव जिस प्रकार उमा के साथ कैलाश पर विहार करते हैं उसीप्रकार कान्ता से विहार ही मुक्ति है (तंत्र स्त्री संभोगादि व्यतिरेकेण सुखान्तरे नास्ति। सदा शिव-प्रसाद महिम्ना सुखस्य दु:खमनर्गमिभूतत्वान्नित्यसुसत्वम् इति सोमसिद्धान्त रहस्मयम्।) वज्रयानियों के शून्य तत्त्व की भाँति ये भी 'शून्य' को महत्व देते थे तथा उनकी प्रज्ञापारमिता की तरह कापालिकों ने कपालवनिता को साधना में सहायक माना। इस प्रकार कापालिक साधना में भी स्त्रियों को समान महत्व दिया गया। कापालिकों ने शरीरस्थ पंचामृत-शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूल को ऊर्ध्वगामी बनाकर शरीर को वज्र बनाने पर बल दिया जबकि वज्रयानियों ने पंचस्कन्धों की उपासना प्रारम्भ की थी। ललनाश्रित होने के कारण चित्त विक्षोभ की सम्भावनायें कापालिक मत में अधिक थीं। अत: कापालिक तांत्रिकों ने समस्त वासनाओं के उपभोग को आवश्यक मान लिया जिससे भोगोपशय होजाये और विक्षोभ की स्थिति साधना में न आए। इसी कापालिक दर्शन से नागार्जुन ने रसेश्वर दर्शन का विकास किया जिसमें शरीर सिद्ध को आवश्यक माना गया। रसेश्वर दर्शन के अन्तर्गत तीन चंचल तत्वों के स्थैर्य को महत्व दिया गया। ये चंचल तत्त्व हैं—

१- बिन्दु, २- वायु, ३- मन।

इनमें किसी एक को वश में करने से अन्य दो स्वत: वशी हो जाते हैं। इन तत्त्वों में सर्वाधिक चचल विन्दु (शुक्र) है। शुक्र सिद्धि हां वज्रौली के लिए पुरुष नारी रज का तथा नारी पुरुष शुक्र को खींच कर उसे ऊर्ध्वगाम बनाती है। भौतिक दृष्टि से पारद और गंधक के मेली

को भी वज्रौली कहा गया क्योंकि तांत्रिकों ने पारद को शिव का शुक्र और गंधक को पार्वती का रज कहा है। इसके मेलन के लिए प्रयुक्त खल्व को देवी की पिण्डिका और पारद को लिंग कहा जाता है। भगवान शिव स्वयं कहते है—

अभ्रकं तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः ।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्यु दारिद्रय नाशनम् ॥

पारद शिव-शुक्र है जो चंचल होता है लेकिन पार्वती-रज गंधक उसे आलिंगन में प्रिय है अतः रससाधक दोनों का मेलन करता है और पारद के अचंचल होने पर शिव और शक्ति का समन्वय हो जाता है तथा यह रस सिद्ध कर्म, रस और प्राण मूलक ऊर्ध्वगामिता में सहायक होता है। यह कायाकल्पकारक होता है। चूंकि तांत्रिक अभिचारों में काया को विशेष साधना करनी पड़ती है, इसलिए इस क्रिया को तंत्र में महत्व दिया गया। रस-सिद्धाचार्यो ने शरीर-स्थैर्य को ही महत्व दिया है। रसार्णवतंत्र के अनुसार—

अजरामरदेहस्य शिव तादात्म्यवेदनम् ।
जीवन्मुक्तिर्महादेवि देवानामपि दुर्लभा ।।
पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षो निरर्थकः ।
पिन्डेतु पतिते देवि गर्दभोऽपि विमुच्यते ॥

शाक्त सम्प्रदाय में तांत्रिक साधना का स्वरूप भी प्रवृत्या शैव सम्प्रदाय के निकट है किन्तु शक्तयोपासना में शिव की अपेक्षा शक्ति को प्रधानता मिली है तथा देवी के विविध रूपों के आधार पर तांत्रिक सम्प्रदायों की परिकल्पना हुई है। भारतीय तांत्रिक—शक्ति उपासना भी दक्षिण और वाममार्गी धारा में विभक्त है। वाममार्गी साधना में शक्ति—उपासकों ने उसकी गोपनीयता पर विशेष बल दिया है। शाक्तों का मत है—

अन्यास्तु सकला विद्या प्रकटा गणिका इव ।
इयं तु शास्त्रवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ।

संभवतः इसी कारण से आचार्यो ने तांत्रिक शब्दावली को विद्रूपपरक नाम दिया है जिसको न समझने के कारण आधुनिक विद्वानों ने तंत्र को निंद्य माना हैं किन्तु यदि उसकी तात्त्विक परिभाषा का अवलोकन किया जाय तो, यह सिद्धान्त योग के जटिल सिद्धान्तों पर आवृत प्रतीत होते हैं। वाममार्गी शक्ति सम्प्रदायों के साधनानुसार पाँच भेद हुए हैं, जिनका विकास देवी के विविध व्यवहारों के आधार पर हुआ है। लीलावशात् शक्ति के प्राण, मूर्ति, ध्वनि, तेज और प्रभा पांच रूप माने गये हैं, जिनकी तंत्र में पांच देवियाँ राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और सावित्री परिकल्पित हुईं। आदि देव के तीन कार्यो सृजन, पोषण एवं संहार के आधार पर तीन महाशक्तियों का उदय हुआ-महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। शाक्तों ने इनमें से परम शक्ति द्वारा पांच सम्प्रदायों का विकास सिद्ध किया। देवी के अंगुष्ठा से कौलिक, तर्जनी से वाम, मध्यमा से चीन, अनामिका से सिद्धान्ती और कनिष्ठिका से शाबर तंत्र का विकास वाममार्गी साधना में हुआ—

कौलिकोऽङ्गुष्ठतां प्राप्तो वामः स्यात्तर्जनीसमः ।
चींनक्रमो मध्यमः स्यात् सिद्धान्ती योऽवरोभवेत् ॥
कनिष्ठः शबरो मार्ग इति वामस्तु पञ्चधा ।

वामाचार में कुल तंत्र का विशेष स्थान रहा है तथा तंत्र में यह सम्प्रदाय उल्लेखनीय स्थान रखता है। इस वाममार्गी शक्ति साधना के विकास का भी इतिहास रहा है। पुराख्यानों के अनुसार दक्ष-यज्ञ में सती के अग्निदाह के पश्चात् विक्षुब्ध शिव, सती के विकृत शव को लेकर घूम रहे थे। उसी समय भगवान विष्णु ने सुदर्शन चक्र से सती के शव का विच्छेदन कर दिया तथा सती के भाग जहां-जहाँ गिरे वे सिद्ध शक्ति पीठ बन गए। इनमें कटि से ऊर्ध्व भाग जहां गिरे वे दक्षिण मार्गीय और कटि के नीचे के भागों के गिरने से जो सिद्ध पीठ बने वे वाममार्गीय कहलाये। शक्ति सम्प्रदाय में साधना के स्तर पर विश्रुत कौल सम्प्रदाय को दार्शनिक दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। कौल मार्गियों के अनुसार कुल (शक्ति) में अकुल (शिव) का सम्बन्ध स्थापित कराया जाता है। कौल मत को ही सिद्ध, योग या अवधूत सम्प्रदाय भी कहा जाता है तथा भारत में नाथों और सिद्धों के तांत्रिक सिद्धान्तों का विकास कौल सिद्धान्त के आधार पर ही हुआ है।

कौलआचार्यो ने अपनी साधना को यौगिक स्वरूप प्रदान किया है। वाह्य पूजा विधान में शाक्तों ने चर्याचर्य

विनिश्चय के अन्तर्गत प्राणी को वज्रधर, स्त्रियों को कपालवनिता साधक हरएक को भगवान की मूर्ति माना है तथा पंचमकारों के सेवन पर बल दिया हैं। ये पंचमकार हैं– मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन–

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।

मकारपंचकं प्रादुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥

इसी प्रकार शाक्त सम्प्रदाय में पंचपवित्रों में (विष्टा धारामृत, शुक्र, रक्त, मज्जा) पंचभोज्य (गोमांस, गोघृत गोरक्त, गांक्षीर और गोदधि) को समाविष्ट किया गया। शाक्त तांत्रिकों का मुख्य स्थान श्रीशैल था तथा इनके आद्याचार्य आदिनाथ या शिव थे। वाममर्गियों ने दस महाविद्याओं काली, तारा, त्रिपुरा, भुवनेश्वरी, भैरवी छिन्नमस्ता, धूमावती, मातंगी, कमला और बगलामुखी की उपासना प्रारम्भ की, जिनमें प्रथम दो महाविद्या, ५ विद्याएं और तीन सिद्ध विद्यायें थीं। महाविद्याओं की उपासना भोग एवं मोक्षप्रद किन्तु अन्त में किसी एक की सिद्धि होती है। इन महाविद्याओ की चार अवस्थाएँ होती हैं– स्थूल सूक्ष्म परा और तुरीय। इसके अतिरिक्त षोडश कुलदेवियां भी शाक्त समर्थित हैं जिन्हें मातृका शक्ति कहा जाता है तथा बालिनी, कामेश्वरी, विमला, अरुणा, मेदिनी, जयन्ती, सर्वेश्वरी और कौलेशी अष्टानायिकाओं की परिकल्पना शाक्त मत में का गयी हैं।

यद्यपि शाक्त मत की उपर्युक्त वाह्योपासना में अनेक ऐसे सन्दर्भ आए हैं जो सामान्यतः अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं किन्तु यदि उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को देखा जाय तो वे शब्द प्रतीकार्थक सिद्ध हो जाते हैं। वस्तुतः शाक्त सम्प्रदाय परमात्म तत्त्व की चित्शक्ति का उपासक है। स्थूल सृष्टि में परिव्याप्त चित्शक्ति सूक्ष्म है। उसी की उपासना करने से शक्ति का जो साक्षात् होता है वह सृष्टि से परे प्रतीत होता है और कालान्तर में परम सत्ता द्वारा लीला संकोचन–काल में शिव में शक्तिकातिरोभा होता है। कायायोग में शक्तिस्फुरण योगियों का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। इसीलिए यौगिक क्रियाएँ ही तंत्र ही के रूप में व्याख्यायित हुई हैं। अग्निपुराण में कहा गया हैं कि–

देहस्यमध्ये हृदयं स्थानं तन्मनसः स्मृतम् ।
सकल सरसिजान् मेरुमध्यान्तर स्थानमित्वा देदीप्यते सा ॥

शरीर के भीतर हृदय, हृयय में मन विद्यमान है। मस्तिष्क का सम्बन्ध मन से है तथा इन्द्रियां मस्तिष्क से सम्बद्ध हैं। मस्तिष्क ही सहस्रार कमल है। नाभि के नीचे केन्द्र में से नाड़ियों का उद्वहन होता है जिनमें इडा पिंगला सुषुम्णा, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पृथा यश्म, अलम्बुसा, हुड और शंखिनी प्राणवह नाड़ियां हैं। इनमें सुषुम्णा (Spin all cord) मध्यवर्ती नाड़ी है जिसका विस्तार मस्तिष्क तक है। मानव शरीर में मेरुदण्ड में स्थित षटचक्रों का भेदन करने वाली कुण्डलिनी ही शक्ति है जिसको यम-नियमादि द्वारा ऊर्ध्वगामिनी बनाया जाता है। ये षट चक्र मूलाधार (Pelviplexus) स्वाधिष्ठान (Inferior mesenteric plexus) मणि पूरक (solar plxues), अनाहृत (cordic and pulmonary plexus) विशुद्ध (Vital centresin the madulla) और आज्ञा (optic Thalami) हैं। इनमें आज्ञाचक्र केन्द्र में स्थित मस्तिष्क के निकट है। इसमें ऊपर सहस्रार कमल है जहाँ शिव का वास है। इस प्रकार तंत्र-साधना के द्वारा योगी शक्ति (कुण्डलिनी) को जाग्रत करता है और उसे सहस्रार कमल तक पहुंचा कर वहां स्थित शिव में मिला देता है कौल साधना में शिव(अकुल) और शक्ति (कुल) का यही मिलन है। तंत्रों में वर्णित मत्स्य का आशय प्राणायाम के द्वारा श्वास-निरोध और कुम्भक के द्वारा प्राण का सुषम्णा में प्रवेश है। इसी प्रकार मुद्रा असंग का परित्याग है माँस भक्षण का आशय जिह्वा को उलट कर तालु से मिलाना है जिसे खेचरी मुद्रा कहा जाता है।

इन अवस्थाओं को पार करके योगी सहस्रार कमल तक पहुंच जाता है और तब वह कमल के मूल में स्थित त्रिकोण चक्र, जिसे योनि कहते हैं, (यही चन्द्रमा का स्थान है) से निष्पन्दित अमृत का पान करता है। ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित इसी अमृत पान को वारुणी माना गया है। इस रूप में प्रतिष्ठित कुण्डलिनी शक्ति पुंज बन जाती है और इस अवस्था में शिव और शक्ति दोनों का स्वरूप प्रकट रहता है किन्तु मैथुन की स्थित तक शिव और शक्ति में सामंजस्य हो जाता है। दोनों की इसी अभेदावस्था

को समरसता कहा गया है तथा इसी क्रम में अर्द्धनारीश्वर की स्थापना हुई हैं।

शाक्त मत के उपर्युक्त साधना क्रम के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शाक्तों की लौकिक शब्दावली प्रतीकात्मक है तथा अज्ञान के कारण ही उसे भोगपरक अथवा अव्यावहारिक माना जाता है। वस्तुतः शक्ति सम्प्रदाय में वामाचार प्रधान होने पर भोगादि विषयों की अवहेलना हुई है। शाक्तों ने स्त्री को पूर्ण गरिमा प्रदान करते हुए कहा है–

स्त्रीणां निन्दा प्रहारं च कौटिल्यं चाप्रियं वचः।
आत्मनो हितमन्विच्छन् देवी भक्तो विवर्जयेत ॥

यही नहीं वरन् शक्ति संगम तंत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि–

नारी त्रैलोक्य जननी नारी त्रैलोक्य रूपिणी।
इमं हि जगतां धात्री जननी जन्मकारणात् ॥

इस प्रकार तंत्र के स्वरूप, इतिहास एवं साधनात्मक सम्प्रदायों के संक्षिप्त विवेचन से तंत्रका वैशिष्ट्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु आज के वैज्ञानिक सन्दर्भों में इसकी उपयोगिता संदिग्ध ही बनी रहती है। यद्यपि तंत्र एक जटिल विद्या है तथा इसके अनुशीलन के लिए व्यापक साधनानुभव एवं उदार दृष्टि की आवश्यकता है, जिसका पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण लघु लेख में सम्भव नहीं है, किन्तु भौतिकवादियों के लिए उसकी वैज्ञानिकता एवं धर्मप्राण जिज्ञासुओं के लिए तंत्र की महत्ता का संकेतन आस्थोत्पादन के लिए आवश्यक है। सर्वप्रथम धर्मप्राणों के लिए स्पष्ट करना चाहूँगा कि जिस तंत्र को वे स्वार्थपरक अभिचार मात्र मानते हैं उसके लिए मंथन से सम्भूत सार–

मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णम्।
सारज्ञेन मया देवि कुलधर्मः समुद्धृतः ॥

तंत्रों की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में अवलोकनीय है कि जिस ऊर्जा के अनुसंधान में वैज्ञानिक तत्पर हैं उसके मूल तक अभी नहीं पहुँच पाये हैं। पाश्चात् वैज्ञानिकों ने प्रत्येक पदार्थ में शक्ति की परिकल्पना करके अणु-अणु में शक्ति के विराट पुञ्ज की गवेषणा की है किन्तु भारतीय चिन्तन इनसे आगे है। तंत्र ग्रन्थों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में ऊर्जा नहीं होती अपितु प्रत्येक पदार्थ ही ऊर्जा है और अशेष ऊर्जा है और अशेष ऊर्जा के कारण ही वह पदार्थ चित् बना रहता है यह अनन्तशक्ति पुञ्ज एक असीम शक्ति का विखण्डित रूप है और जब इन शक्ति के अंशो को पार करके उनमें एक अखण्डशक्ति का दर्शन कर लिया जाता है तो वही पराशक्ति का दर्शन है। क्योंकि जब शक्ति के विद्युतकण जिन्हें वैज्ञानिकों ने एलेक्ट्रान, पेट्रान और न्यूट्रान माना है, इतने शक्तिशाली हैं तो उन्हें भी यदि सूक्ष्म कर दिया जाय तो उनकी शक्ति कितनी अधिक हो जायेगी, यह आज काल्पनातीत है। परन्तु प्राचीन मनीषियों ने उस सूक्ष्म तत्त्व का अनुभावन कर लिया था। कबीर ने इसीलिए सूक्ष्मतम को अखण्डशक्ति माना और कहा कि पुहुप वास तैं पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।' यह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ने की ही प्रक्रिया है। आधुनिक विज्ञानिक सूक्ष्म से स्थूल की संरचना करता है और इसी स्थूलवादिता के कारण हम मूल तत्त्व तक पहुँचने में अक्षम सिद्ध हो रहे हैं। यह स्थूलोपासना हमारे अज्ञान का कारण है भारतीय चिन्तन ने स्थूल को कभी महत्व नहीं दिया क्योंकि स्थूल का कारण अद्वैता है। तंत्र शास्त्र सूक्ष्मतम शक्ति में शिवत्त्व की स्थापना करता है। वस्तुतः तंत्र कोई सम्प्रदाय अथवा अंधविश्वास का कारण नहीं है वरन् वह आस्तिक अथवा नास्तिक के द्वन्द्व से विमुक्त सृष्टि के अणु–अणु में भासमान परमशक्ति का व्याख्याता है जहां पहुँच कर न केवल प्राणिमात्र में वरन् समस्त सृष्टि में आत्मदर्शन भासित होने लगता है। इससे अधिक समत्व या सामरस्य किस ज्ञान-विज्ञान, विचार अथवा दर्शन में उपलब्ध है। इसके बावजूद यदि अपने अज्ञान के कारण हम स्थूल को श्रेष्ठ मानें और सूक्ष्म संज्ञानात्मक संकल्पना को तिरस्कृत करें तो इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है यद्यपि विज्ञान शक्ति, अन्वेषण की दृष्टि से अभी शैशवास्था में है तथापि आत्म शक्ति के सूक्ष्म स्वरूप को उसने स्वीकार लिया है। अतः यदि वैज्ञानिक दृष्टि कोण से भी तंत्र शास्त्र के सिद्धान्तों को परखे तो उसमें सूक्ष्म तत्त्वोपसना की महत्ता सिद्ध हो जायेगी।

# रामचरित मानस में लोकदृष्टि

—डा० रामस्वरूप त्रिपाठी, कानपुर

कवि जिस युग में साँस लेता है, वह उस युग की चेतना से अलग नहीं रह सकता। उस युग का सत्य केवल उसी युग का सत्य नहीं होता, युगों-युगों का भी सत्य हो सकता है। इस सत्य को बोध कराने वाले प्रतीक न्यूनाधिक्य वही रहते हैं, जो युग-मानस में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बद्धमूल रहते हैं। इसलिए तुलसी के रामचरितमानस और उनके राम को समझने के लिए तत्कालीन युग-बोध को भी समझना चाहिए। क्योंकि तुलसी का यह अमर महाकाव्य संस्कृत के अन्यान्य काव्यों की तरह परम्परा के अवतरणों से इतना आच्छादित है कि आज की चेतना और अतिबौद्धिकता उसके साथ एक-रस नहीं हो पाती।

जिस समय मानस की रचना हो रही थी, वह अत्यन्त संकट का समय था। उस समय भारत पर एक ऐसी विदेशी संस्कृति का आक्रमण हुआ था, जिसको शास्त्र का नहीं, शस्त्र का बल प्राप्त था। इस समय जीवन के समूचे मूल्य लड़खड़ा रहे थे, विश्वास डगमगा रहे थे, और भारतीय जनमानस निराधार भटक रहा था। भारतीय आस्था और आस्तिकता के प्रतीक देव और देवालय जेहाद की भेंट चढ़ रहे थे। कबीर आदि निर्गुनिये सन्तों की अटपटी वाणी इस अवस्था की मात्र वैसाखी बनने की चेष्टा भर कर पायी थी। सूफियों की प्रेममयी साधनात्मक पद्धति से भारतीय-संस्कृति को कम, इस्लामी पद्धति को अधिक बल मिल रहा था। श्रीमद्भागवत को आधार बनाकर चलने वाले कृष्ण-भक्त कवियों ने, कृष्ण का रास-रस पिलाने की चेष्टा अवश्य की थी, किन्तु यह कृष्ण-काव्य अन्तर्मुखी होकर भारतीय मानस के भग्न आस्था और विश्वास को जोड़ने के लिए शक्तिसंचय तो अवश्य कर पाया था, पर दिशा-निर्देश की क्षमता उसमें भी न थी। कृष्ण काव्य का लीला तत्व धीरे-धीरे स्थूल होता जा रहा था और इस आध्यात्मिकता का जो उसका सूक्ष्म पक्ष था धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा था। विदेशी संस्कृति प्रवृति-मूलक ( भोगवादी ) थी। जब राधा और कृष्ण का रसिक रूप ( प्रवृत्तिमूलक ) अपनी स्थूलता के साथ समाज में व्याप्त हो जाता तब विजेताओं के हरमों की रंगीनी बढ़ने में देर न लगती। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि साधारण वर्ग, स्थूल को पहले ग्रहण करता है उसके सूक्ष्म एवं तात्विक अंश को या तो देर में ग्रहण करता है या फिर उपेक्षा कर देता है। कृष्ण काव्य की राधा आह्लादिनी-शक्ति के रूप में या गोपियां जीव के रूप में कदाचित ही ग्राह्य हो पाती हैं। आध्यात्मिकता की आड़ में राधा-कृष्ण के सुमिरन के बहाने समाज में कुत्सित भावनाओं का प्राबल्य अवश्य हो जाना है, जैसा आगे चलकर रीतिकाल में हुआ भी।

इन स्थितियों को देखते हुए उस युग की सबसे बड़ी माँग थी—हिन्दू पारिवारिक संस्कृति को प्रतिष्ठित करना यह कार्य भागवत के आधार पर संभव नहीं हो सकता था, वरन् रामायण को आधार बनाकर ही किया जा सकता था। भारतीय तन्द्रिल जनमानस को रास-रस नहीं, राम-रसायन की आवश्यकता थी। इस तथ्य से पूर्ण

परिचित हो कर तुलसी ने मानस की रचना की और परम्परा से चले आ रहे राम को अपने अनुरूप गढ़ा भी। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट लिखा है– 'अक्सर 'रामचरित मानस' के सम्पादन और प्रचार के सन्दर्भ में इसकी तुलना विश्व के धर्म ग्रन्थों में की जाती है, सांस्कृतिक इतिहासों और पुराणों के साथ की जाती है, लेकिन 'मानस' धर्म ग्रन्थों, इतिहासों और पुराणों के सम्पूर्ण तत्व रखते हुए भी इनसे अधिक गम्भीर, अधिक व्यापक और अधिक प्रभावकारी है क्योंकि यह विश्व का अद्वितीय महाकाव्य मानव जीवन के किसी भी सन्दर्भ को अछूता नहीं छोड़ता।"

तुलसी ने वाल्मीकि रामायण को आधार बनाया है, उनकी राम-कथा में परम्परागृहीत तत्व भी हैं, उनका रामचरित मानस 'नानापुराणनिगमागम' सम्मत भी है, परन्तु 'क्वचिदन्यतोऽपि' भी है। इसी आधार पर उन्होंने राम कथा की आत्मा में आमूल परिवर्तन कर दिया है। संस्कृत के कवि रत्नों और नाटककारों ने राम को साहित्य के प्रमुख पात्रों के मध्य खड़ा कर दिया। उनको साधारण मानव रूप में चित्रित कर ही संतुष्ट हो गये। संस्कृत के कवि दशरथनंदन की मानवता को पूर्णतः चित्रित करने में इतना तल्लीन रहे कि उन्होने राम के आध्यात्मिक रूप को वैसा चित्रित नहीं किया जिसके कारण राम हमारे लिए पूज्य और प्रातः स्मरणीय बन गये। वाल्मीकि महर्षि पहले थे, बाद में कवि हुए। अतः वे राघव को पूर्ण ईश्वरत्व प्रदान न कर सके। डा० बुल्के ने स्पष्ट लिखा है "काम, क्रोध, शोक ही नहीं बल्कि अहंकार भी वाल्मीकीय रघुपति को इहलौकिक बना देता है।" वाल्मीकि के राम में पौरुष का अदम्य घोष है और देवत्व को पराभूत कर देने वाला मानवीय संकल्प है। इसका कारण भी था। वाल्मीकि रामायण का जन्म उस समय हुआ था जब भारतीय शौर्य अपनी चरम सीमा पर था। भारतीय संस्कृति अपने उच्च शिखर पर थी। तुलसी का युग उस युग से भिन्न था, परिस्थितियां भिन्न थीं। इसीलिए रामायण और मानस की कथा में जो अन्तर है, वह दो युगों का अन्तर है। रामायण और मानस रामकथा के दो छोर हैं एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

तुलसी को अपने युग में नरपति से बढ़ कर नारायण की आवश्यकता थी। इसलिए मानस के राम हमें तीन रूपों में मिलते हैं।

१- परात्पर ब्रह्म रूप में।
२- दशरथ सुत रूप में।
३- शंख चक्र गदा युक्त सनातन काल से मान्य रूप में।

तुलसी दशरथ पुत्र राम को ही ईश्वरत्व प्रदान करने के पक्षधर थे। कबीर की यह घोषणा तुलसी को स्वीकार नहीं थी।

"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना
राम नामका मरम है आना

कदाचित इसीलिए इस प्रसंग को रामचरित मानस में भी उठाया गया है। पार्वती का संदेह कि राम कौन हैं, के उत्तर में शिव कहते हैं—

"एक बात नहि मोहि सुहानी,
यदपि मोह बस कहेउ भवानी"
तुम जो कहा राम कोउ आना .......

इस 'कोउ आना' पर तुलसी संत स्वभाव के विपरीत अपना शील और सदाचार छोड़कर कह उठते हैं:—

"कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाखंडी हरि-पद विमुख, जानहिं झूठ न साँच॥

तुलसी के इस आक्रोश से ऐसा लगता है कि वे देश में व्याप्त किसी संदेह के निवारण में लगे थे। राम सगुण हैं कि निर्गुण हैं, यह तनाव भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक ढाचे को चकनाचूर कर रहा था। मानस उसी विघटन एवं भटकाव का ग्रंथ है, उस समय के समस्त सन्देहों एवं संशयों के निवारण का ग्रन्थ है। तुलसी का ध्येय था कि वे सच्चिदानंद को मानव देह में व्यवहार करते दिखा कर हमारे सामने खड़ा कर दें। राम को कृपासिन्धु बनायें। सम्भवतः मानस में जिस विशेषण का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है वह है, कृपालु। तुलसी ने अनन्त को सीमित इस प्रकार किया है कि सीमा भंग न हो और वह अनन्त, असीम बना भी रहे, उसे गुण लिप्त भी किया है और निर्गुण भी बनाये रखा है। तुलसी ने

राम को पूर्ण मानव भी बनाया है और देव भी। इस प्रकार राम को प्रतिष्ठित कर भारतीय मानस के अनन्त विकास का रास्ता स्पष्ट किया है।

सत्य के समूचे रूप को ग्रहण करना असम्भव है मानव के पास इस सत्य को देखने, समझने और परखने के लिए इन्द्रिय, मन, और बुद्धि, ये तीन साधन हैं। सम्भवतः इसीलिए मानस में राम को भी तीन रूपों में देखने की चेष्टा की है। इन्द्रिय आलम्बन के लिए राम नराकार हैं, उनका सौंदर्य कोई साधारण नहीं 'वे कोटि मनोज-लजावन हारे' हैं। मन के आलम्बन के लिए राम सुराकार हैं और बुद्धि के आलम्बन के लिए निराकार हैं। नर रूप में वे दाशरथि राम हैं, सुराकार रूप में वे विष्णु हैं और निराकार रूप में वे परात्पर ब्रह्म हैं। मानसकार ने अपने राम में आत्म संयम, त्याग, परोपकार, शरणागत वत्सलता, कोमलता, करुणा, ओज न जाने कितने आदर्श गुणों का समावेश किया है। जिस लोकोपकारी ऐश्वर्य रूप के सहारे मर्यादा पूर्ण ढंग से लोकमंगल हो सकता है, तुलसी के लिए वही इष्ट है जब व्यक्ति, लोक का आनन्द बनकर और लोक, व्यक्ति का सहज धर्म बनकर सामने आता है तब समाज में हर्ष, उल्लास, प्रेम, दया, करुणा, आनन्द, आदि का संचार होता है। समाज भी इसी भावना में लीन दिखाई पड़ता है। भारत में उस चेतना को जाग्रत करना चाहता है जिसकी उस युग में आवश्यकता थी।

भारतीय संस्कृति में पार्वती, सीता और लक्ष्मी को शक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस क्षेत्र से थोड़ा हट कर यदि तीनों शक्तियों पर भौगोलिक दृष्टि से विचार करें तो कदाचित् पार्वती पार्वत्य प्रदेश की चेतना की प्रतीक होती हैं और सीता मैदानी भूभाग की सिद्ध हो सकती हैं और लक्ष्मी तटीय चेतना की प्रतीक बन सकती हैं। विचार करने पर प्रतीत होता है कि पार्वत्य प्रदेश की चेतना संशयग्रस्त हो और मैदानी भूभाग की चेतना का हरण हो गया हो तब सम्पूर्ण देश की चेतना की क्या स्थिति होगी? कल्पना की जा सकती है। मानस का जो सर्वाधिक मुखरित स्वर और संदेश है वह इसी क्षेत्र में है कि इन संशयों और संदेहों का निवारण कर भारतीय सामाजिक-चेतना में सामंजस्य और संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जा सके। इतिहास, राजाओं और महाराजाओं का नहीं, समाज को चेतना प्रदान करने वाली उन विभूतियों का दास होता है, जो संस्कृति के विघटित तत्वों को एकत्र कर समन्वय करती हैं। तुलसी उन्हीं विभूतियों में से एक थे।

तुलसी के मानस में एक—और स्वर दिखलाई देता है, वह है लोकभावना। क्योंकि बिना लोक के परलोक की कामना नहीं हो सकती। व्यक्ति जब लोक—चेतना को भूलकर परम-चेतना की ओर उन्मुख होता है तो, न तो उसे परम-चेतना की सिद्धि होती है और न ही व्यष्टि चेतना का उदात्तीकरण हो पाता है। लोक—चेतना के सच्चे प्रतीक शिव हैं। परम चेतना की प्राप्ति के लिए शिव-तत्व की उपेक्षा करना तुलसी को इष्ट नहीं। समस्त लोक के अमंगल का हलाहल पान करना ही शिवत्व है। तुलसी के मानस में शिव की उपेक्षा कर राम की उपासना का कोई सुझाव नहीं। तुलसी को ऐसे राम की आवश्यकता थी, जिसमें दिव्य शक्ति तो हो पर हों वह लोकनायक, जो पीड़ितों को अपनाये ही नहीं, दुख से उबरने की कर्म-प्रेरणा भी दे, जिसकी कथनी और करनी में भी कोई अन्तर न हो। सम्भवतः इसी रूप में तुलसी ने राम को लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

लोकनायक राम की कथा, सुरसरि-प्रवाह की भांति निरन्तर चलती रहेगी। यह कथा कभी समाप्त नहीं होगी डा० विद्यानिवास ने लिखा है— "यह रामचरित एक ग्रन्थ मात्र नहीं है, एक चैतन्य का आन्दोलन है, एक प्रक्रिया है जो जागी रहेगी किसी न किसी रूप में चाहे लोग लीला देखकर शरीक हों चाहे लोग रामचरित मानस सुनकर-पढ़कर शरीक हों, लेकिन इस प्रकार की निरन्तर उपस्थिति के साथ इस प्रकार की दुख और दैन्य बटाने वाली, दूसरों की पीड़ा हरने वाली मंगलमय उपस्थिति के साथ तादात्म्य साधारण से साधारण व्यक्ति का होता रहगा, ऐसे व्यक्ति का जिसमें आत्मबल न हो, भीतर निरन्तर एक सन्देह हो कि हम भी दूसरों के दुख निवारण कर सकेंगे कि नहीं, हम स्वयं दरि द्रहैं,

विपन्न है, उसके भीतर भी यह तादात्म्य, आत्मबल भरता रहेगा।" जब हम राम के हो गये तो न तो हम असहाय हैं, न ही दरिद्र हैं और न ही विपन्न। इस प्रकार का निरन्तर ज्ञान यदि हमें बना रहे तो रामचरित मानस चरितार्थ होता रहेगा और निरन्तर रचता रहेगा। इसी लिए तुलसी के ग्रन्थ का आरम्भ तो हुआ है, पर वह समाप्त नहीं हुआ था। याज्ञवल्क्य और भारद्वाज के संवाद की फलश्रुति के कारण यह कथा समाप्त नहीं हुई। ऐसा लगता है कि भारद्वाज, राम की कर्म यात्रा के प्रहरी हैं। भारद्वाज के आश्रम से ही राम की कर्म-यात्रा प्रारम्भ होती है। राम की यह वन यात्रा सम्भवतः अब तक पूरीं नहीं हुई क्योंकि राम का निर्वासन अपने लिए नहीं राममय होने की आकांक्षा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए है, सत्य के आग्रही के लिए है।

डा० श्रीधर सिंह ने स्वीकार किया है कि तुलसी का मानस पूर्ण मनोवैज्ञानिक धरातल पर स्थित है। तुलसी का अपना जीवन दर्शन इसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में देखा जा सकता है। लोग सोच सकते हैं कि अभावों में पले, चार चने के लिए द्वार-द्वार फिरने वाले तुलसी का भी कोई जीवन-दर्शन हो सकता है? ऐसा सोचना भ्रम है। तुलसी की यह दीनता ही उनके समूचे जीवन-दर्शन की आधार शिला है। यह दैन्य ही है जो अभाव को भाव से भरने के लिए कर्म को प्रेरित करता है। इसी कर्म प्रेरणा से सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। तुलसी का यह दैन्य दुविधा है उदात्त दैन्य सन्त प्रवृति में और अनुदात्त दैन्य राक्षसी प्रवृत्ति में होता है। तुलसी ने उदात्त दैन्य के माध्यम से अनुदात्तदैन्य के निराकरण का जो आधार है जिस आधार–फलक को तैयार किया है, वह मानसकार की अपनी विशेषता है।

अनुदात्त दैन्य के उदात्तीकरण के लिए ही लोकमंगल की भावना का स्वर रामचरित मानस में सर्वत्र सुनायी देता है। तुलसी के मानस में निरन्तर यह प्रयास किया गया है कि ब्रह्म ही नर-रूप में लीला कर रहा है। अपने भक्त के लिए भगवान स्वयं नीचे उतरते हैं अपना आत्मीय बनते हैं और वह व्यक्ति से न जाने कितने नाते जोड़कर मिलते हैं। तुलसी ने अपनी रचना के द्वारा मनुष्य में समूची मानवता को प्रतिष्ठित करने का उपक्रम किया है और पूर्ण मानवीय रस-वत्ता को आस्वाद्य बनाया है उस असीम विराट को मानव धरातल पर उतार कर उसके आदर्शों को मानवीय संवेदनाओं के साथ संबंधित कराया है। ऐसे कवि को महान कैसे कहूं? वह तो विराट है।

# हिन्दी कविता में नये समाजवादी मूल्यों की अभिव्यक्ति

आचार्य बैजनाथ राय, गाजीपुर

'नयी कविता' कविता विद्या की दृष्टि से दो विन्दुओं पर पुरानी कविता से भिन्न हुई थी– (१) गद्योन्मुखता ( नियरनेस टू प्रोज ) तथा (२) अभिव्यक्ति की नवीनता ( नये विम्ब, नये पदविन्यांस आदि )। नई कविता के आरम्भ से आज तक की लिखी गई सम्पूर्ण कविताओं में इन दोनों विन्दुओं की परिव्याप्ति मिलती है और इन्हीं दोनों विन्दुओं की दृष्टि से 'नयी कविता' के रूप (फार्म) का क्रम अभी तक जारी है। इस नव-प्रवाह में दो प्रकार के कवि सामने आये। एक तो वे जो जनवादी थे, दूसरे वे जो व्यक्तिवादी या प्रतिक्रियावादी अथवा यथास्थितिवादी थे। व्यक्तिवादी कवियों के कृतित्व और विचारणा में, उनके व्यवहार और उनकी राजनीति में मानव-मूल्यों और ममताओं का व्यापक विरोध सन्निहित था जबकि जनवादी कवि, आम आदमी की तकलीफों के साथ पूरी हमदर्दी रखते हुए उनकी अन्तरानुभूति की अभिव्यक्ति कर कर रहे थे अथवा उनके साथ कन्धे में कन्धा भिड़ाकर शत्रु को ललकार रहे थे। परन्तु यह कहें कि ये जनवादी कवि निर्वाध गति से आगे बढ़ते रहे तो गलत होगा। क्योंकि व्यक्तिवादी साम्यवाद और प्रगतिवाद विरोधी प्रतिक्रिया, यूरोप के टी० एस० एलियट जैसे कवियों एवं निराश और आत्मग्रस्त अस्तित्व वादियों के आधार पर साम्यवाद और प्रगतिवाद का घोर विरोध हुआ। परन्तु इन सब विरोधों के बावजूद साठोत्तरी कविता में राजकमल चौधरी, केशनी प्रसाद चौरसिया, नागार्जुन, त्रिलोचन, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, धूमिल सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, लीलाधर जगूड़ी, वेणुगोपाल, मंगलेश डबराल, शिवमंगल, सिद्धान्तकर, शलभ श्रीराम सिंह, सव्यसाची, मणिमधुकर, आलोकधन्वा, मनमोहन, अशोक चक्रधर, चंचल चौहान, कुमार विमल, ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, पंकज सिंह, विजेन्द्र अनिल, सुरेश शर्मा, शशि प्रकाश, राजेश जोशी, ज्ञानेन्द्र पति, श्री हर्ष, नीलम-श्रीवास्तव, अक्षय उपाध्याय, पंचदेव, निरंजन, स्वामी नाथ पाण्डेय, सुशील, राकेश, आदि की कविताओं ने क्रांति की सुलगती आग को प्रज्ज्वलित कार धधका दिया तथा रिबेल पोएट्री, भूखी पीढ़ी, विद्रोह पीढ़ी आदि जनवादी खेमों द्वारा पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को ध्वस्त कर नयी समाजवादी व्यवस्था का स्वरोद्घोष होता रहा, आज भी हो रहा है।

इस तथ्य का इतिहास साक्षी है कि साहित्य में बुनियादी परिवर्तन नये कथ्य की माँग पर होते आये हैं और इस कथ्य या तत्व में सामाजिक आवश्यकता और स्वतंत्रता के प्रति लेखकीय जागरूकता शामिल है। उदाहरणार्थ देखा जा सकता है कि भारतेन्दु युग से रीतिकालीन व्यक्तिवाद अथवा भोगी वर्ग के ह्रासशील व्यक्तिवाद ( भोगवाद ) से हटकर नवीन सामाजिक चेतना की मांग की गई थी। यही कारण था कि उस समय पारम्परिक काव्य के स्थान पर गद्य-लेखन को बल मिला। द्विवेदी युग में इस प्रवत्ति को और-अधिक बल मिला। द्विवेदी जी ने स्वयं उस रीतिकालीन प्रवृत्ति पर अनवरत प्रहार किये। उसके फलस्वरूप कविता प्रकृति और सुधारपरक चेतना से संपृक्त हुई। कहना न होगा कि समकालीन कविता में परिवर्तन भी नवीन सामाजिक

चेतना की मांग द्वारा ही उभर कर सामने आया। परन्तु आश्चर्य तो हमें तब होता है जब हमारे कुछ मित्र इस कथ्य या तथ्य परिवर्तन को स्वीकार करने के बावजूद जब देखते हैं कि इस परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रगतिवाद, वर्ग और वर्ण विहीन समाज-संरचना पर बल दे रहा है तथा उसके लिए साहित्य में नये दृष्टिकोण और नये समाजवादी मूल्यों को अभिव्यक्त कर रहा है तो उन्हें अकारण सन्देह होने लगता है। 'नयी कविता' के कई कवियों को तो ऐसा लगा कि ये समाजवादी नजरिये के कवि प्रगति वादी मुखौटा लगाये कम्यूनिज्म के विकास के लिए व्यक्तित्वों को नष्ट करने तथा सभी को पार्टी का गुलाम बनाने का षडयंत्र कर रहे हैं। इस तथाकथित षडयंत्र से बचने के लिए अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मी कान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही आदि कई जनवादी कवियों ने अपनी कविता को केवल वैयक्तिकता तक सीमित कर अपने पिछलगुओं को इसी पथ का अनुसरण करने के लिए आगाह कर दिया। उनका यह पलायन या प्रयास साहित्य को उस सामाजिक चेतना या व्यापक मनोभूमियों से विच्युत करने के लिए हुआ जो न्यायी-वैशिष्ट्य की विरोधनी न होकर, वर्गहितों, शोषणों और वर्ग-दासता की घोर विरोधी होती हैं। उक्त खेमे के कवियों द्वारा हिन्दी कविता का एक बड़ा अंश गुमराह हो गया। फलस्वरूप हिन्दी कविता के उस अंश का सरोकार मनुष्य की व्यापक भावनाओं और संकल्पों से कटकर अलग-अलग पड़े व्यक्तियों ( नदी के द्वीपों ) के लघु-जीवन के छोटे-मोटे मूडों और जब-तब चमकीले क्षणों या कौंधों को अनूठे बिंबों में बांधने से हुआ। इस प्रवृत्ति द्वारा कविता का कितना अहित हुआ, यह सहज ही देखा जा सकता है। मेरी दृष्टि में जीवन से दूर, केवल नारी, शरीर गाथा गाने वाले रीतिकालीन कवियों के समानान्तर यदि इन्हें नहीं रखा जा सकता तो कहीं उन्हीं के आस-पास रखकर इन पर भी तिल विमिश्रित जल-अक्षत चढ़ाया जा सकता है।

साहित्य में जन-साधारण की इच्छाओं को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता और जो साहित्य ऐसा करता है, वह समाज का साहित्य न होकर किसी वर्ग विशेष का साहित्य या कुछ और होता हैं। इसीलिए कविता भी समाज सापेक्ष होती है। सामूहिक मानस में जो एक सामान्य, व्यापक मुक्ति की इच्छा होती है उसे सीधे अर्थों में 'जनेच्छा' कहते है। यह 'जनेच्छा' हमारे क्लासिक साहित्य में वाल्मीकि से लगायत आज के प्रगतिवादियों तक, सभी के सृजन की बुनियाद में अवस्थित है। यह ठीक है कि वह 'मानव करुणा, वह व्यापक जनहित कामना वह जननिष्ठा, टी० एस० एलियट के निराशावादी दर्शन और प्रतिक्रियावादी विश्वासों (पुरानी ईसाइयत में श्रद्धा) के आवेश में भुला दी गई थी, वरना फिर 'जनेच्छा' या मनुष्य की व्यापक भावनाओं और संकल्पों की कविता में अभिव्यक्ति आवश्यक महसूस हुई। यह आवश्यकता क्या जनवादी कवियों की मनगढ़न्त थी या सामूहिक जनमानस की अभिव्यक्ति थी? निश्चित रूप से यह जन-साधारण के अन्तर की आवाज थी, उसके हृदय की पुकार थी और कवि उसके साथ हो लिये। परन्तु यह होना भी राजदरबारों के चारण और भट्टों के समान नहीं, वरन् 'वीर गाथा काल' के योद्धा कवियों के समान था। यदि इन कवियों का एक भाग सुविधाभोगी होने के कारण बहक गया तो कविता के क्षेत्र में कुछ अंश तक भटकाव अवश्य आ गया, परन्तु कविता का जन-प्रवाह अवरुद्ध नहीं हो सका और नहीं हो सकेगा।

पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों के अन्धानुकरण की परिपाटी भी हमारे साहित्य में अंधेर मचाती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि हमारे देश की स्थिति बिल्कुल पाश्चात्य देशों के समान हो और अक्सर समानता नहीं ही होती। पाश्चात्य देशों के कवि अपने देश व समाज के अनुकूल कविता लिखते हैं। यदि हमारे देश के कवि उन्हीं का अन्धानुकरण करें तो निश्चय ही उनकी कविता हमारे देश व समाज से असम्पृक्त विजातीय होगी। टी० एस० एलियट की कविताओं का अन्धानुकरण तो हमारे देश में खूब हुआ, परन्तु क्या यह देखा गया कि उसकी कवितायें पाश्चात्य यूरोप के औद्योगिक तकनीकी समाजों की महत्वाकांक्षाओं और प्रतियोगिताजन्य युद्ध के सन्दर्भ में लिखी गई, जबकि हमारे देश में अभाव, बिछड़ेपन,

पराधीनता, नवनिर्माण और आमूलचूल सामाजिक परिवर्तन की चुनौती भयंकर रूप में सामने खड़ी थी? यह अन्धानुकरण केवल कविताओं में ही नहीं, साहित्य की सभी विधाओं में व्याप्त है। तभी तो आज भी कुछ आलोचक, प्रगतिवाद को व्यक्तित्व विरोधी कहते नहीं हिचकिचाते। परन्तु ऐसा कहते हुए वे इस तथ्य को नजर अन्दाज कर जाते हैं कि नई कविता के रूपवृत्त के भीतर ही मुक्तिबोध जैसा जनवादी व्यक्तित्व भी निखरा है। और कहना न होगा कि नई कविता के सारे अनूठे, अद्वितीय कवि-व्यक्तित्वों के पाँव के नीचे से काव्य-धरती खिसक गई, परन्तु मुक्तिबोध या 'निराला' (छायावाद रूपवृत्त के भीतर) हिन्दी रचनाकारों के लिए आज भी मुक्ति के प्रतीक बने हुए हैं। यह उनका निरा भ्रम है कि संगठित संघर्ष में व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि इस संघर्ष में व्यक्तित्व धूमिल नहीं होता बल्कि और निखर उठता है। एब्सर्ड वादियों के समान यह उनकी भ्रांन्त धारणा है अथवा जान-बूझकर भ्रामक प्रचार है। वे ऐसा क्यों करते है अथवा उनकी ऐसी भ्रान्त धारणा क्यों है? नये समाजवादी मूल्यों की अवहेलना उनके द्वारा क्यों होती है? इन सारे प्रश्नों के उत्तर खोजते हुए हम पाते हैं कि व्यक्तित्व और मानवीय सन्दर्भ अथवा व्यक्तित्व और सामाजिक आवश्यकता तथा स्वतन्त्रा के बीच प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई अटूट सम्बन्ध है, जिसे धर्म युगीन' ढंग से समझने वाले नजर अन्दाज कर जाते हैं और यही कारण है कि उनका विश्लेषण मानव-सापेक्ष न होकर मानव विरोधी हो जाता है।

यह कोई नई बात नहीं है। स्वार्थी, सुविधापरस्त एवं सस्ती यश-प्राप्ति की स्पृहा पालने वाले कवि संघर्ष की ज्वाला में क्यों जलें? पूँजीवादी व्यवस्था तो ऐसे ही साहित्यकारों को ऊपर उछालती है जो सदा उसके चारण बने रहें। जनमुक्ति की आवाज उठाने वाले, व्यवस्था की आँखों में सदा खटकते रहते हैं। यही कारण है कि "सन् १९४७-४९ में जब प्रगतिवादी, किसान-विद्रोह (तेलंगाना) के साथ तादात्म्य कर रहे थे और देश में 'बूर्ज्वाराष्ट्रवादी' नेताओं-नेहरू, पटेल आदि पर आक्रमण कर रहे थे, तब 'प्रतिक्रियावादी' नये कवि साहित्य में टी० एस० एलियट और अस्तित्ववादी मनोगततावाद का हिन्दी में आयात कर रहे थे और मासूम पाठकों पर रोब गालिब कर रहे थे कि वे ही व्यक्तित्व, कला और कविता तथा संस्कृति के संरक्षक-सर्जक हैं, साम्यवादी तो सामूहिकतावाद के आवेश में मात्र नारेबाजी करते रहते हैं। इसी जेहनियत के लोग 'फोरम फार कल्चरैल फ्रीडम' मंच पर आसीन हुए।" परन्तु इस छल-छद्म का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? ऐसा करके भी क्या वे जनता का हृदय जीत सके? नहीं। वे इसे सर्वथा विस्मरण कर गये कि व्यक्तित्व और सृजन-चिन्तन, बड़े मूल्य और व्यापक मान्यताओं के लिए जूझने से सम्बन्धित है। अतः साधनहीन भारतीयों ने पहचान लिया कि उनके लेखक निराला तथा मुक्तिबोध हैं, अज्ञेय और अन्य सम्यवाद विरोधी नहीं।

साहित्य और समाज में अब यह प्रश्न विवादास्पद नहीं कि इस देश की पीड़ित और शोषित जनता की मुक्ति का सवाल समाजवाद से ही तय हो सकता है। समकालीन कविता में भी दो दल स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं— (१) जनवादी कवियों का दल तथा (२) व्यावसायिक एन्टीकम्युनिस्ट या पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थकों या उनके समक्ष दुम हिलाने वालों का दल। आज किसी भी तर्क या किसी भी चक्करदार अभिव्यक्ति द्वारा जिन्दगी की हकीकत पर पर्दा डालना संभव नहीं है। इस क्रम में दूसरे दल के कवि जितना ही उबरने का प्रयत्न करते हैं उतना ही नीचे धँसते जा रहे हैं। यह कहना सर्वथा निराधार व पाठक को धोखा देना है कि साठोत्तरी कविता का नव प्रभाव व्यक्तित्वहीन है। 'कला कला के लिए' वे पक्षधर भी आज संवेदन प्रतीति और संवेग की सघनता या आन्तरिकीकरण को सृजन की श्रेष्ठता का हेतु स्वीकार कर रहे हैं। यद्यपि स्वसंवेदन और परसंवेदन परस्पर विरोधी हैं परन्तु इनकी द्वन्द्वात्मकता की भी एक संगति है। यह संगति मुक्तिबोध में है, परन्तु अज्ञेय या धर्मवीर भारती अथवा पिछलगुओं में एकदम नहीं है। साथ ही यह भी निश्चित है कि परसंवेदन के समान ही सघनता या गहराई है। यही वैशिष्ट्य जनवादी कवियों में श्रेष्ठता

यों कलात्मक उत्कृष्ठता का उत्स विन्दु है। सिद्धान्ततः परसंवेदन या व्यापक जीवन दशाओं के पर्यवेक्षण के क्रम निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में कोई अवरोध नहीं है। यह कवि की सूक्ष्म दृष्टि पर निर्भर है कि व्यक्ति और व्यापक जीवन-स्थितियों को किस प्रकार कलात्मक ढंग से संयुक्त करके सहज ढंग से और स्वाभाविक रूप में पाठक के समक्ष उपस्थित करता है।

यह ठीक है कि कलावादी कवियों का ध्यान बराबर कला की ओर आकर्षित होता है, परन्तु इसे भी नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता कि अपने जीवन और साहित्य में व्यापक मानव-मूल्यों के अभाव के बावजूद कई कलावादियों का ध्यान भी व्यापक मानव-मूल्यों की ओर गया था। उदाहरण स्वरूप आस्कर वाइल्ड ने ईसामसीह के व्यक्तित्व में कलाकार की पूर्णता देखी थी। उनके अनुसार 'द सुप्रिम वाइस इज शैलोनेस, ह्वाटेभर इज रियेलाइज इज राइट'[3] (जो अनुभूत है, वही सही है, जो अनुभूत नहीं है, छिछला है, ऊपरी है, वह गलत है। इस आधार पर उन्होंने ईसामसीह को पूर्ण कलाकार माना क्योंकि उनकी जनानुभूति में ऊपरीपन नहीं था। वह जनात्मक से जुड़कर एक ओर अभिन्न हो चुका था और शासक तथा भोगी वर्गों को दिग्भ्रान्त और जनविरोधी मानता था। वस्तुतः सच्चाई तो यही है, परन्तु यदि कोई आलोचक पंगु व आधी, अधूरी सहानुभूतियों के कवियों को साठोत्तरी कविता के कवियों से जबरन श्रेष्ठ कहे तो यह बात दीगर है।

'नयी कविता' के कुछ व्याख्याकारों ने इस बौद्धिक युग के तर्क के आधार पर उन कविताओं को अस्वीकार कर दिया जो भावनाओं से संयुक्त थीं। परन्तु आश्चर्य यह कि आगे चलकर इन बौद्धिकों की बौद्धिकता ही दुर्बल अप्रासंगिक और जनविरोधी प्रमाणित हुई तथा वे साठोत्तरी साहित्य में यूरोप के ह्रासशील लेखकों के मात्र 'माउथ अर्गन' बन कर रह गये। साठोत्तरी कविता के नवप्रभात में यदि आकर्षक शब्द-विन्यास, सार्थक वक्तव्य और देशी बिंबों का आकर्षण है तो उसमें संवेगों की बाढ़ भी है जिससे कविता उत्तेजित जनमानस के क्रान्तिकारी प्रवाह को अवसरानुकूल गति और ध्वनि देती है।

साठोत्तरी या समकालीन कविता का उत्स विन्दु मानव करुणा और परसंवेदन है जिसका मुख्य प्रवाह प्रगतिवादी या मार्क्सवादी या सर्जनात्मकता में प्रवाहित हो रहा है। "प्रगतिवाद विरोधियों या एन्टी कम्यूनिस्ट लेखकों को साठोत्तरी साहित्य में नवप्रगतिवाद के रूप में प्रगतिवाद की वापसी कष्ट दे रही है। उनके द्वारा पूँजीवादी साहित्यिक पत्रों पर कब्जा जमा लेने के बावजूद, हिन्दी के विराट जनक्षेत्रों में से कुकुरमुत्तों की तरह फूट पड़ने वाली लघु पत्रिकाओं द्वारा मार्क्सवादी विश्वबोध और समाजवादी मानव मूल्यों का पुनः अम्युदय पैत्री-बूर्ज्वा जेहनियत के जनभीरु लेखकों को खटक रहा है। लेकिन इसके दोषी वे स्वयं हैं, उनके आश्रयदाता लोग हैं, उनके मालिक और हुक्मराँ लोग हैं। उसके दोषी हम नहीं हैं, क्योंकि हमें तो यह ज्ञान नई कविता के प्रतिक्रियावादी लेखकों के जमने के पूर्व ही हो चुका था कि इस देश की पीड़ित–शोषित जनता की मुक्ति का सवाल समाजवाद से ही तय हो सकता है।"[4]

उक्त तथ्य की जानकारी केवल जनवादी कवियों को ही नहीं, उनके विरोधियों को भी है, परन्तु फिर भी वे सत्य के ऊपर असत्य का पर्दा डालकर जनता को गुमराह करना चाहते हैं। और वर्तमान शासन में तो उनका पूरा दाँव लग गया है। कारण यह कि वर्तमान शासन प्रतिक्रियावादियों का सम्प्रदायवादियों का है और उन्हें 'आम आदमी या शोषित जनसमूह से कोई सरोकार नहीं हैं। ये तो आरम्भ से ही पूँजीपतियों के पक्षधर हैं। इधर साम्यवादी दलों की पारस्परिक फूट से भी इन्हें नाजायज फायदा उठाने का मौका मिल गया है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने तानाशाही शासन में यदि भारतीय साम्यवादी दल (सी० पी० आई०) का समर्थन प्राप्त किया तो वर्तमान शासन उसका विरोधी बनकर मार्क्सवादी दल (सी० पी० आई०) का समर्थन प्राप्त कर रहा है, यद्यपि यह समर्थन कण्डीशनल है। पूँजीवादी पत्रिकाएँ इस तथ्य के प्रमाण हैं कि कुर्सी की राजनीति किस प्रकार इन दोनों दलों पर बारी–बारी से आक्रमण कर रही है। उनमें दोनों दलों की फूट आम आदमी की लड़ाई को कमजोर बना रही है। थोड़ा बहुत इसका

प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा ही है। परन्तु इतना नहीं कि हम अपनी दिशा ही भूल जायें।

हम अपने कवियों से पूर्ण आश्वस्त हैं कि उनपर इस राजनीति आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं है। और यही कारण है कि समकालीन कविता में नये समाजवादी मूल्यों की अभिव्यक्ति निर्वाध गति से हुई है, हो रही है। फिर भी हमारे कवियों को हर समय बूर्ज्वा प्रेस के आक्रमणों से सावधान रहते हुए मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए निरन्तर सक्रिय रहना चाहिए। पुँजीवादी व्यवस्था के पक्षधर या चाटुकार साहित्यकार अपनी हर संभव कोशिश करेंगे कि हमारी आवाज जन–साधारण तक न पहुँच पाये और जिनके लिए कविता लिखी गई है या लिखी जा रही है वे इसके प्रभाव से अछूते रहें ताकि उन्हें बेवकूफ बनाकर शोषण करने का मौका बराबर मिलता रहे। यदि उनका दाँव लग गया तो हमारा सारा परिश्रम, सारा त्याग, सारा कष्ट उठाना निष्फल गया और हम अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं हुए। इसके लिए आवश्यक है कि हमारे कवि और अधिक जन–साधारण के सम्पर्क में आये और उनकी यन्त्रणाओं पीड़ाओं तथा वेदनाओं को यथा–संभव उन्हीं के शब्दों में अभिव्यक्ति कर उन्हें उनसे मुक्ति का मार्ग दिखायें। तभी हमारी कविता या साहित्य की सार्थकता सिद्ध होगी।

# मृण्मूर्तिकला : उद्भव और विकास

डा० प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन'

आर० पी० एस० कालेज, वैशाली (बिहार)

किसी भी देश की काव्यगत सभ्यता एवं संस्कृति की शाश्वत भावनाओं, विश्वासों तथा मान्यताओं को पूरी गंभीरता से अभिव्यंजित करने में हमारी कलाविधाएं सक्षम सिद्ध हुई हैं। अतः किसी भी देश या जाति के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों को जानने के लिए उसकी कलात्मक उपलब्धियों का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन-मूल्यांकन आवश्यक है। वैसे तो विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों की कला प्रधानतः धर्मविषयक रही है किन्तु भारतीय कला सदा से धर्म की सहचरी रही है, यह स्पष्ट है। फलतः विभिन्न युगों एवं संस्कृतियों के परम्परित ज्ञान के लिए प्राचीन मूर्तिकला के मूलादर्श, लाक्षणिक संकेत एवं तत्युगीन पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

सौन्दर्य एक आध्यात्मिक शक्ति है, जिसकी सिद्धि मूर्तिकार को कला-साधनों के द्वारा प्राप्त होती है। प्राचीन भारतीय कलाकृतियों में शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य पर अधिक बल दिया गया है जो हमें धरती से स्वर्ग की ओर अर्थात् भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है। यही शाश्वत सौन्दर्य है जिसकी अभिव्यक्ति मूर्तिकला के विभिन्न माध्यमों में हुई है। मेरे अनुसार भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में मिट्टी सबसे प्राचीन, सहज, सुलभ एवं पवित्र माध्यम रही है। अतः इन प्राचीन मृण्मूर्तियों के द्वारा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की विकसित परम्परा का ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए।

भारतीय मृण्मूर्तिकला का इतिहास सिन्धुघाटी सभ्यता काल (३२५०–२७५० ई० पू०) से आरम्भ होता है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त देवी-देवता, पुरुष-नारी पशु-पक्षी आदि की मृण्मूर्तियों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतवर्ष में पाँच हजार वर्ष पूर्व ही मृण्मूर्तिकला विकसित हो चुकी थी। लेकिन किसी प्रामाणिक आलेख के अभाव में सिन्धुघाटी सभ्यता की ये मृण्मूर्तियाँ तत्युगीन समाज के सांस्कृतिक विकास का प्रतिनिधित्व करती हैं। डा० रायगोविन्द चन्द्र के अनुसार (दे० स्टडीज आफ इण्डस वैली टेराकोराज) सिन्धुघाटी से प्राप्त पुरुष-नारी एवं पशु-पक्षी की हाथ से बनी ये मृण्मूर्तियाँ यद्यपि साधारण कलाकारों की कृतियाँ हैं (न कि विशिष्ट या पेशेवर मूर्तिकारों की) तथापि ये अपने युगविशेष की पूजा आस्था, वस्त्राभूषण, बाल-विन्यास, मनोविनोद आदि को रूपायित करने में सक्षम सिद्ध हुई हैं। इससे पूर्व के अवशेष प्राप्त नहीं होते।

सिन्धुघाटी के पश्चात गंगाघाटी (गंगाघाटी की मिट्टी के खिलौने परमेश्वरीलाल गुप्ता, सम्मेलन पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक) से प्राप्त मौर्यकालीन (४–२ की सदी ई० पू०) मृण्मूर्तियों के बीच प्रायः ढाई हजार वर्षों का युग पुरावशेषों के अभाव में अंधकारमय दीखता है। अतः

इस कला का द्वितीय विकसित चरण मौर्यकालीन अवशेषों में देखा जा सकता है। इस काल में भारत ने राजनैतिक धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में ही नहीं, बल्कि कला के क्षेत्र में भी असाधारण प्रगति की। बुलन्दीबाग (पटना), बक्सर, वैशाली, मंगलागढ़ (समस्तीपुर), मीरा, कौशाम्बी, राजघाट (काशी), अहिच्छत्र, तक्षशिला आदि स्थानों से प्राप्त पुरावशेषों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्यकालीन मृण्मूर्तिकला की पृष्ठभूमि एवं परम्परा वस्तुतः इससे पहले ही तैयार हो चुकी थी। लेकिन प्राक् मौर्यकालीन (सिन्धुघाटी सभ्यता काल के बाद की) मृण्मूर्तियां प्राय नहीं मिलती।

भारतीय मृण्मूर्तिकला की दृष्टि से मौर्यों के बाद शुंग राजाओं का राजत्वकाल (१८५-७३ ई० पू०) (विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि शुंग सम्राट कलाप्रेमी तथा उसके संरक्षक थे। फलतः शुंगकालीन कलाकृतियों में समाज एवं धर्म से प्रेरणा प्राप्त कर कलाकारों ने आन्तरिक सौन्दर्य को रूपायित करने में स्वतंत्रता से काम लिया है। यही कारण है कि इस युग की मृण्मूर्तियां पूर्वापेक्षा अधिक सजीव दीखती हैं, क्योंकि इसी काल से इनके निर्माण में साँचे का प्रयोगारम्भ हुआ माना जाता है। फलस्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा सुगढ बनी शुंगकालीन मृण्मूर्तियाँ ताम्रलिपि, पाटलिपुत्र, वैशाली, बक्सर, चेचर, कौशाम्बी, मीरा आदि जगहों से बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। बक्सर की नारी मूर्तियों के बालविन्यास (दे० बक्सर टेराकोटाज : डा० बी० पी० सिन्हा, शताब्द कौमुदी सेन्टेनरी वॉल्यूम) तथा बक्सर की प्राचीन मृण्मूर्तिकला : डा० चित्तरंजन पं० सिन्हा, परिषद पत्रिका, १६.४) तथा सिरोभूषण के अनेकानेक विलक्षण उदाहरण भारतीय मृण्मूर्तिकला के इस तृतीय विकसित चरण में विशिष्ट माने जाते हैं।

शुंगकालीन मृण्मूर्तिकला के विकसित होने तक आर्य एवं आर्येतर धारणाएं तथा कलाशैलियाँ परस्पर समन्वित होकर स्थिर हो रही थी कि कुषाणों की उत्तर-पश्चिम एशियाई अर्थात् गान्धार कला शैली के प्रवेश एवं प्रभाव ने कुषाणकालीन मृण्मूर्त्तियों में अपने अभारतीय प्रभाव के कारण एक विशिष्ट पहचान बना ली। संवेदना की उग्रता, प्रचंड यथार्थवाद, व्यक्तित्व का प्रदर्शन, वेशभूषा, पारदर्शी वस्त्रों एवं उनकी सलवटों का स्पष्ट विन्यास और अंकन, मांसपेशियों तथा अंग-प्रत्यंगों का विश्लेषण कुषाणकला की विशेषताएं मानी गयी हैं। बिहार के वैशाली, कुम्हार, बुलन्दीबाग एवं चेचर से प्राप्त कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों में उत्तर पश्चिमी वेशभूषा तथा आकृतियाँ देखी जा सकती हैं। इसी समय से बौद्ध प्रतीकों की जगह मूर्तियाँ बनने लगीं क्योंकि कनिष्क बौद्ध धर्म तथा कला का संरक्षण ही नहीं, उन्नायक भी था।

यह सच है कि कुषाणकला में भारतीय मूर्तिकला यवन अथवा ग्रीक (गान्धार) कला से प्रभावित थी लेकिन गुप्तकाल (३-५वीं सदी ई० पू०) में इसने पूर्णतया भारतीयता स्वीकार कर ली। इस काल में मूर्तियों की नग्नता लुप्त हो चुकी थी और शारीरिक आकर्षक को विन्यस्त करने के लिए वस्त्राभूषणों का विशेष प्रयोग आरम्भ हो गया था। इस प्रकार गुप्तकालीन भारत में विभिन्न कलाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। फलस्वरूप तत्युगीन सुन्दर प्रस्तर प्रतिमाओं की नकल पर प्रायः तीन सौ वर्षों तक (३००-६०० ई०) अत्यन्त सुन्दर मूर्तियां बनती रहीं (खिलौने की कहानी : डा० वासुदेव उपाध्याय), जो मुख्यतः तीन प्रकार की होती थी-देव-देवी, पुरुष-नारी एवं पशु-पक्षी। सांचे के प्रचलन के कारण इस कला की लोकप्रियता बढ़ गयी थीं तथा कला कारों का सम्मान बढ़ गया था। फलतः गुप्तकालीन कलाप्रवृत्तियों का सच्चा निर्देशन इस समय की कलाकृतियों में देखा जा सकता है जिसके उत्कृष्ट नमूने पाटलिपुत्र, वैशाली राजघाट, अहिच्छत्र, चेचर आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनमें पार्थिव सौन्दर्य से अधिक ईश्वरीय सौन्दर्य को प्रकट करने में कलाकारों को सफलता मिली है

गुप्तवंश के पतनोपरान्त केन्द्रीय राजसत्ता में सदियों तक विवाद एवं अस्थिरता कायम रही, लेकिन पूर्वी भारत (बिहार और बंगाल) में गुप्तकला और स्थानीय कला शैलियों का जो संतुलित सामंजस्य हो रहा था, शक्तिशाली पालसाम्राज्य की स्थापना के बाद इस सांस्कृतिक समन्वय धारा को बड़ा बल मिला। इस प्रकार

गुप्तकालीन मूर्तिकला की कोख से पालकालीन मृण्मूर्तिकला विकसित हुई। यही कारण है कि प्रारम्भिक पालकालीन मृण्मूर्तियों में गुप्तकालीन शालीनता और गतिशीलता देखी जाती है। चेहरे की बनावट, केश विन्यास, ओठों की रचना और उन पर अधखिली मुस्कान तथा आभूषणों के चित्रण गुप्तकालीन कला की प्रत्यक्ष सीध में है। इस प्रकार पालकालीन (८-११वीं सदी ई०) मृण्मूर्तिकला के मूल में गुप्तकालीन विशिष्टताएं निहित हैं। फलतः धर्म और जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति पहाड़पुर (बंगाल), अंतीचक (भागलपुर), चेचर वाजिदपुर (वैशाली) आदि जगहों से प्राप्त मृण्मूर्तियों में हुई है।

मृण्मूर्तिकला के प्राप्त अवशेषों के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सिन्ध से लेकर बंगाल तक के सारे प्रांतों में सिन्धु सभ्यता काल से पालकाल तक (प्रायः चार हजार वर्ष) मृण्मूर्तियां बनती रहीं। पालकाल के बाद परम्परा से विकसित इस कला के नमूने प्रायः नहीं मिलते, क्योंकि इस काल के पश्चात् देश का इस बुरी तरह विध्वंस हुआ कि उनके अवशेष भी मिट्टी में मिल गए। वैसे तो यह कला आज भी जीवित है।

वैशाली जनपद के इस सीमांत भूभाग एवं पुरावशेष बहुल क्षेत्र चेचर ग्राम संकुल की गंगा के कटावग्रस्त कगारों, बाग-बगीचों एवं खेत खलिहानों से मौर्यकाल से लेकर पालकाल तक की सुन्दर मृण्मूर्तियां बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं जो भारतीय पुरातत्व के इतिहास में विशिष्ट मानी जायेंगी। इनके अतिरिक्त भारतीय मृण्मूर्तिकला के संदर्भ में मंगलगढ़ (समस्तीपुर) जयमंगलगढ़ बेगुसराय बलिराजगढ़ (मधुबनी), बेलवा (सारण) कटरा (मुजफ्फरपुर), चिरान (सारण) आदि जगहों से प्राप्त मृण्मूर्तियों का अध्ययन-मूल्यांकन भी वांछनीय प्रतीत होता है।

———

# राष्ट्रीय आन्दोलन में राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल की भूमिका

**डॉ० परशुराम तिवारी**

मंधना कानपुर

भारत के लोगों ने अपनी आजादी के लिए कई लड़ाइयां लड़ी हैं, जिनमें मुख्य रूप से भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम जो सैनिक विद्रोह के नाम से भी जाना जाता है सन् १८५७ में हुआ था, जिसमें अपनी ही आन्तरिक कमियों के कारण हमें अपमानित होना पड़ा था। हम शनैः-शनैः अपने में आत्मवल एकत्र करने लगे और फिर हमने अपनी खोयी हुयी आजादी प्राप्त करने लिए अनेक योजनायें बनाई। बाल गंगाधर तिलक, दादा भाई नौरोजी, महामना पं० मदनमोहन मालवीय प्रभृति नेताओं ने देश को आजाद कराने के लिए अनेक योजनायें बनायीं और क्रियान्वित किया।

इस यज्ञ में गांधी जी भी अपनी आहुति देने के लिए तैयार हो गए। वे एक प्रत्यक्ष कर्मान्यासी के रूप में हमारे सामने आये। सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करना उनका कार्य था। स्वदेशी आन्दोलन एवं सत्याग्रह के द्वारा ही हम देश को आजाद करा पायेंगे ऐसा उनका विश्वास था। सशस्त्र युद्ध के द्वारा हमें आजादी नहीं मिलेगी—गांधी जी यह भली-भांति जानते थे। गांधी जी के इन विचारों को देश के बुद्धिजीवियों ने स्वीकार किया और सन् १९२१ में देश का नेतृत्व गांधी जी के हाथों में आ गया।

इस मुक्ति यज्ञ में जहां एक ओर राजनीतिज्ञों ने अपनी सशक्त भूमिका निभायी वहीं साहित्यकारों ने भी जन-जीवन को प्रेरणायें देकर अपने आलोक से उचित दिशा प्रदान की। साहित्य ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम जन-जीवन को दिशा दे सकते हैं। चाहे कोई भी मुक्ति यज्ञ हो, साहित्यकारों ने उसमें अपनी आहुतियाँ देकर उसे और भी जाज्वल्यमान किया है। पृथ्वीराज से लेकर आधुनिक भारत एवं चीन के युद्ध में जो भूमिका कवियों एवं साहित्यकारों ने अदा की है उससे हम भली-भांति परिचित हैं। इसीलिए राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' ने आज से बहुत दिन पहले कहा था—

'मुर्दा है वह देश जहां साहित्य नहीं है।
अंधकार है वहां जहां आदित्य नहीं है।।'

निस्संदेह समाज के निर्माण में साहित्यकारों की एक सफल भूमिका होती है। जिसे किसी भी प्रकार विस्मृत नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रीय आंदोलन को जिन साहित्यकारों ने गीत दिया है। उनमें से एक हैं राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल, जिनके कृतित्व को देख कर निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि गाँधी जी की नीतियों का प्रचार प्रसार करने में जितना प्रभावशाली कार्य राष्ट्रकवि ने किया है कदाचित् उतना और किसी ने किया हो। राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल ने गांधी जी की प्रशंसा में जो कविता लिखी है उसे पढ़कर यह ज्ञात होता है कि उनका गाधी के नेतृत्व में कितना अटूट विश्वास है। पं० सुन्दर लाल ने लिखा

है कि "आज महात्मा गांधी की तारीफ में कविता लिखने वालों की तादाद भी हजारों हैं लेकिन पं० माधव शुक्ल की नीचे की लाइनों से गाँधी जी में उनकी जैसी श्रद्धा जाहिर होती है, वैसी कहीं देखने को नहीं मिली"—

ऐसी अभेद्य उच्च अविचल हिये सी शक्ति।
हमने न देखी कहीं विश्व के पहाड़ में।
त्यों ही निर्भीक घोर, क्रूर कम्पकारी स्वर।
दुर्लभ सिंह गर्जन में सिंह की दहाड़ में।।
सत्यता न देखी ऐसी हरिचंद, दधीचहू में।
देशभक्ति हू न लखी जीवित मेवाड़ में।
कहाँ से बटोर विश्वशक्ति भरि दीन्हों नाथ।
'माधव' या गांधी की मूठी भर हाड़ में।

इस कविता के द्वारा गाँधी जी के आन्तरिक्त एवं वाह्य व्यक्तित्व का कितना सजीव चित्र मिलता है।

राष्ट्रकवि ने न केवल गांधी जी के चरित्र को ही मुखरित किया है अपितु उनकी नीतियों के क्रियान्वयन में भी अपनी वाणी के द्वारा सहयोग प्रदान किया है। पं० माधव शुक्ल की आजादी की तड़प कदम-कदम पर उनकी कविताओं में भरी हुयी है। सन् १९१७–१८ की होमरूल लीग के दिनों में उन्होंने निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं। जिनसे अद्भुत साहस, दृढ़ता एवं अनन्य देशानुराग प्रतिविम्बित हो रहा है, भाषा कितनी सरल एवं स्पष्ट है, देखें—

जमाना डूब जाये या चहो आकाश फट जाये।
जमीं थर्रा उठे सूरज भी घबराहट से हट जाये
गिरे बिजली भी हम पर टूट कर वा शीश कट जाये
जबां छट जाय तन का चाम बेतों से सिमट जाये।
न छोड़ेंगे न छोड़ेंगे कभी हम टेक यह अपना।
निकलती सांस तक बोलेंगे लेंगे होमरूल अपना।।

गांधी जी के सत्याग्रह में राष्ट्रकवि का अटूट विश्वास था, क्योंकि वे जानते थे कि भारत अपने आत्मिक बल पर जिंदा रह सकता है और इसीलिए सत्याग्रह एक ऐसा अस्त्र है जिसको अपनाना भारत का नैतिक कर्त्तव्य है। शारीरिक बल के समक्ष सत्याग्रह बल विजयी है। सत्याग्रह की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने सच्चे सत्याग्रही का जो चित्र खींचा है, उसका एक नमूना देखिए—

"सच्चा सत्याग्रही वहीं है जिसे क्रोध का लेश नहीं।
रक्तपात भी व्यर्थ देख आता रंचक आवेश नहीं।।
जिसके पूज्य धर्म में बदला लेना है अति पाप महान।
शत्रु भाव भी नहीं किसी में रखता सबसे भाव समान।
स्वार्थ-पूर्ण अन्यायों का वह 'माधव' एक दमन कर्तार।
सत्याग्रह ही एकमात्र है सबल बंधुओं का हथियार।

वास्तव में सत्याग्रह निर्बलों का हथियार नहीं है, वह तो सबलों को ही शोभा देता है। दिनकर ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि—

'क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल है।
उसको क्या जो दन्तहीन विषहीन मात्र फणिधर है।।'

गांधी नीति में अहिंसा का महत्वपूर्ण स्थान है और असहयोग इसे बल देता है। इसीलिए राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल ने असहयोग को अमृत कह कर संबोधित किया है और राष्ट्रधर्म का प्रचारक होने के नाते उन्होंने लिखा है—

ओ भारत की भूमि कलंकित करने वालों।
ओ स्वधर्म पथ के विरुद्ध आचरने वालो।।
हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई, जैन, यहूदी।
विदित हो गयी आज तुम्हारी सब बहबूदी।।

\+ + +

असहयोग ही रक्षक है इक धर्म तुम्हारा।
इसके बिन नहि इस विपत्ति से है छुटकारा।।

कितनी सरस और साधारण भाषा में कवि ने असहयोग को भारतीय राष्ट्रीय हित में बतलाया है। शुक्ल जी का उद्देश्य सामान्य नागरिकों में गांधी नीति का सम्यक् प्रचार एवं प्रसार था। वे अरविंद दर्शन के पक्के अनुयायी थे, क्योंकि वे भारत माता को ही सर्वस्व मानते थे और इसी की पीड़ा से पीड़ित इसी के दुख से दुखी तथा इसी के सुख से पुलकित हैं। कवि देश में पैदा हुए समस्त प्राणियों का आह्वान करता है चाहे वे जिस जाति व धर्म के हों। इसीलिए कवि झांझ डफ लेकर मैदान में उतर पड़ता है और एक राष्ट्रकवि होने के उपरांत भी गायक की भूमिका अदा करता है। बताया जाता है कि जिस समय शुक्ल जी 'चरखे से स्वराज्य' शीर्षक अपना गाना गाते हुए अपने साथियों के साथ कलकत्ते की सड़कों पर निकलते थे तो वह दृश्य बड़ा सुखद होता था।

चौराहों पर भीड़ एकत्र होकर शुक्ल जी के सुमधुर कण्ठ से उच्चरित गीतों के सुनने सुनते मंत्रमुग्ध हो जाती थी। इस प्रकार उस आजादी को दीवाने ने अपनी कोई मर्यादा नहीं बनायी। उसकी केवल एक ही मर्यादा थी—"भारत की आजादी।" राष्ट्रकवि का वह गाना देखिए—

"गांधी बाबा ने भारत जगाय दिया है।
हमें चरखे का मंतर बताय दिया है।।
जब से चरखे का चलाना घर घर से छूटा।
बस उसी रोज से भारत का नसीब फूटा।।
आकर अंग्रेजों ने मनमाना खसोटा लूटा।
धर्म छूटा सभी इंसान का पौरुष छूटा।।
आखों से पट्टी हटा कर गुलामी की।
मारग पुराना दिखाय दिया है।।
गांधी बाबा ने भारत जगाय दिया है।।"

कवि का विश्वास है कि पुराने पथ पर चल कर ही भारत का कल्याण सम्भव है। यह गाना उस समय इतना प्रचलित हो गया था कि बच्चे-बच्चे की जबान पर सुनाई देता था। फलतः राष्ट्र धर्म का प्रचार करने में इस गाने ने बहुत अधिक सहायता की है। चरखे में अभूतपूर्व शक्ति है। वह हमारी आंखों की पट्टी खोल देगा, वह हमारी बेकारी दूर करेगा, हमें श्रमनिष्ठ बनायेगा, हमारे गुलामी के बंधन को तोड़ेगा आदि, आदि बातें इस चरखे में हैं।

## कवि के बलिदानी गीत

बलिदान और उपलब्धि, त्याग और शन्ति का अद्भुत समन्वय है। एक के बिना दूसरा व्यर्थ है। कवि एक ऐसे युग से गुजर रहा था जहाँ चारों ओर चीत्कार उत्पीड़न एवं अराजकता के सिवा और कुछ भी नहीं है। देश के हर कोने में विध्वंस की आग प्रज्वलित है। भूख की ज्वाला में जलते हुए व्यक्ति भी अपने स्वामी को ही सर्वस्व मानते हैं। ऐसे समय कवि प्रकृति नहीं, सूर्य, चंद्रमा पुष्प और प्रकृति के प्रत्येक अंग-उपांग में एक ज्वाला देखता है और चाहता है एक ऐसा बलिदान, जिसे प्राप्त कर मां वसुन्धरा धन्य-धन्य हो जाय।

राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल का स्तर सदैव अन्याय और उत्पीड़न के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न करने में समर्थ है। बलिदान एक ऐसा भाव है जो हमें रूढ़ियों के दैन्य तमिस्र से अलग करने में सहायता प्रदान करता है। कवि यह भलीभांति जानता है, विना बलिदान के आजादी नहीं मिलती। इसीलिए उसने प्रत्येक मंच से बलिदान के गीत गाये हैं। कवि के इन गीतों में एक ऐसा स्वर है जो मुर्दा को भी जिंदा बना देने की शक्ति रखता है। कवि अन्तिम इच्छा व्यक्त करते हुए कहता है–

मेरी जां न रहे, मेरा सर न रहे,
सामां न रहे न ये साज रहे।
फकत हिन्द मेरा आजाद रहे,
माता के सर पर ताज रहें।।

उसे कुछ न चाहिए वह भिखारी बन कर रहना, कबूल करता है और चाहता है–भारत माता की आजादी, भारत माता का सम्मान। कहीं भी कवि ने भाषा की स्वाभाविकता का हनन नहीं होने दिया है। उसमें हृदय में विद्वेष और घृणा तो है ही नहीं, वह ऐसी हिन्दी चाहता है जिसे, भारत का हर बच्चा समझ सके, बोल सके। गांधी जी की हिन्दुस्तानी से वह प्रभावित है।

'भारत–गीतांजलि', कवि की एक ऐसी अमर कृति है जो बलिपंथियों के लिए ही लिखी गयी प्रतीत होती है। चाहे कहीं से भी उठा लीजिए, सभी गीत आपको बलिदान के ही मिलेंगे। एक उदाहरण देखिए कवि सिंह गर्जना करते हुए कहता है—

चाहती है माता बलिदान,
जवानो उठो हिंद संतान।
हंसते हुए फूल से जाकर शीश झुका दो मां के पग पर
कटता है कट जाने दो सर तनिक न होना म्लान।
जवानो उठो हिंद संतान।।
+ + +
फांसी चढ़ो, जेल में जाओ, भयवश कभी न देश भुलाओ।
हथकड़ियों पर मिल कर गावो स्वतंत्रता का गान।।
जवानो उठो हिंद संतान।।

साहित्यिक दृष्टि से आज का आलोचक इस कविता को शुद्ध साहित्यिक कहने में संकोच करेगा, परन्तु तत्कालीन परिवेश को देखते हुए यह कविता, कविता के प्रत्येक गुण से संपृक्त है। कविता में एक ओजस्वी शक्ति

है। जिसे पढ़ कर हृदयगंत भाव जागृत होते हैं। साथ ही साथ कवि का दृढ़ निश्चय। उसकी उत्तेजना और भारत माता के प्रति उसका अनन्य अनुराग भी मुखरित होता हैं।

अटल स्वाभिमान जागृत करना कवि का धर्म है। स्वावलम्वन उसका कवच एवं देशाभिमान उसका अरमान है। वह किसी का सहारा नहीं चाहता। तभी तो वह कहता है—

"हम आप अपने पैरों उठा चाहते हैं,
नहीं हम तुम्हारी दुआ चाहते हैं।
खुशामद से राजी हो गरचे खुदा भी,
खुदा से भी हरदम जुदा चाहते हैं॥"

भाषा, सामाजिक एकता, धर्म और जाति गत विषमताओं को तभी दूर किया जा सकता है जव हम सभी लोग हृदय से यह जान जांय कि हम केवल इस देश के निवासी है, हमारा धर्म, हमारी जाति हमारी भाषा सब हिन्दुस्तानी है।

इन सवकी प्रेरणा हमें राष्ट्रकवि के साहित्य में सदैव मिलती रहेगी। स्वातंत्र्य भाव जन-जन में भग्ने के लिए कवि ने केवल कविता का ही सहारा नहीं लिया अपितु नाट्य मंच पर अभिनय करें राष्ट्रीय एवं सामाजिक नाटकों का प्रणयन कर और देश के कोने कोने में नाट्य संस्थान खोल कर भी आपने राष्ट्रीय भावना का उद्घोष किया। राष्ट्रधर्म के प्रचार में सदैव संलग्न होकर भारत माता की सेवा करने का जो पुण्य शुक्ल जी ने प्राप्त किया है उसी का सुफल है जो हम आज स्वतंत्र देश के निवासी कहलाने का गौरव प्राप्त कर रहे हैं। तत्कालीन पत्र पत्रिकायें 'मर्यादा', 'हिन्दी-प्रदीप', 'मारवाणी-सुधार', 'प्रताप', आदि आज भी आपके प्रेरणास्पद गीतों को अपनी संचिकाओं में सुरक्षित रख कर गौरवान्वित हैं।

पं० जवाहर लाल नेहरू के निम्न वाक्यों से राष्ट्र-कवि पं० माधव शुक्ल के महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है और राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी कैसी भूमिका है, इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

"राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल और उनकी कविताओं के वारे में भला क्या लिखूं। कवि और उनकी कविता को मुल्क जानता है। मुल्क की आजादी की कोशिशों में दोनों ने बड़ा हिस्सा लिया है। एक अरसा हो गया जव शुक्ल जी की कवितायें पहले पहल मुल्क के लोगों के सामने आयीं थीं। मुझे तो आज भी उम्मीद है कि इन कविताओं में मुल्क के लिए ताकत है। हमारे देश के लोग इन्हें अपने दिलों में जगह देंगे।"

# राष्ट्रीय उन्नयन में भाषा की भूमिका

—डा० धर्मध्वज त्रिपाठी

—फीरोज गाँधी कालेज, रायबरेली ( उ० प्र० )

'भाषा' का अभिप्राय है—कथन अथवा भाव—प्रकाशन। भाषा अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम हैं। मानव-मन में या हृदय में जो विचार या भाव जाग्रत होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति का एक मात्र सरल साधन भाषा ही है। भाषा की सरलता, स्पष्टता और क्रमवद्धता ही कथन को प्रभावशाली और बोधगम्य वनाती हैं। भाषा के अभाव में जीवन की कल्पना व्यर्थ ही है क्योंकि मूकता अभिशाप का प्रतीक है। भाषा जीवन को मधुरता और गति प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करती है।

भाषा का समाज निर्माण में अविस्मरणीय योगदान है। मानव सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही वह भाषा—ज्ञान प्राप्त करता है भाषा—स्वरूप का क्रमिक परिचय प्राप्त करके उसकी समग्र स्थितियों पर विचार कर उसको परिमार्जित एवं परिष्कृत करने का कार्य भी वही करता है। ऐसा करके वह भाषा के माध्यम से एक समाज से दूसरे समाज के संबन्धों को और पुष्ट करता है। भाषा की यही पुष्टता सामाजिक धरातल से उठकर क्रमशः राष्ट्रीय क्षितिज तक विस्तृत होती है। यही नहीं आन्तरिक सीमाओं को संस्पर्श करने का कार्य भी भाषा करती है।

विश्व में अनेक भाषायें प्रचलित हैं। इन भाषाओं का अपना—अपना महत्व है। प्रत्येक भाषा अपनी संस्कृति सभ्यता और जातीय गरिमा को अपने में समेटे हुए हैं। भाषा की समृद्धता ही जाति और राष्ट्र के गौरव की प्राचीनता का पता बताती है। भाषा में परूषता और कोमलता के जो तत्व मिलते हैं वे उसकी भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार भाषा में समाज, इतिहास, भूगोल आदि सभी समाहित हैं।

भारत एक विशाल राष्ट्र है। भाषा की दृष्टि से बड़ी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, तथापि सभी एकता के सूत्र में आवद्ध है। वैसे भाषायी-आधार पर भारतीय-प्रदेशों का जो पुनर्गठन किया गया था, उसमें एक मनोवैज्ञानिकता का भाव निहित था। प्रदेश स्तर पर मुख्य रूप से वहाँ की भाषा का प्रयोग आवश्यक समझा गया और राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी—भाषा। हिन्दी को राजभाषा का स्थान प्रदान किया गया। इस विषय पर अनेक गोष्ठियाँ और सम्मेलन आहूत किए गए, किन्तु अंग्रेजी—मोह ने हिन्दी-भाषा को वह स्थान अब तक नहीं दिलाया जो उसे प्राप्त होना चाहिए। समय-समय पर 'विरोध के स्वर' जो गूंजे, सरकार के समक्ष जो संकट उत्पन्न हुए उनमें कोई गम्भीर तथ्य नहीं थे। वह तो मात्र विरोध ही रहा है अन्यथा हिन्दी का प्रयोग शनैः—शनैः देश के लगभग सभी भागों में हो रहा हैं और एक-दूसरे प्रदेश के निवासी सेवा आदि कार्यों से वहाँ रह भी रहे हैं। राजनीतिक—अस्त्र ने भी कभी—कभी इस भाषायी-विरोध को नया स्वर प्रदान किया है जबकि ऐसा करना नितान्त घातक है।

भाषा जीवन पद्धति की संवाहिका है। यदि भाषा—

गत विरोध के स्वर मुखरित होने प्रारम्भ होंगे तो एक जटिल समस्या सभी के समक्ष आ खड़ी होगी जिसका निदान इतनी आसानी से संभव नहीं होगा। भाषा में व्यक्ति और समाज का जीवन-दर्शन निहित होता है। यह जीवन-दर्शन हमारी एक अमूल्य धरोहर के रूप में सुरक्षित रहती है। यदि हम इसे छिन्न-भिन्न करके अपनी प्रगति की आशा करते हैं तो यह मात्र दिवा-स्वप्न है। हमारा यह सम्मिलित प्रयास होना चाहिए कि हम भाषा-गरिमा को बनाये रखने में निरन्तर योग दें जिससे राष्ट्रीय गौरव में भी अभिवृद्धि हो।

राष्ट्रीय-विकास में भाषा की अहं भूमिका होती है। भाषा में यदि संकीर्णता अथवा सीमावद्धता की दृष्टि समाहित हो जाती है तो वह भाषा और वह राष्ट्र एकता के स्तर पर बिखर जाता है। भाषा में उदारता और व्यापकता की दृष्टि इसीलिए आवश्यक है। फिर ऐसे देश की भाषा जहां अनेक भाषायें और जीवन के विविध पारम्परिक दृष्टिकोण हों, उसमें सामंजस्य की भावना होना नितान्त आवश्यक है। हिन्दी भाषा में यह औदार्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अंग्रेजी, अरबी-फारसी, उर्दू और अन्य प्रान्तीव भाषाओं के शब्दों को हिन्दी ने आत्मसात् करके उसे अपना स्वरूप प्रदान किया है। भले ही इस प्रकरण पर टीका-टिप्पणी हो, किन्तु भाषा का यह लचीलापन उसकी एक अन्यतम विशेषता है। यह उसकी प्रवृत्ति और राष्ट्रीय उन्नयन के सोच का एक प्रमुख पक्ष है। हिन्दी इस कार्य को कौशल के साथ पूर्ण कर रही है—इसमें कोई संदेह नहीं हैं।

किसी भी समुदाय, जाति और राष्ट्र के अतीत का परिचय भाषा ही प्रदान करती है। भाषा एक ऐसी मञ्जूषा है जिसमें मानव-जीवन की कार्य पद्धति सुरक्षित रहती हैं। मानव ने जब से ध्वनि उच्चरित की तब से आजतक भाषा में जो निरन्तर विकास हुआ है— वह सभी इसी मञ्जूषा में सुरक्षित है। भारत कृषि प्रधान देश है। वैसे कृषि और कृषि से संबन्धित कार्य ही यहां के निवासियों की आजीविका का स्त्रोत रहे हैं इसीलिए भारतीय भाषाओं में कृषि और कृषि-व्यापार से संबंधित शब्द अधिकाधिक प्राप्त होते हैं। यह इस बात का प्रभाव है कि भारतीय जन-जीवन में कृषि सम्पदा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके विपरीत नार्वे जैसे समुद्र तटीय देशों में वहाँ की भाषा में मत्स्य-समुद्र और आखेट जैसे शब्दों का प्राचार्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय-जीवन की झलक भाषा में निम्न-प्रतिविम्ब रूप में अवश्य दृष्टिगोचर होती है।

भारत जैसे विशाल देश में अपने गौरव-प्रवाह से इस धरती को रससिक्त करती रहीं हैं—उनमें एक अपूर्व सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से लेकर वर्तमान स्थितियों तक भाषा की एक अविस्मरणीय भूमिका रही है। भारतीय भाषा की ही यह विशेषता रही है कि भगवान तथागत गौतम के उपदेश विश्व के उन देशों में गूंजे जो विश्व के महानतम देश माने जाते हैं। उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा का भी विकास और प्रसार हुआ कि यह कहा जाने लगा कि 'सूर्योदय अंग्रेजी भाषा की ही धरती पर होता है'। भाषा की यह लोकप्रियता और उसका यह प्रसार उसकी सरलता उसकी उदारता और उसके अर्थ-गौरव पर ही आधारित है। जब कभी कोई आक्रामक किसी राष्ट्र पर आक्रमण करता था और उस राष्ट्र को निरन्तर दासता की श्रृंखलाओं में जकड़ने के लिए वहाँ 'अपनी भाषा' को वह प्राथमिकता और सख्ती के साथ लागू करता था। इसका दूरणामी प्रभाव यह होता था शनैः शनैः उस राष्ट्र की संस्कृति, रीति-रिवाज और जीवन-पद्धति में परिवर्तन उत्पन्न होता था। यह परिवर्तन उसी के पक्ष में होता था जिसका लाभ उसे अनवरत प्राप्त होता था। भारत में अरबी-फारसी-उर्दू और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग इसका अकाट्य प्रमाण है। जब इस प्रकार की भाषा का प्रयोग जन-सामान्य में प्रारम्भ हो जाता है तो फिर इसे शीघ्र दूर करना कठिन हो जाता है। यदि इसे दूर करने का प्रयास किया भी जाता है तो संघर्ष की स्थितियाँ स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। इसका एक मात्र उपाय यही होता है कि उस भाषा के प्रचलित शब्दों को स्वीकार करके लोक स्वीकृति के अनुसार उनका व्यवहार किया जाना चाहिए। हिन्दी भाषा ने यहीं कार्य करके अपनी उदारता का परिचय तो दिया ही है साथ ही अपने शब्द-भण्डार में अपूर्व

श्री वृद्धि भी की है। यह इसकी सरलता, लोकप्रियता और वैज्ञानिकता का अकाट्य उदाहरण है।

'निज-भाषा उन्नति अहै'— वाक्यांश में व्यक्ति के जीवन का गौरव निहित है। इस गौरव में मात्र व्यक्ति अथवा समुदाय ही नहीं वरन् समग्र राष्ट्र है। राष्ट्रीय-गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हम सबका यह सामूहिक कर्तव्य है कि हम भाषा-गत विरोध का समर्थन न करें अथवा इस प्रकार के स्वरों में स्वर न मिलायें जिससे पारस्परिक सौहार्द्र अपनत्व और सद्भाव विखण्डित हो। भाषा ही एक मात्र ऐसा सशक्त सूत्र है जो मानव-हृदय को एक-दूसरे से बांधे रखता है। भाषायी-विरोध से सबसे बड़ी आशंका इस बात की है कि कहीं हम अपनी संस्कृति और जीवन मूल्यों को न खो दें जो हमारी अमूल्य सम्पत्ति है। राष्ट्रीय-उन्नयन में भाषा-स्तर पर हमको एक स्वर में बात करनी आवश्यक है उससे सभी का कल्याण संभव है। भाषा एक सागर है जिसमें अनेक वर्ण, लिपियां, अर्थ आदि उसी प्रका॰ तरंगायित होते हैं जैसे लहरें। आज तक जल से लहर को कोई अलग कर सका है? ●

# अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः

**डा० शिवबालक द्विवेदी**

डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

जगति कवीनां महिमा महीयान्। कवयस्तावत् क्रान्तदर्शिनः। क्रान्तदर्शित्वाद् विविधविद्याविशारदत्वाच्च ईशोपनिषदि कविस्तावद् ईश्वररूपेण उपन्यस्तो वर्तते— 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'। मुण्डकोपनिषदि कवीनां विषयेएवं लिखितमस्ति—

तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्।
तानि बहुधा सन्ततानि॥ (मुण्डक ०१/२/१)

एवं कवयः सत्यदर्शिनः तत्त्वार्थविदश्च सन्ति। 'ऋषयो मन्त्रदृष्टारः' अत्र ऋषयः कवय. इत्युच्यन्ते। एवं कवयः ऋषिभिर्न भिन्ना। यत्र खलु दिव्यं सत्यं प्रतिभाजन्यं च संलक्ष्यते तत्रैव कवित्वं वर्तते। कवीनां ललितललितानि सत्यशिवसुन्दरकलाकलितानि पीयूषतुल्यमधुरमधुराणि वचनानि समेषामेव चेतांसि प्रीणयन्ति, सज्ज्ञानमुपदिशन्ति, पापमपाकुर्वन्ति, दिक्षु कीर्तिं च तन्वन्ति। एवं कवीनां सूक्तिसुधारसं निपीय जगति को न मोदते, कस्य हृदयं परमानन्दं न विन्दति? अत्र भट्टतोतेन कविस्वरूपमेवं प्रस्तुतम्—यत् तत्त्वदृष्टारः ऋषयः। ऋषिरेव खलु कविपदमलङ्करोति। यः तत्त्वदर्शने समर्थः, अलौकिकप्रतिभोपेतः, सहृदयानन्दवर्धनपरः सः एव कविः। कवते कौति वा कविः—कुङ् शब्दे कु शब्दे वा धातोः 'अच इः इति इः। अयम्भावः यः विशेषं कथयति वर्णयति, कमपि विषयं शब्दैः संगुम्फति सः कवि। वर्णनहृद्यया कारुण्यभावोपेतया वाण्या महर्षिवाल्मीकिः आदिकविपदं व्यभूषयत्। उच्यते भट्टतोतेन—

''नानृषिः कविरित्युक्तम् ऋषिश्च किलदर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु प्रथितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्जना॥''

जगति कविकर्म क्लिष्टतमं वरीवर्ति। कविकर्म केवलं वस्तुवर्णनपरमेव न। तत्र कविः मनोरममार्गेण सत्यं शिवं सुन्दरं च खलु संयोजयति। कथयति वेदव्यास :—

''शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते॥''

विविधविद्याविशारदाः दिव्यप्रतिभासंद्योतितान्तःकरणाः तत्वज्ञाः एव कवयः काव्यं निर्मातुं प्रभवन्ति, यतो हि कवयः मानवमात्रस्य, समाजस्य, राष्ट्रस्य, सभ्यतायाः संस्कृतेश्च पथप्रदर्शका.; शिक्षकाः, आचार्याः, नीतितत्त्वोपदेष्टारश्च सन्ति। तथ्यमेवोक्तमस्ति—

''इदमेव तत्कवित्वं यद् वाचः सर्वतोदिक्काः।''

आचार्यो भामहोऽपि विषयेऽस्मिन्नेवमुल्लिखति-यत् सर्वाः विद्याः सर्वाः कलाः काव्याङ्गभूताः एवं सर्वाणि ज्ञानानि काव्याङ्गभूतानि एव। अतएव कविकर्म सर्वथासाधारणं वर्तते—

''न स शब्दो न तद् वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गम्, अहो भारो महान् कवेः॥''

नाट्यं प्रशंसन् भरतमुनिरपि एवमुल्लिलेख—

"न तच्छिल्पं न तच्छास्त्रं न सा विद्या न सा कला ।
न सा योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।"

शेली ( Shalley ) महाभागाः कविकर्म समभिनन्दन्ति—

"Poets are not only authors of language and music but they are the institutors of laws and founders of civil society and inventors of the art of life and the teachers who draw into a certain propinquity with the beautiful and the true."

## अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः—

मन्ये काव्यमेव खलु जगत् । अस्मिन् काव्यजगति कविरेव प्रजापतिः वर्तते । यथा प्रजापतिः स्वेच्छया जगतो निर्माणं करोति, तस्मिन् निर्माणे स सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः । एवमेव काव्यजगति कविरपि सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः, स स्वेच्छया यथा तस्मै रोचते तथैव वस्तुतत्त्वं प्रस्तौति । यथाह वेदव्यासोऽग्निपुराणे—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापति. ।
यथा वै रोचते विश्वं तथैतत् परिवर्तते ।।"
( अग्निपुराणम् )

अस्यैव भावमादाय आनन्दवर्धनः स्वकीये ध्वन्यालोके लिखति यत् काव्ये कविः स्वतन्त्रः स स्वेच्छया यद् वस्तु यथा निधित्सति, तथैव निदधाति । तं कोऽपि वारयितुं न प्रभवति । यदि कविः श्रृङ्गारी तदा सः सर्वं वर्णनं रसमयं कुरुते, नीरसश्चेत्कविः तदा वर्ण्यमपि नीरस भवति । स चेतनम् अचेतनवद् अचेतनं च चेतनवद् वर्णयितुं प्रभवति । यथाह ध्वन्यालोके—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।
श्रृंङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ।।
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ।।"

कवीनां स्वातन्त्र्य संवीक्ष्यैव निरंकुशाः वै कवयः इति कथ्यते । कविरेव मानवं देवम्, देव च दानवं खलु कर्तुं क्षमते । आदिकविवाल्मीकेः प्रभावेण श्रीरामचन्द्रो जगति निर्मलं यशो लेभे, लङ्केश्वरो रावणश्च अपकीर्तिम् अवाप । अतः कवयः कदाचिदपि न कोपनीयाः । यथोक्तं विल्हणेन—

"लङ्कापतेः संकुचितं यशो यद्
यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो
न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ।।"

मम्मटाचार्यस्तु विधातुः सृष्टेरपि कविसृष्टिं प्रशस्यतरं प्रतिपादयति । तस्य कथनमस्ति कवेः भारती प्रकृतिकृतनियमरहिता, आनन्दस्वरूपा, स्वतन्त्रा, नवरसरम्याः चास्ति न तथा विधातुः निर्मितिः—

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।"
( काव्यप्रकाशः १/१ )

## कवेः भारती जयति—

कवेः भारती विधातुरपि सृष्टेः ज्यायसी । यतोहि एषा जगतोऽज्ञानान्धकारम् अपहाय ज्ञानज्योतिः विकिरति । चेतः प्रसादयति, शोकानलं शमयति, सन्मार्गं मधुरया भाषया उपदिशति, पापम् अपाकरोति, जाड्यं जहाति च । परन्तु एषा कवेः भारती (कविता) सहृदयमेव वृणुते, शुष्कहृदयं जनं न खलु सेवते । यथोक्तम्—

"नैव व्याकरणज्ञमेति पितरं न भ्रातरं तार्किकम्,
दूरात्सङ्कुचितेव गच्छति पुनश्चाण्डालवच्छान्दसम् ।
मीमांसानिपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा
काव्यालङ्करणज्ञमेत्य कविताकान्ता वृणीते स्वयम् ।।"

कवित्वं प्रशंसन्नाह वेदव्यास :—

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।।"
( अग्निपुराणम् ३३७/४ )

अत एव साहित्यस्य महत्त्वम् अनुपमेयम् । महात्मा भर्तृहरिः भणति यत् साहित्यसंगीतकलाविहीनो जनः साक्षात् पशुरेव—

"साहित्यसगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्
तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ।।"

सत्काव्यं प्रशंसन्नाह कश्चिद् बुधः—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥"

एवमेव सत्कविं प्रशंसन्नाह कश्चिद् विपश्चिद्—

"महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां
नामापि जानाति न कोऽपि येषाम् ॥"

सत्यमेव कथितमस्ति—

"अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः।
चर्वणे सर्वसामान्ये स्वादुवित्केवलं कविः ॥"

परन्तु कवीनां भारत्या सहृदया जना एव आनन्दं लभन्ते। निर्वासनास्तु तया मनागपि रसं नाप्नुवन्ति। यथोक्तम्—

"सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥"

अतएव रसास्वादनविमुखैः निर्वासनैः सम्पीडितः कश्चित्कविः विधातुः समीपं गत्वा एवं कौति—

"इतरपापफलानि यथेच्छया
वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥"

एवम् एतत् कथनं सर्वथा सत्यमेवास्ति—'अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः।

# स्वस्थ रहने का आधार—सात्त्विक आहार

**ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द सरस्वती**

संस्थापक अध्यक्ष भारत भक्त समाज.

आयुः सत्त्ववलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारः सात्विक प्रियाः ।।

श्री मद्‌भगवत् गीता में भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी कहते हैं जो आहार स्वादु स्निग्ध (घृतमय), स्थिर गुणप्रद और हृद्य (मनोहर)— इन सब विशेषताओं से युक्त हो तथा जिसके सेवन से आयु, सात्विक बुद्धि, शरीर बल इन्द्रियवल आरोग्य, शरीर सुख और (मन इन्द्रियों की प्रसन्नता)—इन सब की विशेष वृद्धि हो ऐसा आहार सात्विक वृत्ति वाले मनुष्य को रुचि कर होता है अर्थात् ऐसे गुणयुक्त आहार को सात्विक कहते हैं ।

श्री मद्‌भगवत गीता का यह बचन साधकों को व्यावहारिक मर्या।ा के पालन के साथ पारमार्थिक कल्याण की प्राप्ति कराने के लिए है, अतः इस मन्त्र का तात्पर्य भी उसके अनुरूप होना चाहिए । केवल जिह्वा स्वाद या इन्द्रिय, मन की तृप्ति या शारीरिक सुख के निमित्त सात्विक आहार नहीं है । हमारे आहार से आयु वृद्धि, आरोग्य रक्षा, मानसिक शान्ति, सात्विक वृत्ति, सदाचार पालन में प्रीति आदि परिणाम की प्राप्ति हो तभी उस आहार को सात्विक कह सकेंगे ।

देह सत्व, रज, और तम—तीनो गुणों से युक्त है अथवा आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त, कफ—त्रिधातु-मय है । भगवान धन्वन्तरि जी कहते हैं कि जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को चन्द्र, सूर्य और वायु त्याग, ग्रहण और संचलन रूप क्रिया द्वारा धारण कर रहे हैं । उसी तरह सब प्राणियों की देह कफ, पित्त और वात धारण करते हैं संक्षेप में कफ धातु से पोषण, पित्त से पाचन और वात धातु से विद्युत शक्ति की प्राप्ति होती है । अतः मनोरम और स्वास्थ्य रक्षक आहार का मिर्माण करने के लिए प्रकृति, देश, काल, स्वभाव और आर्थिक स्थिति आदि के भेद से आहार में कुछ भेद करना पडता है तथा सत्त्व-गुण रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों और कफ, पित्त, वात—तीनों धातुओं की समता का रक्षण करना पड़ता है अन्यथा देह स्वस्थ नहीं रह सकता और भगवत्‌वचना-नुसार ऐसे आहार को सात्त्विक नहीं कहा जा सकता ।

योगाभ्यासी और भक्त जनों को नाड़ियों को मुला-यम रखने के लिए और वासनाओं के दमनार्थ सत्त्वगुणी आहार की आवश्यकता है रजोगुणी आहार न मिलाया जाय तो अच्छा । फिर भी दुराग्रह नहीं करना चाहिए। यकृत्‌पित्तस्राव या आमाशय रसस्राव यथायोग्य न होता तो उतने अंश में मिर्च लवणादि की आवश्यकता रहती है । अदरख के टुकड़े पर नीबू का रस निचोड़ कर सेंधा नमक मिला देने से मुंह में लारस्राव अधिक होता है । मिर्च, लौंग, सोंठ अजवाइन मेथी आदि उष्ण द्रव्यों के योग से यकृत्‌पित्त का स्राव अधिक होता है पाचन क्रिया मन्द होने पर भी मसालों का यथायोग उपयोग नहीं किया जायेगा तो कुछ वर्षो तक तो निभ जायेगा किन्तु कभी रोगोत्पादक कीटाणुओं का आक्रमण होगा तब रक्षा नहीं हो सकेगी । धीरे-धीरे पाचन क्रिया अत्यन्त

मन्द हो जायेगी। फिर अन्त में योग्य पाचन नहीं होगा। शरीर-वल अत्यन्त क्षीण हो जाएगा और स्वास्थ्य भी पतन हो जाएगा।

स्वस्थ का मनुष्य किसे कहना चाहिए—इस सम्बन्ध में भगवान धन्वतरिजी ने कहा है कि 'जिसके देह में वात पित्त, कफ-तीनों दोष (Temperaments) अग्नि, रस रक्तादि सप्त धातु और धातुओं की मल क्रिया-ये सब सम हैं तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वह स्वस्थ कहलाता है।

शास्त्र के ध्येयानुसार देह में रोग की प्रतीत न होने से ही पूर्ण स्वास्थ्य नही माना जाता। बहुतों के शरीर में रोग न रहने पर भी वल, विचारशक्ति और कर्तृत्व शक्ति में न्यूनता, विषय सेवन की अति लालसा तथा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, क्रूरता, सठता, शोक, निराशा आदि दुष्ट संस्कारों की प्रवलता दृष्टिगोचर होती है उनकी बुद्धि, मन और इन्द्रियों में प्रसन्नता नहीं रह सकती। अतः आयुर्वेद के मतानुसार उसको अस्वस्थ ही कहना पड़ेगा। पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति में न तो दुष्ट संस्कारादि रहते हैं और न प्रसन्नता-प्रसाद में ही त्रुटि रहती है। जब तक ऐसे पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होती तव तक दुःख का अभाव और सच्चे सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

यदि उपर्युक्त स्वास्थ्य को सम्भालने की दृष्टि नहीं रखी जाएगी केवल 'रस्या स्निग्धाः' आदि गुण युक्त आहार को ही सात्त्विक मानकर नियमित ग्रहण किया जायगा तो देह में रोग उत्पन्न हो जायेंगें, देह बल का ह्रास हो जायगा, मन चिन्तातुर रहने लगेगा, आयु कम हो जाएगी, भावी जीवन दुःख रूप बन जाएगा या अकाल मृत्यु की प्राप्ति हो जायगी, इसके अतिरिक्त भावी संतान या वंशज रोगी और निर्वल जन्मेंगे। इन सव दोषों से बचने के लिए स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले सात्त्विक आहार का सेवन करना चाहिए।

बाल्यावस्था में जीवनी शक्ति (Vitality) को स्वास्थ्य रक्षा के अतिरिक्त देह के प्रत्येक अङ्ग उपाङ्ग की भी उन्नति करनी पड़ती है इसके लिए वातवाहिनियाँ (Nerves) रक्तवाहिनी (Blood vessel), माँस पेसियाँ (Muscles) माँस पेसियों की वन्धनियाँ और अस्थि आदि को मृत्यु और स्थिति स्थापक गुणों से युक्त रखना पड़ता है। अतः वाल्यावस्था में या ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वालों को मिर्च आदि रजोगुणी भोजन तथा लहसुन आदि तमोगुणी कामोत्तेजक भोजन का ग्रहण बिल्कुल नहीं करना चाहिए अन्यथा मृदु और स्थितिस्थापकः गुण का ह्रास या नास हो जायेगा। परिणाम में जीवन पूर्ण आयु काल तक नहीं निभ सकेगा।

युवावस्था में देहोन्नति भार का वहन जीवनी शक्ति शनैः शनैः कम कर देती है। उस समय वात वाहिनी आदि में मृदु और स्थितिस्थापक गुण स्वाभाविक कम होता जाता है और शनैः शनैः कठोरता बढ़ती जाती है जिससे स्वास्थ्य रक्षा में भी वाल्यावस्था की अपेक्षा अधिक परिश्रम पड़ता है। फिर इस हेतु से जिनके यकृत् आदि पाचन ययवय निर्वल हों, उनको भोजन के सम्यक् पाचनकारी रसादि धातुओं का योग्य निर्माण कराने और अन्तर्गत कीटाणु और आम को जलाने के लिए यकृत् पित्तस्रावी द्रव्य मिर्च आदि मसालों की न्यूनाधिक अंश में आवश्यकता रहती है। यदि उनको सर्वथा मसालारहित भोजन दिया जायगा, तो उनका स्वास्थ्य दीर्घकाल पर्यन्त नहीं टिक सकेगा।

वृद्धावस्था में जीवनी शक्ति का क्षय होता जाता है। वात, पित्त, कफ तीनों दोष निर्वल बनते जाते हैं रोग-निरोधक शक्ति (Immunity) यथायोग्य कार्य नहीं कर पाती इन हेतुओं से कफ प्रकोप, कास श्वांस, मांस-शोष, अग्निमान्ध, बहुमूत्र, वात प्रकोप निद्रानाश और स्मरण शक्ति का ह्रास आदि विकास उत्पन्न हो जाते हैं। इन रोगों की उत्पत्ति को रोकने, उत्पन्न रोगों को दूर करने और सात्त्विक वृत्ति का संरक्षण करने के लिए जो आहार पथ्य और सात्त्विक हो, उसी को विवेक पूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

हम लोग जो आहार ग्रहण करते हैं, उससे शरीर, मन, प्राण, और वाणी पर असर होता है। इन्हें पोषण मिलता है अथवा इनका शोषण होता है। भोज्य पदार्थ पचाकर रूपान्तरित करने के लिए मुख में स्थित लालस्राव

करने वाली ग्रन्थियों, आमाशय, यकृत्, अग्न्याशय ( Pancreas ) और अन्त्रस्थ अनेक ग्रन्थियों में से स्राव निकलता है। वह अच्छी तरह आहार में मिल जाने के पश्चात् आहार का सत्त्वशोषण होने लगता है और मल भाग को आगे ढकेल दिया जाता है। फिर शोषित रस को धात्वग्नि शुद्ध करती है उसमें से रस रक्तादि धातुएं निर्मित होती है यदि इन रसों का स्राव यथायोग्य न हो। अति भोजन हो या प्रकृति के प्रतिकूल भोजन हुआ हो तो रसशोषण या धात्वग्नि से पाचन क्रिया ठीक नहीं होती और परिणाम में स्वास्थ्य का पतन हो जाता है।

स्वास्थ्य की रक्षा और रोग निवारण के लिए आयु प्रकृनि और ऋतु आदि के भेद से भिन्न-भिन्न रसों के सेवन की आवश्यकता रहती है। इस संबंध में आयुर्वेद ने विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। उसमें से यहाँ संक्षिप्त विचार दिया गया है किस रस में कौन सा मूर्त द्रव्य प्रधान है और वह किस धातु का शमन या वर्द्धन करता है इतना जान लेने पर भी साधकों को सहायता मिल जाती है।

(१) मधुर–पृथ्वी जल प्रधान, वात पित्त सामक, कफ वर्धक शीतल साधकों के लिए मुख्य।

(२) अम्ल–पृथ्वी अग्नि प्रधान, पित्तकफवर्धक, वात हर उष्ण साधकों के लिए गौण।

(३) लवण–जल अग्नि प्रधान, कफ पित्त वर्धक, वात हर उष्ण साधकों के लिए गौण।

(४) तिक्त-(कड़वा) वायु आकाश प्रधान, कफ पित्त नाशक, वातवर्धक, शीतल आवश्यकता पर सेवन योग्य।

(५) कषाय–वायु पृथ्वी प्रधान, कफ पित्तहर, वात-वर्द्धक, शीतल आवश्यकता पर सेवन योग्य।

(६) कटु (चटपटा)–वायु अग्नि प्रधान, बात पित्त वर्धक, कफ हर उष्ण साधकों के लिए गौण।

उक्त द्रव्य और गुणों का कथन सामान्य रूप से है। कहीं-कहीं उक्त नियम का भंग भी हुआ है। जैसे हरीतकी कषायरस युक्त होने पर भी वात वृद्धि नहीं करती। कुचिला तिक्त होने पर भी पित्त नाशक नहीं है इसका विशेष विचार आयुर्वेद ने विपाक, वीर्य और प्रभाव विवेचन में किया है।

छान्दोग्य श्रुति ने कहा है कि जो अन्न खाया जाता है उसका स्थूल अंश मल और मध्यम अंश मांस बनता हैं तथा उसके सूक्ष्म अंश से मन को पोषण मिलता है। जो जल पिया जाता है उसका स्थूल अंश मूत्र और मध्यम अंश रक्त भाव को प्राप्त होता है। तथा उसके सूक्ष्म अंश से प्राण को पोषण मिलता है। तेज रूप्र घृत, तैल आदि स्थूल अंश अस्थि रूप में और मध्यम अंश मज्जा रूप में परिवर्तित होता है। तथा सूक्ष्म अंश वाणी को पुष्ट करता है संक्षेप में मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजोमय है।

सामान्यतः दूध, दही, मक्खन, घी, मिठाई आदि सात्त्विक भोजन माने जाते हैं। परन्तु ये सबके लिए समान उपकारक नहीं हो सकते। आयु, प्रकृति, प्रति दिन का अभ्यास, रोग, मानस प्रकृति, देश, काल, अनियमित समय, और संयोग विपर्ययादि कारणों से सात्विक द्रव्य भी असात्विक बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त नूतन अन्न, वासी भोजन, सड़ा हुआ भोजन, दूषित पात्र में रखा हुआ भोजन, अपवित्र या जूठा भोजन, दुष्ट संस्कार प्रेरित भोजन, दुष्ट धन से या दुष्ट जन से प्राप्त भोजन– इन सबसे सात्विक संस्कार की प्राप्ति नहीं हो सकती।

दूध–यह आयुर्वेद की दृष्टि से मृत्युलोक का अमृत है। यह लघु सब प्रकार जीवन सत्त्वों से युक्त स्वादु, विपाक में मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, सप्त धातुओं का पोषक, बुद्धिबर्द्धक, हृद्य, कान्तिवर्धक आयुवर्धक आदि गुणों से युक्त है। वात विकार, पित्त विकार, विष प्रकोप, वातरक्त, दाह रक्त पित्त, जीर्ण, मंद अतिसार, चक्कर आना, मद, हृद रोग हृदय विकारज, श्वासावरोध, वृद्धावस्था में खांस प्रकोप, मानसिक व्यथा, जीर्ण ज्वर, तृषारोग, उदररोग, अपस्मार, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, पाण्डु, शूल, क्षय-रोग, धातुक्षय, अतिश्रम, विषमाग्नि गर्भपात, योनिरोग, नेत्ररोग और वातरोगादि में हितकारी है। फिर भी वह सब प्रकृतियों के लिए सर्वभाव से उपकारक नहीं है। यदि उक्त रोगों के साथ अपच, प्रवाहिका, नूतन अतिसार, रक्तार्श आम प्रकोप के साथ नूतन ज्वर आमाशय की

शिथिलता, अम्लपित्त, उदरकृमि और ताम्र विषादि रोगों में से कोई हो तो दूध अनुकूल नहीं रहता। दूध सेवन करने पर रोग बढ़ता है और बल घटता है अग्नि मान्ध वालों को कच्चा दूध अनुकूल नहीं रहता और बहुत उबालकर गाढ़ा किया हुआ दूध भारी तथा सत्वहीन हो जाने से पचता नहीं। बहुत गरम-गरम दूध जिसमें उंगली डालने पर जलती हो, वह तो किसी के लिए भी हितकर नहीं है। उससे आमाशय नालिका, आमाशय, लघुअन्त्र और बृहदन्त्र इन सब की श्लैष्मिक कला (Mucous membrane) जलती है परिणाम में अग्निमान्ध, उदावर्त (आमाशय में गैस उठना), विष्टब्धाजीर्ण, मलावरोध, दाह, मष्टिष्क में उष्णता रक्त चाप वृद्धि, वात-नाड़ी-क्रिया विकृति, हृत्स्पन्दवर्द्धन, अति स्वेदस्राव और बुद्धिमान्द्यादि रोगों की उत्पत्ति होती है। तांबे या पीतल के कलई रहित पात्र में दूध उबालने पर उसमें नीला थोथा मिल जाने से दूध सदोष बन जाता है। मिट्टी के बर्तन में उबालने पर जो अंश नीचे लग जाता है, वह जलकर दूध में दुर्गन्ध उत्पन्न करता है, मिट्टी का पात्र पुराना होने पर मिट्टी में लीन दृव्य दूध में सम्मिलत होकर दूध को दूषित कर देते हैं। दूध को लौह पात्र में निर्धूम अग्नि पर तपाया जाय और एक या दो उफान आने पर उतार लिया जाय फिर गुनगुना रहने पर अधिकारी जनों को पिलाया जाय तो दूध का सच्चा लाभ मिल सकेगा। उसे स्वास्थ्य कर और सात्विक अहार कह सकेंगे।

दूध की ही भाँति दही, शर्करा, घृत, जल आदि वस्तु का सेवन देशकाल परिस्थिति के आधार अधिकारी अनाधिकारी का ध्यान रखते हुए करने पर ही हितकारी हो सकता है।

'होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखै सुलक्षन लोग'

सात्त्विक पदार्थ भी असात्त्विक हो जाता है। सात्त्विक पदार्थ के साथ-साथ सात्त्विक द्रव्य से प्राप्त, सात्त्विक व्यक्ति द्वारा निर्मित होने पर भी भोजन लाभदायक होता है। जो खाद्य सामग्री चोरी, ठगी, विश्वासघात, पर स्वापहरण आदि असत् अन्याय पूर्ण साधनों के द्वारा उपार्जित धन से प्राप्त होती है, वह सदा ही असात्त्विक है। उसके सेवन से बुद्धि तथा मन विगड़ते हैं भाव दूषित होते हैं और मनुष्य का पतन हो जाता है।

भगवान को निवेदन कर भोजन करना चाहिए। धोती को सिर पर लपेटकर, गीला वस्त्र पहनकर और जूता पहनकर भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करते समय अन्न की निन्दा न करे, क्रोध न करे, मुँह न विगाड़े और दूसरों को शब्दवेधी वाण न मारे तथा मन में बुरे विचार न आने दे।

स्वस्थ रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए उपयोगी भोजन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। ठीक समय से परिमित आहार व्यक्ति को स्वस्थ रखता है। पूर्ण स्वस्थ रहने के लिए यह भी आवश्यक है कि क्षुधा-निवृत्ति के साथ-साथ आँख एवं कान से जो आहार ले रहा है, वह सात्त्विक है या राजस। मनुष्य आँख एवं कान से मुंह की अपेक्षा अधिक आहार ग्रहण करता है। वह आहार व्यक्ति कें चित्त को अच्छा या बुरा बनाता है। भोजन करने के चालीसवें दिन वह भोजन का सार मन बनता हैं। सात्त्विक आहार से सात्त्विक मन, राजसी आहार से राजसी मन तथा तामसी आहार से तामसी मन बनता है रोग का मूल कारण आधि (मानसिक कष्ट) है। आधि का परिणाम व्याधि (शारीरिक कष्ट) होती है। सात्त्विक आहार मानव को स्वस्थ ही नहीं करता, अपितु स्व में स्थापित कर देता है।

# भारत में शिव पूजा की परम्परा

**रामधनी द्विवेदी**

उप सम्पादक : अमृत प्रभात (इलाहाबाद)

भारतवर्ष में प्रागैतिहासक काल से ही शिव के विविध रूपों की पूजा की अविकल परम्परा चली आ रही है। शैवमत विश्व के प्राचीन मतों में है। शिव को आदि देव, देवाधिदेव, महादेव, महेश्वर आदि विशेषणों मे अभिहित किया गया है, जो उनकी प्रमुखता का द्योतक है। उन्हें त्रिदेवों और पंचदेवों में स्थान मिला तथा विष्णु से कहीं अधिक प्रतिष्ठा मिली। भारत के कोने-कोने में जितने शिवालय मिलते हैं, उतने अन्य देवी देवताओं के मन्दिर नहीं मिलते। अकेले शिव ही ऐसे देवता हैं, जिनके परिवार के हर सदस्य को देव तुल्य घोषित किया गया। पुराणों में शिव को ब्रह्मा और विष्णु से भी ऊपर प्रतिष्ठित करने का यत्न किया गया। पौराणिक कथाओं में विष्णु, और ब्रह्मा के बीच शिव निर्णायक का काम करते हैं। कहीं-कहीं शिव देवताओं को उपदेश देते भी बताये गये हैं। उपदेश और निर्णय की अपेक्षा श्रेष्ठ से ही की जा सकती है।

शिव ही ऐसे देवता हैं जिनके निराकार (प्रतीक) और साकार दोनों स्वरूपों की पूजा होती है। उनके विविध गुणों के कारण ही उनके अनेक स्वरूपों की कल्पना की गयी। लिंग के रूप में वे सृष्टिकर्ता माने गये तो रुद्र के रूप में उनके संहारक रूप की कल्पना की गयी। अनुग्रह स्वरूप में शिव प्राणिमात्र के संरक्षक और कल्याण कर्ता माने गये।

शिव विशुद्ध आर्य देवता हैं या अनार्य यह आज तक विवादास्पद है। वैदिक देवताओं में शिव की चर्चा नहीं आती, हाँ उनके संहारक स्वरूप में रुद्र को अवश्य स्थान मिला है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित रुद्र के सैकड़ों रूप शिव के ही प्रतिरूप हैं। शुक्ल यजुर्वेद में रुद्र के सैकड़ों नाम से उनके लक्षणों और गुणों का वर्णन किया गया है। ये नाम मानव विकास की कहानी भी कहते हैं। कृत्तिवास (पशु चर्म का वस्त्र) उनका नाम है. जो यह बताता है कि मानव अपने विकास क्रम में कभी चर्म को वस्त्र के रूप में धारण करता था।

रुद्र कब शिव हुए ? लिंग पूजा ने कब शिव( प्रतिमा पूजा का रूप लिया ? मोहेन जोदड़ो से प्राप्त पुरुष देवता की प्रतिमा शिव के ही आरम्भिक स्वरूप को ही निर्धारित करती है। क्या लिंग पूजा अनार्य सभ्यता की ही प्रतीक है ? प्रागैतिहासिक खण्डहरों से प्राप्त लिंग रूपी आकृतियाँ क्या लिंग पूजा की ओर ही संकेत करती हैं। इसी तरह के अन्य अनेक प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए शिव की ऐतिहासिकता पर शोध करना होगा।

शीर्षस्थ विद्वान इस विचार से सहमत हैं कि मोहेन जोदड़ो से प्राप्त पुरुष देवता 'शिव-पशुपति' हैं और यह प्रतिमा शिव के आदिरूप की ओर संकेत करती है। विद्वानों की यह भी धारणा है कि सिन्धु सभ्यता के प्रभाव केन्द्र हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो अनार्य सभ्यताओं के केन्द्र थे और आर्यों ने भारत की ओर बढ़ते समय (यदि आर्यों को बाहर से आने वाला माना जाय तो) इन सभ्यताओं का समूल नाश कर दिया। इसी से आर्यों के प्रमुख देवता इन्द्र को पुरन्दर पुरों को नष्ट करने वाला कहा गया।

ऋगवेद में अनार्यों को लिंग पूजक (शिश्नदेवा) और वैदिक देवताओं में विश्वास न करने वाला (अदेवयु) कहा गया है। वैदिक साहित्य में आर्येतर जातियों के वर्णन के आधार पर ही विद्वान सिन्धु सभ्यता को अनार्य.सभ्यता का विकसित स्वरूप मानते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि सिन्धु सभ्यता के निवासी अनार्य थे और आक्रमणकारी (?) आर्यों ने उसको पराजित कर अपनी संस्कृति और सभ्यता की स्थापना की तो, वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण आर्यों ने अनार्यों के देवता–शिश्न और शिव को स्वीकार किया और बाद में यही देवता ब्राह्मण धर्म के प्रमुख देवताओं में प्रतिष्ठित हुए ? क्या इसके लिए आर्यों की सर्वग्राही और लचीली संस्कृति को ही उत्तरदायी ठहराया जाय। इतिहास बताता है कि आक्रमणकारियों ने विजित देशों और जातियों की सभ्यता-संस्कृति को कुछ न-कुछ सीमा तक अंगीकार किया, किन्तु यह अंगीकरण इतना अधिक नहीं हो गया कि उनकी मूल संस्कृति और देवताओं पर विजित संस्कृति के देवताओं को प्रमुखता मिली हो।

मोहेनजोदड़ो से प्राप्त पुरुष देवता की मुहर में जिन पशुओं के चित्र अंकित है, उनमें बाघ या सिंह और भैंसा हिन्दू देवी देवताओं के वाहनों के रूप में आज भी मान्य हैं।

शिव ब्राह्मण देवी देवताओं के स्वरूप से सर्वथा अलग हैं। उनका अपार व्यक्तित्व और अवढर दानी मन भक्त को अनायास अपने में बांध लेता है। शिव पूजा के त्वरित प्रचार के पीछे यही प्रमुख कारण लगता है। ब्राह्मण देव समूहों में स्थान पाने के पीछे चाहे जो तथ्य रहे हों लेकिन यह भी सुविदित है कि शैवों को अपने आराध्य देव को वर्तमान प्रतिष्ठा दिलाने में कम संघर्ष नहीं करना पड़ा है। वैष्णवों और शैवों में कम संघर्ष नहीं हुआ है और यह संघर्ष कवि कुल शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के समय तक रहा। दोनों सम्प्रदायों को मिलाने में गोस्वामी जी ने अपूर्व योगदान किया है। 'शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न पावा, कह कर उन्होंने दोनो सम्प्रदायों में एकता पर जोर दिया। भगवान शिव की वर्तमान व्यापकता के पीछे सुदीर्घ इतिहास है।

जो भी हो, शिव के प्रतीक रूप में लिंग पूजा का इतिहास अति प्राचीन है। विश्व सृष्टि का कारण होने के नाते ही लिंग और योनि को धर्म में स्थान मिला। लेकिन मानव मन इस दार्शनिक स्वरूप से संतुष्ट न हो सका। उसने सृष्टिकर्ता के प्रतीक रूप में न देखकर मानव रूप में देखना चाहा और यहीं से शिवमूर्तियों का विकास शुरू होता है। लिंग के साथ पुरुष मुखाकृति को सम्बद्ध कर इस नये स्वरूप को मुखलिंग की संज्ञा दी गयी। मानव का कलाकार मन इससे भी संतुष्ट नहीं हुआ। उसने अनेक मुख वाले लिंगों का निर्माण शुरू किया। पुरातत्व-विदों के अनुसार यह गुप्त नरेशों का काल था। मुख लिंगों का निर्माण शुरू होने के बाद लोगों में प्रतीक पूजा की जगह मनुष्य आकृति की पूजा की ओर अधिक रुझान बढ़ी। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में पंचमुखी लिंग का वर्णन है। पाँचो मुख शिव के पांचो रूप-सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और इशान का बोध कराते हैं। अभी तक पंचमुखी शिव लिंग नहीं मिले हैं। मंदसोर और काठमाण्डू में अष्टमुखी शिवलिंग हैं। चार मुंह ऊपर और चार नीचे। चतुर्मुख लिंग भी कम ही मिले हैं। मुख लिंग के निर्माण के समय ही शिव का स्वरूप भी निर्धारित हुआ। जटाजूट, चंद्रमा और तीसरे नेत्र से युक्त आकृति वाले मुखलिंग बने। लगता है इस समय तक शिव पूजा अत्यन्त व्यापक हो गयी थी।

मुखलिंगों के बाद सम्पूर्ण प्रतिमा के निर्माण का क्रम आया। किन्तु शिवालयो में सशरीर शिव की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने को कम मान्यता मिली। पूजन के लिए शिवलिंगों की ही स्थापना की जाती रही है और यही परम्परा आज भी बनी हुई है। शिव की प्रतिमाएं विभिन्न कथानकों के साथ मंदिरों की दीवालों पर खुदी या अंकित हैं। सशरीर प्रतिमाएं घोर और अघोर दोनों ही भावों को व्यक्त करती हैं। घोर प्रतिमाएँ विभिन्न राक्षसों का संहार करती दिखायी गयी हैं और अघोर या अनुग्रह प्रतिमाएं शांतभाव, ध्यान मुद्रा या पार्वती के साथ सम्भाषण करती दिखायी गयी हैं। शिव का असीमित व्यक्तित्व वर्णनातीत है। सर्वोरुद्र तस्मै रुद्राय नमो अस्तु

# मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की भारत-यात्रा

**डॉ० सुमनराजे**

कानपुर

मध्ययुगीन भक्ति-काव्य का जन्मोत्सव, निश्चित रूप से तमिल-प्रदेश में होता हैं आरंभ में जैनों तथा वौद्धों के विरोध में शैव-कवि दिखायी देते हैं और फिर वैष्णव भक्तों की धारा, उनमें आ-मिलती है. इसी समय वैष्णव-भक्त कवि आलवार और संत शैव-कवि नायनमार अवतरित होते है. सातवीं और आठवीं शताब्दी में यह विरोध तीव्र रूप धारण कर चुका था और नवीं शताब्दी तक आते-आते वैष्णव धर्म पर्याप्त प्रवल हो चुका था.

आलवारों और नायनमारों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी—पूर्व प्रचलित भक्ति-परंपरा में उपलब्ध भक्ति-तत्व को जन-जन तक पहुँचाना. इस भक्ति का स्वरूप-स्वभाव भाव-मूलक था और सर्वग्राह्य बनाने के लिए अभिव्यक्ति लोक-भाषा के माध्यम से हुई. गेय होने के कारण इन भक्ति-गीतों का प्रभाव, जनमानस पर बहुत-अधिक पड़ा, आलवर भक्तों ने, दूर-दूर की यात्राएं कर लोक गीतों एवं पारंपरिक गीत-पद्धतियों को अपने काव्य में उतार लिया. अतः लोक-मानस, जितना अधिक इस भक्ति-काव्य से प्रभावित हुआ. उतना किसी अन्य से नहीं. इसी काल में इन भक्त-कवियों को राजाश्रय भी प्राप्त होने लगा, काफी समय तक इन भक्ति-गीतों का प्रचार एवं प्रचलन मौखिक रूप से हुआ, नवीं शताब्दी में आचार्य नथमुनि ने इनका संकलन किया, जिनकी संख्या लगभग चार हजार मानी जाती है, इसी समय के साथ आचार्य-युग का प्रारंभ होता हैं.

तमिल प्रदेश के आलवारों के भक्ति-गीतों का प्रभाव तेलगु-प्रदेश पर भी पड़ा और तेरहवीं शताब्दी के कृष्णमाचार्य तेलगु के प्रथम कवि हैं, जिन्होंने वचन' और 'विष्णप्प लिखकर 'कीर्तन-साहित्य' की नींव डाली, उन्होंने आलवर साहित्य का अनुवाद भी किया, मलयालम में भक्ति-साहित्य का निर्माण तेरहवीं शताब्दी के बाद होता है.

तमिल-प्रदेश के बाद कन्नड़ एवं महाराष्ट्र प्रदेश में लगभग एक साथ ही भक्ति का उद्घोष होता है, विष्णु के रूप में यहाँ 'बिठोवा' की भक्ति का प्रचलन हुआ, राजवाड़े के अनुसार 'विष्णु' शब्द के पर्याय 'बेष्णु—'विठु' के आधार पर ही 'विट्ठल' शब्द बना, भक्ति काव्य में कृष्ण अथवा विट्ठल के रसिक-शिरोमणि रूप की स्थापना कभी भी नहीं हो सकी, वहाँ कृष्ण के परब्रह्म-रूप पर ही अधिक बल दिया गया है, इसी प्रकार हिंदी के राधा-भाव का भी यहाँ अभाव है, किन्तु सभी संतों की अंतिम भक्ति विट्ठल के प्रति ही थी, मराठी संतो पर शास्त्र-ज्ञान का भी प्रभाव है, जो धीरे-धीरे लोकमत में विलय होता जाता है,मराठी संत भी हिंदी की भांति सामान्य-जन के प्रतीक हैं, उनमें कोई भी अतिमानव नहीं था, पांगारकर के अनुसार, हमारे संत हास्य, विनोद, विडंबना भी जानते थे, एकनाथ के लीला-विनोदपरक काव्यों में और उनके 'भारुड' के अज-बखाने से यह दिखायी देता है.

डा० प्रभाकर माचवे के अनुसार—मराठी संतकाव्य की सामान्य विशेषताएं १—जातिभेद का न होना, २-शास्त्र प्रभाव को अस्वीकार करना, ३-बौद्धमत, जैनमत, शैवमत तथा शाक्तमत के प्रभाव को सूक्ष्म एवं संतुलित रूप में स्वीकार करना तथा ४—मातृ-पूजा के बीज होना हैं.

मराठी संतों में नामदेव का कार्य सर्वाधिक है एवं उनका प्रभाव भी बहुत-व्यापक पड़ा है, जिन विद्वानों ने हिंदी-संत-काव्य का प्रारंभ नामदेव से माना है, उन्होंने वस्तुतः संत काव्य की उचित पीठिका प्रस्तुत की है, केवल हिंदी प्रदेश ही नहीं, गुजरात, पंजाब एवं सरहिंद-प्रदेश में संत-काव्य के प्रचार का श्रेय नामदेव को ही है.

महाराष्ट्र की दो परंपराएं, गुजरात में भी मिलती हैं, पहली गुजराती कवियों की हिंदी मे रचना करने की प्रवृत्ति और दूसरी–सगुण तथा निर्गुण भावना का संश्लेषण. नाथ-परंपरा से प्रभाव ग्रहण करने के कारण गुजराती संतों न भी हिंदी-संतों की भांति प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग किये हैं, गुजराती के कई कवि, हिंदी एवं राजस्थानी में भी समाम रूप से समाहृत हैं, भाषा की दृष्टि से पंजाब प्रदेश की भी वही स्थिति है, जो गुजरात की, यहाँ के अधिकांश कवियों ने हिंदी में भी लिखा है, प्रारंभिक पंजाबी में तो अंतर किया ही नहीं जा सकता.

पंजाबी-भक्ति काव्य मूलतः पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद ही प्रारंभ होता है, पंजाब की बीर-प्रसू-भू ने योद्धा संतों को जन्म दिया, जिसकी समानता पूरे भक्ति-आन्दोलन में कहीं नहीं मिलती, सगुण-भक्ति, इन पर भी प्रभाव डालती है, उसके नाम-रूप ये भी ग्रहण करते हैं, परंतु मूलस्वर निर्गुण प्रेमाभक्ति का है, विनय और सदाचार की यहाँ भी उतनी ही प्रतिष्ठा है.

पूर्वी प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन, जयदेव की वाणी से उद्घोषित होता है : गीत गोविंद' ने एक समय सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को प्रभावित किया था मूल रचना संस्कृत में है, परन्तु ऐसी किवदंती है कि जयदेव ने, अपना 'गीत-गोविंद' अपभ्रंश अथवा देश्यभाषा में भी लिखा था,

यहां आकर भक्ति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लक्षित होता है और वह है–'राधाभाव की खोज, संपूर्ण पूर्वी इकाई -विहार, बंगाल और उड़ीसा इसी अर्थ में समांतर हैं. विहार में नान्यदेव (सन् १०१७ई०) के द्वारा भागवत धर्म की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी में हो चुकी थी. वंगाल में नवद्वीप और उड़ीस में नीलाद्रि (जगन्नाथपुरी) वैष्णव-धर्म के महान केन्द्र थे जगन्नाथ का मंदिर दशवीं शताब्दी में वैष्णवों के अधिकार में आ गया था.

पूर्वी प्रदेश में भक्ति-काव्य को प्रायः समष्टि रूप से 'ब्रजबुलि' काव्य कह दिया जाता है, वास्तव में 'ब्रजबुलि' उस काव्य-भाषा का नाम है, जिसके माध्यम से मिथिला, नेपाल, बंगाल, आसाम और उड़ीसा आदि पूर्वी प्रदेशों के भक्त-कवि, प्रधानरूप से कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के बहाने अपनी भक्ति निवेदित करते है.

आसाम में 'ब्रजबुलि',–साहित्य का प्रवेश शंकरदेव (सन् १४४९–१५६८ई०) के साथ होता है. बाद में माधवदेव (सन् १४८९–१५९७ई०) हुए, जिन्होंने 'ब्रज-बुलि'–साहित्य को लोकजीवन तक पहुंचाया. उड़ीसा-प्रदेश में भक्ति-काव्य का प्रचार चैतन्यमहाप्रभु के द्वारा हुआ. किंतु चैतन्यमहाप्रभु की उड़ीसा-यात्रा से पूर्व वहाँ 'जगन्नाथवल्लभ' नामक संस्कृत नाटक की रचना हो चुकी थी. इसमें इक्कीस गीत हैं, जो जयदेव के गीतगोविंद' की याद दिलाते हैं. इससे स्पष्ट होता है कि उड़ीसा-प्रदेश में 'ब्रजबुलि-साहित्य' पहले से ही पनप रहा था. बंगाल में चैतन्यमहाप्रभु से पूर्व भक्ति–कवि चंडीदास हो चुके थे, जो विद्यापति के समकालीन माने जाते हैं, सन् १४०३ई० के पहले ही दंडीदास लगभग एक हजार गीत लिख चुके थे. उनके गीतों का माधुर्य अप्रतिम है, आरंभिक कवि होने के कारण भाषा के निर्माण में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान है.

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की भारत–यात्रा के नव-जागरण से, संपूर्ण युगीन चेतना का विस्फोट होता है, संपूर्ण लोकशक्ति का आलोड़न होता है, जिसके प्रतीक होते हैं–उस युग के महामानव, जो दीपस्तंभ की तरह इतिहास के सभी छोरों को आलोकित करते हैं—

संप्रेषण-काल में ऐसे महामानवों का आलोक-झुरमुट-सा दिखायी देता है, जिनके मानवतावादी विचार-स्रोतों से संपूर्ण भारतीय भक्ति-साहित्य आप्लावित हुआ है, ये आचार्य संम्पूर्ण भारत की संस्कृति के एकता के प्रतीक और आंतरिक एवं वाह्य-शोषण के विरुद्ध सन्नद्ध-सतर्क योद्धा हैं. इनमें कुछ का उल्लेख अनिवार्य लगता है.

## शंकराचार्य

शंकराचार्य का काल नवीं-दशवीं शताब्दी माना जाता है. वे समस्त भारत की एकता के निर्माण के अग्रदूत थे.

उनका व्यक्तित्व महिमामंडित था, अल्पायु में विद्वान बन, उन्होंने संपूर्ण भारत की यात्रा की थी, उनकी यात्रा 'शंकर-दिग्विजय' के नाम से प्रसिद्ध है. शंकराचार्य ने प्रचलित बौद्ध, जैनादि, शैव, शक्ति आदि संप्रदायों के द्वैत का निराकरण कर भारतीय एकता का उद्घोष तथा 'अद्वैतवाद' का प्रवर्तन किया, उन्होंने भारत के चारो कोनों में चार मठों-ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रम, शृंगेरी मठ, गोवर्द्धनमठ तथा शारदामठ, की स्थापना की. इन मठों के द्वारा उन्होंने इस विशाल देश को एक सूत्रता में बांधने का अभूतपूर्व प्रयास किया. उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, उनके ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता के भाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं.

शंकराचार्य का सबसे बड़ा महत्व इस तथ्य में निहित है कि सदियों से सोयी हुई वैदिक परंपरा को उन्होंने पुनः जाग्रत किया उन्होंने ही वैदिक मान्यताओं का पुनरुद्धार किया और वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की.

## नाथमुनि

लगभग दशवीं शताब्दी में ही नाथमुनि का आविर्भाव हुआ. इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विवाद है किंतु उनके जीवन का अधिकांश समय तमिल प्रदेश के श्री-रंगम् में बीता. तमिल के साथ-साथ वे-संस्कृत के भी निष्णात पंडित थे. उन्होंने आलवरों के गीतों का संग्रह किया और उन्हें 'तमिलवेद' की संज्ञा प्रदान की. नाथमुनि के द्वारा वैष्णव मंदिरों में प्रबन्धम् के गायन का प्रबंध वास्तव में वैष्णव-मंदिरों की उपासना प्रणाली एक शांति-पूर्ण क्रांतिकारी घटना थी.

नाथमुनि ने भक्ति की उस उदारता को बनाये रखा, जिसके प्रचारक आलवर थे उनकी भक्ति का द्वार सभी के लिए खुला था. उसमें जाति-पांति, छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं था. उन्होंने कई यात्राएं की एवं उत्तर प्रदेश के मथुरा, द्वारकापुरी, बदरीनाथ आदि प्रमुख स्थानों में भक्ति-सिद्धांत का प्रचार किया. नाथमुनि के प्रधान शिष्य ग्यारह थे, जिनमें पुण्डरीकाक्ष, उनके बाद आचार्य हुए.

## रामानुजाचार्य

रामानुजाचार्य का जन्म सन् १०१६ ई० में मद्रास के समीप तेरूकुंदूर नामक स्थान में हुआ था. ये यामुनाचार्य के शिष्य थे. इन्होंने भी उत्तर भारत की कई यात्राएँ कीं और वैष्णव-भक्ति का व्यापक प्रचार किया. ब्रह्मसूत्रों पर इनके विद्वतापूर्ण भाष्य 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं. विशिष्टाद्वैत की पुष्टि के लिए इन्होंने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जिनमें गीताभाष्य, वेदांतसार और वेदांत-द्वीप नामक ब्रह्मसूत्र वृत्ति, वेदांत-संग्रह, गद्यत्रय आदि अधिक उल्लेखनीय हैं.

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए भी उसे चिन्मय, आत्मा और जड़ प्रकृति इन दो पदार्थों से विशिष्ट बतलाया है. वे शंकराचार्य की तरह जगत को मिथ्या न मानकर ब्रह्म में लीन और ईश्वर को विश्व में अन्तर्हित मानते हैं. उनके अनुसार तत्व तीन हैं—प्रकृति, आत्मा और ईश्वर. इन तीनों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म का एकत्व है. जीव और जगत ईश्वर के अंग होने के कारण सत्य हैं. रामानुजाचार्य ने पर्याप्त आयु प्राप्त की.

## मध्वाचार्य

द्वैतमत के संस्थापक मध्वाचार्य का प्रभाव भी भक्ति कविता पर बहुमुखी रूप में पड़ा है. मध्वाचार्य ने न केवल शंकर के अद्वैतमत का तीव्र विरोध किया बल्कि भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा के लिए रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत को भी अस्वीकार कर दिया.

मध्वाचार्य का जन्म सन् ११९७ ई० में कर्नाटक के 'उडुपि' नामक स्थान में माना जाता है. उन्होंने 'प्रस्थान-त्रयी' पर विद्वतापूर्वक भाष्यलिखे और लगभग सैंतीस ग्रन्थों की रचना की उनका देहावसान संवत् १३७४ में हुआ.

मध्वाचार्य ने, शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों का खंडन कर जीवन और जगत की वास्तविकता को समझ-कर 'द्वैतवाद' का सिद्धांत प्रस्तुत किया. संक्षेप में मध्वाचार्य के मुख्य सिद्धांत हैं. १-हरि अर्थात् विष्णु सर्वोच्च तत्व, २-जगत सत्य है, ३ ब्रह्म और जीव का भेद वास्तविक है, ४-जीव, ईश्वराधीन है, ५-जीवों में तारतम्य हैं, ६-आत्मा के आंतरिक सुखों की अनुभूति ही मुक्ति है, ७-शुद्ध और निर्मल भक्ति ही मोक्ष का साधन है, ८-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं तथा

९–वेदों द्वारा ही हरि जाने जा सकते हैं. मध्वाचार्य के मत का प्रचार परवर्ती काल में उत्तर-भारत में अधिक हुआ. उत्तर-भारत के चैतन्य-संप्रदाय का सम्बन्ध इसी मध्व-संप्रदाय से माना जाता है.

## निम्बकाचार्य

निम्बकाचार्य का जन्म आंध्र में गोदावरी के किनारे वैदूर्यपत्तन नामक स्थान में माना जाता है. भंडारकर के अनुसार इनका निधन सन् ११७२ ई० में हुआ. इन्होंने सनकादि-सम्प्रदाय का प्रचलन किया. जो दार्शनिक दृष्टि से 'द्वैताद्वैतवाद' कहलाता है, इसी को 'भेदाभेदवाद' भी कहते हैं.

निम्ब-सम्प्रदाय के अनुसार, ब्रह्म में ऐसी शक्ति है कि वह अपने को अविकृत एवं अविभक्त रखते हुए नाना-रूपात्मक पदार्थों में उत्पन्न करके आनन्द का उपभोग कर सकता है. निम्ब-संप्रदाय की मौलिकता 'राधा-उपासना' का समावेश है. इस संप्रदाय के कृष्ण, अपने प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री-शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी-स्वरूपा-शक्तियों से परिवेष्ठित रहते हैं. राधा-स्वरूप का विवेचन भी इस संप्रदाय के अनेक ग्रन्थों में किया गया है. डा० मलिक मोहम्मद के अनुसार–कह सकते हैं कि उत्तर-भारत में राधा-कृष्ण भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्ण श्रेय श्री निम्बकाचार्य को ही मिलना चाहिए.

## विष्णुस्वामी

रुद्र-सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी का नाम भी भक्ति-आन्दोलन में महत्वपूर्ण है, डांक्टर-भंडारकर के अनुसार इनका जन्म तेरहवीं शताब्दी माना जाता है.

वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत माना जाता है. डा० भंडारकर ने 'शुद्धाद्वैत' को ही इनका दार्शनिक सिद्धांत स्वीकार किया है. नाभादास ने विष्णुस्वामी की शिष्य-परम्परा में नामदेव, ज्ञानदेव एवं वल्लभाचार्य को भी माना है. इससे उनके मत की उदारता तथा व्यापकता का पता चलता है. एक जन-श्रुति के अनुसार–महाराष्ट्र में प्रचार पाने वाले भागवत धर्म, जो कि 'वारकरी-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, वस्तुतः विष्णुस्वामी मत का ही रूपान्तर था.

## ज्ञानदेव

ज्ञानदेव या संत ज्ञानेश्वर का प्रभाव, मध्यकालीन संतों पर बहुत व्यापक रहा है, पूरा पंजाब और हिन्दी-प्रदेश उसके अंतर्गत स्वीकृत है. ज्ञानेश्वर ने अपनी गुरु-परम्परा, आदिनाथ से स्वीकार की है, नाथ-मत में दीक्षित हुए थे, फिर भी वे 'वारकरी-संप्रदाय' की नींव के पत्थर माने जाते हैं. उनका जन्म पैठण के निकट आलंदी ग्राम में हुआ था.

डा० रानाडे के अनुसार ज्ञानेश्वर का जन्म सन् १२७५ ई० में हुआ था और तुलपुले तथा पांगारकर आदि विद्वानों के अनुसार सन् १२७१ ई० में. ज्ञानदेव की प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानेश्वरी' है, जिसका रचनाकाल प्रायः निश्चित है–तदनुसार शके १२७२ में. उन्होंने ज्ञानेश्वरी टीका की थी. उनका समाधि-काल भी इसी आधार पर प्रमाणित है.

ज्ञानदेव ने अल्पायु में ही जिन ग्रन्थों की रचना की, वे आश्चर्य में डाल देते हैं. उनके व्यक्तित्व के आसपास चमत्कारों का प्रकाश-केन्द्र तैयार हो गया है. उनकी 'ज्ञानेश्वरी' महाराष्ट्र में वेदों की तरह सम्मानित रचना है. उसमें उन्होंने केवल गीता की टीका ही नहीं लिखी, काव्य की मधुर चमत्कृति भी संचित करदी है, जिसे पढ़ते समय आत्मज्ञान से प्रकाशित मन, काव्य-सौष्ठव से चमत्कृत हो उठता है.

ज्ञानदेव ने, उत्तर-भारत की यात्राएं की थी : ऐसा कहा जाता है कि उस समय उनके साथ नामदेव भी थे. संभवतः उसी समय उन्होंने हिन्दी में भी पद-रचना की थी. मराठी में लिखे गये उनके पदों में भक्ति का अजस्र प्रवाह है. उनकी हिन्दी रचना में उर्दू का भी प्रभाव है.

## नामदेव

नामदेव, प्रायः ज्ञानदेव के समकालीन ही थे. वे दर्जी जाति के थे और उन्होंने स्वयं को 'छीपी' कहा है. इससे अनुमान लगाया जाता है कि उनके घर में सिलाई के साथ छपाई का काम भी होता था.

नामदेव, ज्ञानदेव के शिष्य थे और पंढरपुर में रहते थे. उन्होंने अपने गुरु के साथ कई यात्राएं कीं, जिनमें काशी, गया, अयोध्या, हरिद्वार, मथुरा, मारवाड़ आदि

की तीर्थ-यात्राए सम्मिलित हैं. वे पंजाब भी गये. वहाँ गुरूदासपुर जिले में घुमान नामक स्थान पर उनके नाम का गुरूद्वारा अभी तक स्थित है.

नामदेव ने मराठी के साथ हिन्दी में भी प्रचुर पद-रचना की है. सभी दृष्टियों से वे हिन्दी-संत-परम्परा के अधिष्ठाता हैं. परवर्ती सभी संतों ने उनका नाम बड़े आदर से लिया है.

## रामानन्द

रामानन्द प्रथम संत आचार्य हैं, जिनका जन्म हिन्दी-प्रदेश में हुआ और जिन्होंने अपनी विशिष्ट दार्शनिकता से सम्पूर्ण भक्ति-आंदोलन को प्रभावित किया. डा. रामरतन भटनागर के अनुसार—'हिन्दी-साहित्य की चौदहवीं शताब्दी एक प्रकार से रामानन्द (१२९२–१४१८) की शताब्दी कही जा सकती है, क्योंकि इस शताब्दी से उत्तर भारत के धर्म-क्षेत्र में सबसे अधिक क्रियाशक्ति और प्रभावशाली व्यक्तित्व उन्हीं का है. नामदेव (१२७०–१३५०), राघवानन्द (आ० १३२५) और रामानन्द (१२९२-१४१८) चौदहवीं शताब्दी के वैष्णव-भक्ति आन्दोलन के त्रिमूर्ति कहे जा सकते हैं और परवर्ती धाराओं के मूल-स्रोतों के अध्ययन के लिए हमें बार-बार इन्हीं की ओर मुड़ना पड़ता है.

रामानन्द में. सगुण-निर्गुण साधनाएं वहुत स्पष्ट हैं. इसीलिए उनसे कबीर की परम्परा भी चली और तुलसी की भी उस युग के नेतृत्व के लिए यह एक शर्त थी कि विरोधी शक्तियों, मतों एवं धाराओं में समन्वय कर सकने की शक्ति रखने वाला मानव ही युग-पुरुष कहला सके. कबीर इसीलिए महान हैं, तुलसी इसीलिए लोकनायक हैं और रामानन्द इसीलिए 'गुरू' हैं.

लोक-प्रसिद्ध है कि रामानन्द के गुरू राघवानन्द महायोगी थे. किन्तु डा० रामरतन भटनागर के अनुसार—रामानन्द के भक्ति-भाव में बौद्ध-साधना (सिद्धमत), योग, सूफी-साधना और द्रविड़-भक्ति का वह विचक्षण योगायोग है, जो मध्ययुग के निर्गुण मतवाद का प्राण है.

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की भारत यात्रा तथा नवजागरण की पृष्ठभूमि पर धर्म, संस्कृति तथा साहित्य की सम्मिलित गंगोत्री बहाने वाले इन उपर्युक्त अग्रदूतों में एक उदार मानवतावाद. समष्टिगत करुणा, सचेष्ट सुधारक एवं रस-द्रवित भक्त के दर्शन एक साथ होते हैं. नवजागरण के पुरोहित-पुरोधा हैं, जिन्होंने तुमुल शंखनाद कर सम्पूर्ण युग को अपनी लड़ाई लड़ने के लिए अपनी तरह से प्रेरणा प्रदान की, ये महान् दार्शनिक, संत और भक्त, मानवमुक्ति के महान् स्वप्न-दृष्टा हैं. सभी ने एक ऐसे संसार की कल्पना की, जहाँ द्वन्द्व निर्विशेष हो जायेंगे, व्यक्ति अपने को आत्म-रूप में पहचान सकेगा और वहां वह उपभोक्ता होते हुए भी कर्त्ता एवं ब्रह्म हो सकेगा।

# समाज के प्रतिमान

**विक्रमादित्य तिवारी**

गाजीपुर

जिस समाज में हम जन्म लेते हैं, पाले पोसे जाते हैं और जिससे हम निरन्तर संस्कार ग्रहण करते हैं उस समाज से हम अनिवार्य रूप से जुड़े रहते हैं और हम उससे अलग होने का दावा नहीं कर सकते। समाज हमारे सामने कुछ प्रतिमान निर्धारित करता और अपेक्षा करता है, उन प्रतिमानों की स्थापना में हम अपना योगदान प्रदान करेंगे। हम इतिहास के थपेड़ों से वार वार आहत होते रहे हैं जिससे हमारे आत्म विश्वास की जड़ें हिल गयी हैं। यदि कोई एसा दीर्घ जीवी इतिहास कार सुलभ होता जिसने हमारे समाज का अतीत देखा और परखा होता वह हमारे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से भी परिचित होता तो हम तुलनात्मक अध्ययन से अपने स्वरूप को पहचानने में सफल होते। काल की रेत पर हमारे अतीत के पद-चिह्न लुप्त हो चुके हैं यदि पुस्तकों में वे यदाकदा देखने को मिलते हैं, तो आज की पीढ़ी का विश्वास उस पर से उठ चुका है। काल-चक्र अपनी गति से घूम रहा है, हम उससे चिपके हुए घूम रहें हैं हम जान नहीं पाते कि हम इस समय कहाँ हैं, उत्कर्ष या पतन की अवस्था में। हमारा सारा ढाँचा विसंगतियों पर आधारित है, जो बढ़ती हुई विसंगतियों को देख नहीं पाते और सही कारणों का विश्लेषण नहीं करना चाहते वे नैतिकता की निरर्थक बातें करके केवल भ्रष्टाचार करने के लिये अपनी अपराध भावना को संतोषप्रदान करते हैं और दूसरी ओर इन बातों की ओट मिल जाती है कि हमारा भ्रष्टाचार विवशता है अतः क्षम्य है :समाज के इस दर्पण में हम जब अपना प्रतिविम्ब देखते हैं तो लगता है कि हम भीतर से खाली हो चुके हैं और केवल बाहरी सजधज पर ही रीझना हमारा स्वभाव वन चुका है।

## अध्यात्म और लोक व्यवहार का द्वन्द्व

हमारे समाज की दुर्वलता का मूल कारण है कि लोगों की यह धारणा वद्धमूल हो गयी है कि महान अवतारों का जीवन केवल अंध श्रद्धा पूर्वक उच्चारण के लिये है, आचरण के लिये नहीं। ये दोष समाज को केवल परावृत्त एवं निरूद्योगी वना सकते हैं और इसीलिये समाज का अधः पतन होता है, परिणाम यह होता है कि मनुष्य को अच्छे वनने की, परमपिता परमात्मा के समान पूर्ण वनने की, इस लोक में ज्वलन्त कार्यशीलता के द्वारा शुद्ध एवं समृद्धि-शाली जीवन निर्माण और इसके साथ ही साथ अवतार के द्वारा अभिव्यक्त सत्य का साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति का मनुष्य के सच्चे धर्म का दमन हो जाता है, जिसको मूल से श्रद्धा एवं निष्क्रियता की संज्ञा मिल जाती है। यही प्रवृत्तियाँ असंगठन और अन्ततोगत्वा समाज के नाश का कारण वनती हैं। महान् पुरुषों ने समस्त संकटों का सामना किया, अलंघ्य प्रतीत होने वाली वाधाओं को पार कर जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना किया। आज हम उनके आदर्शों को ओझल कर देते हैं। आज की सवसे वड़ी विडम्वना है कि हम अपनी कम-जोरियों को सिद्धान्तों का जामा पहना कर उसी के अनुसार कष्ट-साध्य, संयमसाध्य और श्रम-साध्य आदर्शों की धज्जियाँ उड़ा देते हैं। अंधकार में रहने वाला

उल्लू प्रकाश को ही बुरा भला कहने लगता है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा था "बाल्यावस्था और युवावस्था को पार किये बिना कोई वृद्ध नहीं हो सकता ठीक इसी प्रकार कोई व्यक्ति कर्तव्य-निष्ठ और समाजनिष्ठ हुए बिना ईश्वर निष्ठ नहीं हो सकता।" मन बहलाव वाली भक्ति की बात दूसरी है। पर वस्तुत: यदि हम ईश्वर तत्व तक पहुँचना चाहते हैं तो पवित्र जीवन और सेवा धर्म की टांगों की सहायता से ही उस महान यात्रा को पूरा किया जा सकता है। लोक-नीति को अध्यात्म के पीछे चलना हमारे समाज को अभीष्ट था। ईश्वर निष्ठा को केन्द्र बनाकर लोक-नीति को मर्यादित करने के लिए हमारे मनीषियों ने प्रयास किया। गीता के निष्काम कर्म योग में ईश्वरायण बुद्धि से कार्य की प्रेरणा दी गई थी। किन्तु समाज में सकाम भाव, निष्काम भाव को दबाकर समाज की छाती पर सवार हो गया और लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रएषणा के स्तम्भों पर लोक-जीवन के प्रासाद खड़े होने लगे। ईश्वर को अपनी एषणाओं की तृप्ति का माध्यम बनाने के लिये कर्म-काण्डों और तन्त्र-मन्त्रों का वितण्डावाद खड़ा हुआ है। अध्यात्म पीछे छूट गया। स्वार्थ और परमार्थ में, स्वार्थ प्रधान हो गया और परमार्थ चिन्तन को कपोल कल्पित ढोंग कह कर त्याग दिया गया। वस्तुतः स्वार्थ और परमार्थ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। स्व+अर्थ अर्थात् स्व को जो अभीष्ट है। यदि 'स्व' का आध्यात्मिक अर्थ निकाला जाय तो 'स्व' आत्मा का बोधक है और आत्मा परमात्मा का ही अंश है अतः 'स्व' का जो अभीष्ट है वह परम+अर्थ अर्थात् सर्वोत्तम और सार्वभौम अभीष्ट से कदापि विपरीत नहीं हो सकता यदि भाव जगत के सत्य को लोक-सत्य से भिन्न करके देखा जायेगा तब तो समाज की विशृंखलता को किसी भी मूल्य पर रोका नही जा सकता। लोक की सत्ता में ईश्वर स्वयं प्रतिभाषित हो रहा है यदि लोक-व्यवहार में हमारी दृष्टि अध्यात्म की गंगा में स्नान करके प्रवेश करे तो लौकिक और पारमार्थिक व्यवहार का तथाकथित द्वन्द स्वतः मिट जायेगा। प्रश्न यह उठता है कि क्या आज का हमारा समाज इतना उदार चेता बन सकता है कि उपनिषद की भाषा को ग्रहण कर लें—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्चित् धनम्।

उपनिषदकार का स्वर आज के समाजवादी और मार्क्सवादी के स्वर से कम समता का समर्थक नहीं है। 'हाँ' जिन्होंने धर्म को अफीम कहकर त्याज्य करार दे दिया है उनके लिये उपनिषदकार को समत्व का समर्थन कैसे मान लिया जाय। अफीम को त्याज्य कहकर सुरा को आधुनिकता के नाम पर ग्रहण करने में गर्व का अनुभव किया जाता है। इस नशे में घृणा और बदला को सार्थक बनाने में मदद मिलती है। शराबी को हत्या करने में हिचक नही होती, बलात्कार करने में लज्जा बाधक नहीं होती इसलिए धर्म की अफीम को दूर फेंकने का नारा जोरदार है किंतु कामिनी और कंचन की ओर दौड़ाने वाला नशा समाजवादी और मार्क्सवादी नशा जरूर करार दिया जाता है। निष्पक्ष दृष्टि से दोनों के अन्तर का विश्लेषण होना चाहिये तभी समाज के लिए सही 'तुला' तैयार की जा सकती है और तौलने वाले सही बांट भी मिल सकेंगे।

## पीढ़ियों का संघर्ष

पुरानी पीढ़ी पिटी पिटाई परम्पराओं का बोझ अपने कंधों पर लिये लंगड़ाती चल रही है। वह युवा पीढ़ी को फटकारती है ताड़ना देती है कि तुम अकर्मण्य हो, पौरुष हीन हो। तुमसे कुछ होने वाला नहीं है। तुम्हारी उम्र के हम थे तो हम इतना काम करते थे। एक समय एक पितामह ने घर के छोटे बच्चे से कहा कि तुम्हारी उम्र का जार्ज पंचम बहुत अधिक पढ़ लिख चुका था और तुम आवारा की तरह घूमते हो। छोटे बच्चे ने तमाक से उत्तर दिया कि आपका उम्रवाला होने पर तो वह ब्रिटेन के राज्य सिंहासन का आधिपति बन गया था और आप तो बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं। वस्तुत युवा-पीढ़ी समाज की विसंगतियों से विक्षिप्त सी है। जब घर में कोई सदस्य रुष्ट होता है तो घर का ही सामान तोड़ फोड़ देता है। ऐसी ही विक्षिप्तता का शिकार युवा पीढ़ी है। पुरानी पीढ़ी जब आदर्शों की झड़ी लगाती है, तो युवक उन उपदेशों की तह तक पहुँचना चाहता है। वह टटोलने लगता है उस सच्चाई को, जो पुरानी पीढ़ी के आचरण में ढूँढने पर भी नहीं मिलती। उसके संयम और धैर्य का

बांध टूट जाता है। यही कारण है जो कुछ पुराना है, थाती और धरोहर के रूप में संजोकर तिजोरियों में रक्खा गया है उसके प्रति घोर वितृष्णा से युक्त होकर युवा पीढ़ी उस तिजोरी को भस्मसात करने पर उतारू हो जाती हैं। भीतर का अभाव निराशा से भरना पड़ता है। अमूर्त और निराकार की कल्पनाओं का सारा कोष युवा मानस को तृप्त नहीं कर पाता। युवा पीढ़ी का स्वभाव है कि वह लीक पर चलना नहीं चाहता। वह रचना का भूखा है। नयी राह बनाने का श्रेय लेना चाहता है। उधार पूँजी से आगे बढ़ना वह अपने पौरुष के लिए चुनौती मानता है। पुरानी पीढ़ी उसकी सृजन क्षमता को पहचान कर उसकी मौलिकता के विकास का उचित अवसर प्रदान करे तब समस्याओं के समाधान के नये सूत्र मिल सकेंगे। जैसा कि एक कवि ने कहा—

लीक लीक गाडी चले, लीकहिं चले कपूत।
लीक छोड़ि तीनों चलें, शायर, सिंह, सपूत ।।

आज का युवा मानस सपूत की उपाधि चाहता है। हमें चाहिये कि हम उसके मनोभावों का आदर करें उसे प्रोत्साहित करें और उसके लिये अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण में योग दें।

## समाधान की ओर

(क) जो कुछ पुराना है, सब बुरा है, त्याज्य है यह कल्पना पक्षपात पूर्ण हैं और नये के प्रति अनावश्यक ममत्व का सूचक है।

(ख) ईश्वर और धर्म की बुनियाद को नकार कर न तो हम अपना भला कर सकते हैं और न समाज का।

(ग) नैतिकता को सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने की आवश्यकता है। नीति का अर्थ है, शास्त्र सम्मत और वेद सम्मत मत जो समाज द्वारा स्वीकृत और प्रतिष्ठित है। आज नीति को धूर्तता और चालाकी का पर्याय माना जाता है। अपने वास्तविक रूप को छिपाकर अपनी गलत तस्वीर पेश करना नीति की सफलता का द्योतक माना जाता है। यह सर्वथा असंगत है।

(घ) जो समाज परस्पर प्रेम, सद्व्यवहार, सद्भावना और साहचर्य पर खड़ा है, वही शाश्वत और चिरस्थायी है। समाज को वर्गों में बाँटकर, घृणा, विद्वेष और हिंसा को साधन बनाकर जो क्रांति खड़ी होगी उससे जो समाज बनेगा, वह भोगवादी युग को थोड़ी सी राहत दे सकता है, किन्तु उसके निर्माण के साधन उसकी कब्र भी शीघ्र ही तैयार कर देगें।

(ङ) ईश्वराभिमुख होकर पुण्य की ओर आकर्षण होता है। पापों से भय होता है वस्तुतः कोई भी पार्थिव राजा अपनी प्रजा को सही राह पर लाने में समर्थ नहीं हो सकता जितना ईश्वर। इसलिये नास्तिक अंग्रेज भी कहता है—

If there is no God, we will have to create one.

मान लें कि ईश्वर नहीं है, तब भी हमें एक कल्पित ईश्वर को ढूँढ़ निकालना पड़ेगा।

# कानपुर के सांस्कृतिक इतिहास की भूमिका

डा० उमेश चन्द्र मिश्र

कानपुर

प्रत्येक महानगर अतीत की गौरवमयी सांस्कृतिक परम्पराओं को लेकर जीता है। कानपुर महानगर भी सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही समृद्ध है, जितना कि औद्योगिक क्षेत्र में आज उसने ख्याति अर्जित की है। सामान्य मनुष्य, कानपुर महानगर को एक व्यवसायी औद्योगिक नगर के रूप में अधिक जानते हैं, जिसका कि लखनऊ की अपनी विशिष्ट संस्कृति, सौजन्य, शिष्टाचार सौन्दर्यप्रियता, सुकुमारता, ललित कला के प्रति प्रेम आदि गुणों से मेल नहीं है, फिर भी अवध के अनेक कवि, शायर और कारीगर यहाँ आकर बसे, जिन्होंने हमारे जीवन की रुक्षता, कर्कशता को बहुत कुछ समाप्त किया।

पतितपावनी पुण्यसलिला भागीरथी के दाहिने तट पर स्थित कानपुर नामकरण को लेकर जन-मानस में कतिपय किंवदन्तियां प्रचलित हैं। एक जनश्रुति है कि कानपुर का जन्म रामायणकाल में हुआ। इसके पक्षधरों का कथन है कि पुराने कानपुर में, रघुकुल-शिरोमणि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के तनुज लव-कुश का कर्ण-छेदन हुआ था। अस्तु, उसी आधार पर इसका नाम कर्णपुर पड़ा। कानपुर के प्राचीन नामकरण के सम्बन्ध में एक जनश्रुति यह है कि यहाँ भगवान श्रीकृष्ण का 'कर्णवेध' संस्कार सम्पन्न हुआ था और इसी कारण इसका नाम 'कान्हपुर' पड़ा। प्राचीन कानपुर में 'वारीघाट' अब भी इसका स्मारक बताया जाता है। एक लोक-धारणा यह भी है कि महारथी अर्जुन के अप्रतिम प्रतिद्वन्दी महाशक्तिवान कर्ण का निवास स्थान होने के कारण इसका नाम 'कर्णपुर पड़ा। यही कर्णपुर नाम कालान्तर में 'कानपुर' में परिणत हो गया। परन्तु इन सब कथनों की सत्यता सिद्ध करने के लिये कोई भी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यद्यपि लोकमानस में प्रवहमान धारणा नितान्त निरालम्ब नहीं होती। 'कान' शब्द संस्कृत 'कर्ण' का तद्भव रूप है। संस्कृत के विद्वानों ने कानपुर को संस्कृत में शुद्ध रूप में 'कर्णपुर' लिखा। जिज्ञासुओं ने जब 'कर्णपुर' नाम की सत्यता जाननी चाही तो इतिहास के विद्वानों ने इसके पृथक-पृथक आधार प्रस्तुत किये। फलतः जन-मानस में यही धारणायें विद्यमान हैं।

एक प्रबुद्ध वर्ग में यह सामान्य धारणा है कि कानपुर 'कम्पू' शब्द से निष्पन्न है। कलकत्ता के सदृश कानपुर भी अंग्रेजों के समय विकसित हुआ। अंग्रेजों का सम्बन्ध जब कानपुर से स्थापित हुआ तो उन्होंने सर्वप्रथम 'जूही' और कालान्तर में वर्तमान छावनी क्षेत्र में अपना फौजी कैम्प लगाया। 'कैम्प' को यहाँ के तत्कालीन ग्रामीणों ने 'कम्पू' नाम दिया। किंतु यह मत यथार्थतः असंगत और असमीचीन है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी 'कम्पू' शब्द का परिवर्तन 'कानपुर' के रूप में संभव नहीं है।

लाला दरगाही लाल ने अपनी पुस्तक 'तारीखे-कानपुर' में कानपुर ग्राम के संस्थापक तथा नामकरण पर पर्याप्त

प्रकाश डाला है। मुंशी जी ने कानपुर का सम्बन्ध सचेडी के राजा हिन्दूसिंह से सम्पृक्त किया है। मुशीजी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मुसलमानों के समय जाजमऊ से बिठूर तक का माग 'घना कान्तार' था। एक बार जन्माष्टमी को सचेडी के राजा हिन्दू सिंह गंगा स्नानार्थ यहाँ आये। मनोरम स्थान देखकर उनकी आकांक्षा ग्राम स्थापना की हुई। साथ मे आये पंडितों ने ग्राम स्थापना की शुभ मुहूर्त भी उसी दिन सिद्ध की। अनन्तर हिन्दू सिंह ने वहाँ ग्राम बसाया। जन्माष्टमी के दिन बसाये जाने के कारण इसका नाम 'कान्हपुर' किया गया।

निष्कर्षतः इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि कानपुर का प्राचीन नाम 'कान्हपुर' था। हाँ, इसके संस्थापक के रूप में किस व्यक्ति का नाम लिया जाये, यह सम्प्रति विवादास्पद विषय बना हुआ है।

अत्यधिक प्राचीन काल से पतित पावनी पुण्य सलिला के प्रवाह से संयुक्त यह धरती आर्य वैदिक सभ्यता की क्रीड़ा-भूमि रही है। कानपुर महानगर की भी एक महती सांस्कृतिक परम्परा है, जिसे देखकर यह आभासित होता है कि वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार, उज्जयिनी एवं अन्य तीर्थ स्थानों की भाँति यह भी अपनी प्राचीनतम स्थिति में उसी प्रकार पवित्र-साधना-स्थल था। महाकवि पद्माकर ने इस भू-भाग का गुणानुवाद अमर शब्दों द्वारा किया है। स्वयं पद्माकर जिन्हें बुन्देलखण्डवासी होने का गर्व था, अपने जीवन के अन्तिम काल में पाप-मोचन के हेतु कानपुर में गगा-तट पर आकर बसे और यहीं पतित-पावनी के अंक में उनका नश्वर शरीर पंचत्व को प्राप्त हुआ। आल्हा-ऊदल, परमाल, छत्रसाल आदि बुन्देलखण्डी वीरों की अमर गाथायें हमारे यहाँ घर-घर में गाई जाती हैं। बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध महाराष्ट्रशासक गोविन्दपन्त बुन्देले ने बिठूर की महिमा इतनी बढ़ा दी कि वह प्राचीन प्रसिद्ध तीर्थों की कक्षा में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया जाने लगा। कानपुर की ही इस भूमि मे रानी लक्ष्मीबाई जैसी वीराङ्गना ने अपना शैशव व्यतीत किया और हम इस गौरव की अनुभूति करते हैं कि इस पावन वसुन्धरा का आंशिक प्रभाव झाँसी की रानी के चरित्र-निर्माण पर पड़ा। इस प्रकार चन्द्रशेखर आजाद, बिस्मिल, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि राष्ट्र के प्रति समर्पित व्यक्तित्वों ने इस पवित्र माटी के ऋण को किसी न किसी रूप में अपने रक्त की अन्तिम बूंद से चुकाया। राष्ट्रीयता और राष्ट्र के प्रति समर्पित प्रेम की भावना इस भूमि के कण-कण में विद्यमान है जहाँ पर 'नवीन' जैसे क्रान्तिकारी विप्लव गान के कवि ने साहित्य-सर्जना का श्रीगणेश किया और यह उद्घोषणा की कि—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आयें, एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का, धुआँधार जग में छा जाए॥"

किसी भी महानगर का राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक इतिहास उसकी संस्कृति के निर्माण में अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है। कानपुर महानगर का इन दृष्टि से महत्व असंदिग्ध है किन्तु इन निर्माणात्मक तत्त्वों के अतिरिक्त उसका अपना एक गौरवमय अतीत है। संभवतः वर्तमान बिठूर, जिसे कुछ दिनों से ब्रह्मावर्त कहने की प्रथा चल गई है, ऐतिहासिक और पौराणिक दृष्टि से हमारे यहाँ का प्राचीनतम स्थान है। जनसामान्य का विश्वास है कि यहीं पितामह ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना समाप्त कर अश्वमेघ यज्ञ किया था जिसकी निशानी ब्रह्म-नाल अथवा ब्रह्मा जी की खूँटी ब्रह्मावर्त घाट में अभी तक पूजी जाती है। यह ज्ञात नहीं है कि बिठूर का नाम ब्रह्मावर्त कब और कैसे पड़ा। मनुस्मृति के अध्याय २/२१ में हिमाचल तथा विंध्याचल के बीच तथा ब्रह्मावर्त से पूर्व व प्रयाग से पश्चिम वाले देश का नाम 'मध्यदेश' है कानपुर इसी में आता है।

जनश्रुतियों के अनुसार महान तपस्वियों एवं ऋषियों का सम्बन्ध भी इस भूमि से रहा है। ध्रुव जी का टीला भी बिठूर में है। इस विषय में कहा जाता है कि ध्रुव जी के पिता राजा उत्तानपाद की यही राजधानी थी। इनके द्वारा निकाले जाने पर जब ध्रुव कठिन तपस्या के पश्चात् गृह लौटे तो उन्होंने पिता के राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होकर राज्य किया। यहीं पर रजक के कलंक लगाने पर राम की आज्ञानुसार लक्ष्मण गर्भवती सीता को

छोड़ गये थे। समय पाकर लव व कुश के रूप में सीता ने इन दो पुत्रों को जन्म दिया। ये युगल बालक रामायण के कर्त्ता तथा राम के समकालीन आदि कवि वाल्मीकि जी द्वारा संस्कारित हुये और उन्हीं की छत्रछाया में उनका पालन-पोषण हुआ। यहीं पर महर्षि वाल्मीकि ने बालकों को बाण-विद्या की शिक्षा प्रदान की।

महर्षि वाल्मीकि के अतिरिक्त कानपुर का जाजमऊ राजा ययाति की किसी समय में राजधानी था। कानपुर के पूर्व पाँच मील दूर गंगा-तट पर जाजमऊ है जो अपने कर्म-बल से इन्द्र पद प्राप्त करने वाले महाराज नहुष के पुत्र ययाति की राजधानी था। भागीरथी के तट पर उनका किला जीर्ण-शीर्ण अवस्था में आज भी अतीत की स्मृतियों का जीवन्त प्रतीक है। राजा ययाति ने दैत्य गुरू शुक्राचार्य की मानिनी पुत्री देवयानी से विवाह किया था जिसने दैत्यराज वृषपर्वा की राजकुमारी शर्मिष्ठा को दासी बना कर रक्खा था। राजा ययाति का शर्मिष्ठा के साथ गुप्त-प्रेम सम्बन्ध देखकर देवयानी ने अपने पिता शुक्राचार्य से उनको वृद्ध हो जाने का शाप दिलवाया फिर राजा अपने व शर्मिष्ठा के पुत्र प्रसिद्ध पुरु से युवावस्था माँगकर युवा हो गये थे और अपनी काम-वासना तृप्त करके फिर उन्होंने अपने यौवन को लौटा दिया था। भोग से संन्यास तक की ये कर्म की यात्रा कानपुर महानगरी की उस कर्म प्रधान संस्कृति का द्योतक है, जो आज सर्वविदित है।

कानपुर से पश्चिम ग्राम सैंबसू के निकट गंगाजी के किनारे श्रृंगी ऋषि का आश्रम है। श्रृंगी ऋषि काश्यप के पुत्र विभाण्डक के लड़के थे। बचपन से ही ये इतने कर्त्तव्य परायण थे कि अपने आश्रम में ही रहकर अग्नि और अपने पिता की सेवा और विद्याध्ययन किया करते थे। इसी सेवा में उनका विवाहोचित समय भी व्यतीत हो गया। इन्होंने अपने पिता के अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुष को नहीं देखा था। एक बार अङ्गदेश में भयंकर अकाल पड़ा वहाँ के प्रतापी राजा रोमपाद को, जो अयोध्या नरेश महाराज दशरथ के अनन्य मित्र थे उनके पुरोहितों ने यह सलाह दी कि श्रृंगी ऋषि के आगमन से जलवृष्टि होकर यह अकाल समाप्त हो जायेगा। कोई भी विभाण्डक के अत्यधिक कुपित हो जाने के भय से उनके पास जाने को तैयार न होता था। अन्त में आपस में परामर्श करके उन लोगों ने अत्यन्त सुन्दर यौवन मदमाती वेश्याओं को ऋषि को मोहित करने के लिए भेजा। ये सब आश्रम के निकट पहुँच गईं। दैवयोग से श्रृंगी ऋषि अग्निहोत्र के लिए लकड़ी लेने वहाँ आये। वे इस सौन्दर्य-राशि को देखकर आकर्षित हो गये और उन्होंने इन वेश्याओं को देवकुमार समझा क्योंकि वे स्त्री-पुरुष के भेद से अनभिज्ञ थे। समय के प्रवाह से वे वेश्यायें श्रृंगी ऋषि को नाना प्रकार के क्रीड़ायें, योग-क्रिया के नाम से सिखातीं और फिर उनका अभ्यास करातीं इस प्रकार विषय से अनभिज्ञ ऋषि रसना व नेत्रों के मोहक जाल में आबद्ध हो गये। उनके ही आकर्षण में श्रृंगी ऋषि अङ्गदेश पहुँचे जहाँ उनके पदार्पण से वर्षा हुई। राजा रोमपाद ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया और उनको सदा अपने यहां रखने के लिए राजा दशरथ की धरोहर कौशल्या जी की कन्या शान्ता के साथ उनका विवाह कर दिया। आज भी अनेक सन्यासी व वीतरागी सन्त इस आश्रम में निवास कर भगवत्भजन करते है।

तहसील भोगनीपुर में निगोही ग्राम के निकट डेरापुर से आठ मील दूर सेंगुर नदी के किनारे उग्र तपस्वी क्रोध-मूर्ति अत्रि मुनि के पुत्र दुर्वासा ऋषि का आश्रम हैं जिन्होंने विश्वामित्र व मेनका की औरस जाता तथा कर्ण मुनि की पालिता पुत्री शकुन्तला को, जो महाराज दुष्यन्त की रानी हुई, भयंकर शाप दिया था। शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर हमारे देश का भारतवर्ष नाम पड़ा। यह आश्रम सेंगुर नदी की एक ऊँचीं कगार पर स्थित है नीचे से ऊपर जाने के लिए कई सोपान हैं। आश्रम के पास कई समाधियाँ हैं।

डेरापुर तहसील में बनीपारा एक कस्बा है जो रावण के प्रतिद्वन्द्वी महाबली बाणासुर की राजधानी थी। वहाँ बाणेश्वर महादेव का मेला भी शिवरात्रि के अवसर पर लगता है। ये मूर्ति बलि पुत्र बाणासुर ने स्थापित की थी। वहीं पर उसकी पुत्री ऊषा को अपनी पौत्र वधू बनाने के लिए भगवान् कृष्ण ने युद्ध किया था और शिव जी की सहायता आने पर भी उसको हराकर ऊषा

अनिरुद्ध विवाह सम्पन्न किया था।

कानपुर जिले की भोगनीपुर तहसील में मुगल रोड पर पुखरायाँ व घाटमपुर के मध्य यमुना जी के किनारे मूसानगर एक कस्वा है। वहाँ पर मुक्तादेवी का प्राचीन मन्दिर है जिसके लिये कहा जाता है कि इसको परम भागवत असुरराज प्रह्लाद जी के पौत्र व वाणासुर के पिता दानवीर राजा बलि ने जिनके दान यज्ञों का फल भंग करने के लिए वामनावतार हुआ था, बनवाया था। यहीं पर एक जलाशय है जिसे देवयानी तालाब कहते हैं। इन बातों से पता चलता है कि मूसानगर या तो राजा बलि की राजधानी थी या उनके गुरू शुक्राचार्य का आश्रम था।

कानपुर जिले के कई स्थानों में बौद्ध कालीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मकनपुर का समीपवर्ती अरौल नामक स्थान सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान राहुल सांकृत्यायन के अनुसार बौद्धकाल में आलम्बिकापुरी कहलाता था जहाँ एक बार महात्मा गौतम बुद्ध ने चातुर्मास किया था।

जिस समय सन् १८५७ की क्रान्ति प्रारम्भ हुई, कानपुर में बंगाल तोपखाना की कुछ टुकड़ियाँ विद्यमान थीं। इस फौज के कमाण्डर सर ह्यू ह्वीलर थे। सन् ५७ के अप्रैल में नाना साहब ने लखनऊ की रहस्यपूर्ण यात्रा की। ४ जून को कानपुर में क्रान्ति का श्री गणेश हुआ। नाना साहब ने ६ जून को बारह घण्टे की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् अंग्रेजों के नये किले पर चढ़ाई बोल दी जो अन्ततोगत्वा २५ जून को अंग्रेजों द्वारा समर्पण किया गया। नाना साहब की शर्तें स्वीकार कर ली गईं और अंग्रेज इलाहाबाद के लिए प्रस्थित हुए। जनरल ह्वीलर और अन्य अंग्रेज मारे गये। इस प्रकार २८ जून को नाना साहब ने कानपुर की विजय के उपलक्ष में एक दरबार गंगा नहर के किनारे उस स्थान पर किया जहाँ आजकल पानी की चक्की है। इस प्रकार १८५७ की क्रान्ति में कानपुर का विशेष योगदान रहा।

इतनी लम्बी सांस्कृतिक तथा धार्मिक विरासत के बाद भी आज के कानपुर महानगर की संस्कृति, जीवनात्मक संघर्ष की श्रम-संस्कृति है।

आन्तरिक सर्वेक्षण तथा ज्ञातव्य यह अवश्य प्रमाणित करते हैं कि आज के कानपुर महानगर में भी धर्म, संस्कृति, साहित्य, शिक्षा, कला तथा इतिहास की संस्थाएँ किसी अन्य नगर से कम नहीं हैं और उनमें जीवन धर्मी चेतनाएँ भी सक्रिय रहती हैं किन्तु बाह्य दृश्यावलोकन मर्माहत कर सिद्ध करते हैं कि जीवन-यापन के लिए निरन्तर आकुल-व्याकुल श्रम-संघर्षशील उद्योग के कारण, आज का कानपुर, भौतिक समस्याओं के समाधान की संस्कृति का युद्ध-क्षेत्र बन गया है।

इसीलिए कानपुर के जनजीवन के लिए गंगा जी की पवित्रता संदिग्ध हो गयी है। सामान्य आदमी के लिए गंगा-स्नान तथा गंगा-मेला त्योहारी हो गया है। कानपुर में मंदिरों का बाहुल्य है। कानपुर का राधाकृष्ण मंदिर अपनी भव्यता-दिव्यता के लिए देश-प्रसिद्ध है। लेकिन इतने विशाल मन्दिर के निर्माण तथा उससे सम्बद्धता की सिद्धियाँ प्रमाणित करती हैं कि यह सारा अस्तित्व व्यक्तित्व, भौतिक सुविधाओं की खोज का प्रभुत्वपूर्ण परिणाम है। इसी प्रकार साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा कला की संस्थाओं ने भी अपनी आत्म-संस्कृति से विमुख होकर युग-धर्म की व्यावसायोन्मुख संस्कृति का लक्ष्य, अपनी वैयक्तिक तथा सामाजिक गतिविधियों के लिए स्वीकार किया है।

इस भौतिक तथा वैज्ञानिक प्रभुत्व के जागरण-युग में जनाभिरुचि के अनिवार्यतः व्यावहारिक तथा व्यावसायिक हो जाने के बाद भी कानपुर महानगर के विशाल जन-समुद्र में सांस्कृतिक मणि-मुक्ताओं का अकाल नहीं है और सांस्कृतिक गतिविधियों के रूपों-स्वरूपों की दिव्य झांकियाँ, संत्रस्त तथा संघर्षशील जीवन को भी अध्यात्म तथा धर्म की आत्मधारा की ओर प्रभावित-प्रवाहित करती रहती हैं।

उपर्युक्त कथन के संदर्भ में सृष्टि की मूल संस्कृति पर विचार अनिवार्य है। सृष्टि तथा संस्कृति पर कभी भी पुरुष का एकाधिकार नहीं रहा वरन् सत्यता यह है कि सृष्टि तथा संस्कृति के दायित्व-निर्वाह का आत्म-स्वीकृति अधिकार नारी पर रहा है। कानपुर महानगर का सामान्य पुरुष-समाज निश्चित रूप से आज पूर्णतः भौतिकोपासक हो गया है किन्तु घर-आंगन का नारी-

समाज जीवन की सांस्कृतिक पूँजी के संरक्षण-संवर्द्धन के प्रति पूरी तरह सावधान है। इसीलिए घर में तीज-त्योहारों के व्रतानुष्टान श्रद्धापूर्वक सम्पन्न होते हैं। मन्दिरों में कथा-कीर्तन के समवेत स्वर घंटा-घंटियों, ढोलक तथा झांझ-मंजीरों की तालबद्ध ध्वनियों के साथ सुबह–शाम गूंजते रहते हैं। अतिथि, साधु-सन्यासियों तथा याचकों की सेवा सहायता की आस्थाएँ, द्वार-देहरी पर प्रतीक्षारत रहती है और धार्मिक तथा सांस्कृतिक त्योहारों के महोत्सव, आत्मानन्द की दिव्यानुभूतियों से सराबोर करते हैं।

कानपुर महानगर की सांस्कृतिक चेतनाओं तथा उनकी सक्रियताओं के आधार, वर्तमान भौतिकतावादी संघर्ष से आगे धर्म-क्षेत्र की अनात्मवादी महत्वाकांक्षाओं से भी प्रभावित हुए हैं, जिनका आचरण, धर्मों के धारक प्रचारक साधु-सन्यासियों के इर्द-गिर्द जुटायी गयी भीड़ से सेवित होता है। इन अनेक कारणों से कानपुर महानगर की सांस्कृतिक चेतना भी देश तथा काल की गति-प्रगति के साथ झंकृत है और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि देश-काल के आह्वान पर कानपुर भी इतिहास की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त अवदान समर्पित कर सकेगा।

# धर्मान्तरण का शिकार हिन्दू

**डा० यतीन्द्र तिवारी**

बाँदा

आज के हिन्दुस्तान में हिन्दू समाज, अनास्था, असन्तोष, घुटन अन्त:आक्रोश एवं अन्य धर्मावलम्बियों के शोषण एवं धर्मान्तरण का शिकार हो रहा है यहां का यह बहुसंख्यक समाज धीरे-धीरे अल्पसंख्यक हो रहा है। कितना ही मिथ्या प्रचार क्यों न हो परन्तु यह सत्य किससे छिपा है कि आज भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में हिन्दू अल्पसंख्यक होकर अनेक सामाजिक एवं आर्थिक विभीषिकाओं से जूझ रहा है। एक ओर धर्म निरपेक्षिता के नाम पर हिन्दू धार्मिक कार्यक्रमों एवं कर्मकाण्डों को अप्रासंगिक कहकर उपेक्षा की जा रही है। दूसरी ओर सत्ता प्राप्ति की होड़ एवं राजनैतिक लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से अन्य धर्मावलम्बियों के कार्यक्रमों को प्रश्रय प्रदान किया जा रहा है। वस्तुत: ऐसे समय में महामना मदनमोहन मालवीय जी के विचार एक जीवनी शक्ति प्रदान करते हैं। मालवीय जी ने कहा था "हिन्दुओं को आज अपने संरक्षण की बड़ी आवश्यकता है। बर्बरतापूर्ण आक्रमण, मिथ्या राजनीतिक प्रचार अथवा मेल-मिलाप नीति की मिथ्या कल्पना के द्वारा हिन्दू अपने धर्म को मरने देना नहीं चाहते, अपनी संस्कृति को मिटने देना नहीं चाहते और न अपनी संख्या को घटने देना ही चाहते हैं। यदि हिन्दू अपनी रक्षा नहीं करेंगे तो वे मर जायेंगे यदि वे अपना संगठन नहीं करेंगे तो उन्हें नष्ट होने में देर नहीं लगेगी..............उन्हें अकर्मण्य बिल्कुल नहीं रहना चाहिये।" महामना के यह विचार जहाँ एक ओर प्राण फूकते हैं वहीं दूसरी ओर आज के सत्तावादी राजनैतिक दलों द्वारा किये गये मिथ्या प्रचारों की धुन्ध में खोया हिन्दू अपने को हिन्दू कहने में इसलिए संकोच करता है कि कहीं उस पर साम्प्रदायिक होने का आरोप न लगा दिया जाय। आज के हिन्दू समाज में घटता हुआ आत्मविश्वास अत्यन्त चिन्तनीय है।

हिन्दू प्रारम्भ से ही उदारतावादी रहा है। वह अपनी झोपड़ी जलाकर दूसरों के महलों का निर्माण करता रहा है। क्योंकि उसका यह व्यवहार उसके तत्वज्ञान 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुरूप ही रहा है। जिनका परिणाम यह हुआ है कि महलों की संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि अब झोपड़ी बनाने तक का स्थान शेष नहीं रहा है।

यदि हिन्दू शान्ति और समृद्धता के साथ चिरकाल तक जीना चाहता है तो उसे निश्चय ही हिन्दू धर्म का आदर करना ही पड़ेगा उसके आदर्शों को जीवन में उतारना पड़ेगा। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म विश्व मानव समाज के लिए आदिकाल से लेकर अद्यावधि प्रासंगिक रहा है और आज भी है। यही कारण है कि विश्व के भोगवादी एवं भौतिकतावादी देशों में भारतीय साधू सन्तों का प्रभाव बढ़ रहा है। अनेक स्थानों पर मन्दिरों एवं धर्म प्रचार प्रतिष्ठानों का निर्माण इस कथन की प्रामाणिकता है। किन्तु विडम्बना यह है कि इसके विपरीत अपने ही देश में उतनी ही उपेक्षा हो रही है। ऐसे समय में स्वामी विवेकानन्द जी के वाक्य स्मरण हो आते हैं—"विचार प्राप्त करने के लिये भारत की ओर

आना पड़ेगा, हिन्दुओं की ओर आना पड़ेगा, वस्तुतः 'हिन्दू' एक विचार है, एक दृष्टि है, आत्मानुभूति एव आत्म साक्षात्कार है। यही कारण है कि वैष्णव, शैव, शाक्त, वेदान्त, सिक्ख, जैन, बौद्ध, आस्तिक, नास्तिक आदि सभी इसकी सीमा में समाहित हैं। इस देश की पवित्र भूमि पर आदि काल से ऋषियों, महर्षियों के तप और साधना और साधना से युक्त एक सफल जीवन पद्धति ही हिन्दू जीवन पद्धति है। इसीलिए हिन्दू की पहचान और व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि उसके लिए कोई एक पोथी एक विशिष्ट उपासना पद्धति, एक कार्यक्रम या पर्व मात्र ऐसा नहीं है कि जिसके मानने मात्र से किसी को हिन्दू कहा जा सके। जैसा कि अन्य धर्मों में है। हिन्दू धर्म में विभिन्न विचारों का समन्वय एवं आदर्शों का सश्लिष्ट समूह है। हिन्दू धर्म में सभी कुछ समाहित है। इस सन्दर्भ में महात्मा गांधी के विचार स्वतः ही स्मरण हो आते हैं। उन्होंने कहा था—"कोई भी सच्चा हिन्दू ही सच्चा ईसाई भी है।" अस्तु हिन्दू परम्परा और जीवन दर्शन से सम्बद्ध कोई भी व्यक्ति पृथकतावादी, अलगाववादी प्रवृत्ति का पोषक हो ही नहीं सकता है।

स्वाधीनतोपरान्त हिन्दू समाज के समक्ष अनेक चुनौतियां ऐसी उपस्थित हो गई हैं कि जिनका मुकाबला तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कोई सशक्त हिन्दू संगठन अस्तित्व में नहीं आता है। स्वाधीनतापूर्व अंग्रेजों के शासनकाल में तथा इससे पूर्व इस्लामी शासन काल में अनेक हिन्दू धर्म संगठन एवं धर्मोद्धारक हुये जिन्होंने हिन्दू अस्तित्व को नष्ट होने मात्र से ही नहीं बचाया वरन् पाश्चात्य देशों में भी हिन्दू धर्म की यशस्वी प्रतिष्ठा स्थापित की। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् स्थापित लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था ने धर्म निरपेक्षता की धुन्ध में यदि सबसे अधिक किसी भी धर्म को विलुप्त करना चाहा है तो वह हिन्दू धर्म ही है, आज अपने को धर्म निरपेक्ष कहने वाली सरकार धर्म निरपेक्षता का मिथ्या आडम्बर प्रस्तुत कर अपने राजनैतिक लाभों को प्राप्त करने मात्र में सचेष्ट है। बेईमानी, भ्रष्टाचारी, धोखाधड़ी के साम्राज्य में धर्म निरपेक्षता भी इससे अछूती नहीं रह गयी है। सुप्रसिद्ध लेखक श्री अज्ञेय जी ठीक ही कहते हैं कि "कालेधन से शासित समाज में हम 'एक नम्बर' और 'दो नम्बर' की आय या पूंजी की बातों के आदी हो गये हैं। तो क्या धर्म निरपेक्षता भी एक काला धन है, और वहाँ भी 'एक नम्बर' ओर 'दो नम्बर, की धर्म निरपेक्षता चलती है'—

'दो नम्बर' की धर्म निरपेक्षता से सन्तुष्ट न रहकर एक नम्बर की धर्म निरपेक्षता कायम करनी होगी जो स्वयं भारतीय धर्म दृष्टि से प्रमाण पर टिकी हो।" वस्तुतः सच्ची धर्म निरपेक्षता तो वह है जो अनेक मत, मतान्तरों, वादों, सम्प्रदायों आदि के होते हुए भी एक सूत्र में बाँध सके इस दृष्टि से हिन्दू धर्म एक ऐसा धर्म है जो वास्तव में 'एक नम्बर' की धर्म निरपेक्षता स्थापित कर सकता है।

हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति तप, त्याग साधना एवं कर्म प्रधान संस्कृति है। करुणा, उदारता और त्याग इसकी विशेषतायें हैं। परन्तु अहंकारी शक्तियों के समक्ष करुणा-पूरित होकर चुपचाप मौन बना रहना इसे स्वीकार नहीं। अतीत इसका साक्षी है। जब-जब आवश्यकता हुई है अहंकारी शक्तियों के दमन के लिए इसने धनुष-बाण लेकर, निरुपाय और असहाय लोगों की सेना संगठित कर उनका दमन किया है और सत्य की प्रतिष्ठा की है। हिन्दू धर्म की सार्थकता इसी में है कि इसने सबकी उन्नति में अपना उन्नयन माना है। डा० विद्यानिवास मिश्र ठीक ही लिखते हैं कि "यह आकस्मिक नहीं था कि रामायण और महाभारत के माध्यम से भारत ने और देशों तक यात्रा की। दूर-दिगन्त के मानस को रामायणमय और महाभारतमय बनाया। रामायण और महाभारत के साहित्यिक गुण ही ऐसे थे जो मानव मात्र के लिये अनुकरणीय है और रहेंगे। भारतीय होने का अर्थ ही इन ग्रन्थों में सबका होना है। सबका होकर सबको उन्नयन की राह पर ले जाना है।" इस संदर्भ में मैं कहना चाहूंगा कि आज कुछ लोग अपने राजनैतिक लाभों के लिए यह कहते हुए जरा भी संकोच नहीं करते कि हिन्दू धर्म इस्लाम और ईसाई धर्म का विरोधी है।

वस्तुतः 'हिन्दू' होने का अर्थ इस्लाम और ईसाई धर्म का विरोधी नहीं यह नितान्त मिथ्या और झूठा प्रचार है– हिन्दू धर्म किसी भी मत 'सम्प्रदाय, मजहब का विरोधी नहीं उसके लिये सभी पंथ पूज्यनीय है। वह तो 'सियाराम मय सब जग जानी'। में विश्वास करने वाला है। किन्तु इतना सत्य अवश्य है कि वह किसी भी धर्म की हठ-धर्मिता को स्वीकार नहीं करता है यह बात केवल हिन्दू धर्म के लिए ही लागू हो ऐसा नहीं है कोई भी अस्मितावान धर्म इस प्रकार की हठवादिता को स्वीकार नहीं कर सकता है।

आज सत्ता की होड़ और राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनावटी त्याग और उदारता का सहारा लेकर सर्वथा अनुचित अहितकारी जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जा रहा है। इसलिए आवश्यकता है अपने उन आदि स्रोतों को पहिचानने की तथा संस्कृति की रक्षा के लिए वीर बलिदानियों के इतिहास से रोमांच ग्रहण करते हुए सांस्कृतिक पुनर्जागरण की। यदि मैं यह कहूं कि आज बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतीक्षा है किसी महाराणा प्रताप, शिवाजी, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ या वीर सावरकर की जो हिन्दुओं की संगठित दीप ज्योति जला सके और अंगारे पर जमी राख कुरेद सके

# कानपुर जनपद का साहित्यिक विकास

—कैलाशनाथ त्रिपाठी शास्त्री

कानपुर

गगनचुम्बी चिमनियों के उगलें हुए घुएँ से छन-छन कर आती सूरज की रोशनी और भीड़ भरी सड़कों में ठेलों की गड़गड़ाहट की आवाज लम्बी होती जा रही आवादी में बेरोजगारों और छटनीशुदा मजदूरों की लम्बी कतार—कुछ यही तस्वीर बनती है, इस महानगर की पूरी दुनियाँ में। लेकिन उस धुंधलके में छिपी जिजीविषा, भीड़ों में खोई जिन्दगी और भुखमरों की टोली में कराहती व्यथा की पहचान न हो सके तो इसके लिए बेचारे कानपुर का क्या दोष ? कानपुर महानगर है अपनी भाषा में, सरकारी भाषा में नहीं। यह नाम कुछ हद तक बेमानी भी नहीं है क्योंकि जिन्दगी की जितनी तस्वीरें यहां बनती—बिगड़ती रहीं हैं उतनी शायद कहीं नहीं बनीं और इन तस्वीरों को तराशा है उन संवेदनशील साहित्यकारों ने जिन्होंने दूर खिसकती-सिसकती गंगा की हर लहर की भांति उद्योगीकरण के कारण चरमराती जिन्दगी को झेला है, भोगा है दर्द को, पीड़ा को और उड़ेल दिया है सारी वेदना को साहित्य के माध्यम से ! इतने दर्द को झेलने वाले कवि के सामने बस एक ही रास्ता था जहर को पचाते रहना इसीलिए कवि नवीन के कण्ठ से पूरे महानगर की आवाज फूटी थी 'हम विषपायी जनम के'। बड़े-बड़े इतिहास ग्रन्थों में कानपुर के साहित्यकारों के जाने कितने नाम डूब गये, जाने कितने मूर्धन्य अपने नाम से तो चले पर इस महानगर की धरती को हरियाली नहीं दे सकें। कानपुर साहित्य का केन्द्र नहीं बना, साहित्य के नाम पर गुटबाजी नहीं हुई, अखाड़े नहीं खुले लेकिन इससे क्या होता है ? कानपुर की रचनात्मक ऊर्जा का प्रतिफलन होता रहा। यहां साहित्कार जन्में, बढ़े और इतना ही नहीं सम्पूर्ण साहित्यिक धारा को बढ़ाया और मोड़ भी दिया। इससे अधिक महत्वपूर्ण योगदान क्या हो सकता था ?

कानपुर तब शैशव में था। अंग्रेज सैनिकों के शिविर के रूप में उभरता एक छोटा सा कस्बा, जो महानगर बन गया लेकिन यह उसके वर्तमान नगर-जीवन की पीठिका थी। साहित्यिक दृष्टि से तो चितामणि, मतिराम और भूषण की परम्परा बहुत पहले पल्लवित हो चुकी थी पूरी वंश परम्परा में कालिदास त्रिवेदी, उदयनाथ कवीन्द्र और दूलह जैसे आचार्यों का युग बीत चुका था और पदमाकर की गंगालहरी की गूंज झंकृत हो चुकी थी। अपने प्राचीन परिवेश में कानपुर का यह विशिष्ट साहित्यिक अतीत उसके अजस्र स्रोत का परिचायक था।

उन्नीसवीं शती के पश्चात् सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य ने अँगड़ाई ली। प्राचीनता के व्यामोह से छूटा साहित्य क्षेत्रीयता से उठकर राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख हुआ। काव्य जगत से बढ़कर निबन्ध, नाटक, समीक्षा, कथा-साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में नये क्षितिज का निर्माण प्रारम्भ हुआ। यह समग्र रूप से नये भारत के

सुखद भविष्य की कल्पना थी, जिसमें सम्पूर्ण हिन्दी साहित्यकारों ने योगदान दिया और उस 'नयी' चेतना की दृष्टि से कानपुर पीछे नहीं रहा। इसी महानगर के पं० जुगल किशोर शुक्ल ने कलकत्ता में हिन्दी पत्रकारिता की नींव डाली और हिन्दी के प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन ३० मई १८२६ से प्रारम्भ किया।

शनैः शनैः साहित्याकाश में 'भारतेन्दु' का उदय होने लगा और संपूर्ण साहित्यिक-वर्ग उसके इतस्ततः मँडराने लगा। साहित्य में नई वाणी मुखर हुई। यह हिन्दी गद्य के अंकुरण का युग था और इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई पं० प्रताप नारायण मिश्र ने, जो भारतेन्दु मण्डल के यशस्वी नक्षत्र थे। मिश्र जी निबन्धकार के रूप में ख्यात रहे लेकिन कवि, नाटककार, पत्रकार, आदि के रूप में उनका अवदान कम नहीं है पं० प्रतापनारायण मिश्र की साहित्यिक प्रतिभा का समुन्नयन कानपुर में हुआ और उनका कर्मक्षेत्र भी यही महानगर रहा।

भारतेन्दु के अस्ताचलगामी होने तक हिन्दी साहित्य विधावैविध्य की दृष्टि से एक स्पष्ट राह बना चुका था। इसके समानान्तर परम्परित काव्य धारा का प्रभाव भी अक्षुण्ण था लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक काव्य धारा ने एक नया मोड़ लिया और खड़ी बोली को कविता में महत्व दिया जाने लगा। आचार्य द्विवेदी उस युग की साहित्य निर्मात्री पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक थे तथा साहित्यिक अस्मिता के लिए सरस्वती एक निकष थी। यहां उल्लेखनीय है कि सरस्वती का प्रकाशन प्रयाग से होता था किन्तु आचार्य द्विवेदी कानपुर में ही रहते थे अतः सम्पादकीय प्रभार इसी महानगर में उठाया जाता था। इस प्रकार कानपुर ने आचार्य द्विवेदी के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र में अपना वर्चस्व बनाए रखा और इस नयी काव्य-चेतना का केन्द्र कानपुर बना। राय देवी प्रसाद पूर्ण, पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' लक्ष्मीधर वाजपेयी इस काल के प्रमुख कवि थे जो भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से नवीनता के पोषक थे। हिन्दी साहित्य में इस नयी चेतना के साथ परम्परित व्रजभाषा काव्य धारा भी प्रवहमाण थी और हिन्दी साहित्य के लिए कानपुर की यह विशिष्ट देन रही है कि प्राचीन व्रजभाषा के अधिकांश उल्लेखनीय कवियों का नाम इस महानगर से जुड़ा है और उस परम्परा के प्रमुख कवि 'सनेही' जी जो इस महानगर से सम्बद्ध थे, की छाप तो समस्त हिन्दी प्रदेश के व्रजभाषा कवियों पर पड़ी है। यद्यपि सनेही जी के पूर्व गदाधर भट्ट, मुन्शी कालीचरण 'सेवक' और राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' भी व्रजभाषा में काव्य रचना कर रहे थे किन्तु आधुनिक युग की समस्त विशेषताओं को समेटे प्राचीन शैली को काव्य में प्रतिष्ठित करने वालों में सनेही जी और उनके मण्डल के कवियों का ही उल्लेख किया जा सकता है जिनमें केशवदेव शास्त्री 'केशव', जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' आदि उल्लेखनीय हैं। भावात्मक और पौराणिक चेतना से जुड़े कवियों में राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' और डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' प्रमुख हैं।

द्विवेदी युग के उपरान्त हिन्दी साहित्य में १९१८ के लगभग छायावादी प्रवृत्तियों का विकास होने लगा था। इस नयी काव्य चेतना की लघुत्रयी में महादेवी रामकुमार वर्मा और भगवती चरण वर्मा उल्लेखनीय रहे इनमें भगवती चरण वर्मा कानपुर के गौरव थे उनकी कविताएँ प्रेम और अनुभूति की तीव्रता की तरलता से आप्लावित हैं। एकान्तिक प्रेम और स्वच्छन्द जीवन की अनुगूँज उनके काव्य में मिलती है। कवि कहता है—

हम दीवानों की क्या मस्ती,
हैं आज यहां कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

उन्मुक्त प्रेम की दृष्टि से नयी और पुरानी दोनों काव्य शैलियों के कवियों का विशेष महत्व है। एक ओर सनेही जी के नेतृत्व में हितैषी जी, हृदयेश अभिराम आदि की कविताएँ प्रशंसित हो रही थीं तो दूसरी ओर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रागिनी मुखरित थी। हितैषी जी का हिन्दी और उर्दू दोनों पर समानाधिकार था और उनके पास जन प्रचलित भाषा में भावोद्वेलन की असीम शक्ति थी। मातृ गीता, वैताली, कल्लोलिनी, दर्शना उनकी प्रमुख काव्य रचनाएँ है। कोयल पर प्रस्तुत यह कविता अवलोकनीय है—

किस व्याकुल मत्त की मत्तता है,
जो समाकुला औ मतवाली हुई तू।
किस डोलते चित्त का चित्र है,
जो प्रति डाली पै डोलने वाली हुई तू।
वह कौन अभागी की भाग्य निशा है
जो हाय सुभाग्य से खाली हुई तू।
किस दग्ध कलेजे के कोयले से,
वन के अरी कोयल काली हुई तू॥

सनेही जी की परम्परा के कवियों की एक विशेषता यह रही है कि वे राष्ट्र के प्रति सदैव सजग रहते थे और कांग्रेस की नीतियों का समर्थन करते हुए भी स्वतन्त्रता के लिए हर कुर्बानी को महत्वपूर्ण मानते थे। स्वयं सनेही जी ने स्वतंत्रता और समता का समर्थन करते हुए दमन और शोषण का प्रतिरोध किया है। वे कहते हैं—

सुख दुख सम सबके लिए हों इस नये समाज में।
सब का हाथ समान हो लगा तख्त में ताज में॥

इस काल के अन्य कवियों में शिवाधार पाण्डेय, अवधेश मालवीय, दयाशंकर दीक्षित 'देहाती', सरपूजन, देवीशंकर शुक्ल, 'प्रणयेश', हरिनारायण गौड़ 'हरिजू' प्रमुख हैं।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उनकी रचनाओं में कुंकुम, रश्मि रेखा, अपलक, क्वासि आदि साहित्येतिहास की चर्चित कृतियां हैं। कवि नवीन का समग्र जीवन कानपुर को समर्पित था। उनकी कविताओं में एक ओर उन्मुक्त प्रेम है तो दूसरी ओर ओज और पौरुष का उद्दाम स्वर, वेदना की गहराई है तो संघर्ष की दुर्धर्ष चेतना। विभीषिका को भोगने और उससे जूझने का साहस नवीन के काव्य में मिलता है। नई काव्य शैली में उनका विशिष्ट स्थान है। एक ओर वे कहते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये॥

तो दूसरी ओर यह स्थिति है—

क्या पूछो हो पता हमारा, हम हैं अगृह अनाम।
यही पता है कि है कहीं भी अपनी नहीं कुटीर।
सखी री हम हैं मस्त फकीर।

इस 'अनिकेतन' कवि ने राष्ट्रीय चेतना को प्रेरक स्वर दिया और इसी के समानान्तर कानपुर के अन्यान्य कवियों ने भी अपनी कथनी और करनी दोनों से विदेशी दासता के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया। हृदयेश जी, अभिराम, छैल बिहारी दीक्षित 'कंटक', करुणा शंकर शुक्ल 'करुणेश', श्री निधि द्विवेदी, रामनाथ गुप्त, सत्यनारायण पाण्डेय 'सत्य', देवेन्द्रनाथ पाण्डेय 'शास्त्री', तक संघर्ष के लिए सन्नद्धता और उन्मुक्तता का चित्रण करते रहे और समग्र काव्य प्रवाह प्रेमाकुलता और स्वतन्त्रता का समाहार बनकर प्रस्तुत हुआ है।

स्वतंत्रता के पश्चात् काव्य चेतना वादों के विवादों में बँधने लगी। जहाँ बड़े-बड़े नगरों में साहित्य गुटबाजियों के द्वारा महन्तों के निर्देश पर सृजित होने लगा वहीं कानपुर का साहित्यकार अपनी स्वतंत्र अस्मिता को सँजोये हुए जीवन की अभिव्यक्ति करता था। यहां का कवि संघर्ष-शील तो था लेकिन उसे 'तोड़ने' का आडम्बर पसंद नहीं था। इसीलिए जब प्रगतिवादी काव्य की प्रबलता थी तो भी कानपुर की कविता नए और पुराने के विवाद में न पड़ कर सोई हुई मानवता को जगाती रही और जागने वालों को शक्ति पुंज बन कर रहने की प्रेरणा प्रदान की। इसी के साथ प्रेम और भावमयी काव्यधारा भी बढ़ती रही। इस काल के कवियों में वेदना और प्रेम की दृष्टि से शकुन्तला श्रीवास्तव, श्री कृष्ण टण्डन, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', गोविन्द प्रसाद त्रिपाठी 'अनल', श्याम बिहारी शुक्ल 'तरल', सूर्यकुमारी दीक्षित 'ऊषा', रमाकान्त श्रीवास्तव आदि प्रमुख हैं। इनमें कहीं सनेही युगीन प्राचीन शैली का प्रभाव है तो कहीं प्रेम का सहज नैसर्गिक स्वरूप। चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' में बिरह की वेदना और व्यक्तित्व-विसर्जन की उत्कण्ठा विद्यमान है—

पिंजरे में जो पंछी बन्दी,
मुझको होकर दीन निहारे।
उड़ जा रे अब देर न कर तू,
खोल युगों से बंद किवारे॥
चुन लो हंसा आज विदा के देती दो मोती के दाने।
मेरे नैन रैन न जाने॥

इस नयी प्रेममयी काव्य धारा के अतिरिक्त नए

श्रमिक आन्दोलनों, उद्योगीकरण के कारण बढ़ती बेरोजगारी, राजनीतिक भ्रष्टाचारों और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने के लिए साम्यवादी विचार धारा के कवियों ने वर्गीय दृष्टि से साहित्य-सृजन प्रारम्भ किया और इस परम्परा में शीर्षस्थ रहे मन्नूलाल शर्मा 'शील'। शील की कविता में मार्क्सवाद का राजनीतिक रंग ही अधिक मिलता है क्योंकि उन्होंने काव्य को राजनीतिक प्रचार का माध्यम अधिक बनाया है और कविता को उसका वाहक मात्र माना है। चर्खाशाला, अँगड़ाई, एक पथ और उदय पथ उनकी प्रमुख काव्य रचनायें हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि जिस कानपुर से सनेही जी ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को निर्देशित किया था और कवि नवीन ने पूरे हिन्दी प्रदेश की चेतना को झकझोरा था वहीं नयी धारा के कवि किसी 'सोच' को बढ़ाने के बजाय परमुखापेक्षी हो गये हैं। यद्यपि इनमें कुछ पुरानी परम्परा के कवि अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रहे हैं, जिनमें रुद्रदत्त शेषर, राम मनोहर त्रिपाठी, देवी प्रसाद 'राही' जैसे गीतकार भावना के पुष्प को गुलदस्ते में सँजो कर सस्ती लोकप्रियता का शिकार बन गये हैं और युग चेतना के पीछे रह गये हैं परन्तु कानपुर के हस्ताक्षर के रूप में नीरज हिन्दी-काव्य के कण्ठहार अब भी बने हैं। नीरज में प्रेम, मस्ती, वेदना तो है ही परिवर्तन की पुकार भी है। गीतों के माध्यम से वे सम्प्रेषणीय भी अधिक रहे हैं। नीरज में अँधेरे के पीछे छिपी प्रकाश की तीव्र किरण है और मानवता के प्रति अडिग विश्वास है—

सृजन है अधूरा अगर विश्व भर में,
कहीं भी किसी द्वार पर है उदासी।
मनुजता नहीं पूर्ण तब तक बनेगी,
कि जब तक लहू के लिए भूमि प्यासी।
चलेगा सदा नाश का खेल यूँ ही,
भले ही दीवाली यहाँ रोज आये।
जलाओ दिये पर रहे ध्यान इतना,
अँधेरा धरा पर कहीं रह न जाये॥

इधर नये गीतकारों में कुछ नाम, नये होकर उभरे हैं, वास्तव में इन गीतकारों के नाम नये नहीं हैं किंतु उनका सृजन, अपेक्षाकृत अधिक नयेपन का स्वरूप बनकर उजागर हुआ है, वे पर्याप्त चर्चित हो रहे हैं और गीत साहित्य की उन ऊचाइयों को प्रकाशित भी करते हैं जो वादों की भीड़ तथा अभिव्यक्ति की दुरूह विविधता में उपेक्षित एवं अदृश्य हो गयी थीं। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन गीतकारों पर युगीन उपलब्धियों का प्रभाव पड़ा ही नहीं। काश! ऐसा न होता। तब इन गीतकारों का स्वर अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक एवं अधिक लोक-जीवी होता नव गीतवादी कवियों में डा० शिव बहादुर सिंह भदौरिया, डा० उपेन्द्र, राही, सिद्धेश्वर अवस्थी प्रमुख हैं, जबकि मयंक, निर्गुण अवस्थी पुष्पा सक्सेना, मनीषा, शतदल, आदित्य अग्निहोत्री, विनोद श्रीवास्तव तथा चन्द्रेश आदि साधनाशील हो पथ खोज रहे हैं। हिन्दी नवगीत विधा के प्रति आसक्त यह नयी कवि-पीढ़ी, साहित्य से विरक्त भावना और बौद्धिकता के प्रति अनुरक्त सम्प्रेषण की समस्या तो प्रस्तुत करती है किंतु उस सम्पूर्ण वैचारिक धरातल का सृजन नहीं करती जो जीवन के आनंद को, लय तथा संगीत के सामयिक प्रभाव से मुक्त कर प्रतिष्ठित कर स्थायित्व प्रदान करता है।

नवगीतकारों की भाँति प्रकृत काव्य परम्परा से जुड़े कानपुर के कवियों का वैशिष्ट्य भी अवलोकनीय है। प्रकृत परम्परा बौद्धिक चेतना, अतिवैयक्तिकता, वर्जनाहीनता कुण्ठा और संत्रास संयुक्त नाट्यशिल्प और नकारात्मक भाषा को अंगीकार कर रही है, जहाँ शब्द अपने अभिधार्थ से काफी दूर होते जा रहे हैं और उनके साहित्यिक प्रयोग श्लील और अश्लील के माप से उबर चुके हैं। कानपुर की सुमन राजे नयी पीढ़ी की प्रमुख कवयित्री हैं जिन्हें पुराने प्रयोगवाद के 'नए' चौथे तारसप्तक में स्थान मिला है। राजे की कविताओं का संकलन 'सपना और लाश घर' प्रकाशित हो चुका है जिससे उनकी कविता की अपनी पहचान बनती है साहित्य के प्रचलित काव्य-स्वरूपों तथा उनकी विश्लेषणात्मक सूक्ष्माभिव्यक्ति की दृष्टि से सुमन राजे में उल्लेखनीय पकड़ विद्यमान है और इसीलिए 'साहित्य: काव्यों का स्वरूप' जैसी आत्म-भावनामयी कृति ने उन्हें डी. लिट् की उपाधि प्रदान की है। इधर अन्य नए युवा कवियों ने विजय किशोर मानव, सुरेश अवस्थी,

नरेन्द्र पाण्डेय हृषिकेश, आनन्द शर्मा के नाम उल्लेखनीय है, जिनकी कविताएँ भविष्य के प्रति आशा बँधाती हैं और यह सिद्ध करती हैं कि कानपुर की कल्पना-प्रसू वसुन्धरा उर्वर है।

काव्येतर विधाओं में हिन्दी निबन्ध के विकास में कानपुर से पं० प्रताप नारायण मिश्र का योगदान विवेचित हो चुका है। द्विवेदी युग में स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रतिष्ठित निबन्धकार थे। इस प्रकार दो युगों तक कानपुर निबन्ध विधा का नेतृत्व करता रहा। इस काल में अम्बिका प्रसाद त्रिपाठी, कालूराम शास्त्री गदाधर सिंह कानपुर के प्रतिनिधि निबंधकार रहे हैं। कालान्तर में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' हास्य व्यंगात्मक निबंधों में लोकप्रिय हुई। उनके अतिरिक्त रमाशंकर अवस्थी और दुर्गादत्त पाण्डेय भी विशिष्ट निबन्धकार रहे हैं। ये सभी निबन्धकार पं० प्रताप नारायण मिश्र से प्रभावित थे। आचार्य महवीर प्रसाद द्विवेदी की परम्परा में पं० उदय नारायण बाजपेई, लक्ष्मीधर बाजपेयी, गणेश शंकर विद्यार्थी, श्यामलाल पांडेय प्रमुख हैं विद्यार्थी जी मूलतः निबन्धकार नहीं थे किंतु संपादकीय टिप्पणियों और लेखों में व्यक्ति चिन्तन की छाया दिखाई पड़ जाती है। इनके अतिरिक्त सत्य भक्त कानपुर में प्रगतिशील निबंधकारों में रहे हैं परवर्ती निबंधकारों में डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम के अनेक निबंध संकलन मिलते हैं जिनमें भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की सुष्ठु विवेचना हुई है।

सद्गुरूशरण अवस्थी के निबन्ध संग्रह विचार-विमर्श, हृदय ध्वनि, बुद्धि तरंग आदि हिन्दी साहित्य में उत्कृष्ट हैं। आचार्य किशोरीदास बाजपेयी कानपुर के प्रसिद्ध निबन्धकार रहे हैं। उनके स्फुट निबंधों में वैचारिक गाम्भीर्य मिलता है इसके अतिरिक्त सुन्दरलाल त्रिपाठी की दैनन्दिनी, बालकृष्ण बलदुआ कृत 'समाजवादी विचार धारा, प्रमुख हैं। कानपुर में स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी निबन्धों की जो नयी प्रवृत्तियाँ विकसित हुई, उसका अभाव है। ललित निबंधों की दृष्टि से भी अभी तक विशेष कार्य नहीं हुआ है।

हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में कानपुर का योगदान अप्रतिम है। प्रेमचंद से लेकर अद्यावधि औपन्यासिक के क्रम में कानपुर की भूमिका समग्र हिन्दी साहित्य के लिए अविस्मरणीय है। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कानपुर के गौरव थे जिनका कथा-साहित्य में अपना स्थान है। प्रेमचन्द का कार्य क्षेत्र भी कानपुर में अनेक वर्षो तक रहा है तथा उनके साहित्यिक उन्नयन का श्री गणेश करने वाली पत्रिका 'जमाना' का प्रकाशन कानपुर से होता था। इस युग के अन्य सशक्त हस्ताक्षर पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी, प्रताप नारायण श्रीवास्तव और भगवती चरण वर्मा कानपुर की देन हैं। उनके अतिरिक्त सद्गुरूशरण अवस्थी, देवी प्रसाद धवन 'विमल' सोमनारायण सिंह, लक्ष्मी चन्द्र बाजपेयी, रामस्वरूप द्विवेदी प्रतिनिधि कहानीकार रहे हैं।

इधर हिन्दी कथा साहित्य ने नई करवट ली है और प्रेमचंदीय परम्परा विलुप्त हो गयी है कथा साहित्य को नयी मानसिकता से जोड़ने के श्लाघनीय प्रयत्न स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने किए है और समान्तर कहानी, नई कहानी, अकहानी जैसे आंदोलनों ने भाव और शिल्प को नया आयाम दिया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस नयी प्रवृत्ति के विकास में कानपुर के कलाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और यहाँ के अनेक कथाकार नये कहानी आन्दोलन के सजग सवाहक बने हुए हैं। इन नए कथाकारों में गिरिराज किशोर, बलराम, राजेन्द्र राव, कामतानाथ, सुनील कौशिश प्रमुख हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा हिन्दी साहित्य में क्रमबद्ध रूप में नहीं विकसित हुई है लेकिन इतिहास-रस का आलोड़न उपन्यास के उद्भव काल से होता रहा है। वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों की परम्परा में कानपुर का नाम भी जुड़ा हुआ है। डा० वाल्मीकि त्रिपाठी इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की भावमयी घटनाओं को कथा रूप देने में सिद्ध हस्त हैं और 'फिलहाल' जैसे उपन्यास से उन्होंने युग की विसंगतियों पर भी ध्यान केन्द्रित किया है अन्य प्रातिभ लेखकों में चन्द्रिका प्रसाद मिश्र, रसिक मोहन, विनोद रस्तोगी, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' दिलीप कुमार चौधरी प्रमुख रहे हैं।

हिन्दी नाटकों का विकास भारतेन्दु युग से ही होने

लगा था और भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के अन्य रचनाकार नाटकों के प्रणयन में संलग्न थे। प्रताप नारायण मिश्र उस मण्डल के विशिष्ट सदस्य थे। मिश्र जी ने संगीत शाकुन्तल, भारतदुर्दशा, कलि कौतुक, हठी अमीर नाटक लिखे। आगे चलकर ललित के सुमति मनरंजन और रूप देवी प्रसाद पूर्ण कृत चन्द्रकला मानु कुमार प्रकाशित हुए। रामप्रसाद मिश्र और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' को भी एक-दो नाटकों का प्रणयन प्रारम्भिक युग में किया। प्रसग्द युग तक ओत-प्रोत नाटकों का विशिष्ट महत्व हो गया और एकांकी के रूप में पाश्चात्य विधा का अनुप्रवेश हुआ। इस काल में कानपुर ने हिन्दी नाट्य साहित्य को अनेक प्रतिनिधि नाटककार दिये जिनमें सद्गुरुशरण अवस्थी प्रमुख हैं। 'मँझली महारानी' 'नायक और नाटक' 'मुद्रिका' तथा दो एकांकी' उनके प्रमुख नाटक और एकांकी संग्रह हैं। कैलाशचन्द्र देव 'वृहस्पति' आधुनिक एकांकीकारों में उल्लेखनीय है, जिनमें संस्कृत और आधुनिकता का अद्भुत समन्वय हुआ है। नयी पीढ़ी के नाट्यकारों में सिद्धेश्वर अवस्थी ( यक्ष के आँसू, गौतम का गृह त्याग ), गीतिनाटकों और रेडियों रूपकों के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। विनोद रस्तोगी आधुनिक टेक्निक की दृष्टि से न केवल कानपुर अपितु समग्र हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि नाटककार हैं। विनोद रस्तोगी ने नाटक, एकांकी, रूपक, रेडियो नाटक आदि सभी नवीनतम रूपों में सफलता प्राप्त की है। ज्ञानदेव अग्निहोत्री हिन्दी नाट्य विधा के प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में चर्चित हो रहे हैं

कानपुर की समीक्षा पर दृष्टिपात करने से जो तथ्य सामने आते हैं उनमें अधिकांशतः आध्यापकीय परम्परा में लिखित समीक्षा ग्रन्थ हैं जिनमें लीक पर चलते हुए काव्यालोचन की प्रवृत्ति विद्यमान है और मौलिकता का नितान्त अभाव है। किन्तु कुछ आलोचकों ने इससे आगे बढ़कर महत्वपूर्ण उपलब्धि भी की है इस परम्परा के आलोचकों में डा० प्रेम नारायण शुक्ल, सद्गुरुशरण अवस्थी, शिवाधार पाण्डेय, डा० रवीन्द्र वर्मा, डा० भागीरथ मिश्र, ललितमोहन अवस्थी, आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त समीक्षा के सन्दर्भों और विभिन्न वादों से जुड़े हुए कानपुर के समीक्षकों में भारतीय परम्परा की दृष्टि से किशोरीदास वाजपेयी, डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' प्रमुख हैं जबकि मार्क्सवादी साहित्य चिन्तकों में डा० शिवकुमार मिश्र और डा० रमेश कुन्तल मेघ उल्लेखनीय हैं। नई कविता से जुड़े समीक्षकों में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, राजेन्द्र कुमार का प्रमुख अवदान है। उनके अतिरिक्त रमानाथ त्रिपाठी, ललित शुक्ल, देवी शंकर अवस्थी, जनेश्वर वर्मा भी उल्लेख्य हैं। कुछ अन्य समीक्षकों में सेवक वात्स्यायन, शिवकुमार दीक्षित, उमेश मिश्र भी भविष्य के प्रति आशा बंधाते है।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में 'उदन्तमार्तण्ड' के माध्यम से कानपुर ने ही शंखनाद किया था जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। कानपुर से प्रकाशित पत्रिकाओं में पं० प्रताप नारायण मिश्र द्वारा प्रकाशित 'ब्राह्मण' का युग सापेक्ष्य महत्व रहा है। 'ब्राह्मण' उस युग का निर्भीक, ओजस्वी और साहित्यिकता से प्रभावित पत्र था। इसके पश्चात् प्रयाग से प्रकाशित 'सरस्वती' का संपादन कानपुर से महावीर प्रसाद द्विवेदी और अनेक सहयोगियों उदय नारायण वाजपेयी, देवी प्रसाद शुक्ल और गणेश शंकर विद्यार्थी द्वारा हुआ। १९१३ ई० से कानपुर से 'प्रताप' का प्रकाशन नारायण प्रसाद अरोड़ा, गणेश शंकर विद्यार्थी और शिवनारायण मिश्र के सहयोग से हुआ। कालान्तर में गणेश शंकर विद्यार्थी ने प्रताप का पूरा दायित्व निभाया। प्रताप राष्ट्रीय स्वाधीनता का संवाहक प्रतिनिधि पत्र था तथा हिन्दी के अनेक विशिष्ट राजनीतिज्ञ और साहित्यकार उससे सम्बद्ध थे। १९१७ से 'प्रभा' साहित्यिक पत्रकारिता के रूप में कानपुर से प्रकाशित हुई। 'प्रताप' और 'प्रभा' के माध्यम से कवि नवीन का उदय हुआ। 'प्रभा' उस युग के राष्ट्रीय भावधारा के कवियों की एकमात्र पत्रिका थी। इसके पश्चात् 'संसार' ( संपादक उदयनारायण वाजपेयी १९१९ ), 'वर्तमान' ( पं० रमाशंकर अवस्थी १९२२ ), रामराज्य ( रामनाथ गुप्त १९४२ ), सुमित्रा ( देवीप्रसाद धवन ) आदि निकले। पत्रकारिता के व्यावसायिक होने के पश्चात् कानपुर से पत्रिकाओं का प्रकाशन व्यावसायिक नगर होते हुए भी कम हो गया फिर भी स्वतन्त्रता के पश्चात्

अनेक दैनिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएँ और शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। दैनिक पत्रों में दैनिक जागरण, आज, विश्वमित्र, गणेश और रमतायोगी तथा सांध्य-दैनिक सत्यसंवाद प्रमुख हैं जिनमें जागरण और आज प्रभावशाली हैं। किन्तु यह अवश्य है कि सम्प्रति साहित्यिक या व्यावसायिक पत्रकारिता के क्षेत्र में कानपुर न केवल हिन्दी जगत में बहुत पीछे है वरन् अपने अतीत–गौरव को भी भुला चुका है, जिसके लिए सचेतन पत्रकारों का अवदान आवश्यक है।

समग्ररूप से कानपुर महानगर के शताधिक वर्षों की साहित्यिक यात्रा के अवलोकन से कतिपय निष्कर्ष सामने आए हैं जिनको संकेतित करना आवश्यक है। महानगर ने हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ दिया है लेकिन जब पड़ाव पर आकर हम ठहरते हैं तो लगता है कि उस दान से हमें रिक्ति ही मिली है। शायद कानपुर में समीक्षा की पैनीधार विवादों के आक्रोश में कुण्ठित हो गयी थी जिससे कानपुर का साहित्यकार उस प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त कर सका, जिसका वह अधिकारी था। इसके लिए समग्र साहित्य का पुनरावलोकन आवश्यक है।

# शिक्षा के राष्ट्रीय संदर्भ

डा० आत्मानन्द मिश्र

कानपुर

शिक्षा एक प्रक्रिया है जो किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है। उसका कोई प्रयोजन होता है और उस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए ही प्रक्रिया अपनायी जाती है। प्रक्रिया के इस अन्त या प्रयोजन के पूर्वावलोकन को उद्देश्य कहते हैं। यह ऐसे कार्यो का बोध कराता है जिन्हें शिक्षात्मक प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करना हमारा अभीष्ट रहता है। उद्देश्य शब्द का अर्थ है किसी कार्य को दिशा या निर्देश देना। किसी कार्य को करने में परोक्ष में कोई ऐसा ध्येय या लक्ष्य होता है जिसको हम उसके द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। शिक्षा कार्य-करने में जो हमारी मूल धारणा, प्रवृत्ति या प्रेरक तत्व होता है, वह शिक्षा-उद्देश्य है, क्योंकि उसी से शिक्षा की प्रगति होती है और शिक्षक के कार्य को दिशा मिलती है।

शिक्षा-उद्देश्य के दो स्वरूप हो सकते हैं—एक सार्वभौमिक या व्यापक और दूसरा विशिष्ट या व्यक्तिगत। पहले प्रकार के उद्देश्य अपने सामान्य रूप में सभी मानव जाति पर लागू होते हैं; उदाहरणार्थ सत्य, प्रेम, सद्भाव जैसे मानवीय गुणों का विकास अथवा चरित्र-निर्माण, समाजोन्नति आदि। कुछ ऐसे मूल तत्व भी होते हैं जो शिक्षा को सामान्य स्तर पर बनाये रखने के लिये आवश्यक होते हैं। उन्हें सभी दार्शनिक और शिक्षाविद् मान्यता प्रदान करते हैं। यह आन्तरिक मूल्य भी सार्वभौमिक होते हैं।

विशिष्ट उद्देश्य सीमित होते हैं। वे काल और स्थिति सापेक्ष होते हैं। किसी समय या परिस्थिति की आवश्यकता के कारण उन पर बल दिया जाता है, किन्तु उन्हें सार्वभौमिक उद्देश्यों के मुकाबले में वरीयता नहीं मिल पाती। विशिष्ट उद्देश्य कितने ही उपयोगी क्यों न हों, वे व्यापक उद्देश्यों की अवहेलना नहीं कर सकते, बल्कि उन्हें अधिक सम्पन्न बनाने में सहायता करते हैं। इन दो प्रकार के उद्देश्यों में सामञ्जस्य बनाये रखना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए यदि भारतवर्ष की गरीबी दूर करने के लिये तकनीकी ज्ञान आवश्यक हो, तो शिक्षा में तकनीकी विषयों को प्राथमिकता देना अनिवार्य होगा। किन्तु यदि यह अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक विरासत को ही समाप्त कर विज्ञान को सर्वोपरि घोषित करती है, तो शिक्षा को यह सर्वथा अमान्य होगा। अतएव विशिष्ट उद्देश्य उसी सीमा तक मान्य होते हैं जिस तक वे व्यापक उद्देश्य का विरोध न करें, वरन् उनको प्राप्त करने में योग दें। शिक्षा के उद्देश्य के इन दो स्वरूपों में सन्तुलन बनाये रखना अनिवार्य है।

## समस्याएँ और शिक्षा

शिक्षा का दुर्भाग्य है कि आज लोग देश की सभी बुराइयों के लिये उसे ही जिम्मेदार समझने लगे हैं और सभी समस्याओं का समाधान उसी में ढूँढ़ते हैं। तो यह आरंभ में ही बता देना उचित होगा कि शिक्षा कोई रामबाण औषधि नहीं जो सभी रोगों का उपचार कर दे। उसके स्वयं के कुछ दायित्व है जिनको निभाना

उसका प्रथम कर्तव्य है । उधर राष्ट्रीय समस्याएँ बहु-पार्श्वीय होती हैं। जहां तक उनके शैक्षिक पार्श्व का सम्बन्ध है, उसी के निराकरण में शिक्षा योग दे सकती है। किन्तु समस्या का पूर्ण समाधान तभी हो सकता है जब उसके अन्य पार्श्वों को भी सुधारा जाय, जैसे मद्य-निषेध का प्रश्न लीजिए; जहां अज्ञान ही सुखकर है, वहां ज्ञानी बनना मूर्खता होगी। उसकी चर्चा वयस्कों में करनी होगी और उपाय अन्य अभिकरणों को ढूंढ़ने होंगे अतएव यहां हम उद्देश्यों के विवेचन में ऐसी ही राष्ट्रीय समस्याओं की चर्चा करेंगे जिनमें शिक्षा का समुचित योगदान संभव जान पड़े।

## चरित्र का संकट

आधुनिक समय में हमारे देश में जो सबसे बड़ी दुर्घटना हुई है, वह है चरित्र-पतन की। नैतिकता की शिक्षा पर कभी हमने जोर नहीं दिया। हंटर कमीशन ने नैतिक शिक्षा की एक पुस्तक पढ़ने की संस्तुति की थी किन्तु उसके रंग-विहीन होने की आशंका से वह पाठ्य-क्रम में नहीं रखी गयी। अतएव स्वतन्त्र भारत में भी ईश्वर-विहीन नैतिकता-हीन, शिक्षा हमने ब्रिटिस विरासत में पायी और उसे विना परिवर्तन के वैसे ही चलने दिया। इसी का परिणाम है कि चरित्र-निर्माण, जो शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है, की ओर हमने कोई ध्यान नहीं दिया और धर्म-निरपेक्षता की नीति घोषित करने पर हमने नैतिक शिक्षा की कोई अनिवार्य व्यवस्था नहीं की। फल-स्वरूप अब चरित्रिक दुर्बलता ने हमें आ दबोचा है।

परन्तु प्राचीन भारत में शिक्षा और धर्म एक ही थे और मध्य युग में शिक्षा धर्म की अनुचरी बनी रही। धर्म के नियमों के पालन तथा उसके दण्ड-विधान के भय के कारण हमारा चरित्र सदा ऊंचा बना रहा और हम विद्या से विनय और विनय से योग्यता प्राप्त करते रहे। शिक्षा से धर्म को हटाने पर उसके स्थान पर कोई व्यवस्था कर देनी चाहिए थी। जापान ने जब शिक्षा धर्म-निरपेक्ष की तो नागरिक नैतिकता का शिक्षण अनिवार्य कर दिया। ऐसा कुछ न करने के कारण आज हम चरित्र-हीनता का सामना कर रहे हैं। अतएव आज की शिक्षा का एक अत्यावश्यक उद्देश्य चरित्र-निर्माण या नैतिकता का विकास होना चाहिए।

## गरीबी की समस्या

भारत की गरीबी के अनेक कारणों में अशिक्षा, रूढ़िवादिता तथा न्यूनतम उत्पादकता भी है। भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता अंग्रेज श्रमिक की चौथाई के बराबर है। शिक्षा इन्हीं तीन कारणों के निराकरण में अपना योगदान दे सकती है जिससे जन-जीवन-स्तर ऊंचा उठ सके।

भारत में लगभग ७१ प्रतिशत जनता अशिक्षित है। इसमें ६० प्रतिशत पुरुष और ८० प्रतिशत महिलाएँ निरक्षर हैं। शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा देहाती क्षेत्रों में निरक्षरता अधिक है। भारतवर्ष में साक्षरता का मानक संसार के सभी देशों से ऊंचा है। उसको कम करने से भी अशिक्षितों के प्रतिशत में कोई अन्तर नहीं आयेगा। अशिक्षा को कम करने में साक्षरता को कार्याधारित (फंक्शनल) बनाना आवश्यक होगा। ऐसी साक्षरता व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक और नागरिकता योगदान के लिये तैयार करने की वह प्रणाली है जो साक्षरता-शिक्षा की उन प्रारम्भिक सीमाओं को लांघ जाती है जिनमें लिखने-पढ़ने मात्र की शिक्षा सम्मिलित है। इसमें रहन-सहन के स्तर को ऊंचा बनाने में तत्काल काम आने वाली जानकारी को प्राप्त करने के अवसर के रूप में पढ़ना-लिखना सीखने की प्रक्रिया का उपयोग किया जाता है। भारत में तो बिना पढ़े-लिखे बहुश्रुत और बहुज्ञ होने की परम्परा रही है।

अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता और सामाजिक कुरीतियों के कारण भी लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा नहीं उठ पाता। परम्पराओं में अन्ध-विश्वास, रीति-रिवाजों में कठमुल्लापन, कुरीतियों की बहुतायत, जैसे दहेज, मद्य-पान, ब्रह्मभोज और उत्सवों में अपव्यय आदि के कारण जीवन ऋणमुक्त और सुखी नहीं हो पाता। समाज-शिक्षा द्वारा इन पर प्रहार किया जा सकता है और लोगों को ऐसे बंधनों से मुक्त कराया जा सकता है।

श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिये उनको अपने व्यवसाय में समुचित प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करनी होगी। यदि अच्छा काम परिश्रम से करने पर उनकी आय बढ़ती है तो उन्हें यह प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। अतएव साक्षर बनाने, कार्य-कुशलता

बढ़ाने तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न करने का कार्य शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा किया जाना चाहिए।

अर्थ शास्त्री एम० एल० डार्लिंग का यह कथन सत्य है कि "भारत के सम्बन्ध में सर्वाधिक ध्यानाकर्षक तथ्य यह है कि उसकी मिट्टीमें विपुल संपदा है। उसे प्राप्त कर लाभ उठाने के लिये उत्पादकों की आवश्यकता होगी। सभी क्षेत्रों कृषि, कुटीर उद्योग, उत्खनन, वन, उद्योग और व्यापार में कुशलता पूर्वक कार्य करने वाले उत्पादक चाहिए। उन्हीं की उत्पादन-प्रचुरता से राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय बढ़ सकती है जिससे जीवन-स्तर ऊंचा उठ सकता है और गरीबी दूर हो सकती है।

## बेरोजगारी की समस्या

समाज के स्वस्थ एवं इच्छुक व्यक्तियों को जीविकोपार्जन का साधन न मिलने से बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होती है। अमेरिका के प्रेसीडेंट हूवर का यह कहना कितना सत्य है कि "बेरोजगारी से बड़ी कोई बरबादी नहीं। कोई वेदना या निराशा इतनी तीव्र नहीं होती जितनी कार्य करने के अभिलाषी व्यक्तियों को कार्य न प्राप्त हो सकने की असफलता के कारण होती है।" यह बेरोजगारी पूर्ण, अर्द्ध, मौसमी, आकस्मिक या तकनीकी हो सकती है। अंतिम प्रकार की बेरोजगारी तकनीकी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न हो जाती है। जब उत्पादन की पुरानी विधियों और यंत्रों को त्याग कर नवीन तथा आधुनिक विधियों और मशीनों को अपनाया जाता है।

इस समस्या के कई कारण हैं जिनका विवेचन करना हमारा अभीष्ट नहीं। यहां केवल उसके शिक्षा के साथ संबंध पर ही विचार किया जायेगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमने संवैधानिक निर्देश द्वारा १४ वर्ष पर्यन्त की सार्वभौमिक एवं अनिवार्य करने का संकल्प किया। प्राथमिक शिक्षा का आधार बढ़ने से उसमें उत्तीर्ण होने वाले लाखों छात्रों को रोजगार के बहुत कम अवसर दिखाई दिये। नौकरियों के इच्छुक छात्रों ने कुछ तो सामाजिक अनुकरण के कारण और कुछ उनके उपयुक्त उच्च अर्हता को प्राप्त करने की अभिलाषा से उच्च माध्यमिक और उसके बाद उच्च शिक्षा में पदार्पण किया। यह शिक्षा पहिले से ही उद्देश्यहीन चली आ रही थी। जो कुछ वृत्तिक शिक्षा की ओर मुड़ सके, वे भी ऐसी संस्थाओं में पहुँचे जहां जनशक्ति की आवश्यकताओं को आंके बिना ही खूब प्रवेश दिये जाते थे। फलतः शीघ्र ही प्राविधिक प्रशिक्षण-प्राप्त छात्र सड़कों पर चिल्लाते फिरे, "नौकरी चाहिए, डिगरी नहीं।" सामान्य शिक्षा में आगे बढ़ने वालों का तो और भी बुरा हाल हुआ। वे बेरोजगार ही नहीं रहे, वरन् किसी रोजगार के अयोग्य भी ठहराये गये।

शिक्षा की इस स्थिति को सुधारने के लिये राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय आयोग और मुदालियर माध्यमिक शिक्षा आयोग की अनुसंशाएं क्रियान्वित की गयीं। शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिये स्नातक शिक्षा तीन वर्ष की कर दी गयी; किन्तु अनुभव बताता है कि छात्रों के परिसर में अधिक टिकने के कारण अनुशासनहीनता बढ़ी है, गुणवत्ता में कोई वृद्धि नही हुई। मुदालियर द्वारा संस्तुत अमेरिकी पौध भारतीय जलवायु में न पनप सकी और शीघ्र ही पुनर्मूषकोभव का मंत्र जपा जाने लगा। दस धन दो धन तीन की कुछ दिन बड़ी धूम रही, किन्तु अब वह भी समाप्तप्राय है। ऐसी शिक्षा प्राप्त कर लेने से बालक की श्रम के प्रति अनिच्छा उत्पन्न हो जाती थी और वह मदुल-चाकरी के चक्कर में घूमने लगता था।

उचित होगा कि अनिवार्य शिक्षा के बाद पाठ्यक्रम का विशाखन कर दिया जाय। उसमें दो, तीन और चार वर्ष के व्यावसायिक तथा वृत्तिक पाठ्यक्रम रखे जायें जिनको समाप्त कर छात्र रोजगार पा सकें। वर्तमान में जो नौकरियों के लिये डिगरियों की अर्हताएं अनिवार्य हैं, वे समाप्त कर दी जायँ। जो विशाखन के बाद किसी रोजगार में लग जाने के पश्चात् अपने क्षेत्र का उच्च ज्ञान प्राप्त करना चाहें, उन्हें उसके अवसर दिये जायें। ऐसी सुविधाएँ उनके सेवा-काल के अतिरिक्त समय में उपलब्ध करानी होंगी। उच्च शिक्षा में उपलब्ध करानी होंगी। उच्च शिक्षा में केवल पात्रता के अनुसार प्रवेश दिया जाय। साधन-विहीन मेधावी छात्रों के लिये छात्रवृत्ति की समुचित व्यवस्था की जाय। इस प्रकार सार्वभौमिक शिक्षा के बाद अधिकांश छात्रों को व्यवसाय की ओर उन्मुख किया जा सकता है और उच्च शिक्षा में

होने वाली भारी भीड़ को समाप्त किया जा सकता है।

## जनसंख्या की वृद्धि

भारतवर्ष में जनसंख्या की असाधारण वृद्धि हो रही है। सन् १९३१–७१ के बीच जनसंख्या में ८४.९ प्रतिशत वृद्धि हुई है। सन् १९७१ के पूर्व के दशक में यह वृद्धि २४.८ प्रतिशत थी। यदि बढ़ने की यही रफ्तार रही तो अगले बीस वर्षों में वर्तमान जनसंख्या की ६५ प्रतिशत और वृद्धि हो जायेगी। यह बड़ी शोचनीय स्थिति है। जनाधिक्य से खाद्यान्न और आवास की समस्याएँ विषम हो जाती हैं। इससे देश में गरीबी और बेकारी बढ़ती है। उत्पादन अथवा आय में जो भी वृद्धि होती है, वह जनसंख्या की वृद्धि के कारण समाप्त हो जाती है।

जनसंख्या की वृद्धि शिक्षा में नामांकन को बड़ा प्रभावित करती है। उससे विद्यालय जाने वाले छात्रों की संख्या बढ़ती है। और शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था अपर्याप्त होती रहती है। आजकल लगभग ४६ प्रतिशत लोग शिक्षा प्राप्त करने योग्य आयु के हैं जो कुल जनसंख्या के आधे के निकट हैं। जनसंख्या का सबसे महत्वपूर्ण अंश होता है कार्यशील दल (वर्किंग फोर्स), जिसमें वे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो काम में लगे हैं, उत्पादन कर रहे हैं या उसके लिये प्रशिक्षण पा रहे हैं। इस अंश में १८ से ६८ वर्ष की आयु के लोग आते हैं। भारतवर्ष में कार्यशील दल में जनसंख्या का ३२.९ प्रतिशत है। अन्य विकसित देशों में कार्यशील दल ४० प्रतिशत से ऊपर और रूस में ५० प्रतिशत से भी अधिक है। उनमें शिक्षणीय वयवर्ग की संख्या एक तिहाई के लगभग है। भारत में ये प्रतिशत उल्टे हैं। इसलिये एक ओर उत्पादन बढ़ाने में सहायता नहीं मिलती, तो दूसरी ओर अधिक लोगों की शिक्षा-व्यवस्था करनी पड़ती है। अतएव कार्यशील दल को बढ़ाना परम् आवश्यक है और अनावश्यक शिक्षा में लगे लोगों को काम पर भेजकर कम करना भी जरूरी है।

कुछ लोग चाहते हैं कि शिक्षा जनाधिक्य रोकने में सहायता करे तो यहां यह स्पष्ट कर देना होगा कि यह शिक्षा का कार्य नहीं है। अधिक से अधिक वह उच्च जीवन-स्तर का महत्व बताने में सीमित परिवार की आवश्यकता प्रतिपादित कर सकती है। परिवार-नियोजन की शिक्षा उन वयस्कों को देनी चाहिए जो परिवार बढ़ाते हैं न कि बेचारे विद्यालयीय बालकों के मन में यह भावना उत्पन्न करनी चाहिए कि वे व्यर्थ में भारत–भूमि का भार बढ़ा रहे हैं। इस विषय में वयस्कों को शिक्षित करने का कार्य अन्य अभिकरणों का है, विद्यालयों का नहीं।

## राष्ट्रीय एकीकरण

हमने अपने संविधान में प्रजातांत्रिक गणतन्त्र होना स्वीकार किया है। प्रजातंत्र का एक प्रमुख सिद्धान्त है समानता, जो कानून के सामने सभी को बराबर मानता है, चाहे वह किसी भी सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक स्थिति के हों। यह व्यक्ति को शिक्षा और सेवा, अधिकार और दायित्व में समान अवसर प्रदान कर मानव व्यक्तित्व को गरिमा और सम्मान देता है। समानता की यह कल्पना अब भारत के लिए नयी है, क्योंकि उसकी मौलिक समाज-व्यवस्था में आ गयी विकृति के कारण दीर्घकाल से वह जाति, वर्ण और सम्पत्ति की असमानता भोगता रहा है। इस असमानता ने लोगों के व्यक्तित्व में भय की भावना को जन्म दिया है जिससे वे क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता और जातीयता पर आधारित वर्गों में प्रश्रय लेने लगे हैं।

औद्योगीकरण के कारण नगरीकरण भी हुआ है, जिससे बड़ी जनसंख्या का स्थानान्तरण नगरी क्षेत्रों में हो गया है। इससे जहां एक ओर ग्राम्य-जीवन की एकता नष्ट हुई है, वहां दूसरी ओर शहरी समाज में क्षेत्रीयता की विषमताएँ आ गयी हैं। पंचवर्षीय योजनाओं ने देश के विभिन्न भागों को एक साथ लाकर रख दिया है और सर्वमान्य लक्ष्यों के प्राप्त्यर्थ उनमें परस्पर मेल-जोल और सद्भाव भी बढ़ाया है। किन्तु लोगों की स्वाभाविक विषमताओं तथा भिन्नताओं का अभी अन्त नहीं हो पाया है।

इन सब कारणों का राष्ट्र की एकता पर बुरा प्रभाव पड़ा है जिसे और बढ़ाने के लिए जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता तथा भाषावाद जैसी विघटनकारी प्रवृत्तियों ने अपना सिर उठाया है। राजनीतिक महत्वाकांक्षा,

पद-लोलुपता तथा व्यक्तिगत स्वार्थों को राजनीतिक कलेवर पहिना कर संघर्ष के बड़े-बड़े कारण बनाये जाते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाता है। इसकी आंट में अशान्ति और ध्वंसात्मक उपद्रव भड़काये जाते हैं, राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षति पहुँचायी जाती है तथा सामाजिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न की जाती है।

इन विघटनकारी प्रवृत्तियों को समाप्त कर भावनात्मक एकता तथा राष्ट्रीय एकीकरण को उन्नत-समुन्नत करने का उत्तरदायित्व किसी सीमा तक शिक्षा को लेना पड़ेगा। व्यक्ति में भावनात्मक एकता का विकास इसलिये आवश्यक है कि इन प्रवृत्तियों का आरम्भ उसी से होता है। उसका कोई स्वार्थ किसी विचार को जन्म देता है, जिसे वह जब तक संजोये रहता है जब तक उसके चारों ओर भावना का संग्रह नहीं हो जाता। तब वह उसमें जनता को उलझाने के लिए एक जाल बुनता है और अपने विचार को दूसरों को दे देता है। बहुत से लोग उससे आकर्षित हो जाते हैं और फिर शरारत अपने पैरों चलने लगती हैं। इसको दबाने के लिए भावनात्मक एकता आवश्यक होती है जिसका प्रयोजन है कि "व्यक्ति में पूर्ण संतुष्ट व्यक्तित्व हो जिसकी वासनाएं, आकांक्षाएं और मनोभाव पर्याप्त परिष्कृत हों और सुन्दर कार्य के लिए प्रेरित हों। ऐसे व्यक्ति को संयम और सहिष्णुता में पर्याप्त प्रशिक्षित होना चाहिए।"

## सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान

प्रजातन्त्र केवल राजनीतिक प्रत्यय ही नही है, वरन् एक गतिशील समाज में जीवन-यापन की पद्धति भी है। ऐसा समाज विभिन्न वर्गो के स्वतन्त्रता पूर्वक मिलने-जुलने और विचारों तथा अनुभवों के आदान-प्रदान पर बल देता है। इससे परिवर्तन की आकांक्षा उत्पन्न होती है। अतएव प्रजातान्त्रिक समाज केवल बदलता ही नहीं वरन् परिवर्तन का आदर्श भी रखता है जो उसे उन्नत बना सके। ऐसे समाज की शिक्षा व्यक्तियों को इस बात के लिये तैयार करेगी कि जब परिवर्तन आये तो बिना भ्रमित या विस्मित हुए अथवा अराजकता फैलाये उनको स्वीकार कर लें, उनसे समायोजन कर लें।

ऐसे समाज में व्याप्त बुराइयों, अन्ध-विश्वास और रूढ़िवादिता का व्यक्ति परित्याग करने के लिये तत्पर रहता है और सहयोग, सहकारिता, दायित्व की भावनाओं को विकसित करता है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उत्तम नेतृत्व के लिए उसमें प्रशिक्षण दिया जाता है। दुर्भाग्य की बात है कि अब राजनीतिक नेतृत्व सभी क्षेत्रों को हथियाने का प्रयत्न करता है और धार्मिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक, कृषि, वृत्तिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों में अच्छे नेतृत्व का अभाव है। अभी प्रजातन्त्र की यह भावना लोगों में दृढ़ नहीं हो पाई है जिससे वे सामाजिक परिवर्तन और पुनरुत्थान में कृतकार्य नहीं हो सके हैं। शिक्षा को इस ओर विशेष ध्यान देना होगा।

वर्तमान के अभाव-ग्रस्त और भौतिकवादी जीवन के कारण हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को ही विस्मृत कर रहे हैं। हमारी संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं आध्यात्मिकता और समन्वयशीलता हैं। हमने सदा नैतिक मूल्यों और उच्च आदर्शों को मान्यता दी है, किन्तु भौतिकवादिता के चाकचिक्य में वे विलुप्त से हो रहे हैं और उनके स्थान पर नये मूल्य और आदर्श उभर कर नहीं आ रहे। मूल्यों की ऐसी विडंबना में प्राचीन संस्कृति का पुनर्संस्थापन आवश्यक है जिससे चारित्रिक संकट और राष्ट्रीय विघटन की समस्याओं के निराकरण में भी सहायता मिल सके।

इस विज्ञान–तकनीकी युग में मानव अणु–विस्फोट से घबड़ा उठा है और नयी संस्कृति की खोज में चन्द्रलोक के चक्कर लगा रहा है। रह–रह कर उसके अंतस् में विचार उठता है कि भौतिक साधनों से ऊपर उठने की अपेक्षा आत्मिक शक्तियों से क्यों न उर्ध्वगामी बने। अपनी अनात्मवादी संस्कृति से ऊबकर अनेक पाश्चात्य घुमक्कड़ों का भारत दर्शन तथा हमारे योगी-महर्षियों को विदेशी निमन्त्रण सम्भवतः इस बात का द्योतक है कि विश्व की संस्कृतियों का ध्यान भारतीय संस्कृति की ज्येष्ठता की ओर आकृष्ट हो रहा है, किन्तु हम अपने घर में ही उसे भुला बैठे है। शिक्षा का संस्कृति से घनिष्ट संबंध है और शिक्षा ही उसके संप्रेषण में सक्षम है।

# अरुणाचल प्रदेश और इसकी जनभाषाएँ

रमण साण्डिल्य

अब से २६ वर्ष पूर्व अपने देश के जिस अंचल ने मात्र अपने ही देश वासियों का नहीं वरन् संसार के अनेक देशों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया था तथा विश्व के मानचित्र पर जो अंचल अत्यधिक महत्वपूर्ण हो उठा था वह कोई दूसरा अंचल नहीं, भारत के उत्तर पूर्व में अवस्थित यह अरुणाचल प्रदेश ही था। तब इस सम्पूर्ण अंचल को उत्तर पूर्व सीमान्त अंचल (नार्थ ईस्ट–फांटियर एजेन्सी) संक्षिप्त नाम 'नेफा' के रूप में जाना था लोगों ने। नेफा के बोम–दि-ला, से-ला, लो-ला, तावांग, लाङ्गजू, अनिनि आदि स्थान अखबारों के प्रथम पृष्ठ पर छपकर देश वासियों के मन में रम-बस गये थे। हालांकि अपने देश का भूगोल तो बच्चे पहले से ही पढ़ते आ रहे हैं किन्तु उनकी समझ में ये स्थान उस समय बिल्कुल ही अचरज उत्पन्न कर रहे थे। दुर्भाग्य बच्चों का नहीं देश का ही था। आजादी के १५ वर्षों बाद भी देश के एक बृहद भूखंड से अधिकांश देशवासी अपरिचित थे। 'नेफा' नाम तब लोगों ने पहली बार सुना था। इस भूभाग के संबंध में अनेक तरह की जिज्ञासाएँ लोगों के मन में उत्पन्न हुई थीं।

२० जनवरी १९७२ को 'नेफा' का नाम बदल कर 'अरुणाचल प्रदेश' हो गया। यह अंचल केन्द्रशासित राज्य बन गया। इससे पूर्व इसका शासन गृहमन्त्रालय के अन्तर्गत चलता था। राष्ट्रपति महोदय को सलाह-परामर्श देने के लिए एक सलाहकार थे जो एडवाइजर के रूप में प्रख्यात थे। श्री पी० एन० लूथरा इस पद पर वर्षों तक कार्यरत थे। बाद में एक दाक्षिणात्य श्री-के० ए० ए० राजा ने इस पद को संभाला। सम्प्रति तो इस प्रदेश की अपनी विधान सभा है। मुख्यमन्त्री हैं श्री गेगोङ्ग आपाङ्ग अरुणाचल को 'उगते हुए सूर्य का प्रदेश' कहा जाता है। कभी सम्पूर्ण उत्तरपूर्वी भारत के लिए कश्मीरी कवि कल्हण ने 'उदयाद्रि' शब्द से अभिहित किया था। प्रागैतिहासिक काल में यह अंचल 'महाकान्तार' के रूप में जाना गया। कालिदास ने अपने रघुवंश में कामरूप का प्रयोग पूर्वोत्तर भारत के लिए किया है। 'धर्मारण्य' शब्द वेद महाभारत, रामायण पुराणों में मिलता है।

इतिहास के गह्वर में झाँकने से पता चलता है कि यह सम्पूर्ण अंचल देश के शेष हिस्से से किस प्रकार जुड़ा हुआ था। अरुणाचल के लोहित जिला में स्थिति परशुराम कुण्ड, ताम्रेश्वरी मन्दिर, भीष्मक नगर, चीद चिमरी, शिवलिंग सियांग के मालिनीथान, ओकशीगंगा, सुवर्णश्री (सुबनसिरी) के ईटा फोर्ट (मायापुर), कामेंग के भालुक पोङ्ग तिरप के विजय नगर आदि ऐतिहासिक स्थल प्राचीन भारत की याद दिलाते हैं।

वेद, रामायण और महाभारत में जिन किरातों का वर्णन मिलता है, कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किरात विजय और उत्सव संकेत की चर्चा की है वे कोई और नहीं भारतीय मूल के मंगोलाकृत जन ही थे। एक किरात राजा भीष्मक (कुण्डिल: लोहित में) की पुत्री रुक्मिणी से द्वारका के राजा श्रीकृष्ण ने परिणय सम्बन्ध जोड़ा था। कहाँ पश्चिम में द्वारका और कहाँ पूर्वोत्तर भारत में

कुण्डिल नगर। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक दूसरे किरात राजा बाणासुर की पुत्री ऊषा से अनिरुद्ध ने विवाह किया था।

बोड़ो, कछारी, मोरान, मोताक कलिता, चूतिया, अहोम आदि राजाओं के इतिवृत्त ही असम बुरंजी के आधार हैं। जितारी वंश के प्रताप सिंह ने तो सुवनसिरी के 'डफला हिल' में अपना राज्य कायम किया था।

यह सम्पूर्ण प्रदेश जहाँ उत्तर में तिब्बत (चीन अधिकृत) दक्षिण में असम पश्चिम में भूटान तथा पूर्व में चीन और वर्मा से घिरा है वहीं दुर्गम वन्य पर्वत एवं दुर्लंघ्य नदियों से भी। देश के मुख्य हिस्से से इस सम्पूर्ण भूभाग को जोड़ने में ये पर्वत शिखर एवं नदियाँ बाधक रही हैं। वैसे इस क्षेत्र में निवास करने वाली बहादुर जनजातियों के पराक्रम एवं शौर्य का लोहा अंग्रेज भी मानते थे इसी से तो उन्होंने 'इनर लाइन' रूपी फाँस इस सम्पूर्ण अंचल के गले में डाल रखा था। अरुणाचल के विकास पथ में यह 'इनर लाइन' वर्षों तक बाधक बनी रही।

१९०१ ई० की जनगणना के आधार पर इस क्षेत्र की समस्त जातियों को तीन भाग में बांट दिया गया था—(१) तिब्बती-हिमालयी शाखा, (२) उत्तरी असम शाखा (३) असम वर्मी शाखा।

तिब्बती हिमालयी शाखा के अन्तर्गत मोनपा, मेम्बा, खाम्वा, शेरदुकपेन आदि जन आते हैं।

ऊत्तरी असम शाखा में आका, मिजी, बागनी, आपातानी, निशि, तागिन, आदि, इदु, दिगारू आदि आते हैं।

असम वर्मी शाखा में सिंगको, तांग्सा, नोक्ते वांचो आदि आदिवासी आते हैं।

१९६१ की जनगणना के आधार पर अरुणाचल में कुल जन जातियां ८० के आस पास हो जाती हैं। इनकी अपनी अलग-अलग भाषाएँ और बोलियाँ हैं। अरुणाचल में बोली जाने वाली सारी भाषाएँ-बोलियाँ तिब्बती वर्मी शाखा की हैं। इनमें ढेर सारे शब्द अपने तिब्बती मूल के साथ ही इन भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं।

ये भाषाएँ-बोलियाँ अरुणाचल प्रदेश के ९ जिलों अपर कामेंग, लोअर कामेंग, अपर सुवन सिरी, लोअर सुबन सिरी, ईस्ट सियांग, वेस्ट सियांग, अपर लोहित, लोवर लोहित, और तिरप—में बोली-समझी जाती हैं। यहाँ उनकी सूची दे रहा हूं— अबोर, आदि, आदि गालोङ्ग, आदि मिनयोङ्ग, आदि पादाम, आदि पासी, आका, आपातानी, आसिङ्ग, बागी, बागनी, बाङ्गरो, बोरुम, बोकार, बोनोक, तांग्सा, बोमदो, बोरी, बुत मोनपा, डफला, दारोक तांग्सा, देउरी दिगारू (ताराओन मिश्मी), दिवाग मोनपा, हैसा तांग्सा, हिल मीरी, होता, इदू, चुलिकाटा मिश्मी, खालिम तांग्सा, खाम्वा, खामियांग, खाम्पति, खोवा, खांदैङ्ग बाङ्गनी, कोमकार, कोङ्गवो, कोराङ्ग तांग्सा, लीबो, लिची तांग्सा, लिजू नोक्ते, लिस मोनपा, लोङ्गचाङ्ग तांग्सा, लोङ्गिन तांग्सा, लोङ्गफि तांग्सा, लोङ्गरी तांग्सा, लोङ्गसाङ्ग तांग्सा, लोवाङ्ग तांग्सा, मेयोर, मिजी, मिकिर मिल्लांङ्ग, मिल्लाङ्ग अबोर, हिंधिङ्ग मिरी, मिश्मी, मोङ्गालुम तांग्सा, मोंम्बा, मोनपा, मोराङ्ग तांग्सा, मोसाङ्ग तांग्सा, मुकतुम, नामसांङ्ग तांग्सा, न्यिमोङ्ग तांग्सा, निसाङ्ग, निवसी, नोक्ते, नोनोङ्ग, पादाम, पाईलीबो, पाङ्गचेम मोनपा, पाङ्गी, पासी, फोङ्ग तांग्सा, रामो, राङ्गाल तांग्सा, शेरदुकपेन, सिमोङ्ग, सिमसा तांग्सा सिङ्गफो, सुलुङ्ग, तात्सेन तांग्सा, ताराम, तावङ्ग मोनपा, ताई खाम्पति, तिखाक तांग्सा, तुतचा नोकते, वांचू, यानू बागनी, यातोङ्ग, योविन, योङ्गकुक तांग्सा, जाखरिङ्ग।

इन भाषाओं के अतिरिक्त भी कुछ भाषाएँ हैं। इनमें खांम्पति को छोड़कर किसी की भी अपनी लिपि नहीं है। इन्हें अंग्रेजी के रोमन लिपि असम की असमिया लिपि तथा हिन्दी की देवनागरी लिपि में लिखा जाता है।

खाम्पति जन अरुणाचल प्रदेश के लोहित जिला में रहते हैं तथा ये बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। इनके बौद्ध मठों में प्राचीन काल के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ एवं पोथियाँ सुरक्षित हैं।

कामेंग की मोनपा, शेरदुकपेन भाषाएँ सुबन सिरी की निशी और आपातानी डापोरिजो क्षेत्र की तागिन प० सियांग की गालो, बोरी, बोकार, रामो पूर्व सियांग की पासी, पादाम, निमियोङ्ग, खाम्वा, मेम्बा लोहित

की खाम्पति, मिश्मी तथा तिरप की नोक्ते, तांग्सा, वांचू, सिंगको आदि भाषाएँ इनके बीच प्रमुख हैं। ये विकसित हो रही हैं। इनमें साहित्य रचना शुरू हो गया है। लोक साहित्य इन सबों का काफी समृद्ध है।

सियांग के श्री लुम्मेरदायी, श्री ओसोङ्ग इरिङ्ग, श्री तुम्पाक एते, श्री प्रतीक पोतोम, श्री तादाग गारा, श्री तारी ताइ पोदिया, श्री मोगे दोजी आदि मान्य साहित्यकार हैं।

एक समय आयेगा जब अरुणाचल की कुछ प्रमुख भाषाएँ शिक्षा परीक्षा का माध्यम ही नहीं बनेगी बल्कि कार्यालयों की भाषा भी बनेगी। इन सबों का भविष्य है। ●

# गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर

डा० अरुण सेन

कानपुर

यों तो लोग रवीन्द्रनाथ को एक प्रख्यात भारतीय कवि के नाते ही जानते हैं, जिन्होंने सन् १९१३ में विश्व का प्रधानतम "नोबेल-पुरस्कार" ( १ लाख २० हजार ) साहित्य के लिए बंगला गीति-कविता पुस्तक "गीताञ्जलि" पर प्राप्त किया था। यह पुरस्कार उनके जीवन की एक मामूली घटना है, यद्यपि विश्वख्याति इसी पुरस्कार के नाते उन्हें मिली। एशिया भर में कवि-गुरू ही अभी तक प्रथम तथा अंतिम भारतीय हैं जिन्होंने साहित्य में "नोबेल प्राइज" जीता है। मामूली स्कूली शिक्षा तक बगैर प्राप्त किये हुए यह वह क्षण-जन्मा पुरुष हैं जो विद्या और ज्ञान के महासमुद्र थे, जिन पर स्नातकोत्तर विद्यार्थियों ने शोध कार्य करके आचार्य-उपाधि (डाक्ट्रेट) प्राप्त की है, जिन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने शान्ति निकेतन में "डाक्ट्रेट" प्रदान करते समय टिप्पणी की थी, "डाक्ट्रेट" द्वारा आक्स० वि० वि० आपको नहीं बल्कि स्वयं अपने को ही सम्मानित कर रहा है।" भारतीय वि० वि० तथा अन्यान्य शीर्ष संस्थानों से कवि गुरु को २० शिखरोपाधियाँ प्राप्त हुई थीं।

श्रेष्ठ कवि के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ एक सशक्त उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार, चित्रकार, समालोचक छोटी कहानियों के सूत्रपात करने वाले प्रथम भारतीय तथा सहस्रों गीति कविताओं के श्रेष्ठतम रचयिता थे। आश्चर्य की बात है कि साथ ही साथ वह एक दक्ष अभिनेता और होम्यों डाक्टर भी थे। "रवीन्द्र-संगीतों" की जितनी 'रिकार्डिंग' हुई है वह समग्र पृथ्वी में प्रायः सर्वाधिक है, अर्थात् किसी एक ही कवि की रचनाएँ इतनी अधिक संख्या में पृथ्वी के किसी कोने में, जहाँ तक लेखक को ज्ञात है, 'ग्रामोफोन' पर उतारे नही गये हैं। उनकी ३०० से भी अधिक पुस्तकों का एक मोटा सा हिसाव शायद यहां दे देना अवान्तर न होगा :—

कविता पुस्तकें......७५ गीति–कविता पुस्तकें......१६
पद्य–नाटिकाएँ..........१९ नृत्य–नाटिकाएँ.........३
गद्य में नाटक............२२ उपन्यास............१३
छोटी कहानियों की पुस्तकें...१३ निबन्धों परपुस्तकें...४६
पत्र साहित्य मूलक पुस्तकें...२२ धर्म विषयक पुस्तकें...१९
जीवनियां.........५ यात्राओं पर पुस्तकें..........६
शिक्षा विषयक पुस्तकें...२ हास्य–कौतुक पर पुस्तकें...५
चित्र कला पर पुस्तकें......२ कवि के भाषणो का संग्रह७
स्वर–वितान ( स्वर लिपि )......................३०
अंग्रेजी में प्राय दो दर्जनों से अधिक

( नोट :—पुस्तकों की वार्षिक औसत बिक्री बीस लाख पचास हजार रुपयों से भी अधिक है और यह सारा धन संत कवि अपनी वसीयत में "विश्व भारती" ( जो उन्हीं की सृष्टि है ) को समर्पित कर गए हैं।

उनके समय (१८६१–१९४१) वायुयान का प्रचलन आज जैसा नहीं था। तथापि जलयान द्वारा उन्होंने जितने देशों का भ्रमण किया था–और वह भी प्रधानतः भारतीय संस्कृति के एक उज्ज्वल मशाल के रूप में

("अनक्राउन्ड किंग आफ इण्डियन कलचर")—उसकी तुलना में वर्तमान हवाई जहाजी सुविधामूलक युग में भी सरकारी पैसों से यात्रा करने वाले किसी भी नेता की विदेश-भ्रमण की तालिका शायद अधिक लम्बी नहीं होगी। कवि-गुरू की विदेश यात्राओं का भी एक अन्दाजा निम्न प्रकार अंको से मिल सकता है :—

सन् १८७८ से १९३२ तक ३२ विभिन्न देशों की यात्रा की एवं ७६ बार यात्राएँ कीं। विदेशों में भाषण देने के लिये २५१ बार आमंत्रित हुए तथा कुल २८७ भाषण सांस्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर दिये ।

तथापि शायद यह कम लोगों को ज्ञात होगा कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ मूलतः एक ब्रह्मार्पितचित्तयोगी पुरुष थे और एक उच्च कोटि के उपदेष्टा के नाते धर्म पर नहीं अपितु आध्यात्मवाद पर सदैव आलोकपात करते रहे हैं। उनकी पुस्तकों में से इस सन्दर्भ में "मानव-धर्म" "साधना", "शान्ति-निकेतन" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह सारी किताबें हिन्दी में भाषान्तरित हो चुकी हैं उनके लिए वही था सच्चा मानव धर्म जो किसी भी धार्मिक संस्था की चार दीवारी में आवद्ध व सीमित न हो, बल्कि जो उन दीवारों को तोड़ कर "उस उदार, उन्मुक्त आकाश-तले" अनुभूत हो सके "जहां विश्व जननी की वह वीणा निरन्तर झंकृत हो रही है जिसकी प्रतिध्वनि विश्व के प्रत्येक नरनारी के हृदय में अनुरागित है।" मानव के एकीकरण नें ऐसी उदार सत्यनिष्ठ वाणी की तुलना नहीं।

गुरुदेय प्रात्यहिक ध्यानयोग में ब्रह्म मुहूर्त के तीन घन्टे ( ३ बजे से भोर ६ बजे तक ) विताया करते थे। कविगुरू के निकट-भक्त-साथी तथा प्रकाण्ड विद्वान आचार्य क्षिति मोहन सेन शास्त्री, जो लेखक के कानपुरस्थ निवास स्थान पर सन् १९४४-४५ में दो बार पधारे थे (एक बार रहे भी), उन्हीं ने सर्व प्रथम गुरुदेव के उपर्युक्त ध्यानयोग के बारे में तथ्यों का अविष्कार किया था। पूर्व मुखीन आसन पर बैठ कर ऋषिकवि ध्यान किया करते थे। उक्त मुद्रा में पकड़ें जाने पर गुरुदेव से क्षिति मोहन जी ने प्रातः ६ बजे आ कर सीधे प्रश्न किया, 'गुरुदेव, आप सदैव अपनी शक्ति-स्रोत को लोगों से छिपाते आये हैं, परन्तु आज जब पकड़े ही गये तो इतना बताने की कृपा करें कि आप किस पद्धति से यह ध्यान करते हैं" गुरुदेव ने जरा रुक कर जवाव दिया, "क्षिति बाबू, मैं आँखे बन्द करके उस क्षण की प्रतीक्षा करता रहता हूं कि जव तरुण अरुण की प्रथम किरणें इस अरविन्दरूपी धरती पर आकर गिरेंगी और मैं उस कमल की प्रस्फुटित पंखुड़ियों पर अपने आनन्द को नृत्यरत देख पाऊंगा।" अपने पर पर्दा डालने हेतु यह कविगुरु का एक अजीबोगरीब उत्तर था, जो आचार्य क्षिति मोहन जैसे मनीषी के भी पल्ले नहीं पड़ा। उसके बाद ही एक कौतुकपूर्ण घटना घटी ( नीम पत्ती के शरबत की कथा ) जिसे आवान्तर समझ कर यहाँ नहीं कहना है। यह सारी बातें क्षिति बाबू द्वारा ही लेखक को कही गयी थीं। लेखक उस समय "रवीन्द्र परिषद" की संचालना कानपुर में कर रहे थे और आचार्य क्षिति मोहन "रवीन्द्र जयन्ती" समारोह का उद्घाटन करने को पधारे थे।

कवि–गुरु के जिस दृष्टान्त को यहाँ रखना चाहता हूं उस सन्दर्भ में श्रीराम कृष्ण परमहंस देव ने कहा था, "कष्ट को जाने सो शरीर ही जाने, मन तुम आनन्द से रहो।" गुरुदेव के तिरोधान के कुछ ही काल पूर्व की घटना है। वह अपने शिष्यदल को लेकर पुरी तीर्थ के समुद्र तटवर्ती एक भवन में कुछ दिनों के लिए जा बसे थे। पुरी-समुद्र के किनारे सारे भवन, होटलादि पूर्व मुखीन बने हैं। वहीं एक भवन में गुरुदेव ठहरे थे। दो-मंजले में गुरुदेव का स्थान था और नीचे के खण्ड में शिष्य वृन्दों का। प्रातः छः बजे गुरुदेव सबके प्रणाम को स्वीकार करने के लिए मुक्त द्वार पर थे, क्योंकि यह अनुमान किया जाता है कि तीन घन्टे ध्यानयोग में रहने के अव्यवहित बाद ही कविगुरु का शरीर भागवती होता होगा और इसी कारण भागवतीतनु को प्रणाम करने का प्रशस्य समय भी प्रातः छः बजे ही होता होगा। अतः यथाविधि शिष्य-गण पूर्व-मुखीन बैठे कविगुरु को प्रणाम निवेदन करने आये। प्रथम शिष्य प्रणम्य चरणों में से एक की अप्रत्याशित दुर्दशा देखते ही चिल्ला उठे, "आपको केकड़ा बिच्छू ने काटा है, आपका एक पैर फूल कर नीला पड़ गया है,

पुरी के बिच्छू इतने विषाक्त होते हैं कि उनके काटने से मृत्यु तक हो जाती है, और आपने हम किसी को आवाज तक नहीं दी।" गुरुदेव के वाक्यहीन मुस्कराहट ने ही उत्तर दिया।

कुछ दिनों के बाद आश्रम लौट आने पर गुरुदेव ने क्षिति मोहन जी को कथोपकथन के दौरान कहा "उस दिन पुरी में छात्रों ने ठीक ही कहा था कि वहां के बिच्छू भयानक जहरीले होते हैं, क्योंकि जब बिच्छू ने मुझे काटा तो इतना कष्ट हुआ कि मानों हमारी जान अभी निकल जायेगी। परन्तु साथ ही साथ मुझे यह अनुभव हुआ कि बिच्छू ने काटा तो होगा किसी रवीन्द्र नाथ ठाकुर को, उसके लिए "मैं" क्यों कष्ट भोगूं ?" ऐसा तीन चार बार कहते कहते ही मेरा सारा प्राणनाशक कष्ट गायब हो गया।" वस्तुतः योगी रवीन्द्र मन को देहातीत लोक में ले गये थे। भव-यंत्रणा से मुक्ति पाने के योग्य वही लोग हैं जो मुनि-ऋषि के पदलाच्य हैं, रामकृष्ण, रवीन्द्रनाथ, रामतीर्थ आदि महामानवों की मर्यादा प्राप्त कर चुके हैं। हमें उन्हीं के द्रष्टान्तों का पदांकानुसरण करके ही अधोगामी भारत को पुन: जगतवरेण्य करना है, नान्य पंथा विद्यतेऽयनाय।

# बढ़ते हुये मूल्य–कारण तथा उपचार

डा० ए० पी० गौड़

कानपुर

आज जन-साधारण बढ़ते हुए मूल्यों अथवा मंहगाई का शिकार है। भोज्य पदार्थ न सही तौल में मिलते हैं, न पर्याप्त मात्रा में, न सही मूल्यों पर और न शुद्ध ही। स्थिति आज की नहीं है वरन् पिछले ३० वर्षों से चल रही है। प्रति वर्ष राहत मिलने की आशा लगाई जाती है किन्तु स्थिति निरन्तर बिगड़ती ही जा रही है। देश के अर्थ-तन्त्र को क्षय रोग से छुड़ाना असम्भव सा दीखने लगा है।

प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति कैसे हो गई? यदि इसके कारण ज्ञात थे तो उनका उपचार क्यों नहीं किया गया? वास्तव में कारणों के मूल में जाना चाहिये और निराकरण के उपायों को समय से लागू करना चाहिये।

सामान्य रूप में सभी वस्तुओं के मूल्य खाद्य-सामग्री के मूल्यों पर आधारित होते हैं। खाद्य सामग्री सस्ती मिलने पर सभी वस्तुये सस्ती हो जाती हैं और खाद्य सामग्री के मँहगी होने पर सभी वस्तुयें मँहगी हो जाती हैं। अतः यदि खाद्य सामग्री की मूल्य वृद्धि के कारणों का ज्ञान हो जाये तो सभी मूल्यों की वृद्धि के कारणों का ज्ञान हो सकता है। खाद्य सामग्री के मूल्यों के पीछे उसके माँग पक्ष और पूर्ति पक्ष का अध्ययन करना चाहिए।

माँग पक्ष की ओर प्रमुख घटक जनसंख्या की वृद्धि है। विगत साठ वर्षों में देश की जनसंख्या में लगभग ४० करोड़ की वृद्धि हो गयी है जो कि निम्न आंकड़ों से ज्ञात होती है।

तालिका–१

देश की जनसंख्या-१९२१–८१

| वर्ष | जनसंख्या (करोड़) | पिछली जनगणना पर % वृद्धि |
|---|---|---|
| १९२१ | २५ | ०.३१ |
| ३१ | २८ | ११.०० |
| ४१ | ३२ | १४.२२ |
| ५१ | ३६ | १३.३१ |
| ६१ | ४४ | २१.५१ |
| ७१ | ५५ | २४.८० |
| ८१ | ६५ | १८,०१ |

जनसंख्या विस्फोट ने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री माल्थस के निर्णयों को पूर्णतया चरितार्थ कर दिखाया है।

दूसरी ओर जब खाद्य सामग्री की पूर्ति की ओर देखते हैं तो उसमें अपेक्षाकृत कम वृद्धि हुई है। गत १८ वर्षों में यद्यपि देश में हरित-क्रान्ति हुई है किन्तु खाद्य सामग्री केवल ८ करोड़ टन से बढ़कर १३ करोड़ टन ही हो पाई है। कृषि प्रायः प्रकृति पर निर्भर होती है। अपने देश में तो कृषि को 'मानसून में जुड़ा कहा गया है। अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक प्रकोप आये दिन कृषि-उत्पादन को प्रभावित करते रहते हैं।

तालिका—२

| वर्ष | खाद्य सामग्री (करोड़ टनों में) |
|---|---|
| १९६०-६१ | ८ |
| १९६५-६६ | ७ |
| १९७०-७१ | ११ |
| १९७५-७६ | १२ |
| १९७६-७७ | ११ |
| १९७७-७८ | १३ |

इन दोनों घटकों के साथ एक अन्य घटक भी बड़ा प्रभाविक है। देश में मुद्रा-प्रसार की वृद्धि के कारण रुपये की क्रय शक्ति में निरन्तर ह्रास हो रहा है। किसी स्वस्थ शरीर में यदि कोई उत्तेजक इन्जेक्सन दिया जाये तो वह शरीर की कार्य शक्ति में तुरन्त वृद्धि करता है। किन्तु यदि ऐसा उत्तेजक पदार्थ किसी दुर्बल रोगी के शरीर में पहुँचाया जाय तो उसकी संचारता में गतिरोध होता है। ऐसी ही स्थिति देश की अर्थव्यवस्था की हो गई है। इसमें जितनी मात्रा में मुद्रा प्रसार होता है उसी अनुपात में मूल्य वृद्धि हो जाती है। नई मुद्रा के द्वारा देश में व्यापार, वाणिज्य, व्यवसाय और उत्पादन तथा उत्पादनशीलता में वृद्धि होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो उसका सीधा प्रभाव मूल्य वृद्धि पर पड़ता है। विगत १८ वर्षों में मुद्रा और साख में कितनी वृद्धि हुई है। तालिका तीन के आंकड़ों से ज्ञात होती है

तालिका—३

मुद्रा, बैंक जमा तथा बैंक साख (करोड़ में)

| वर्ष | जनता के पास मुद्रा | बैंक-जमा | बैंक-साख |
|---|---|---|---|
| १९६०-६१ | २८६९ | १७४६ | १३२० |
| १९६५-६६ | ४५२९ | २९५० | २२८८ |
| १९७०-७१ | ७३२१ | ५९०६ | ४६८४ |
| १९७५-७६ | १३१४३ | १४१५५ | १०८७७ |
| १९७७-७८ | १८०८० | २१६७७ | १४७१८ |

इस स्थिति को कोई भी देश अपनी तटकर नीति अथवा आयात-निर्यात द्वारा ठीक कर सकता है। जिन वस्तुओं की पूर्ति मांग की अपेक्षा कम हो उनका अपने देश से निर्यात रोक कर और दूसरे देशों से आयात बढ़ा कर पूर्ति कर सकता है। किन्तु यदि ऐसे समय में किन्हीं अन्य कारण वश ऐसा न होकर उल्टा हो जाये तो स्थिति कितनी गम्भीर होगी उसका अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा अपने देश में भी किया गया है जिससे चीनी, आलू, प्याज आदि वस्तुओं में कृत्रिम दुर्लभता हो गई थी।

ईश्वर बड़ा न्यायिक है। उसने प्रत्येक मनुष्य को एक मुंह और दो हाथ दिये जिससे वह काम करके अपना पेट भर सके। यदि कोई व्यक्ति अपना मुंह तो फैला ले, किन्तु उसे भरने के समय अपने दोनों हाथ बगल में दबा ले, तो उसका पेट कैसे भर सकता है। ऐसी अकर्मण्यता अपने देश में आ गई है। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के अधिकांश नागरिक, जो कर्त्तव्य परायण थे, अधिकार-परायण हो गये। काम करना मानो किसी का धर्म ही नहीं रहा। भारतवर्ष शताब्दियों से एक धर्म-परायण देश था जहाँ का प्रत्येक नागरिक प्रायः ईमानदार, सच्चरित्र, कर्त्तव्यनिष्ठ और सदाचारी था। किन्तु आज पाश्चात्य प्रभाव के कारण ये मूलभूत गुण तिरोहित हो गये हैं और देश में अनुशासन-हीनता, बेईमानी, चोर बाजारी, मिलावट, घूसखोरी आदि दुर्गुण इस मात्रा में व्याप्त हो गये हैं कि कोई क्षेत्र इनसे अछूता नहीं रहा है।

मूल्य वृद्धि में उपर्युक्त प्रमुख कारणों के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं जैसे घाटे की वित्त व्यवस्था, बढ़ते हुए वेतन और मँहगाई भत्ते, तेल संकट, हड़ताल, बन्द, काम रोको आन्दोलन आदि, यह तो सम्भवतः ईश्वर ही जानता है कि इस देश की नाव किस प्रकार चल रही है

सभी के समक्ष एक ही प्रश्न है—इस कमरतोड़ मंहगाई का किस प्रकार सामना किया जाये ? किस प्रकार सम्मान-पूर्वक आजीविका कमायें और विहित कर्मों को किया जाये ? उपचारों की कमी नहीं है। अनेक अर्थविदों ने समय समय पर अनेक सुझाव दिये हैं जिन्हें यदि सत्यता से लागू किया जाता तो ऐसी स्थिति कभी नहीं आती। जब तक कथनी और करनी का अन्तर समाप्त नहीं होगा इन सुझावों का कोई सफल परिणाम भी नहीं होगा। सरलतम उपाय जो मूल्य वृद्धि को रोकने हेतु सुझाये जा सकते हैं वे हैं (१) खाद्य सामग्री की मांग को नियंत्रित करना (२) खाद्य सामग्री की पूर्ति में वृद्धि करना (३) आयात-निर्यात नीति को सुनियोजित एवं वैज्ञानिक बनाना

(४) मुद्रा प्रसार और बैंक साख पर नियन्त्रण रखना और (६) अनुशासन तथा सदाचार का पालन करना। राजनीति, धर्म तथा दण्डनीति और अन्य उपायों द्वारा जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण करना अनिवार्य है। इसी प्रकार वैज्ञानिक कृषि तथा समुचित नियोजन द्वारा खाद्य सामग्री की पूर्ति में वृद्धि करनी चाहिए। ऐसा करने से मुद्रा प्रसार और साख वृद्धि के परिणाम मूल्य-वृद्धि न होकर उत्पादन और उत्पादनशीलता में वृद्धि हो जायेगे।

इन सबसे महत्वपूर्ण उपाय देश वासियों को कर्त्तव्य-निष्ठ तथा सदाचारी बनाने का है। गुण अवगुण ऊपर से नीचे की ओर बहते हैं। छोटे सदा अपने बड़ों का अनुसरण करते हैं। यदि बड़े अच्छा व्यवहार करेंगे तो छोटे भी उनको देखकर उन्हीं का सा व्यवहार करेंगे। इसी सिद्धान्त को श्री कृष्ण जी ने अपने प्रिय सखा अर्जुन को समझाया था। उन्होंने कहा था कि यद्यपि मुझे कोई काम नहीं है फिर भी मैं ऐसा काम करता हूं जिसे दूसरे देखकर अनुसरण करे।

यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ गीता ३-२३ ॥

जो भी किसी प्रकार बड़े हैं, प्रभावशाली हैं उन्हें सदैव इस प्रकार का आचार-व्यवहार करना चाहिए जो दूसरों के लिए निर्देशन का कार्य कर सके। अपने देश की संस्कृति और परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें नागरिकों को स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत करके कर्त्तव्यनिष्ठ सदाचारी एवं ईमानदार बनाये। "प्रवचन से उदाहरण श्रेष्ठतर होता है" इस सिद्धान्त पर हमें स्वयं अपने को सच्चरित्र बनाकर अपेक्षित गुणों के आधार पर व्यवहार करना चाहिए जिनसे धीरे धीरे जो भी व्यक्ति सम्पर्क में आये वे भी उसी ढांचे में ढलते चले जायें। इस समय देश को कर्त्तव्यनिष्ठ, और सदाचारी प्रणेताओं की आवश्यकता है।

मूल्य वृद्धि को रोकना और उसे दूसरी ओर मोड़ना वर्तमान स्थिति में कठिन मालूम होता है किन्तु यदि, जैसा ऊपर संकेत किया गया है, उस ओर कार्यशील हो जाये तो असम्भव नहीं है। आशा है पाठकगण समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर उसके उपचार में अपना यथेष्ट सहयोग प्रदान करेंगे।

# त्रिगुण एवं मानव-निर्माण

—शौनक ब्रह्मचारी

एम. ए., एल-एल० बी०, दर्शनाचार्य, कानपुर

सत्त्व, रज, तम,-ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। ये गुण आत्मा के नहीं हैं आत्मा गुणातीत है। ये तीनों गुण अन्तःकरण को प्रभावित करते हैं। प्रत्येक प्राणी में तीनों गुण रहते हैं। मनुष्य निरन्तर तीनों गुणों के अधीन रहता है। तीनों गुणों में एक समय में एक का प्राधान्य रहता है। शेष गुण गौण रहते हैं। जिस गुण की प्रधानता होती है। वह गुण शेष दो गुणों को दबा लेता है। प्रत्येक मनुष्य में एक गुण की प्रधानता रहती है, दो गुण गौण रूप से विद्यमान रहते हैं। व्यक्ति में जिस गुण का प्राधान्य होता है, उसका स्वभाव उसी गुण के आधार पर निश्चित किया जाता है इसी के आधार पर किसी को सात्त्विक, किसी को राजसी एवं किसी को तामसी कहा जाता है। सात्त्विक के अन्दर सत्त्व गुण की प्रधानता होती है। रजोगुण एवं तमोगुण गौण रूप से रहते हैं। राजसी व्यक्ति में रजोगुण प्रमुख शेष सत्त्वगुण एवं तमोगुण दबे रहते हैं। तथा तामसी व्यक्ति में तमोगुण सर्वोपरि रहता है एवं सत्त्वगुण तथा रजोगुण को दबाये रहता है।

इन्हीं गुणों के प्रभाव में व्यक्ति कार्यकरता है। सत्त्व-गुण प्रधान व्यक्ति सात्त्विक कार्य, रजोगुण प्रधान व्यक्ति राजसी कार्य एवं तमोगुण प्रधान व्यक्ति तामसी कार्य करता है। सात्त्विक व्यक्ति में भी कभी रजोगुण की तथा कभी तमोगुण की प्रधानता हो सकती है। इसी प्रकार राजसी एवं तामसी व्यक्ति में भी सात्त्विक भाव का उदय कभी प्रमुख रूप से हो सकता है; परन्तु इन गुणों के चक्कर होने पर भी मनुष्य के स्वभाव में जिस गुण की बहुलता होती है, उस व्यक्ति का स्वभाव उसी गुण के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

बचपन से इन गुणों पर विचार करना चाहिये। बालक में ये गुण दो प्रकार से प्रवेश करते हैं। पहले तो इसका स्वरूप माता-पिता के रजवीर्य से आता है। यदि माता पिता दोनों सात्त्विक हों, तो बालक सात्त्विक, माता पिता राजसी है, तो सन्तान राजसी तथा यदि माता पिता तामसी हैं, तो सन्तान तामसी होती है। कभी-कभी राजसी एवं तामसी माता-पिता की सन्तान सात्त्विक एवं सात्त्विक माता-पिता की सन्तान राजसी एवं तामसी भी हो जाती है। इसका कारण है गर्भावस्था में सन्तान के आने पर विशेष रूप से सात्त्विक एवं राजसी-तामसी वातावरण का प्रभाव। जैसे प्रह्लाद की माता कयाधू नारद जी के आश्रम में रहती थी। वहाँ के धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण से गर्भस्थ प्रह्लाद का जन्म हुआ। बालक बालिकाओं में दूसरा प्रभाव वातावरण से पड़ता है। नन्हीं सन्तान जिस वातावरण में रहती है। उसका संस्कार उस सन्तान पर पड़ता है। सात्त्विक व्यक्ति की सन्तान भी राजसी-तामसी हो जाती है। तामसी परिवार के बालक वातावरण के प्रभाव से सात्त्विकता ग्रहण कर लेते हैं। वातावरण से बिगड़े हुए बालक बालिका शुद्ध किये जा सकते हैं। किन्तु राजसी तामसी माता-पिता की सन्तान को सात्त्विक बनाने

अति कठिनाई हो सकती है। आज कल अधिकांश सन्तान वातावरण की अशुद्धि से बिगड़ जाते हैं; जिससे माता पिता परिवार एवं समाज को विशेष कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ रहा है। बालक-बालिकाओं के निर्माण के लिए सात्त्विक वातावरण में रखना आवश्यक होता है। सात्त्विक माता-पिता या संरक्षक अपनी आश्रित सन्तान को सावधानी पूर्वक विधि परक वाक्यों का प्रयोग करते हुए क्रम-क्रम से सात्त्विक बना सकता है। छोटी अवस्था में पाँच वर्ष तक बालक बालिकाओं को ताड़ना नहीं देनी चाहिए। जब अवस्था पाँच वर्ष से ऊपर हो जायें तो पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक ताड़ना देना अनिवार्य हो जाता है। यही अवस्था सन्तान के बिगड़ने की होती है उस अवस्था में सात्त्विक भोजन सात्त्विक साहित्य एवं सात्त्विक वातावरण का ध्यान रखना चाहिए। मानव निर्माण में से उपर्युक्त तीन प्रमुख साधन हैं। अभिभावक जब इन तत्वों पर ध्यान नहीं देते हैं, तब सन्तान बिगड़ जाती है। सोलह वर्ष की अवस्था हो जाने पर नियन्त्रण कम कर देना चाहिए। शारीरिक ताड़ना समाप्त प्रायः हो जानी चाहिए इस अवस्था में बुद्धि का विकास होने लगता है। अतः इस सिद्धान्त पर ध्यान देना चाहिए

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताड़येत्।
प्राप्तेषु षोडशेवर्षे पुत्रं मित्रं समाचरेत्॥

बालक या बालिका जब सोलह वर्ष के हो जायँ, तब उन्हें हर क्षण न डाँटना चाहिए, न समझाना। इस अवस्था में रजोगुण का प्राबल्य होने लगता है। युवावस्था में सुमार्ग या उपदेश की बातें वैसे ही कष्टदायी होती हैं जैसे कान में पड़ा हुआ जल। बालक, बालिका से त्रुटि हो जाने पर तत्काल नहीं टोकना चाहिए। सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली सन्तान से त्रुटि हो जाने पर तत्काल टोकना चाहिए। जितनी बार भूलें हों, उतनी ही बार उन्हें उन भूलों के लिये संकेत करना चाहिये और आवश्यकता होने पर ताड़ना भी त्रुटि के अनुसार छोटी-बड़ी देनी चाहिये। शारीरिक ताड़ना इस अवस्था में अवश्य होनी चाहिए।

बुद्धि जाग्रत होने पर बालक बालिका के स्वभाव का अध्ययन करना चाहिए। उस स्वभाव के आधार पर उन्हें समझाने का प्रयास करना चाहिये। राजसी एवं तामसी वृत्ति होने पर समझाने की क्रिया नहीं करनी चाहिये। जब चित्त वृत्ति शान्त हो, मन प्रसन्न हो, उस समय सन्तान को अपने पास बुलाकर प्रेम से बातें करनी चाहिये। यदि उसका स्वभाव सात्त्विक है, तो उसे प्रेम एवं ज्ञान देकर उसकी त्रुटि की ओर उसे संकेत करना चाहिये। सात्त्विक स्वभाव वाला व्यक्ति संकेत से ही अपनी भूल समझ जाता है, और उसे छोड़ने का प्रयास करने लगता है। राजसी स्वभाव वाले बालक-बालिका को प्रसन्न देखकर उन्हें कुछ प्रलोभन देना चाहिये। भौतिक वस्तुओं को देने का आश्वासन देकर धीरे से उसकी भूल-जो सबसे छोटी हो उसे संकेत मात्र करना चाहिये। राजसी स्वभाव कभी-कभी अपनी भूल मानने को तैय्यार नहीं होता, उससे इस भाषा में कहना चाहिए कि मुझे ऐसी भूल प्रतीत हो रही है। सम्भव है भूल न भी हो। वह इस प्रकार कहने पर स्वीकार कर सकता है। प्रत्यक्ष भूल का दिग्दर्शन कराने पर राजसी स्वभाव में तेजी आ जाती है। वह दूसरे का दोष दिखलाने लगता है। यही शैली मित्र के सुधार के लिये भी अपनाई जानी चाहिये। राजसी स्वभाव के बालक बालिका के स्वभाव में अप्रत्यक्ष रूप से दोषों का दिग्दर्शन कराना लाभप्रद होता है। राजसी स्वभाव में प्रतिशोधात्मक शक्ति अधिक होती है।

तामसी स्वभाव के बालक-बालिका का सुधार करते समय सत्त्व गुण की अवस्था में भय देना आवश्यक होता है। तमोगुण को भय देकर सुमार्ग पर लाया जा सकता है। जब चित्त आक्रान्त हो जाय तब धीरे से उसे समझाना चाहिये। वह भय के कारण बात मान लेता है। तामसी स्वभाव में तर्क वितर्क नहीं होता। इस प्रकार तीनों गुण वाले व्यक्तियों को न्यूनाधिक सुधार होता रहता है। सात्त्विक स्वभाव में सुधार अधिक होता है। राजसी स्वभाव में सात्त्विक की अपेक्षा कम होता है। धीरे-धीरे समझाते-समझाते तीनों गुणों में सुधार होता है।

सत्त्वगुण में समझाने की शक्ति सबसे अधिक होती है। सुधार अन्तःकरण का होता है। अन्तःकरण ही शुद्धाशुद्ध होता है। बालक-बालिका का अन्तःकरण सुधारने में कम कठिनाई पड़ती है। उनका मन, बुद्धि भौतिक संस्कारों

से कम प्रभावित रहता है। उनके अन्दर पूर्वार्जित संस्कार मात्र रहते हैं। उनका ही परिष्कार करना पड़ता है। वर्तमान में शुभ संस्कारों को डालना पड़ता है बालक बालिकाओं का निर्माण करने में माता पिता से भी अधिक महत्त्व अध्यापक का होता है। अध्यापक जितना ही अधिक शुभ संस्कारों से युक्त एवं सात्त्विक होगा। उतना ही अधिक प्रभाव छात्र छात्राओं पर पड़ेगा। विद्यार्थियों को मोड़ने के लिए तीनों गुणों को जानना आवश्यक है। अध्यापक के प्रति विद्यार्थी में माता पिता की अपेक्षा श्रद्धा अधिक होती है। श्रद्धेय ही श्रद्धालु का निर्माण कर सकता है। अध्यापक को अपने स्वभाव को सात्त्विक गुणों से इतना ओत प्रोत रखना चाहिये कि विद्यार्थी उसे देखकर श्रद्धानत हो जाये। संयमी व्यक्ति के संयम की शिक्षा ही मानव को संयमी बना सकती है। संयम सत्त्वगुण से प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अध्यापक को सात्त्विक होना अत्यावश्यक है। सात्त्विकता के साथ-साथ शिक्षण की योग्यता, व्यक्ति-निर्माण की कला, व्यवहार दक्षता का ज्ञान होना भी आवश्यक है। विद्यार्थियों के निर्माण के लिये अध्यापक का आचरण एवं भावना प्रमुख तत्त्व हैं। शुद्ध भावना ( छात्र के प्रति पुत्रवत् भावना ) विद्यार्थियों को अध्यापक की ओर आर्कषित करती है। शुद्ध भावना से सात्त्विक छात्र शीघ्र आर्कषित होता है। छात्र-छात्राओं के आर्कषित होने पर अध्यापक उनके अन्तःकरण में अपनी बातों को प्रतिष्ठित करता है। सत्त्वगुण प्रधान विद्यार्थी जीविका एवं जीवन दोनों की व्यवस्था करता है। राजसी छात्र जीविका की व्यवस्था के लिये सावधानी से उद्यत रहता है। वह व्यावहारिक जगत् की योग्यता अधिक रखता है, वह सांसारिकता में निपुण होता है। तामसी प्रवृत्ति का छात्र प्रतिभाहीन होता है। वह केवल अपनी जीविका की व्यवस्था कर पाता है। वह सामान्य ढंग से जीवन-निर्वाह करता है। तीनों प्रकृति के छात्र विद्यालय में ही निर्मित होते हैं। सात्त्विक छात्र वास्तविक समाजसेवी होता है। तामसी केवल अपना एवं अपने परिवार की सेवा मात्र करता है। विद्यालय में इन गुणों का ज्ञान न होने से, तथा इस प्रकार के वर्गीकरण का अभाव होने से समाज का समुचित विकास नहीं हो पाता। मानव निर्माण के लिये विद्यालय का दायित्व सबसे बड़ा व्यक्तित्व है। विद्यालय में ही हर वर्ग के अधिकारी, समाजसेवी, कृषक, अध्यापक, अधिवक्ता, शासक शिक्षित किये जाते हैं। यदि ये सात्त्विक होंगे, तो इनके द्वारा किया हुआ कार्य समाज के लिये सुखदायी होगा। यदि ये राजसी-तामसी होंगे, तो समाज के लिये इनका व्यवहार दुःखदायी होगा।

मानव के अन्तःकरण में दुर्गुण पैदा करने का दोष रजोगुण को है। रजोगुण ही मनुष्य से पाप कराता है, बुरा संस्कार डालता है। रजोगुण के चित्त में प्रवेश होते ही न चाहते हुए मनुष्य को भी पाप-प्रवृत्ति का शिकार होना पड़ता है। गीता में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि—'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।,

संसार का सारा भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार एवं पापाचार काम एवं क्रोध के द्वारा होता है। काम और क्रोध एक ही तत्त्व हैं। काम के विघात का नाम क्रोध है। यदि काम, क्रोध को हटाना है, तो रजोगुण को हटाना होगा। रजोगुण सत्त्वगुण की अधिकता से ही हट सकता है। सत्त्वगुण बढ़ाने के लिए ऋषियों ने एक सिद्धान्त निकाला—जो श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय के चतुर्थ श्लोक में वर्णित है—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुण हेतवः॥

आगम (वैष्णव ग्रन्थ), जल (भोजन), प्रजाजन (समाज), देश (वातावरण), समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र, और संस्कार—ये दश वस्तुएं यदि सात्त्विक हों, तो सत्त्वगुण की, राजसी हों, तो रजोगुण की और तामसी हों, तो तमोगुण की वृद्धि करती हैं। इन वस्तुओं का बारह वर्ष तक सेवन करना चाहिए। बारह वर्ष तक इन सात्त्विक वस्तुओं के सेवन करने से तामसी राजसी एवं राजसी सात्त्विक हो जायेगा है।

मानव-निर्माण करते समय श्रद्धा का विशेष ध्यान रखना चाहिए ; क्योंकि व्यक्ति का निर्माण तो अन्तःकरण के परिवर्तन से ही सम्भव है। जब अन्तःकरण प्रसन्न रहता है, तब निर्माता की शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। राजसी चित्त में भगवान् की लीला-कथा एवं ऐश्वर्ययुक्त-कथा

का रोचक वर्णन, तामसी चित्त में भयानक प्रसङ्गों का उल्लेख एवं चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर सिद्धान्त की चर्चा करनी चाहिए तथा दोषों को दूर करने के उपायों का वर्णन प्रारम्भ कर देना चाहिए। सत्त्वगुण की वृद्धि से वुद्धि वलवान हो जाती है एवं मन नियन्त्रित हो जाता है। जिस व्यक्ति का मन जितना ही अधिक नियन्त्रित होता है, उसमें मानवता का विकास उतना ही अधिक माना जाता है। व्यक्ति को वास्तविक मानव बनाने के लिए मानसिक रोगों को दूर करना होगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या आदि मानसिक रोग हैं। ये सभी रोग रजोगुण एवं तमोगुण की अधिकता से वढ़ते हैं। सत्त्वगुण की प्रवलता से कम होते हैं एवं मन के पवित्र एवं पूर्ण नियन्त्रित हो जाने से रोग समाप्त हो जाते हैं। सन्त मानव विकास की चरमावस्था है। सन्त में मानसिक रोग नहीं होते। मानसिक रोगों की औषध धर्म ग्रन्थों में वतलाये गये हैं। जैसे— काम—संकल्पों का त्याग, क्रोध-कामनाओं का त्याग, लोभ-अर्थ को अनर्थ समझना, भय-तत्त्व-विचार, शोक-मोह-अध्यात्म विद्या, दम्भ—सन्तों की सेवा आदि।

मानव निर्माण में भावना का महत्व है। शुद्ध भाव से व्यक्ति का हृदय द्रवित हो जाता है। द्रवित धातु से ही वस्तु निर्मित होती है। इसलिए सबसे पहले प्रेम से व्यक्ति के हृदय को द्रवित कर देना चाहिए। वृद्ध नर-नारियों का भी हृदय द्रवित कर संस्कार ठीक किये जा सकते हैं, विकार दूर किये जा सकते हैं। पूर्वाग्रही व्यक्ति का निर्माण नहीं हो सकता। व्यक्ति का निर्माण होते-होते व्यक्ति सामान्य मानव, विशेष-मानव, महामानव एवं देव-मानव तक हो सकता है।

# कौटिल्य-युगीन आर्थिक ढाँचा

## डा० वीरेन्द्रनाथ सिंह

कानपुर

कौटिल्य को चाणक्य एवं विष्णुगुप्त के नाम से भी याद किया जाता है। चाणक्य उन्हें इसलिए कहा जाता है कि वे चणक के पुत्र थे, कौटिल्य इसलिए कि वह राजनीति के क्षेत्र में कुटिल थे और उनका वास्तविक पितृ-प्रदत्त नाम विष्णुगुप्त था।

कौटिल्य की अमरकृति 'अर्थशास्त्र' है यद्यपि इस पुस्तक को लेकर अनेक विवाद हैं कि यह ग्रन्थ कौटिल्य की रचना है अथवा नहीं फिर भी अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य की ही रचना है। इस पुस्तक में ध्यान देने की बात यह भी है कि कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती लगभग १८ या १९ अर्थशास्त्र सम्बन्धी आचार्यों को अपने अर्थशास्त्र में स्थान दिया है। यह प्राचीन आचार्य परम्परा इस तथ्य का प्रमाण है कि अर्थशास्त्र पर सर्व प्रथम कौटिल्य ने ही अपने विचार व्यक्त नहीं किए वरन् उनके पूर्ववर्ती अनेक विद्वान हो चुके थे।

'अर्थशास्त्र' शब्द को जिन अर्थों में हम आज प्रयोग करते हैं वह इस संदर्भ में नया है। कौटिल्य ने स्वयं लिखा है "अर्थ का अभिप्राय है मनुष्य की वस्ती, अर्थात् वह प्रदेश जिसमें मनुष्य बसते हैं। 'अर्थशास्त्र' उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो।" इसलिए सम्पूर्ण 'अर्थशास्त्र' अर्थ-सम्बन्धी कार्यों का विवरण देता है और यह किसी न किसी तरह राज-काज के कार्यों से सम्बन्धित है।

'अर्थशास्त्र' में केवल राजनीतिशास्त्र अथवा 'अर्थशास्त्र' के विविध पक्षों पर ही व्याख्या मिलती है ऐसा सोचना भ्रम है। इसमें सामाजिक व्यवस्था की सूक्ष्म वातों पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। भूमि, खेती, कृषि के विविध रूप, दास प्रथा, कर्मकार, शूद्र, व्यापारिक समस्यायें, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति, कलाशिल्प, स्त्री समस्यायें, अकाल, अपराध आदि पर विस्तृत व्याख्या की गई है। विशेष वात यह है कि इन सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए आर्थिक-नियोजन को प्राथमिकता दी गई है। सामाजिक समस्या को मात्र सामाजिक समस्या के रूप में नहीं देखा गया है बल्कि उसके पृष्ठभूमि में कौन से कारक हैं उन पर गम्भीरता से विचार किया गया है। इस तरह सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि में जो आर्थिक कारक है उन पर कौटिल्य ने प्रकाश डाला है वास्तव में कौटिल्य एक ऐसे सुदृढ़-आर्थिक ढाँचे की नींव रखना चाहते थे जिससे चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य मजबूत और शक्तिशाली बन सके। मुझे यह कहने में किंचित्-मात्र भी संकोच नहीं है कि कौटिल्य भारतीय भौतिकवादी-दर्शन के जनक है। अर्थशास्त्र की रचना उसने उस समय की है जब भारत धर्म और अन्ध-विश्वासों के घेरे में बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। ऐसे समय में उसने भारत के लिए अनेक आर्थिक-योजनायें वनायी। आज जिन तथ्यों की बात हम पंच-वर्षीय-योजनाओं में करते हैं। उन पर उसने ४०० बी. सी. पूर्व विचार किया था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने के लिए अर्थशास्त्र की रचना की थी। 'अर्थशास्त्र' में हमें जो उसकी आर्थिक-दृष्टि देखने को मिलती है वह केवल शासन के लिए ही हितकर नहीं था वरन् देश की समृद्धि के लिए भी अतिआवश्यक थी। डी० डी० कोसाम्बी ने लिखा है अर्थशास्त्र का अर्थ है आर्थिक लाभ का शास्त्र, व्यक्ति के लिए नहीं, एक विशेष प्रकार के राज्य के लिए। लक्ष्य सदा दर्पण की तरह स्पष्ट था। उसे प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त साधनों का औचित्य सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। कहीं नैतिक अथवा परोपकार का ढोंग नहीं है। उपाय चाहे कितने वीभत्स और कपटपूर्ण हो, जिन कठिनाइयों का विवेचन किया गया है वे सब व्यवहारिक हैं, जिनमें व्यय और संभव्य उत्तर-प्रभावों पर उचित ध्यान भी शामिल है।[1] कोसाम्बी ने बहुत थोड़े से शब्दों में ही अर्थशास्त्र का उद्देश्य एवं आर्थिक साधनों की व्याख्या कर दी है। 'अर्थशास्त्र' में व्याप्त आर्थिक-साधनों का ढाँचा किसी बनावटी एवं ढोंगी सरचना पर आधारित नहीं बल्कि कार्य करने की पद्धति और उन्हें सचालित करने के तरीकों की स्पष्ट व्याख्या है। इतना ही नहीं वरन् किस कार्य को किस प्रकार से किया जाय इसका भी स्पष्ट निर्देशन देखने को मिलता है। आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित निर्देशन इस तथ्य का परिचायक है कि वे सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे को सन्तुलित रूप में आगे बढ़ाने के पक्षधर थे।

कौटिल्य-युगीन आर्थिक-ढाँचा सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के रूप में विकसित हो रहा था। इस समय का समाज कृषि-मूल्यों के अन्धविश्वासी बन्धनों से जकडा था। वे इस युग में टूट रहे थे। इनके स्थान पर उत्पादन एवं वितरण के नये नियमों व पद्धतियों की स्थापना की जा रही थी जो शनैः शनैः अपना स्थान समाज में, मजबूती से बना रहे थे। यह युग मुख्यता कृषि कार्य व कृषि व्यवसाय का था। ये जीविका के मुख्य साधन भी थे। सम्भवतः इसीलिए कौटिल्य ने कृषि सम्बन्धी समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया है। वह इस तथ्य से परिचित था कि कृषि के विकास व उन्नति से ही यह देश समृद्धिशाली बन सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक प्रकार की योजनायें बनायी। जैसे सिंचाई के साधनों पर ध्यान दिया दूसरी ओर ऊसर भूमि को किस प्रकार उपजाऊ बनायें इस पर भी विचार किया। इसके साथ ही साथ घने जंगलों को साफ कराकर कृषि योग्य भूमि बनाने की योजना भी बनायी। घने जंगलों को साफ कराकर व्यक्तियों को बसाया गया। उन्हें खेती योग्य भूमि दी गयी और वे व्यक्ति जो जमीन पर खेती नहीं करते थे उनसे जमीन छीनकर राजा दूसरे व्यक्तियों को खेती के लिए दे देता था। इससे उत्पादन में जहाँ वृद्धि होती थी वहीं राज्य-कोष भी समृद्ध बनता था।

हम यह कह सकते हैं कि कौटिल्य-युगीन आर्थिक ढांचा पुनर्निर्माण के दौर से निकल रहा था। समाज का सम्पूर्ण ढांचा कृषि समाज पर आश्रित था। उसमें मूलभूत परिवर्तन किये जा रहे थे, जैसा कि हमें उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है। यह आर्थिक परिवर्तन कौटिल्य की आर्थिक दृष्टि को ही स्पष्ट नहीं करता वरन् उस समाज के आर्थिक-ढाँचे और उसमें होने वाले परिवर्तनों का चित्र भी हमारे सम्मुख रखता है।

आर्थिक ढाँचे को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये नवीन उपनिवेश बसाये जाते थे। इनको बसाने का मुख्य उद्देश्य आर्थिक-दृष्टि से देश को शक्तिशाली बनाना था। आर्थिक-साधनों का विस्तार करना था। अधिक से अधिक व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगाना था। उसके सम्मुख जनसंख्या की समस्या भी थी। इसके लिये उसने अधिक जनसंख्या वाले भाग से व्यक्तियों को ले जाकर कम जनसंख्या वाले भागों में बसाया। दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करके वहाँ की जनसंख्या से उपनिवेश को स्थापित किया जाता था। इन उपनिवेशों में अधिकांश व्यक्ति निम्न जाति के और कृषक होते थे।

आर्थिक-ढाँचे का महत्वपूर्ण चरण उस समय और भी उभर कर सामने आता है जब अन्य नवीन उपनिवेशों की स्थापना की जाती थी। उस समय प्रशासन का घ्यक

१. डी. डी. कोसाम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृष्ठ १७६

जनपद था जिसे आज की भाषा में जिला कहा जाता है। जनपद और उपनिवेशों को गाँव में विभाजित किया जाता था। जनपद के द्वारा कैसे और किस प्रकार अर्थ लाभ होता था। इस सन्दर्भ में कोसाम्बी ने लिखा है—जनपदों के बीच जाने वाले व्यापारी संघों को प्रवेश और निवेश पर चुंगी देनी पड़ती थी। जनपद की सीमा पार करने वाले व्यक्ति को मुहर लगा हुआ सरकारी आज्ञा-पत्र दिखाना पड़ता था जो उपर्युक्त कारणों से ही भारी-शुल्क चुकाने पर मिलता था। जनपद का प्रशासन चलाने वाले उच्च-मन्त्री और स्थानीय अधिकारियों की समितियाँ उस जनपद की ही होती थी।"

जनपदों के संकटकाल में राजा पूर्ण सहायता करता था। बाढ़, अकाल, फसल नष्ट, स्वास्थ्य भय आदि के कारण जो हानि होती थी उसकी क्षतिपूर्ति की चेष्टा करता था। इस समय जो सहायता दी जाती थी उसे उनसे वापिस नहीं ली जाती थी। सहायता की एक सीमा निर्धारित कीं जाती थी। यदि इसका प्रभाव राज-कोष पर पड़ने लगता था तो इस सहायता को कम कर दिया जाता था अथवा वन्द कर दिया जाता था। इसके साथ ही साथ वस्तुओं की बिक्री एवं वाणिज्य की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था क्योंकि कृषि-व्यवसाय में गिरावट को विभिन्न प्रकार के पदार्थों का विक्रय करके पूर्ति की जा सकती थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जल-मार्गों से आयात-निर्यात की व्यवस्था की जाती थी।

जिन कार्यों से आर्थिक ढाँचे तथा अर्थ-लाभ पर प्रभाव पड़ता था उन पर पावन्दी लगा दी गयी थी। कृषि क्षेत्र अथवा गाँव में मनोरंजन के अनेक साधन जिससे समय नष्ट होता था, उन्हें प्रदर्शित करने की अनुमति नहीं दी जाती थी जैसे नाट्यशाला, नट, नाचने वाले, नकलची, गायक, वादक तथा मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना नहीं की जा सकतो थी। इसके साथ ही साथ राज्य में नवीन-कार्यों, व्यवसायों एवं वाणिज्य के विकास व उन्नति के लिए जहाँ एक ओर प्रयत्न किया जाता था वहाँ दूसरी ओर पुर्ननिर्माण का कार्य भी साथ-साथ चलता था।

कृषि संबंधी विविध कार्यों के विकास, प्रसार व उन्नति के लिए विभिन्न प्रकार की योजनायें वनायी जाती थीं। किसानों पर विभिन्न प्रकार के कर, लगान, भूमि-विभाजन के नियमों को कार्यान्वित किया जाता था। इसके साथ ही अन्य साधनों से भी राजकोष को धनी बनाने का प्रयत्न किया जाता था। वाणिज्य सम्बन्धी दो प्रकार के शुल्क (चुन्गी) ली जाती थी "निष्क्रम्य और प्रवेश्य"। वस्तुओं के निर्यात किये जाने पर निष्क्रम्य शुल्क और आयात पर प्रवेश्य शुल्क लिया जाता था। विभिन्न वस्तुओं पर चुन्गी की दर भिन्न–भिन्न हुआ करती थी। विभिन्न प्रकार के करों को एकत्र करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति हुआ करती थी। कर अधिकारी को समाहर्ता कहते थे। यह एक राज्य में एक हुआ करता था। इसके अधिकार असीमित होते थे। यह एक दुर्ग, राष्ट्र, व्यापार मार्ग, खान, वन सेतु आदि पर कर लगाकर राजकोष के लिये धन एकत्र करता था। दुर्ग के अन्तर्गत चुन्गी, दण्ड सुरा, सूना (वधशाला) सूत्र, बढ़ई, लुहार, शिल्पी, तेल घी, थोक वस्तु आदि आते थे जिन पर कर वसूल किया जाता था। राष्ट्र कर के अन्तर्गत कृषि, उपहार, चारा-गाह, नौका, घाट कर, खनिज पदार्थ, सेतुबन्ध, वन आते थे जिन पर कर लगाया जाता था।

कौटिल्य इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे कि राज्य को आर्थिक रूप से सुदृढ़ होना चाहिए। इसीलिए उसने सबसे अधिक ध्यान कृषि पर दिया और इसे देश की समृद्धि का मुख्य साधन माना। इसकी उन्नति के लिए भूमि, सिंचाई, खाद, बांध आदि पर उसने विस्तृत योजनायें बनाई। उन सभी साधनों पर विचार किया जिससे कृषि व्यापार में उन्नति हो सके और जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सके। बात यही पर समाप्त नहीं हो जाती है बल्कि अर्थशास्त्र में कृषि के अतिरिक्त अन्य आय के साधनों पर भी पर्याप्त बल दिया गया है जैसे— जल मार्गों की स्थापना, चुन्गी, निर्यात–आयात पर कर, खनिज पदार्थों पर कर, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन पर कर, सूद खोरी आदि पर भी कर लगाये गए। सबसे महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को देश के निर्माण कार्य में भाग लेना पड़ता था और किसी कारणवश अगर

कोई व्यक्ति स्वयं कार्य नहीं कर पाता था था तो उसके पशु अथवा परिवार के किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर कार्य करना पड़ता था। इतना ही नहीं यदि कोई व्यक्ति निर्माण कार्य में बाधा डालता था अथवा बाधक सिद्ध होता था तो उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था। इस तरह हम यह देखते हैं कि अर्थशास्त्र आर्थिक ढांचे एवं मानवीय उन्नति के सन्तुलित विकास में विश्वास रखता है।

कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' एकांगी दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया है। इस पुस्तक में राजनीति के जहां उच्च स्तरीय फारमूले हैं वहां धर्म की उपेक्षा भी नहीं की गई है सामाजिक समस्याओं को वह भूला नहीं है बल्कि उनके निराकरण के लिये उसने आर्थिक साधनों पर अधिक ध्यान दिया। वह इस तथ्य से अवगत था असंख्य सामाजिक समस्यायें कमजोर और निर्धन अर्थव्यवस्था के कारण जन्म लेती हैं। इसलिये उसने आर्थिक ढांचे को मजबूत बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की योजनाओं की स्थापना की जिससे देश समृद्ध हो सके। यह मनुस्मृति की तरह केवल धर्म–सूत्र की व्याख्या नहीं करता। के० पी० जायसवाल उचित ही लिखते हैं "धर्म-सूत्र धर्म के नियमों की व्याख्या करता है और अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्तों एवं नियमों की" ( Dharma Shastra deals with Dharma laws while the Artha–shastra deals with Arth principles and laws. )[1]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कौटिल्य एक ऐसा विचारक था जिसने राजनीति के माध्यम से अपने युग व शासन की आर्थिक-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का भरसक प्रयत्न किया। वह आर्थिक–सामाजिक ढांचे का पुनर्निर्माण करने के पक्ष में था और जो उसके ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात होता है। वह जानता था कि चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्यवाद की स्थापना तब तक नहीं हो सकती है जब तक कि आर्थिक-सामाजिक ढांचे की दुर्बलताओं को समाप्त नहीं किया जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया जिससे कि उसकी आर्थिक-सामाजिक योजनायें बगैर किसी अड़चन के पूर्ण हो सकें। इसके साथ ही उसने निम्न पिछड़ी जातियों एवं वर्गों के व्यक्तियों को उन्नति करने के पर्याप्त अवसर दिये। उन्हें समाज में उचित स्थान दिया और इन कार्यों से उत्पादन एवं रचनात्मक कार्यों में प्रगति हुई। यह सब कौटिल्य की कुटिल नीति का प्रतिफल था। अन्त में मैं यह कह सकता हूं कि कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीति की व्याख्या का केन्द्र–बिन्दु अवश्य है किन्तु इसके चारों ओर आर्थिक – सामाजिक विचारों की छोटी – बड़ी अनेक परिधियाँ हैं।

1. K. P. Jayaswal, Hindu Polity, P. 370

# वैदिक न्याय-विभाग

आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम'

कानपुर

वेद सभी देशों और समयों के लिए हैं। उनमें वर्णित शिक्षा तथा सिद्धान्त त्रिकालाबाधित हैं। जो व्यक्ति या वर्ग उनके अनुसार चलते हैं, वे लाभान्वित होते हैं। जो उनके विपरीत चलते हैं, वे हानि उठाते हैं। यह देश जब तक वैदिक प्रणाली पर चलता रहा, तब तक स्वाधीन रहकर अपने सदाचार द्वारा भूमण्डल भर पर शासन करता रहा। जब से यहाँ अवैदिकता का प्रसार हुआ, तभी से देश पराधीन हुआ और अनार्य पद्धतियों ने उसे पतन के गहरे गर्त में धकेल दिया। महर्षि दयानन्द, भगवती विभूति, महात्मा गांधी और देशोद्धार के लिए तडपने वाले बिस्मिल तथा आजाद सदृश नवयुवकों की तपश्चर्या तथा बलिदानी भावनाओं ने इसे स्वतन्त्र बनाया, पर आसुरी भावनाओं ने उसे स्वाधीन दशा में ही अत्यन्त सोचनीय अवस्था को पहुंचा दिया है। पद एवं प्रभुता की परस्पर-प्रतिस्पर्धा में डूबे हुए दानव मदिरा पी-पीकर उन्मत्त हो रहे हैं। न उन्हें अपने वैयक्तिक पतन की चिन्ता है और न देश के निर्माण की। चतुर्दिक अधोगति का दृश्य देखकर देश के सुधी तिलमिला रहे हैं, पर कुछ कर नहीं पाते। वारांगना राजनीति ने देश की कुल-वधू सभ्यता को ऐसा आक्रान्त किया है कि सदाचार सिसक रहा है, न्याय का दम घुट रहा हैं और भ्रष्टाचार बल्लियों में उछल रहा है।

'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'—इस शतमुखी विनिपात में सबसे अधिक चिन्ता उन युवकों के सम्बन्ध में है जिनके ऊपर देश का भविष्य अवलम्बित है। यदि वे पढ़ रहे हैं, तो पढ़ने की ओर उनका ध्यान नहीं, यदि किसी यन्त्रागार में काम कर रहे हैं तो अपने कर्तव्यपालन से विमुख हो रहे है, यदि व्यापार में संलग्न हैं, तो दिन-रात अर्थ-अर्जन की चिन्ता में रहते हैं—उचित अनुचित साधनों के प्रयोग अथवा कुप्रयोग पर ध्यान ही नहीं जाता। कुछ युवक नेता बन जाते हैं और थोड़े से गुमराहों को अपना साथी बनाकर, कुचक्र, षड्यन्त्र आदि में पड़ जाते हैं। कभी ये बिना टिकट रेलों में, बसों में, चढ़कर यात्रियों को परेशान करते हैं, कभी नगरों के किसी भलेमानस की मोटर रोककर रुपया ऐंठते हैं, कभी किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के बच्चे को उठा ले जाते हैं और उसकी मुक्ति के बदले में प्रचुर धनराशि एकत्र करते हैं। न्याय विभाग भ्रष्ट नेताओं के दबाव में न्याय नहीं कर पाता। कभी-कभी न्याय से सम्बद्ध वेतनभोगी भी इनके साथ हो जाते हैं। न्यायप्रिय जनता दोनों ओर से पिसती है। इस परिस्थिति को कैसे सम्हाला जाय? न्याय की प्रतिष्ठा कैसे की जाय? यह प्रश्न आज हम सबके सामने है। नीचे हम न्याय विभाग के संदर्भ में ही वैदिक विचारधारा को प्रस्तुत कर रहे हैं।

न्याय विभाग सदैव दो प्रकार के वर्गों या संस्थाओं के हाथ में रहा है। एक को Judiciary निर्णय-कारिणी संस्था और दूसरी को Executive कार्यान्वयनकारिणी संस्था कहा जाता है। एक के साथ

# ४. विधि - पर्व

हुआ।

वेद में देव के साथ पितर तथा ब्रह्म के साथ क्षत्र के सहयोग की प्रशंसा की गई है। न्याय विभाग में भी दोनों साथ-साथ रहते हैं। देव प्रकाश-पुंज है, ब्रह्म ज्ञान है। ज्ञान ही प्रकाश है। प्रकाश में वास्तविकता के दर्शन होते हैं। जब वास्तविकता का दर्शन हो गया। तब उसे ग्रहण करने की समस्या उठती है। इस समस्या का समाधान पितर एवं क्षत्र के हाथों में है। रक्षक का अर्थ पा तथा त्रै दोनों घातुओं में है। एक से पितर शब्द बनता है, दूसरी से क्षत्र।

ज्ञान के साथ बुद्धि की प्रखरता तथा प्राण की साधना आनिवार्य है। सत्य के ज्ञान तथा पालन में दोनों का सहयोग अपेक्षित है। बुद्धि आन्तरिक इन्द्रिय है। अन्तःकरण चतुष्टय में उसका स्थान महत्वपूर्ण है। प्रकृति के प्रथम विकार महत्व का ही वह अंग है। यह बुद्धि प्रेरित रहे, तीव्र बने, कुण्ठित और मंद न हो, तभी सत्य, ज्ञान या वास्तविकता हाथ लगेगी। सत्य का ज्ञान दूसरा पक्ष उसके कार्यान्वयनकम में परिणत करने का है। सत्य रक्षा के लिए रक्षकों का आह्वान किया जाता है। मन्त्र का चौथा चरण इसी आह्वान से सम्बन्ध रखता है। 'हवेषु'–हमारे आह्वानों पर, बुलावों पर 'पितर'–न्याय के रक्षक आ जावें। बुलाने वाले बहुत हैं और रक्षक भी बहुत हैं। बुलाने वालों में विविध क्षेत्रों की भाँति रक्षकों के विभाग भी बहुत हैं। इसीलिए हव और पितर दोनों बहुवचन हैं। कोई चौर-कर्म से पीड़ित है, कोई अन्याय तथा अत्याचार से दुखी है, कोई सीमा के अपहरण से चिन्तित है, कोई क्रूर शासन से व्याकुल है, कोई हिंसक के पैरों-तले दबा हुआ तड़प रहा है–ये सब अपनी रक्षा के लिए रक्षकों का आह्वान कर रहे हैं। यदि रक्षक आ जाते हैं और समय पर आ जाते हैं, तब तो पीड़ित का त्राण हो सकता है, अन्यथा कैसे होगा? अतः मन्त्र के तीसरे चरण में 'ऋभवः' ऋभु का बहुवचनान्त प्रयोग हुआ है और उन्हें ऋभु शब्द का साभिप्राय अभिधान दिया गया है। ऋभु का एक अर्थ

वेगवान है। आह्वान सुनते ही इन रक्षकों को वेगपूर्वक घटनास्थल पर पहुंचना चाहिए। कहीं आग लगी है, फैक्टरी, या रुई-अन्न आदि पदार्थों से भरा गोदाम जल रहा है, यदि आग बुझाने वाली मशीन लेकर रक्षक शीघ्र न पहुंचे, तो आग की लपटों में सब कुछ स्वाहा हो जायगा। रक्षक पहुंचे और सामान के साथ देर में पहुंचे, तो उनके पहुंचने का कोई लाभ नहीं होगा। आज कल की पुलिस का यह सहज स्वभाव बन गया है कि जब घटना घटित हो जायगी, सब कुछ समाप्त हो जायगा और घटना ज्ञान का कोई प्रमाण न रहेगा तब हजरत पहुंचेगे और निरपराधों की ताड़ना करेंगे। अपवाद भी हैं, पुलिस वाले ऐन मौके पर पहुंचे हैं और पीड़ित की रक्षा हुई है। पर यह तभी, जब मन्त्रगत ऋभु के वेग ने, आशु-क्षिप्र-कर्मठता ने उनका साथ दिया है। ऋभु का दूसरा अर्थ है दीप्तिमान। रक्षक वेगपूर्वक चलकर तत्काल घटनास्थल पर पहुंच तो गये, परन्तु यदि वे दीप्तिमान नहीं हैं, तो रक्षाकार्य में असमर्थ सिद्ध हो सकते हैं। दीप्तिमत्ता, तेजस्विता स्वतः प्रभावी है। पापी इस दीप्ति या तेज के सम्मुख हतप्रभ हो जाता है। पाप दबा तो धर्म बच गया। रक्षकों को तेजस्वी होना चाहिये। वैसे राज्य की ओर से ऐसा प्रबन्ध किया जाता है और रक्षकों को ऐसा परिधान दिया जाता है जिससे वे दीप्तिमान जान पड़ें। उन्हें खड्ग, रिवाल्वर, बन्दूक आदि साधनों से भी सुसज्जित किया जाता है। यह ऊपर से थोपा हुआ तेज भी काम करता है। लाल पगड़ी और चपरास या पेटी-तमसे का भी अपना महत्व है। मुख-चेष्टा को रौबीली बनाने के भी कुछ कृत्रिम साधन हैं, पर जो सहज दीप्ति अन्दर से फूटकर बाहर आती है, वह कुछ और ही है। उसकी समता बाहर से थोपी हुई दीप्ति नहीं कर सकती।

मन्त्र में ऋभुओं के दो विशेषण दिये हैं—सुकृतः और सुहस्ताः। ऋभु सुकृती हों, शोभन कर्म करने वाले हों। पुण्यवान व्यक्ति ही पाप का घर्षण कर सकते हैं। जो दुष्कृती हैं, पापी हैं, बुराचारी हैं, घूसखोर हैं, वे स्वयं पाप से दबे हैं, पाप को वे क्या दबा सकेंगे? सुकृती को अपने पुण्य का बल होता है। इसी हेतु वह घूस आदि भ्रष्टाचार का आखेट नहीं बन पाता। रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि रक्षक अत्याचार के सामने झुके नहीं। अर्थ या काम उसे रक्षा कार्य से पथच्युत न कर दें। मार्ग-भ्रष्ट व्यक्ति स्वयं दयनीय है, शोचनीय है, निर्बल है। सन्मार्ग का अवलम्बी स्वयं तो सत्पथ पर चलता ही है, अन्यों को भी उधर चलने की प्रेरणा देता है। रक्षक का सुकृती होना आवश्यक है क्योंकि उसके शिर पर सुकृत की रक्षा का भार आ पड़ा है। उसे धर्म सदाचार, नीति या मर्यादा की रक्षा करनी है, अन्याय को मिटाना है, दस्युओं का पराभव करना है, पापियों का तिरस्कार तथा सज्जनों का दुर्गति से उद्धार करना है। सुकृत के बिना यह सब कैसे हो सकेगा? सुकृत के सबसे बड़े शत्रु अर्थ और काम के पापीयान रूप हैं। रक्षक को इन दोनों से बचकर चलना है। अर्थ और काम के शिव रूप भी हैं। धन को सुपात्र तक पहुंचा देना और धर्म की कामना करना दोनों ही स्पृहणीय एवं पवित्र हैं इन्हें अपनाने के लिए हाथ और पैर बढ़ाने चाहिए। पर किसी के सतीत्व के अपहरण की कामना और धन देकर दस्युओं द्वारा किसी धर्मात्मा को चोट पहुंचाना गर्हित कार्य हैं। इनसे बचकर चलना चाहिये।

सुकृती होने के साथ ऋभुओं को सुहस्ताः भी होना चाहिये। सुहस्त वाले होना हाथों से और उपलक्षण द्वारा समस्त अंगों से बलवान बनना है। सुकृत अन्दर का बल है, पर यह सभी दशाओं में काम नहीं कर पाता। अवसर आते हैं, जब बाहर का बल ही काम आता है। कहावत है—'मूढ़हिं होय न चेत, जौ गुरु मिलहिं विरंचि सम' अथवा 'सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकलता' अथवा 'लातों के देव बातों से नहीं मानते'—इसकी अकल तो तभी ठिकाने आती है, जब दो-चार अच्छे हाथ इन पर पड़ जाते हैं। साधारण नहीं, अच्छे जमे हुए हाथ पड़े, तो छठी तक का दूध याद आ जाता है। सामान्य बातों से जो काम नहीं चलता, वह डंडे पड़ने पर तुरन्त सध जाता है। मार के आगे भूत भागते हैं। अतः रक्षकों के हाथ-पैर से मजबूत होना चाहिये। हाथापाई होने पर मजबूत सुडौल हाथ ही काम आते हैं। बाण के हर्ष चरित में राजा अपने सबल शरीर द्वारा ही राक्षस को

अभिभूत कर सका था। महाराज पृथ्वीराज चौहान अन्धे होने पर भी सशक्त हाथों से धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शब्दवेधी वाण द्वारा मुहम्मद गोरी का वध कर सके थे। आजाद के मजबूत हाथ ही कई घण्टों तक रिवोल्वर द्वारा नौट बौवर, वीरेश्वर आदि का सामना करते रहे। अतः रक्षकों को सुकृत के साथ सुहस्त होना ही चाहिये।

इस प्रकार न्याय विभाग में काम करने वाले अधिकारियों को मन्त्र सर्व प्रथम दो मार्गों में विभक्त करता है—न्याय का हंस के समान नीर-क्षीर-विवेक रखने वाले निपुण जज-मुंसिफ आदि जिनके अन्दर बुद्धि की तीव्रता तथा कथन की निर्भयता, प्राणवत्ता विद्यमान हो और न्याय की रक्षा करने वाले पुलिस आदि के कर्मचारी जिनमें गतिलाघव और दीप्तिमत्ता के साथ धार्मिकता तथा शारीरिक सबलता हो। प्रथम विभाग में ब्रह्म शक्ति तथा द्वितीय विभाग में क्षात्रशक्ति आती हैं। दोनों के साहचर्य द्वारा न्याय रक्षण पाता है, प्रजा सुखी होती है और जब प्रजा सुख एवं शान्ति का अनुभव करेगी, तो समूचा देश संस्कृति एवं सभ्यता के नाना उपादानों से समृद्ध हो उठेगा—भूमण्डल पर मधु ऋतु छा जाएगी इसमें सन्देह नहीं है।

# For Whom The Bell Tolls

Shri Gur Dayal Srivastava

Senior Advocate H. C. Allahabad

The Bar of the civilside Allahabad High Court has been one of the glories of the country. It has been in the forefront in the building up of Indian Jurisprudence of the past achievements and traditions of the Bar of the Allahabad High Court much has to be said. Though the traditions of our High Court were built up both by European and Indians, the eminence which it has enjoyed in the country in the main due to Indians. The names of pt. Ayodhya Nath, Moti Lal Nehru, Sir Tej Bahadur Sapru, Sunder Lal, Munshi Ram Prasad, Dr. Satish Chandra Banerji and Jogendra Nath Chaudhari have almost become legendary, as synonyms for a great lawyer. The contribution which this galaxy of legal scholars has made is to be found in the law reports of the court. Men like these by their very presence raised the stature of the profession. This sanctuary of legal scholars exemplifies the truth that he who is a true jurist or a great judge has interests under than law, however, great his specific erudition there in. So signel has been their contribution that its evaluation in moderated terms is hardly possible.

All these luminaries lived in an age when the legal profession was the virtual preserve of English Barristers and it is difficult to realise what force of personality and erudition was required for an Indian to reach the highest rung of the professional ladder. It were by sheer dint of their legal acumen that men like Pt. Ayodhya Nath and Munshi Hanuman Prasad were able to break that close ring and force their entry into the front rank of the Bar. In eloquence few have surpassed Mr. Jogendra Nath Chaudhari and in the later generation Shri Pyare Lal Banerji. About Mr. Jogendra Nath Chaudhari, it is said that there was no lawyer who had greater aversion for the servitude of case law than him and yet his grasp of principles was so firm and accurate that he could enunciate a proposition of law more clearly than what may be contained in a reported precedent. Sir Sunder Lal's eminence for his erudition in law scarcely needs mention and for him it is said that on hearing him one felt that there was nothing more left to say on it. Pt. Sunder Lal was a great educationist and he was the first Indian to be appointed the Vice Chancellor of the Allahabad University. Benares Hindu University too had the privilege of having him as its Vice Chancellor. For his large donations to educational bodies, he is entitled to our undying gratitude. Pt. Moti Lal Nehru was a personality which abounded with laurels and perhaps one may find it difficult to recount them in such a short space.

His shadows lengthen out to remote posterity. Pt. Moti Lal shines brightly not only in the firmament of law but also in the political history for the greatness of his sacrifice in the struggle for independence. His position as a political leader came to be recognised second only to Mahatma Gandhi and in the legal sphere second to none.

Dr. Satish Chandra Banerji is one of those personalities of the glorious past about whom the present generation knows nothing. His was a life abounding with achievements not only in the sphere of law, but also in the realm of philosophy and literature. His Tagore Law Lectures on the law of specific relief remain the last word on the subject which late Sir Asutosh Mukerji described "as a triumph of erudition and research". His thesis on Sankhya philosophy received the acclamation of max muller. A man of the sanctuary walking with vigorous strides in the profession is a rare phenomenon and Dr. Satish represented that. A life one of perfect consecration with intent study and learning as its sole portion and so emblematic of that evangelical piety which clothes the saints in their glory was not destined to have longevity; he left the land of the living at the early age of 44 but then he lived in deeds and not years.

Late Dr. Sir Tej Bahadur Sapru, one of the most distinguished personalities of the Allahabad High Court Bar scarcely needs mention. Although he was essentially a civil lawyer, he occasionally appeared in criminal cases. Sir Tej's regard for probity of conduct and professional ethics was exemplary. He was Law Member of the Governor General's Executive Council and played a leading part in the deliberations of the Round Table Conference from 1929 to 1934. The peak point of his career reached in 1934 when he was made a Privy Councillor. The oxford University conferred upon him the degree of Doctor of Civil Laws in recognition of his fame as an International Jurist. The Government of India Act, 1935 which forms the nucleus of our present Constitution is the off-spring of his endeavours. In the political sphere he belonged to the old schools of Indian liberals believing in the golden mean. Though a nationalist to the core, he always leaned in favour of the constitutional methods. A part from legal studies he was a keen student of history, literature and Urdu poetry. His home was a place where Urdu poets found patronage. The "Mushairas" held under his patronage are memorable, the like of whfch one may not see again. A man so versatile, so benevolent in whom the milk of human kindness flowed so profusely, died at the age of 75 on the 20th January, 1949. For him it may be said "Large was his bounty and soul sincere"; our gratitude for him shall never be sleep.

Dr. Surendra Nath Sen is another illuminating personality of the Allahabad High Court Bar. On the civil side he practised with great distinction and was a parallel of Sir Tej till his elevation to the Bench in 1927. He was noted for his erudition and felicity of expression. He returned to the Bar in 1932 and died on 8th January, 1950.

The era of Shri Pyare Lal Banerji and Dr. K. N. Katju is not less eventful than that of Sir Tej and Dr. Satisg Shri Pyare Lal Banerji was a lustrous figure in his days, the like of which is difficult to see. In him one could see the scintillating brilliance of Bhula Bhai Desai the illuminating lucidity, the grace and literary flair of Sir Rash Behari Ghosh, the persuasive charm of Eardley Norton and lastly the scholarship and erudition of Dr. Satish. Paucity of space prevents me from giving a catalogue of the memorable cases argued by him for they are too many in number and perhaps a full

volume may be required for them still a few of them may be mentioned. The one is the contempt case against Shri P. R. Das, a lawyer of great distinction and the other is the Zamindari Abolition Case. Mr. Banerji was the 3rd Advocate Generel of the State and continued to hold this office till his death in 1952. With his death in 1952, an era of giants, who never anticipated that the future generation would not honour that which they were transmitting to it, came to a close.

Dr. N. P. Asthana, the first Advocate General of U. P. has lived too near our age and most of us have seen him on the various stages of his activities. Dr. Asthana joined the Bar of the High Court in 1915 and commanded a lucrative practice on the civil side. He was a member of the Legislative Council and for a number of years the Vice Chancellor of Agra University. His son Shri K. B. Asthana distinguished himself on the Bench of the High Court. Dr. Asthana died in 1969 at the age of 96. In the death of Dr. Asthana, the Bar lost one of its highlights who maintained its best traditions where in we find a rare unic of goodness and wisdom.

Dr. Asthana's in the latter fifties had almost withdrawn himself from the professional life and the mantle of leaderaship fell on the shoulders of Munshi Ambika Prasad and Pt. Kanhaiya Lal Misra. Munshi Ambika Prasad was indeed a saint among lawyers, a man of quiet undemonstrative demeanour whose life furnished the lessons of noble purposes of courage, sacrifice and endurance. He was the grandson of late Munshi Hanuman Prasad. He always believed in a wider family and his munificence was confined not only to his own kith and kin but was shared by a host of juniors who joined his chamber. His chamber was a refuge of so many destitutes in the profession; the milk of human kindness in him flowed profusely which one could easily get to taste.

His legal acumen was of a high order, his advocacy had a unique grace and literary flair and persuasiveness; in loftiness of outlook and magnanimity of heart he had no equal. He passed away in 1971 leaving behind a legacy of those traditions which even the most virtuous of us may find difficult to adhere to.

Now we come to the last of two eminent personalities who loomed large on the stage of the High Court for over two decades. They are Pt. Kanhaiya Lal Misra and Mr. Satish Chandra Khare. They lived very close to the present generation and any one in delineating these personalities may feel himself relieved of saying many things which otherwise might have been necessary, had they belonged to a distant past. Pt. Kanhaiya Lal Misra had a rare Versatility of talents about him with a sharp ingenuity, felicity of expression and persuasive charm of advocacy in him. He was second to none in the legal firmament of the country. He remained the advocate General for more than a decade and half and his contribution from that chair is of an enduring value. In the profession he continued with vogorous strides even till last days. His other stage of activity was the University and many a difficult situations in its affairs would have remained unresolved had he not accepted the gauntlet of the tumultous situations. He passed away in 1975 leaving behind a memory which js beyond the power of oblivion to destroy.

The last one whom the Bar shall ever remember is Mr. Satish Chandra Khare. His contribution to the growth of law in the extraordinary jurisdiction of the High Court has indeed a place second to none in the recent years. It would be only in fairness to truth to say that he had a rare originality and in incisiveness which was at its height while he interpreted an statue. His exit from the

world has rather been early and his death in 1980 was widely mourned.

The above is the panoramic view of the Allahabad High Court Bar. Some eminent personalities on its criminal side have been omitted like Sir Ross Alston, Dhillon and a few others. In their own sphere their contributions have to be accorded the same place as those of their compeers on the civil side. The omission should not be understood to mean any disparagement to their memory and the bell tolls for them as much as for those who have been portrayed in this essay.

Our ancestors of the past built up the stage for us and after announcing the prologue retired to their eternal rest in the hope that better and worthier players will come after them but should we prompt them to cry from their rest " there awaits the deluge for you."

# Constitution and the Judiciary

Shri K. L. Grover

Advocate, Allahabad High Court

"Although Courts of law ought to abstain from harsh and ungenerous criticism of acts done in good faith by those who bear the burden and responsibility of the Government, yet they are not relieved from the duty of seeing that the executive Government does not seek to exercise power in excess of those which the legislature has thought fit to confer upen it, however drastic and far-reaching those powers may be and however great the emergency which they are designed to meet".

( Sir Maurice Gwyer )

What is true in relation to the executive acts is equally true to legislative enactments in a democratic constitution. But the Courts, while exercising a very great influence upon the course of events, and wielding in reality a vast authority, do not possess political power in the same sense as the legislature and the executive. Their acts are not arbitrary, like those of other departments of the Government; and in making use of their most exalted function, that of putting a construction upon the language of the Constitution, they attempt to carry out the popular will only so far as it has found its expression in the instrument they interpret. It is the duty of the Courts to see, when an action is brought before it, that no political institution or the organ of the Government oversteps the bounds prescribad for its action.

The Courts, under the Constitution of India, are the guardians of the people's liberty and preservation of their natural rights, guaranteed under the Constitution and termed as 'Fundamental Rights'. It is important, however, that the judiciary by which the various powers in the State are determined should not be swayed by the political passions of the day; that it should be impartial, and base its decisions upon principle and precedent; for if not, it would be in the same position as any other political body, and, would in its turn required to be watched and restrained from exceeding its proper function.

It should be, however, noticed and practiced that while the Courts should be honoured and respected as the sentinals of the liberty of the citizens, it should not be brought into direct conflict with the Government, because it would certainly be beaten in the struggle, and shorn of its power; and it is no

less necessary to prevent questions about the limitations of powers from arising in such a form that the whole weight of State is on one side, and the citizens on the other. In our Constitution, therefore, we have an absolutely independent judiciary. It is difficult for the State i. e. the government to bring a pressure to bear upon a Court because the Court settles questions concerning the limits of political power as it does other points of law; that, it decides them only when they are raised in the course of a proceedings before it between private individuals or between an individual and the State who appears before it in the capacity of a litigant By this means, the interpretation of the Constitution has been taken out of politics. Every statute passed by the lagislature is not tested, as to its validity, by the Courts; it is only when a citizen aggrieved of the Statute brings an action challanging the vires of the said Statute, that the Court goes into action and decides the dispute judicialy on the basis of the established legal doctrines and principles relating to the interpretation of Constitution and other Statutes.

Under Article 141 of the Constitution. it has been provided that the law declared by the Supreme Court shall be binding on all the courts throughout the terrtory of India. Then under Article 32 of the Constitution a citizen is given the right to move the Supreme Court for the enforcement of rights conferred by Part III of the Constitution. While introducing the Constituton of India, Dr. Ambedkar remarked : "If I was to name any particular Article-in this constitution as the most important-an Article without which this Constitution would be a nullity-I could not refer to any other Article except this one (Art. 32). It is the very heart of it". The immense importance and power given to the Courts by our Constitution also clothed it with great responsibilty.

A decision by the Supreme Court, the highest Court under the Const tution, has two distinct effects. In the first place, it is final between the parties and is binding upon them and all other persons claiming through them, but it is not binding on any other person not a party to the proceedings. However, in the second place, it establishes a precedent which is binding on all the courts throughout the territory of India, and is bound to be followed whenever the same question is again presented to any court; and it is in consequence of this second effect of a decision that the Court has virtually power to settle the law.

Another important feature of our Constitution is that all officers of the government, however high placed, are subject to the same rules of law as any other citizen. In many of the countries on the continent of Europe, a public officer is exempt from the ordinary process of law, either by virtue of a provision that he cannot be sued or prosecuted in the normal courts of justice, on account of any act done under colour of his office or because his acts are cognizable only by special tribunals. In those countries the judiciary cannot by their decisions, bind the other branches of the Government. There exists one law for the citizens and another for the public servants, and in fact, the rights and the duties of the latter are regulated by a vast body of special law known in France as the 'Droit Adminitriff' which falls entirely outside the jurisdiction of the normal courts of the land. By this means, in France and such other countries, the Executive has been made Independent of the Judiciary. But in India while the courts have no general power to command the performance of official duties (Except under Article 226 of Constitution) a public officer can be sued or prosecuted for

violation of law like any other citizen. If he has done any act in excess of his authority, he is liable for it. If, therefore, the court has decided that a certain statute is unconstitutional, everyone knows that all the citizens are immune from any administrative action taken under the provisions of the statute so declared.

As stated earlier, the Courts have jurisdiction to determine the limits of the powers granted by the Constitution only when the question is presented in actual litigation. The judicial branch, therefore, is the final arbiter and ultimate authority on all matters touching the limits of the powers granted under the Constitution It possess no direct initiative, but it is the sole and final judge of its own rights, as well as of those of the Executive and Legislature; and in this sense, while greatly inferior in force, it is superior in authority to the other two branches of the government.

Under the Constitution, the Legislature and therefrom the Executive are elected by the people, or by some rough approximation indirectly by a majority of the people, and saying generally, they are expected to carry out the wishes of the people : but this is not the case with the Courts. They are neither the represantatives of the people nor it is their duty to enforce the pcpular will And if it was the duty of our Courts to give effect to the wishes of the people upon constitutional questions, our government would be truely an absurd one. But, in fact, the duty of the Court is almost the reverse of this. Because the popular desire of a law very well be presumed from the fact that it has been passed by the Legislature, and the Courts are given power to treat a statute as invalid in order that they may thwart the popular will in case that 'will' conflicts with the provisions of the Constitution. And, the Constitution is either older than the law in question or it had escaped the notice of the Constituent Assembly, so in either case the Court, in declaring the law unconstitutional, declares in fact that the present wishes of the people cannot be carried out because opposed to the views of the framers of the Constitution.

In our Constitution, like many other constitutions of the world, a safety valve is provided under Article 368 of the Constitution which gives a power to the Parliament for amending the Constitution itself within the limits provided therein. So the Constitution itself can be changed and amended subject to the limitations provided. Even in such case it is often that the Courts are called upon to defeat the constitutional amendment itself being declared to be in conflict with the basic principles underlying the Constitution or its essential features or that the procedure adopted was not inconsonant with the prescribed procedure. This has recently happened in the case of Smt. Indira Gandhi Vs. Raj Narain) AIR 1975 SC 2299). Stated in such a form, the power of our judiciary is certainly very startling; and it is even more surprising that a power so extensive and so great should have been placed in the hands of a small number of men, not elected by the people at large and belonging to a particular profession or from a particular class of service i. e. the lawyers and the judicial officers. This shows, I would rather say, establishes that the framers of our Constitution, while admitting the right of the people govern within certain limits believed that there were principles more important than the carrying out of every popular wish expressed either by the majority of voters or their representatives in the Parliament. This further shows that the political principles underlying our

Constitution are not amable to the violations by the impulse and excitement of a majority at a given time. The Constitutional provisions, puting the Judiciary in high esteem is a guarantee for the maintenance of the Constitutional harmony as reached and advocated by framers of the Constitution at the time it was enacted and adopted by the people of India. It will not be out of place to say that these principles stand on the same ground as moral precepts, It may be that some decisions of the Highest Court of the realm may not be agreeable to us because of our political associations or bent of mind but we suppose and of course must, continue to uphold them because there is an inharent belief in their righteousness and their contribution in the well being of the social world. The duty of watching over and guarding these fundamental principles-these moral precepts of developing explaining and defending them rests with the Judiciary of the country.

The sovereignty of the people, 'the democracy and 'the scredness of the private rights' of the individual are retaining their unpolluted force today because of the grand protection given to them by the Courts of our country and the Executive in obeying the dictates of the Court.

It will not be out of place to mention that the primary rules of the political system grant as well as impose restraints and obligations on individuals. The rules are noticed more in violation that in their abiding. Whenever there is the violation of any rule. there is a provision of penalty for such violations which form a restrain for the enforcement of the rules. There are also occasions when the questions arise whether a particular individual is guilty or not of violating a particular rule. Such questions are decided by the courts meant and established for the said purpose. Likewise the political rules creating obligations and restrictions on the various organs of the Government are contained in the Constitution itself. But there is no penalty clause in case of violation of such rules or in oversteping the limitations provided for their field of actions. In these cases the courts are armed with the function of declaraing such overstepingor violation to be void and unconstitutional. The act of the particular organ of the Government in such cases becomes inoperative and the citizens are immune from obeying the commands thus issued by such organs. The citizen accused of theft or cheating will try to find out some excuse for justifying his action of stealing or cheating, and would like to plead his innosence before the court. Likewise the Parliament or the Executive, as the case may be, would try to justify its enactment or action to be valid and within the scope of the powers granted to it under the Constitution. Here again it is the court and the court alone which is to decide as to whether the Parliament in passing the particular enactment and the Executive in its action was within its limits as provided by the Constitution or has it transgressed any of the provisions of the Constitution Judiciary, as a matter of fact, has much greater rule to play in a democratic country generally and in India particularly where the masses are still unaware of their Constitutional rights granted to them under the sacred document. The preformance of the adjudication function by the Judiciary involves the process of marking authoritative decisions with reference to the matters which are brought before it.

In certain quarters courts are looked upon with jealous conspiracy. The Executive, sometimes thinks that the Judiciary is interfering with its functions and is an hinderence in the performance of its duties. A parliamentarian

too, who voted for the passing of a particular enactment may feel that the court was not justified in trampling with the popular wish when it declared the said enactment to be ultra-viress the Constitution or bad for some other reason. Such thinking is of superflous nature and is the result of an overzealous grudge against the superiority of the courts. But the courts, as a matter of fact, reslove the disputes or conflicts and it does not give birth to conflicts. The-function of the court is quite different than that of the parliament of the Executive. Though all the three organs are important in their functions within their respective fields but the functions of the court is to keep these organs within their fields and limitations : so that neither of them oversteps the bounds provided for it.

It is worthy of notice that our Constitution specifically provides minimum qualifications for a person to be appointed as a Judge of the High Court or Supreme Court. This is in confirmity with the powerful tendency the world over for specialised adjudication over the rights of the individuals. The specialised adjudication creates a strong presumption that the performance of this function has a great and important implication vis-a-vis the individual and the state. Whereas to become a member of the parliament one is not required to have a particular educational or technical qualifications. The mere requirement to represent a constituency in the Parliament is that one should be above the age bar and should be of sound mind and not a previous convict of any offence, involving moral turpitude. It makes no difference if the person elected to be the member of Parliament whose function is to legislate law for the entire nation, to be an absolutely illiterate. It is also not required for him to have any requisite qualification before he could vote for any proposed law which is to effect the educationalist, the medicos, the teachers, the lawyers, the engineers or some other body of specialised persons. But it is mandatory for a person to have not only a high degree in education and in law but also a good experience before he can sit in a bench of a High Court or Supreme Court to decide even the pettiest of a litigation. It is the job of adjudication which requires specialization. It is the duty of the court to see that the law passed by the Parliament which may have untrained personal on its votting list does not satisfy the constitutional requirements and to test its validity according to the prevailing norms. In short, that nothing can control the 'Popular will' expressed, through the Parliament, except the sober good sense of the experienced intelectuals sitting in the Bench of the Court. At the present moment the power lodged with the courts appears to be one of the most stable features of our Government; and in fact we are so accustomed to see judicial decisions readily accepted and implicitly obeyed, that we cannot help attributing to them a mysterious intrinsic force. We are naturally in the habit of, and rightly so, ascribing to the courts a sort of supernatural power to regulate the affairs of men, and to restrain the excess and curb the passions of people. But truly speaking no court can hinder the people who are determined to have their way. The court may decide an Act made by the Parliament to be ultra-vires the Constitution but the Parliament too can pass an enactment to declare the decisian of the court to be a nullity. Therefore, we have to see that the courts or the judiciary, be not made a party to the confiicts; it remains to be an institution to decide the conflicts. Parliament or the executive are not to look at the courts with jealousy rather on the other hand the court should be given highest esteem and respect so that the laws made by the Parliament may

also be honoured, if they are within their bounds, and the actions of the Executive may be vindicated if they are within their limitations. The courts are, and they ought to be, the guardians of the justness and righteousness. The courts are to be instrumental as a great institution to secure social, economic and political justice to the citizens of our nation and to protect the liberty of thought, expression, belief, faith and worship of our citizens. It is to see that the other two organs of the government i. e. the Parliament and the Executive, legislate and implement such statutes which bring equality of status and opportunity to the people of the country and which promote fraternity and uphold the dignity of the individual in this vast nation of India.

Mr. Upendra Bakshi in his article "The Problem" published in ( the December 1975 issue ) "Seminar", rightly observed that" this body of defenders, the courts, exercise their restraining and educational powers not in striKing down laws occasionally but in making vocal and audible the ideals that might otherwise be silenced,in giving them continuity of life and expression, in guiding and directing choice within the limits where the choice ranges. This function should preserve to the courts the power that no belongs to them, if only the power is exercised with insight into social values and with supplencess of adaption to changing social needs".

As long as our people care more for the Constitution than for any single law enacted by the legislature the Constitutional Government is possible among us. So long as such a feeling continues, our Constitution and the power of our courts will remain unimpaired; but if at any time the people conclude that Constitutional law, as intereprетted by the courts, is absurd or irrational, the power of judiciary will inevitably vanish and a great part of the Constitution will be irretrievably swept away. Our constitution depends for its force upon the condition that the precedents established by them are wise statesman like, and founded upon enduring principles of justice which are worthy of the respect of the community. It is not necessary for the courts to make decisions respected that they may catch the current of the popular opinion and lean towards that interpretation of the constitutional questions which the wants of the day appear to demand. Such a course in the long run will bring the Judiciary into dis-repute for it makes them a political institution instead of a juristic body. The courts, as a matter of fact, are required to give a careful study of the principles established by the Constitution, and a clear development of the theories of the constitutional law which will give it esteem in its decisions

# Development of Privacy As A Fundamental Right

Shri Subodh Markandeya

Advocate, Supreme Court of India

THE RECENT EXTENSIVE SURVEILLANCE on the channels of communications-mail, telegrams and telephones-of as many as 2,500 citizens throughout the country-politicians belonging to the opposition groups, lawyers, journalist and others-impelled a young journalist to file a Writ Petition in the Supreme Court under Article 32 of the Constitution challenging the provisions of section 5 of the Indian Telegraph Act, 1885 and section 26 of ths Post Offices Act, 1898. In the Writ Petition, the petitioner claimed right to privacy as part of his fundam·ntal rights to personal liberty.[1]

Is privacy a fundamental right? The question was raised for the first time in the United States in the famous article by Charles Warren and Louis D. Brandeis.[2] The learned authors said :

"Once a civilization has made a distinction between the 'outer' and 'inner' man between the life of the soul and the life of the body, between the spiritual and the material, between Church and State, between rights inherent and inalienable and rights that are in the power of Government to give and take away, between public and private, between society and solitude, it becomes impossible to avoid the idea of privacy by whatever name it may be called-the idea of 'private space' in which man may become and remain 'himself'.

Yet it was not without struggle that "privacy" came to be recognised as a Constitutional right in the United States. The problem arose in **Olmstead Vs. United States**[3] where during the prohibition-era in the United States, the Federal agents secured evidence against a bootlegger by tapping his telephones and recording the conversation. Conviction was secured on the basis of that evidence. The U. S. Supreme Court, by

1. Please see Delhi Editions of the Indian Express, the Statesman and the Times of India dated October, 1980.
2. Please see 4 Harvard Law Review 193.
3. ( 1928 ) 277 U. S. 438.

majority, held that since there was no actual search and seizure and the agents never entered the quarters of the suspect, there was no violation of the Fourth Amendment to the U. S. Constitution.

The dissenting judgement of Justice Holmes was, however, portent and ultimately became the law. His words still reverberate. :

"The progress of science in furnishing the Government with means of espionage is not likely so to stop with wire-tapping. Ways may some day, be developed by which the Government without removing papers from secret drawers, can reproduce them in Court...Advance in the psychic and related sciences may bring means of exploring unexpressed beliefs, thoughts and emotions. Can it be that the Constitution affords no protection against such invasions of individual security ?

With the development of the electronic surveillance appliances, the problem posed by **Olmstead's Case** kept on recurring. In fact, the impact of the Warren and Brandeis article and the dissent of Justice Holmes was so powerful that the United States Congress, in deference to enlightened public opinion, enacted the Communications Act, 1934, which carefully controlled interception of communications by the authorities. Such controlling legislation contrast sharply with the statutes of colonial vintage in India, such as the Telegraph Act, 1885 and the Post Offices Act; 1898. These laws framed by alien rulers to throttle the voice of a subjugated Nation, are drastic, almost rapacious; and do not accord with our milieu of constitutional egalitarianism. The American experience, therefore, assumes relevance in our efforts at attuning these laws to our republican ethoes. It is interesting to notice that the Communications Act in the United States did not. as such, stop the tapping of telephones. Ultimately, in **Berger vs. New York,**[1], the U. S. Supreme Court declared the law permitting wire-tapping, for a continuous period of two months even if authorised in advance by a judge, to be unconstitutional. Thus, **Berger's Case** firmly established the length and continuity of surveillance as factors for condemning surveillance.

However, for a "developing" democracy **Katz vs. United States**[2] is of greater relevancy, since the Court outlined in detail, a procedure whereby wiretapping could be constitutional, provided the criteria laid down are (i) judicial authorisation justified by investigation. (ii) a showing of probable cause and ( iii ) for a strictly limited law-enforcement purpose. **Katz vs United States** is a land mark in another sense because it overruled the earlier view in **Olmstead's Case.** Said the Court :

> "The Government activities in electronic listening to a recording the petitioner's words violated by privacy upon which he justifiably relied while using the telephones booths and, thus, constituted a "search" and "seizure" within the meaning of the Fourth Amendment."

On the basis of the germane considerations contained in the decision of of the United States Supreme Court in **Katz's Case,** the U. S. Congress enacted the Crime Control Act, 1968 which provided a system of judiciary approved wiretapping for certain classes of crimes on the request of the Attorney General.

Under the provisions of the Crime Control Act, 1968 applications had to be made for

1. (1967) 388 U. S. 41
2. (1967) 389 U. S. 347.

permission to wiretapping, giving details, particulars and conditions for the use of the order. The applications have to be signed by the Attorney General of the United States, or an Assistant Attorney General specially designated by him.

The validity of the permission granted by the Attorney General to his Executive Assistant ( and not to the Assistant Attorney General ) to sign applications for permission to tape the telephones came to be tested in **United States vs. Giordano**[1], The U. S. Supreme Court held that the applications had to be signed either by the Attorney General or the Assistant Attorney General authorised in that behalf.[2] The decision resulted in the nullification of prosecution of 600 accused. The security of the State was no exception. Thus, in **United States vs. U S. District Court**[3] it was held that wiretapping for purpose of the internal security, the same procedure had to be followed.

In India, the right to privacy was sought to be invoked for the first time as part of the right under Article 20 (3) in **M. P. Sharma vs. Satish Chandra, District Magistrate.**[4] A Bench of eight Judges, however, negativated the existence of any such right in the following words:

"When the constitution makers have thought fit not to subject such regulation to constitutional limitation by recognition of a fundamental right to privacy, analogous to the American Fourth Amendment, we have no justfication to import it, into a totally different fundamental right, by some process of strained construction. Nor is it legitimate to assume that the constitutional protection under Article 20 (3) would be defeated by the statutory provisions for searches."

The human values of liberty and dignity enshrined in the Preamble and elaborated in Part III of the Constitution also received a rude jolt in **Khadag Singh vs. State of U. P.**[5] The petitioner was subjected to surveillance under regulations 236 of the U. P. Police Regulations. The Constitutional validity of the said regulation 236 was challenged by **Khadag Singh Case** as violative of Articles 19 (1) (d) and 21 in a Writ Petition under Article 32. A Bench of six Judges heard the matter, Ayyangar, J. speaking for the majority ruled:

> "The right of privacy is not a guaranteed right under our Constitution and therefore the attempt to ascertain the movements of an individual which is merely a manner in which privacy is invaded is

---

1. 416 U. S. 505.
2. Please notice the striking similarity with approach of our supreme Court in **Ajaib Singh vs- State of Punjab** : (1965) 2 SCR 845 where an order passed by an Additional District Magistrate in purported exercise of power of the District Magistrate, was struck down,
3. 407 U. S. 297. Foreign intelligence purpose also does not appear to be any exception. Please see **Barrett vs. Zwaibor** : 96 S. Ct. 1684 denying **certiorari** from the judgement of the Court of Appeals for the District of Columbia holding "absent exigent circumstances, no wiretapping in the area of foreign affairs should be exempt from prior judicial scrutiny."
4. 1954 SCR 1077 at pp. 1096-1097
5. (1964) 1 SCR 335.

not an infringement of a fundamental right guaranteed by Part III.[1]

In their dissenting judgement, Subba Rao and Shah, J.J. held:

"It is true our Constitution does not expressly declare a right to privacy as a fundamental right but the said right is an essential ingredient of personal liberty. Every democratic country sanctifies domestic life; it is expected to give him rest, physical happiness, peace of mind and security. In the last resort, a person's house, where he lives with his family, is his "castle": it is his rampart against encroachment on his personal liberty. The pregnant words of that famous judge, Frankfurter J., in **Wolf v. Colorado: (1949) 338 U. S. 25**, pointing out the importance of the security of one's privacy against arbitrary intrusion by the police, could have no less application to an Indian home as to an American one. If physical restraints on a person's movements affect his personal liberty, physical encroachments on his private life would affect it in a larger degree. Indeed, nothing is more deleterious to a man's physical happiness and health than a calculated interference with his privacy. We would, therefore, define the right of personal liberty in Act. 21 as a right of an individual to be free from restrictions or encroachments are directly imposed or indirectly brought about by calculated measures. If so understood, all the acts of surveillance under Regulation 236 infringe the fundamental right of the petitioner under Act. 21 of the Constitution."

Finally, the right to privacy was resurrected in **Govind vs. State of Madhya Pradesh**[3] in which Mathew, J. gave a judgement that is at once seminal and momentous, recognising privacy to be a fundamental right under the Constitution of India on the recognising that right to privacy was an aspect of personal liberty under Article 21 of the Constitution. Mathew, J. assumed right to privacy to be implicit in the right to personal liberty and tried to develop its contours. Although not an independent right but a right emanating from the right to personal liberty. Mathew, J. held that such an emanatory right had to go through a process of "case by case development." Said the learned Judge.[4]

"There can be no doubt that privacy dignity claims deserve to be examined with care and to be denied only when an important countervailing interest is shown to be superior. If the Court does find that a claimed right is entitled to protection as a fundamental privacy right, a law infringing

1. (1964) 1 SCR 332
2. Ibid., at p. 359
3. (1975) 3 SCR 946.
4. However, Prof. Upendra Baxi casts doubt as to whether "privacy" is a value of human relation in India. According to him every day experience in India suggest otherwise. From marriage parties and mid-night music, wedding processions and morning bhajans unabated curiosity at other peoples illness or personal vicissitudes manifestation of good neighbourliness, he infers, that privacy is a value alien to the Indian culture. Please see K. K. Mathew on Democracy, Equality & Freedom; Edited by Upendra Baxi, 1979 p. LXXIV foot note 262.

it must satisfy the compelling State interest test."

Individual autonomy, perhaps the central concern of any system of limited Government, is protected in part under our Constitution by explicit constitutional guarantees.

"In the application of the Constitution, our contemplation cannot only be of what has been but what may be."

Time works changes and brings into existence new conditions. Subtler and far reaching means of invadings privacy will make it possible to be heard in the street what is whispered in the closet. Ofcourse, privacy primarily concerns the individuals. It therefore, relates to and overlaps with the concept of liberty.

Any right to privacy must encompass and protect the personal intimacies of the home, the family marriage, motherhood, procreation and child rearing. This catalogue approach to the question is obviously not as instructive as it does not give analytical picture of that distinctive characteristics of the right of privacy. Perhaps, the only suggestion that can be offered as unifying principle underlying the concept has been the assertion that a claimed right must be a fundamental right implicit in the concept of ordered liberty. Right and freedoms of citizens are set forth in the Constitution in order to guarantee that the individual, his personality and those things stamped with his personality shall be free from official interference except where a reasonable basis for intrusion exists. "Liberty against Government" a phrase coined by Professor Corwin expresses this idea forcefully. In this sense, many of the fundamental rights of citizens can be described as contributing to the right to privacy.'

Thus, the right to privacy has, at last become entrenched in the organism of Indian Constitutional law and is now on the threshhold of a "case by case" development.

# Recollections of Kanpur Bar

Justice Shiva Nath Katju

Allahabad

I am happy to associate myself with the members of the Kanpur District Bar Association who will soon be celebrating the Golden jubilee of Shri Babu Lal Misra's professional career as a lawyer. After taking my LL. B. degree from the Allahabad University in 1931. I was enrolled as an Advocate of the Allahabad High court in 1932. It is likely that Babu Lalji took his law degree in 1930 - if not in 1931. In any case when I joined the Kanpur Bar in september 1933 we were fellow members of the Kanpur District Bar who were at the threshholds of then professional careers.

Kanpur is my **Janma-bhumi** and my links with the Kanpur Bar have deeper roots as Compared to my own association with it. My father, Dr. Kailas Nath Katju, started his legal practice at Kanpur in 1908 as a junior of the late Pandit Prithvi Nath. For a month or two he lived with Pandit Prithvi Nath and then shifted to a rented house in Filkhana Bazar.

Pandit Prithvi nath was the undisputed leader of the Kanpur Bar in his days and his professional Services were in demand in other districts also. I am told that as a cross-examiner he was unrivalled and his legal erudition was profound. He died when he was only about 50 years old in 1909 or 1910.

The Kanpur Bar has occupied a position of eminence in the earstwhile United Provinces and in Uttar Pradesh. That is mainly due to the industrial importance of Kanpur with the resultanc need for able lawyers. Eversince the courts were established in the United Provinces during the British regime Kanpur Bar has produced a galaxy of eminent and able lawyers and some of then distinguished themselves in public life also.

When my father joined the Kanpur Bar among his cantenporaries were Rai Bahadur B. Anand Swarup and Rai Bahadur Babu Brijendra Swarup. Babu Anand Swarup Saheb was older than my father but he and B. Brijendra Swarup were of the same age group and they became very intimate friends. The ties of friendship which bound them together lasted not only during their lives but binds the two families even now in a way which is rarely seen. When my father joined the Kanpur Bar in 1908 Babu Anand Swarup had an only daughter, Lakshmi and Babu Brijendra Swarup's wife had not given birth to any child. I was born in January 1910 and soon became the foster child of B. Brijendra Swarup's wife. I have heard that she would

send for me almost daily to her house where. I passed, my time under her fostering care and affection. I think munna (Devendra Swarup) was born in 1911 or 1912 and then came the other children of B. Brijendra Swarup. As long as Babu Brijendra Swarup and his wife lived I constantly received their parental affection and never felt a stranger in their house. Throughout during his life time my father always stayed in Babu Brijendra Swarup's house, regardless of the official position he happened to occupy at the particular time.

After taking my law degree in 1931 I started sitting in my father's office at Allahabad and attending the High Court as a probationer. That gave me an opportunity of seeing the judges and leading members of the High Court Bar such as Sir Tej Bahadur Sapru, Mr. O'canor, Mr. Pearey Lal Banerji, Mr. Iqbal Ahmad and Mr. S. K. Das who practiced on the civil side and Sir Charles Ross Alston and Mr. Kapil Deva Malviya who were the leading Advocates on the Criminal side. Simultaneously I used to attend the History Department of the Allahabad University and attended my M. A. Final classes. In July I was enrolled as an advocate of the Allahabad High Court and had also taken my master's degree from Allahabad University.

My father was anxious that before starting my practice I should go abroad and visit foreign countries. But I had the chance to become Captain of the Allahabad University Cricket Team and also of becoming the Company Sergeant Major of the University unit of the University Training Corps. My younger sister was getting married in November 1932. For all these reasons I joined the M. A. (Previous) class in English and remained a student of the Allahabad University. I got the aforesaid coveted ranks of University Cricket Captain and Company Sergeant Major and devoted much of my time to sports, boxing, wrestling, horse riding, cricket and parades. The Cricket Season was over in February 1933 and so also the parades and I left for Europe and America in March 1933. I returned back in september 1933 and straight away went to Kanpur to start my professional career.

I stayed in Babu Brijendra Swaup's house for the first 3 or 4 months and it was after great persuasion that he allowed me to shift to a rented house of my own. The house which I got was opposite the Mc Robert Hospital and Near the house of Hafiz Mohammad Halim. The house was a half portion of a single story building but with a separate compound. The rent was about Rs. 55-00 a month. I was then unmarried and lived all by myself in the house. I took a room on the first floor of a House in Generalganj where I had my office. Not far from my office was the dispensary of Dr. Jawahar Lal, a famous Physician and Congressman of Kanpur. From the very start of my practice I got some of the clients of my father by way of inheritance. I also sat in the office of Babu Brijendra Swarup at his residence and in his Chamber in the Court Compound. Babu Brijedra Swarup was the chairman of Kanpur Municipal Board in 1933 and very soon, after he was elected as the Chairman of the U. P. Legislative Council. I was Babu Brijendra Swarup's junior and saw his devotion to his professional duties. He was laborious and had deep knowledge of the principles of law as also of case law. His drafting of pleadings was superb. He was however shy in arguing in English and generally preferred to put up his arguments in Court in Chaste and excellant Hindustani. The other leaders of the Kanpur Bar at that time were

Rai Bahadur B. Vikramajit Singh Babu, Ram Sanehi Seth and Babu Mangala Prasad. All of them had those qualities which the successful lawyers of that generation possessed Viz, industry, erudition, and knowledge of the principles of law. Each of the aforesaid had then own style and manner of functioning in Court. Rai Bahadur Vikramajit Singh was grand in appearance as also in his arguments. It looked as if he wanted to overawe the Court. B. Ram Sanehi Seth appeared to be curt and quick and putup a very wiy face in Court. He also, in his own way, seemed to be trying to intimade the Court by the terseness of his arguments giving an impression that he would not stand any non sense either from the counsel from the other side or even from the Court. B. Mangali Prasad was soft, suave and gentle in his mannerism in Court and argued with great skill

The two acknowledged leaders of the Bar on the Criminal side at that time were Mr. A. Hoon and Mr. R. Khare. Both were very able and commanded a large practice. Both were skilful in cross examination and in arguing then case. Mr. Hoon had a slight edge over Mr. Khare because of the difference in then temperaments. Mr. Khare was terse and dry in his demeanour while Mr. Hoon brought his sense of humour into play and. when the occassion according to him, demanded, the display of contempt and nastiness either towards a witness or the opposite party or his counsel Mr. Hoon some times appeared on the civil side as well.

I occasionally saw K. B. Hafiz Hidayat Hussain also in Court. He argued his cases with great mildness and softness.

Among other lawyers who had sufficient practice at that time were B. Narayan Prasad Nigam, Pandit Rameshwar Nath Das, Syed-Fazlur Rehman, Mr. Bashir Ahmad, B. Bakht Narain, B. Brij Narain Mehrotra and Babu Gulab Chand Jain. I recall their names as I was, Comparatively speaking, closer to them. These were others as well including the rising lawyers like Mr. Ram Nath Seth.

As mentioned above I had acquired some familiarity of the working in the High Court while under going my probationary period. I also used to go to the District Courts in Allahabad at that time when the High Court was closed. This experience was helpul to me when I joined the Kanpur Bar and very soon I got on my legs with a steady. income of about Rs. 200-300 a month, and some times even more. That kept me and my clerk, who was an year or two younger than me, quite contented I had a staff of two servants and moved about in a Morris Minor car. The cost of petrol was about Rs. 4—00 for two gallons ( about 10 Litres ). Food stuff was cheap as compared to the Prices these days and I could easily run my bachelor's establishment in about Rs. 200 or Rs 250 per month. When I needed some extra money I asked for it from my father. He often remonstrated with me for not asking him for a fixed monthly allowance instead of asking for money only occasionally. I wrote back to him saying that I was getting on well and disliked asking for money even occasionally.

My Senior, B. Brijedra Swarup was most generous and affectionate towards, me. B. Pratap Bahadur worked with him as his junior but Babuji often engaged me in same of the cases in which he was appearing. My father's old client Lala Ram Chandar took a porternal interest in me and so also his son Brij Lal who was a regular visitor in my office in General-ganj. Through them I got in touch with some of the members of the business community. There was another some what curious character who started taking interest in me. He was

the uncle of Lala Ram Ratan Gupta who was popularly known as Lambardar, From his plain dress and appearance no one could guess that he was a fairly successful businessman. He took delight in watching the fightings going on in courts as if they were cock fights. He was a regular visitor in the Court Compound and he watched the performances of lawyers in Courts and make his own assessments about their merits. He took special interest in young lawyers just like an Ustad wrestler would look towards freshers in his **Akhara** and think of their future potentialities. The Lambardar got me engaged in some petty cases and looked to my performance in Courts with sharp eyes. I can not say now as to what he thought of me.

Ram Chandar and Brij Lal were apparently down in their business at that time and their creditors were persuing them. A suit against them had been decreed and they had preferred an appeal. Some counsel had filed the appeal on their behalf and then perhaps he was dropped. The appeal was ripe for hearing and I was engaged by them. The counsel for the Respondent was B. Brijendra Swarup. I do not now recollect the facts of the case but very likely it was a mortgage suit. I was perhaps paid a very paltry amount, if I was Paid at all. But considering my relations with my clients the fee did not matter to me. I worked hard on the case with plenty of excitement. It was my first important case and I had made copious notes for my arguments. The appeal came for hearing before Mr. Iftikhar Hussain, the Additional District Judge.

Mr. Iftikhar Hussain was an able and experienced Judge but he had a somewhat buffling temperament. He used to get very nasty when senior lawyers such as B. Vikramajit Singh, B. Ram Sanehi Seth or B. Brijendra Swarup appeared before him but he literally became a lamb when raw and young advocates stood before him. He would encourage them by his courteous and pleasant observations.

I commenced my arguments before him in English in the mannerism of a member of the High Court Bar and same times addressed him as "My Lord" I gave the facts of the case, the findings of the Munsif and tried to demolish the findings of the munsif in the best possible manner as I could. I cited several decisions of the Privy Council and the High Court in support of my contentious. The Judge was all attention and was taking notes of my arguments which was a source of great encouragement to me. I had gone on for more than an hour and a half. As I was reading from a reported decision Mr. Iftikhar Hussain observed —

"Let me see the case".

I advanced towards the railing with the book in my hand and when I leaned on his table while landing over the book to him my eyes fell on the sheet of paper on which according to my thinking, he was taking copious notes of my arguments. What I saw was a finely drawn sketch of a big MURGHA ( fowl ). I was dumb founded and nearly collapsed. I withdrew back and stood before him in mute silence.

"Yes, Panditji go on," the Judge said. I gazed back at him in respectful silence.

"Why have you stopped. Please resume your arguments,' The Judge observed again.

I very quietly replied, Sir, I have nothing more to say" and sat down.

B. Brijendra Swarup, as also same members of the Bar, who were at that time present in Court were surprised at my sudden collapse. The Judge had perhaps guessed the reason. He gave me a very benevolent smile and asked B Brijenra Swarup to argue for the respondent. Needless to say that after hearing

B. Brijendra Swarup for a while the appeal was given a decent burial.

I appeared before Mr. Iftikhar Hussain several times and it was always a pleasure for me to argue before him. Mr. J K. Tandon, who subsequently became a Judge of the High Court, was at that time a Munsif at Kanpur. He was even then showing promise of his future eminence. He had a quick grasp of the cases which came before him and he was cool, polite and courteous while sitting in Court. The District Judge at that time was an Englishman. He was very hard working officer sit in Court till about 5 p. m.

I used to go to Ganga on Parmat Ghat almost daily for my morning bath and invariably while climbing down to the river back or going up. I used to see the late Lala Kamala Pat Singhania He knew my father well since the latter's Kanpur days and my father was his Counsel in many of his cases. Lala Kamla Pat always greeted me with great cordiality. I came in contact with several prominent business magnates of Kanpur who frequently came to the house of B. Brijendra Swarup including Lala Padampat Singhania. Mr. S. M. Bashir and Lala Ram Ratan Gupta returned back from England in 1933 and they were frequent visitors to the residence of B. Brijendra Swarup where I used to meet them. Mr. Gopi Krishna Handas was at that posted in Kanpur as a Deputy Supdt. of Police. His family came from Allahabad and I knew him since my childhood. He kept his eyes on me like an elder brother and we played Tennis and Cricket together. Pandit Rameshwar Nath Das is my uncle. He was at that time the Government Pleader. Pandit R N. Das's wife was as watchful about my person and affairs as my doting foster mother-the wife of B. Brijendra Swarup. I had a very close friend in Mahendra Jit Singh, the younger son of R B. Babu Vikramajit Singh who fully shared my interest in sports. Mr. A. Hoon and his wife also frequently invited me to their house. Babu Brijendra Swarup had made me an Hony. lecturer in Law in the D. A. V. College Kanpur. L. Dewan Chand was then the Principal of the College. In the Session of 1934-35 I tought Jurisprudence in the LL. B. Final classes.

I was married in January 1935 but my wife did not came to my Kanpur House even for a day. I bade adien to the Kanpur Bar and my friends in Kanpur in May 1935 and joined the High Court Bar in July 1935. I still recall my very pleasant association with the Kanpur Bar. It is the Bar which gives distinction to Judge and Courts. Without the assistance of able and eminent counsel the task of judge in dispensing justice always becomes very difficult. The Kanpur Bar has a place of its own in our state. I hope and pray that the members of the Kanpur Bar will always maintain and foster the great traditions that they have inherited from the great lawyers of past generations.*

# न्यायपालिका का दर्शन

**मोहन कुमार मंगलम्**

बम्बई

एक न्यायाधीश के बारे में ऐसा सोचना कि वह कोई ऐसी हस्ती है, जो भीड़ से ऊपर की है, जन-साधारण से वह, भिन्न प्रकार का प्राणी है, वह अपनी वास्तविक ऊंचाइयों में किसी उच्च स्थान का वासी है और उसका निर्देशन, तर्क और विवेक की प्रकाशमान किरणें ही करती हैं, मेरे ख्याल में वास्तविकता से तनिक भी सम्बन्धित नहीं है।

और केवल मेरे ही विचार ऐसे नहीं हैं, अन्य अनेक व्यक्तियों के विचार भी इसी प्रकार के हैं, मैं एक सर्वाधिक प्रतिभाशाली न्यायशास्त्री के कथन का हवाला दूंगा, जो कि सयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश रहे। उनका नाम है—बेंजामिन कारडोजो, उन्होंने निम्न शब्दों में इस विचार को व्यक्त किया है—

'हम सभी के भीतर प्रवृत्ति की एक धारा होती है, जिसे आप चाहें तो दर्शन कह सकते हैं या नहीं भी कह सकते, यही धारा मनुष्य के विचारों तथा कार्यों को तारतम्य तथा निर्देशन प्रदान करती है······न्यायाधीश लोग, अन्य साधारण व्यक्तियों की भांति ही इस धारा के प्रभाव से बचकर नहीं निकल सकते, अपने जीवन भर जिन शक्तियों को वे लोग मान्यता नहीं प्रदान करते और उन शक्तियों को संज्ञा नहीं दे पाते, उन्हीं शक्तियों के साथ युद्ध करते रहते हैं। ये शक्तियां हैं—विरासत के रूप में प्राप्त की गयी सहजात भावनाएं, परम्परागत विश्वास, अर्जित निष्ठा और इन सबका परिणाम होता है, जीवन के प्रति दृष्टिकोण की सामाजिक आवश्यकताओं की धारणा, जेम्स के वाक्यांश—'ब्रह्मांड का तेज जवाब' में व्यक्त भावना, जिसे तर्कों के उचित संतुलन में होने पर निर्धारित कर देना चाहिए कि हमारा चुनाव क्या हो ?'

इसी तरह के विचारों को हमारे भू० पू० न्यायाधीश श्री पतंजलि शास्त्री ने भी इस अवसर पर व्यक्त किया था, 'यह आवश्यक है कि सामाजिक दर्शन, निर्णय में भाग लेने वाले न्यायाधीशों के मूल्यगत तराजू मिलकर एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करें।

इसीलिए आप, इस तथ्य से भाग नहीं सकते कि विषय वस्तु के प्रति न्यायाधीशों का दृष्टिकोण और उनके जीवन-दर्शन और मिजाज, उन निर्णयों पर जरूरी तौर पर अपना प्रभाव डालते हैं, जो वे देते हैं, इस हकीकत को नजरअंदाज करना हमारे लिए बेवकूफी की बात होगी, क्योंकि हम तीन न्यायाधीशों के त्यागपत्र के कारण हमारे देश में जो दबावपूर्ण स्थिति, तनाव और विवाद पैदा हुआ है, उससे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी दृष्टि चकाचौंध हो गयी है।

संयुक्त राज्य अमरीका के विगत ३६ वर्षों के इतिहास १९३५, १९३६ तथा १९३७ पर दृष्टिपात करें, संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय में नौ न्यायाधीश थे।

उन दिनों संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसी घटना घटी कि न्यायमूर्ति रेनाल्डस् न्यायमूर्ति बटलर, न्यायमूर्ति

सदरलैंड तथा जस्टिस वैन डिवेन्टर ने निरंतन और अगाध रूप से एक भी असहमति के बगैर राष्ट्रपति रूजवेल्ट के नये कानून के विरुद्ध निर्णय दिया, लेकिन तीन अन्य समान रूप से महत्वपूर्ण न्यायाधीशों ने, जिन्हें कुछ लोग ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं—न्यायाधीश कारडोजो वैंडइस तथा न्यायमूर्ति स्टोन ने निरंतर इस बात को माना कि राष्ट्रपति का नया कानून सही है, न्यायपूर्ण है तथा उचित है, और दो अन्य न्यायाधीशों—ह्यूग्स और न्यायाधीश रावर्ट ने उनकी हिमायत की।

इस निर्णय का विवरण उन दिनों के एक टिप्पणीकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"एकाधिकारी न्याय प्रशासन और लोकप्रिय सत्ता के बीच की दरार को अब न तो छिपाया जा सकता है और न ही उसमें तोड़-मरोड़ किया जा सकता है। अपने एक छोटे से कार्यकाल में ही न्यायालय ने सभी स्तरों पर राजनैतिक सत्ता को बांध देने के एक कसा हुआ संवैधानिक जाल बुन डाला था……१९३६ के अन्त तक ऐसा मालूम होने लगा कि न्यायालय ने नये कानून को, असंवैधानिकता के कठोर धरातल और चट्टानों पर रौंद डाला है।

अब प्रश्न उठता है कि वह, कौन-सा कारण था, जिसकी वजह से चार विद्वान न्यायाधीशों ने निरन्तर और निर्बाध रूप से, नये कानून के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये और तीन अन्य न्यायाधीशों ने, समान रूप से नये कानून के समर्थन में विचार व्यक्त किये। उक्त सभी सात न्यायाधीश ईमानदार लोग थे। उनमें से कोई भी न्यायपालिका के अधीन नहीं था। क्या कोई भी व्यक्ति, न्यायमूर्ति कारडोजो को अधीन बना सकता है। क्या कोई भी व्यक्ति, न्यायमूर्ति ब्रान्डेइस अथवा न्यायमूर्ति-स्टोन को अधीन मान सकता है? क्या कोई भी व्यक्ति जो कानून जानता है और जो संयुक्त राज्य अमरीका के न्यायपालिका के इतिहास को जानता है, ऐसी बात को स्वीकार नहीं कर सकता, एक ओर आपके सामने चार ऐसे न्यायाधीश हैं, जो बहुत ही ज्यादा रूढ़िवादी हैं और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण से आप लोग परिचित हैं।

उक्त विभाजन, न्यायाधीशों के दिमाग का था और वह कोई ऐसा विभाजन न था कि उन्हें ऐसा करने के लिए शुल्क दिया गया था कि उन पर ऐसा करने के लिए दवाव डाला गया, वह उनका अपना दिमाग था, जिससे वे लोग संयुक्त राज्य अमरीका में चीजों को देखते थे।

रूढ़िवादी लोगों को पक्का यकीन हो गया था कि रूजवेल्ट के परिवर्तनकारी कार्यक्रम, संयुक्त राज्य अमरीका के लिए वज्रपात के समान होंगे और उन्हें ही इस बात पर भी यकीन था कि वे, जनतांत्रिक व्यवस्था के अन्तिम अभिभावक हैं, दूसरी तरफ उदारवादी न्यायाधीश जस्टिस हटिलन स्टोन तथा अन्य न्यायाधीशों ने बार-बार कहा कि इस बात का निर्णय, सत्तारूढ़ राजनैतिक पार्टी की नीति क्या है, इन्होंने उस नये अमरीकी विधान के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की और कहा कि उस नये कानून ने, १९२९–३० में हुए स्टाक एक्सचेन्ज और विध्वंस से अमरीका को बाहर निकाला, जब कि लाखों व्यक्ति बेरोजगार थे और लाखों रोटी की मांगें कर रहे थे।

मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूं, वह केवल यह है कि न्यायाधीश का दृष्टिकोण निश्चित रूप से अन्तिम निर्णय होता है—और विशेष रूप से देश के सर्वोच्च न्यायालय में, जहां उसे अपना मत व्यक्त करना है, ऐसी बात नहीं है कि यह कोई अस्पष्ट बात हो, कोई पृथक् विषय हो, जब तक वह सही है। ऐसे विषय पर उन घटनाओं का वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा कि किसी भी अन्य व्यक्ति पर।

रूजवेल्ट के शासन-काल की ओर मैंने, आप लोगों का ध्यान इसलिए आकर्षित किया, क्योंकि मैंने इस बात को गहराई से अनुभव किया कि इस विश्व में गैर-राजनैतिक न्यायाधीश………एक न्यायाधीश, जिसका कोई भी विचार न हो, कोई खास प्रागी नहीं होता। अब्राहम लिंकन ने अपने ट्रजरी सचिव श्री चेज को संयुक्त राज्य अमरीका के मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया, तब उनसे पूछा गया कि किस प्रकार आपने इस बात का निर्णय किया कि श्री चेज एक योग्य व्यक्ति हैं? आप इस बात का निर्णय कैसे कर सकते हैं कि उनके विचार क्या हैं? उनके विचारों का आधार

क्या है ? लिंकन ने उत्तर दिया—'हम इस बात को नहीं पूछ सकते कि वह क्या करेगा और यदि वह हमारे प्रश्न का उत्तर दे, तो हम जरूर उससे नफरत करेंगे, इसलिए हमें उस व्यक्ति को अवश्य नियुक्त करना चाहिए, जिसके विचारों से हम परिचित हों।' और जब लिंकन ने जनता को सुझाव दिया कि ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करो, जिसके विचारों को तुम जानते हो, तो उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की—'जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है ? एक तरफ निर्देशक सिद्धान्तों और दूसरी तरफ मूलभूत अधिकारों के परस्पर टकराव पर वे, किस तरह विचार करते हैं।'

प्रतियुक्त न्यायाधीशों की, हमारी इच्छा की, मर्त्सना की जाती है, जैसे कि हम इस तरह के न्यायाधीश चाहते हों, जो अपने को प्रतिबद्ध करने के हिमायती हों, हमें प्रतियुक्त न्यायाधीशों की आवश्यकता नहीं है······ लेकिन हम ऐसे न्यायाधीश को अवश्य चाहते हैं, जो कि यह जानने में समर्थ हों कि देश में क्या हो रहा है, उस हवा के रुख को समझते हों, जो हमारे देश की सरहदों के बाहर वह रही हो और जो इस महान् सत्य को मान्यता देने के लिए तैयार हों कि संसद् एक समप्रभुतापूर्ण है। संसद् की शक्तियां समप्रभुतापूर्ण हैं। हां, हम इस बात पर सारी शक्ति केन्द्रित करते हैं

---

१· मोहन कुमार मंगलम्, 'सोशलिस्ट इंडिया' १२ मई, १९७३, पृष्ठ १७—१८.

# सम्पत्ति-अधिकार सम्बन्धी कानूनी दृष्टिकोण

**एच० आर० गोखले**

वम्बई

संसद् द्वारा संविधान के चौथे संशोधन के बाद उसके निर्वाचन के सम्बन्ध में अनेक दांव-पेंच चले हैं, लेकिन बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विवाद में जो कि इस सम्बन्ध में अन्तिम विवाद रहा है, बराबर इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द 'मुआवजा' से यह तात्पर्य था कि सार्वजनिक प्रयोजन के लिए राज्य द्वारा ली गई किसी भी सम्पत्ति के लिए दिया जाने वाला मुआवजा, अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के बराबर का होगा। इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिया गया निर्वचन, चौथे संशोधन की व्यवस्थाओं को नकार देता है, इस मुआवजे का औचित्य पूर्णरूप से गैर-कानूनी बन जाता है।

सन् १९६५ में ही न्यायाधीश सुब्बाराव ने चौथे संशोधन के सम्बन्ध में ऐसा फैसला दिया था कि भुगतान किया जाने वाला मुआवजा और उसका औचित्य, न्यायपूर्ण नहीं था, इसी प्रकार उस कानून में निर्धारित किये गये सिद्धान्त भी न्यायपूर्ण नहीं थे, लेकिन बहुत ही जल्द उसके बाद अपने निर्णय के विरुद्ध उन्होंने निर्णय दिया और उसके पश्चात् एक और विवाद में सुप्रीमकोर्ट ने उनके निर्णय के विरुद्ध नजीर पेश की, जो कि शांतिलाल-मंगलदास के मुकदमें के नाम से मशहूर है, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा कहा था कि मुआवजे का औचित्य, न्यायपूर्ण नहीं है।

यह बात यहीं पर रुक जाती, तो चौथे संशोधन को पूर्ण रूप से प्रभावी बनाया जा सकता था, लेकिन उसके बाद, जैसा कि हमने पहले ही बताया है, एक और कानूनी दांव-पेंच हुआ और बैंक राष्ट्रीयकरण विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के सामने फिर भी बहस हुई और शांतिलाल मंगलदास के मुकदमे में दिये गये निर्णय का उल्टा निर्णय दिया गया और 'मुआवजा' शब्द पर निर्भरता करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने फिर ऐसा निर्धारित किया कि 'मुआवजा' शब्द का अर्थ है—एवजी रुपया, दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ है—संपत्ति का बाजार-मूल्य, बैंक राष्ट्रीयकरण वाले विवाद में दिये गये सर्वोच्च न्यायालय के फैसले से यद्यपि चौथा संशोधन अस्पष्ट रूप से निरसित नहीं होता, जो कि सन् १९५५ में पारित किया गया था। अब संशोधन के सम्बन्ध में जो किया जाता है, वह उस यथापूर्ण स्थिति की स्थापना है, जो कि शांतिलाल मंगलदास के मुकदमे के समय था और जब बैंक राष्ट्रीयकरण के विवाद में कोई फैसला नहीं दिया गया था······धन-राशि के औचित्य के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय न्यायालय द्वारा नहीं दिया जायेगा बल्कि इस सम्बन्ध में संसद् को अन्तिम फैसला करने का अधिकार होगा कि एक खास कानून के अन्तर्गत सम्पत्ति हासिल करने के लिए कितनी रकम को पर्याप्त अथवा युक्तिपूर्ण समझा जाये।

यह स्पष्ट है कि न्यायालय को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह, अधिक मुआवजे के भुगतान के लिए बाध्य कर सामाजिक परिवर्तन के उपायों में बाधक

बने, जिससे सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना नामुमकिन हो जाये.........आज एक दूरगामी वाला विषय उपस्थित है, जिसका मकसद, हमारे देश के सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक ढांचे का पुर्ननिर्माण करना है और इस उद्देश्य के लिए प्रमुख औद्योगिक तथा वाणिज्यिक क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण के रूप में, राज्य का अधिक से अधिक हस्तक्षेप आवश्यक होगा। स्पष्ट है, अगर मुआवजे के रूप में, हर चीज के लिये बाजार-मूल्य दिये जाने के वास्ते बाध्य किया जाता है, तो हमारे लिये अपने कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना असंभव हो जायेगा अथवा मुकदमेबाजी के लिए और सभी प्रकार के स्थगन आदेशों की चुनौतियों का सामना करना होगा।

बहुत समय पहले सन् १९५५ में, जब चौथा संशोधन विचारार्थ प्रस्तुत किया गया, बहस के बीच बोलते हुए श्री जवाहरलाल ने कहा था, 'हम पूरा मुआवजा देने की बात सोच भी नहीं सकते और दूसरे ऐसा करना अनुचित-अन्यायपूर्ण होगा। कारण कि सबसे पहले इसे आप कर नहीं सकते और दूसरे ऐसा करना अनुचित-अन्यायपूर्ण होगा। और अगर आप यह कर भी सकें तो भी इस साधारण वजह से नहीं करना चाहिए कि ऐसे सभी सामाजिक, कानून वगैरह के मामले, समाज का एक ऐसा ढांचा लाने का लक्ष्य रखते हैं, जो मौजूदा ढांचे से मुख्तलिफ हो। ढांचे में जो परिवर्तन होंगे उनमें एक, गरीबों और अमीरों के बीच फर्क मिटाने का भी है। अगर अब हम पूरा मुआवजा देने जा रहें हैं, तो अमीर, अमीर बने रहेंगे और गरीब, गरीब। यदि मुआवजा दिया जाता है तो, यह स्वरूप या किस्म में फर्क, रद्दोबदल नहीं आता। इसलिए सामाजिक इंजीनियरी की किसी भी परियोजना में यदि मैं कह सकूं, आप पूरा मुआवजा नहीं दे सकते, क्योंकि न तो आप देने की स्थिति में हैं और न ही आपके पास उतने साधन हैं।"

पंडितजी के कहने का मतलब वही है, जो कुछ उन्होंने कहा। लेकिन सर्वोच्च न्यायालयों के निर्णयों से सम्पूर्ण उद्देश्य पर पानी फिर गया, वे उद्देश्य सारहीन हो गये—खासकर अन्तिम मामले, अर्थात् बैंक राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित मामले.........मौजूदा संशोधन उस स्थिति को बहाल करने के लिये आवश्यक हो गया है, जो बैंक राष्ट्रीयकरण के पूर्व थी, ताकि सार्वजनिक उद्देश्य के लिये संसद द्वारा निर्धारित उचित मुआवजे के भुगतान पर संपत्ति ली जा सके।

मुआवजे के प्रश्न पर विचार करते हुये प्रथम गोलमेज सम्मेलन के समय ही महात्मा गांधी ने भविष्यवक्ता के समान–शब्दों में जो कुछ कहा था वह बड़ा दिलचस्प है। उन्होंने कहा– 'अगर राष्ट्रीय सरकार इस निर्णय पर पहुंचती है कि, फिर चाहे उनका सम्बन्ध किन्हीं भी हितों से क्यों न हो, यह कदम जरूरी है, तो उन्हें इनसे वंचित कर दिया जायेगा और वे वंचित कर दिये जायेंगे; मैं, आपसे कहना चाहूंगा—किसी भी किस्म का मुआवजा दिये बगैर ही। इसकी वजह यह है कि अगर आप, इस सरकार से मुआवजा दिलाना चाहते हैं, तो वह मुआवजा देना पीटर से छीनकर पाल को दे देने के समान होगा, और वह असंभव होगा'।

इसलिये जरूरी होने पर क्या राशि होगी, इसका निर्णय संसद पर छोड़ दिया जाना चाहिये। न्यायाधीश कितने ही प्रसिद्ध क्यों न हों, उन्हें राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति नहीं दी जा सकती, ताकि संसद ने देश की जनता से हित की जो बातें स्वीकार की हैं, उनके स्थान पर वे अपनी राजनैतिक अथवा आर्थिक विचार धारा को न ला सकें।

मैं कहना चाहूंगा कि इसके द्वारा न्यायाधीशों के अधिकार कम नहीं किये जा रहे हैं बल्कि न्यायालय और न्यायाधीशों के अधिकारों को सुरक्षित किया जा रहा है। वजह? अगर न्यायाधीश राजनीतिक व आर्थिक चर्चाओं में भाग लेने लगेंगे, तो स्वाभाविक है और स्वाभाविक होना भी चाहिये, जनता अनिवार्य रूप से उनकी आलोचना करेगी। अतः उन्हें इस संकट से बचाने के लिये यह सब किया गया है कि न्यायाधीशों को राजनीतिक मामलों को लेकर सार्वजनिक विवाद से बचाना हमेशा अनिवार्य समझा गया है.........वर्तमान विधेयक के आलोचक सम्पत्ति के अधिकार को परम पवित्र एवं आदिकालीन प्रकृति नियम के रूप में स्वीकार करते हैं। उच्चतम न्यायालय ने, बैंक राष्ट्रीयकरण के मामले में भी उसे बहुत पहले से मृत दृष्टिकोण के रूप में अपनाया। परन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण, आधुनिक न्यायशास्त्र में न्यायिक दृष्टिकोण नहीं माना जा सकता। न ही यह भारत की प्राचीन एवं परम्परागत राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल ही है। सार्वजनिक उद्देश्य के लिये सम्पत्ति लेने के, समाज के उच्च अधिकार से निचला स्थान ही व्यक्तिगत अधिकार को दिया जाना चाहिये। यही इस संशोधन का प्रमुख और महत्वपूर्ण अधिकार है।

# संविधान की संरचना का मूलभूत लक्ष्य

**रामकुमार त्रिपाठी, एडवोकेट**

कानपुर

१३ दिसम्बर, १९४६ को संविधान-सभा में उद्देश्य सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था—"यह संविधान-सभा, हिन्दुस्तान को एक सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य ऐलान करने और उसकी आइन्दा की हुकूमत के लिए एक ऐसा संविधान पेश करने का पक्का और संजीदा इरादा जाहिर करती है।

जिसके अन्दर वे प्रदेश, जो ब्रिटिश इण्डिया में शामिल हैं, वे प्रदेश जिनसे देशी रियासतें बनी हैं और हिन्दुस्तान के ऐसे हिस्से, जो ब्रिटिश इंडिया और रियासतों के बाहर हैं और ऐसे दूसरे प्रदेश, जो आजाद हिन्दुस्तान के गणराज्य में शामिल होने के ख्वाहिशमन्द हैं, मिलकर एक संघ कहलायेंगे।

जिसके अन्दर हिन्दुस्तान की सारी जनता को समाजी, माली और सियासी इंसाफ दर्जे की, मौके के और संविधान की रूह से बराबरी, कानून और व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए विचार, विश्वास, धर्म, पूजा, धन्धों और काम की आजादी की हिफाजत होगी और प्राप्त होगी............।

यह प्रस्ताव, जैसा कि सदन जानता है कि काफी सावधानी से बनाया गया है। हमने बहुत ज्यादा या बहुत कम कहने की कोशिश नहीं की है............।

अगर आप, बहुत कम कहते हैं, तो वह, उन लोगों के कार्यों में हस्तक्षेप करना होगा, जो संविधान तैयार करने जा रहे हैं अर्थात् इस सदन के कार्यों में। जो संविधान, हम तैयार करने जा रहे हैं, यह प्रस्ताव, उसका हिस्सा नहीं है और इसे उस शक्ल में नहीं लिया जाना चाहिए, इस सदन को वह संविधान बनाने की पूरी आजादी है और जब दूसरे लोग सदन में आते हैं, तो उन्हें भी इस बात की पूरी आजादी होगी कि वे, इसे नया रूप दे सकें।"

भारतीय संविधान के निर्माण-काल में ही संविधान-निर्माताओं की दृष्टि, लोकतांत्रिक व्यवस्था और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से अविकसित जनता की भावी आशाओं तथा आकांक्षाओं पर केन्द्रित रही हैं। इसीलिए संविधान-काल की समस्त वैचारिक भूमि में, उद्देश्य-प्राप्ति के प्रति जागरूकता के कारण इस प्रयोजन का उल्लेख निरन्तर किया जाता है कि संविधान मूलरूप में संसद का प्रतिनिधित्व करेगा और उसमें संशोधन या परिवर्तन का अधिकार, राष्ट्रीय जीवन की प्रतिनिधि-सभा संसद् के अतिरिक्त किसी अन्य को न होगा।

संविधान, तथा संविधान की मूलभूत संरचना पर टिप्पणी करते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू ने संविधान-सभा में कहा था—"कोई भी सर्वोच्च न्यायालय और अदालत, संसद की सर्वोपरि इच्छा पर फैसला देने के लिए नहीं बैठ सकती। क्योंकि संसद् द्वारा व्यक्त की जाने वाली इच्छा पूरी जनता की इच्छा होती है। अगर हम, यहाँ-वहाँ गलती करते हैं, तो उसकी ओर इशारा किया जा सकता

है, लेकिन अन्ततोगत्वा विश्लेषण, जहाँ कि समाज से सम्बन्धित है, कोई भी अदालत रास्ते में आड़े नहीं आ सकती·········यह स्पष्ट है कि कोई भी अदालत, कोई भी न्यायपालिका-प्रणाली 'थर्ड-हाउस' की तरह इसे सुधारने का काम नहीं कर सकती। अन्ततोगत्वा तथ्य तो यह है कि विधायिका को सर्वोपरि होना चाहिए और उसमें न्यायिक अदालतों को, सामाजिक सुधारों के लिए अपनाये गये उपायों के रास्ते में दखल नहीं देना चाहिए।" (कांस्टीट्युएट एसेम्वली डिवेट्स—७, नं० १२ पृ० ५८३)

यद्यपि भारतीय संविधान, भारत की विविधता तथा अनेकरूपता के कारण विशद् एवं विस्तृत रूप में भारतीय जीवन के सभी अंगों, वर्गों तथा स्तरों की खोज करता हुआ उनके प्रति अपने कर्तव्य की सीमाएँ निर्धारित करता है किन्तु मूलरूप में वह, बिना किसी भेदभाव के उस बहुसंख्यक समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो कि अस्सी प्रतिशत के प्रचण्ड बहुमत के साथ ग्रामीण-क्षेत्रों में रहता है और जो भारतीय सामाजिकता, संस्कृति तथा शक्ति की धुरी है।

## बहुसंख्यकों की अभिव्यक्ति

प्रसिद्ध संविधान-शास्त्री ग्रैनविले आस्टिन ने, भारतीय संविधान के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'दि इंडियन कांस्टीट्यूशन' के पृष्ठ ९ पर लिखा है—"दूसरे देशों की एकतंत्रीय राजनैतिक प्रणालियों के स्वरूप से परिचित लोगों के लिए यही मान बैठना स्वाभाविक होगा कि आम-जनता का प्राप्त वहाँ की (भारत की) इतनी बड़ी पार्टी का दृष्टिकोण कठोर और संकीर्ण होगा और यह कि उसका शक्तिशाली नेतृत्व, विरोध की आवाज का गला घोंटकर कुछ चुनिंदा लोगों के ही हाथ में, नीति-निर्धारण के कार्य को महदूद रखेगा। किन्तु भारत में इससे उल्टा ही हुआ······ संविधान-सभा के नेता, जो कांग्रेस तथा संघ—सरकार में भी नेता पद पर थे, राष्ट्र के नायक थे और उनके हाथों में असीम सत्ता भी थी, फिर भी सभा में लोकतान्त्रिक आधार पर ही कुल निर्णय लिये गये। भारत के संविधान में थोड़े लोगों की आवश्यकताओं को नहीं, बहुसंख्यकों के संकल्प को ही अभिव्यक्ति मिली है।"

भारतीय बहुसंख्यक का अभिप्राय, भारत के आम—आदमी से है और संविधान की आत्मा में, आम आदमी के कल्याण की सभी आस्थाएँ निहित है। संविधान, आम-आदमी के बहुमुखी विकास तथा कल्याण का नियोजन पारस्परिक सहयोग की बुनियाद पर प्रारम्भ करता है। इसीलिए वह, सबसे पहले आम-आदमी को वयस्क मताधिकार प्रदान करता है, ताकि आम आदमी अपने वैधानिक अधिकारों की चेतना से जाग्रत हो सके।

संविधान-निर्माताओं में से एक प्रमुख अल्लादि कृष्णास्वामी ऐयर, भारतीय-संविधान की मूलभूत संरचना के सम्बन्ध में कहते हैं—"इस सभा ने बालिग-मताधिकार के सिद्धान्त को, आम आदमी में और लोकतंत्रीय शासन की अन्तिम सफलता में, पूरी आस्था रखते हुए ही स्वीकार किया है, और यह विश्वास लेकर भी कि बालिग-मताधिकार के आधार पर कायम होने वाली लोकतंत्रीय सरकार, लोगों की ज्ञान-वृद्धि करेगी और आम-आदमी का कल्याण-साधन करने वाली होगी और उसके जीवन-स्तर को ऊँचा उठायेगी, उसको अधिक सुविधाएँ दे सकेगी और उसे खुशहाल बनायेगी।" (कांस्टीट्यूशन असेम्वली डिवेट्स ११, पृष्ठ—८३५)

भारतीय संविधान में भी, अन्य संविधानों की भाँति मूल अधिकारों की एक सूची है। जिसमें स्वतन्त्रतापूर्वक बोलने, एकत्र होने, पूजा करने, उद्योग करने तथा सम्पत्ति रखने के अधिकारों के साथ अल्पसंख्यकों को राज्य की मनमानी से बचाने, अस्पृश्यता को समाप्त करने तथा नागरिक दूकानों, जलपान-गृहों, कुओं, सड़कों एवं सार्वजनिक स्थानों के उपयोग का अधिकार बिना किसी भेदभाव के सबके लिए सुरक्षित है।

मूल अधिकारों के अतिरिक्त भारतीय संविधान में कुछ नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत अधिकारों की प्रतिष्ठा की गयी है। ऐसे निर्देशक सिद्धांतों के अधिकार राज्य को प्राप्त हैं, जिनका उपयोग नागरिकों की जीविका के लिए, जीविका के पर्याप्त साधनों को सुरक्षित करने, देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण व वितरण, सार्वजनिक लाभ कराने के लिए, लोकहित की दृष्टि से सम्पत्ति या उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण करने, श्रमजीवियों को उपयुक्त मजदूरी दिलाने तथा चौदह वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था करने हेतु, वह करेगा। नीति-निर्देशन सिद्धांतों में उन

समस्त आर्थिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने की छूट भी है, जो सामाजिक जीवन-स्तर को उठाने में सहायक होंगे।

सन् ६९ में बैंक राष्ट्रीयकरण तथा सन् ७० के प्रिवी-पर्स की समाप्ति सम्बन्धी विधेयक पर संसद तथा संसद के बाहर संविधान संशोधन सम्बन्धी जो विवाद हुआ, वह भी बड़ा दिलचस्प हैं, क्योंकि उच्चतम न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीशों के मन्तव्य, सम्पत्ति के अधिकार को, निर्देशक सिद्धांतों से पृथक् अनुभव कर, संसद द्वारा स्वीकृत सामाजिक अर्थ-रचना के प्रस्तावों के विरुद्ध थे। संसद में संविधान-संशोधन सम्बन्धी विधेयक पर चर्चा के समय प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने वक्तव्य में संविधान को जनता की आस्था का प्रतीक बताते हुए कहा–

'हमारे संविधान विशेषज्ञों की बातें रुचिकर एवं शिक्षाप्रद थी। लेकिन एक गैर-संविधान-विशेषज्ञ एवं गैर-वकील के रूप में मैं, अवश्य ही यह कहूँगी कि उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्या मात्र कानूनी अथवा संवैधानिक नहीं है। हमने संविधान में जो संशोधन किये हैं, वे जनता की इच्छा-आकांक्षा की ही अभिव्यक्ति है······संसद बड़ी है या संविधान, इस पर एक विवाद उठाया गया है कि जैसे ये दोनों भिन्न विकल्प हैं, एक-दूसरे से अलग-अलग हैं और एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। जो लोग इस ढंग से समस्या पर विचार प्रकट करते हैं, वे इस बात को बड़ी आसानी से भुला देते हैं कि संविधान का प्रारूप इस मूल मान्यता पर तैयार किया गया था कि लोकतांत्रिक सिद्धांतों के प्रति जनता की आस्था अपरिवर्तित है। जनता की यह आस्था ही हमारे संविधान की थाती है।" (इंदिरा गांधी दि इयर्स आफ इन्डेवर, पृष्ठ १३३)

संसद तथा सर्वोच्च न्यायालय के मध्य वैधानिक सर्वोच्च का विवाद काफी पुराना है, भारत से पहले दुनिया के अन्य स्वतन्त्र देशों में भी ऐसे विवाद हुए हैं, क्योंकि जब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों के साथ विकास के पथ खोजती है, तब तमाम पूर्व प्रचलित आस्थाएँ या तो उसके लिए अपूर्ण सिद्ध होती हैं या प्रतिकूल। ऐसी अवस्था में कई बार जीवन-विधाओं के अनेक रूपों में बुनियादी परिवर्तन करने पड़ते हैं।

भारत को बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में संसद तथा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों सम्बन्धी जिस विवाद में भाग लेना पड़ा, अमरीका में यही विवाद, पैंतालीस वर्ष पूर्व प्रेसीडेंट रूजवेल्ट के समय पूरी शक्ति से राष्ट्रीय वैचारिकता का केन्द्र था, उस समय अमरीका भी एक अविकसित देश था और विकास के लिए राष्ट्र की जनप्रतिनिधि सभा के निर्णयों को लागू करना उसके लिए महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य था। इसीलिए ९ मार्च, १९३७ को प्रेसीडेंट का पद ग्रहण करने के बाद रूजवेल्ट ने राष्ट्र के नाम संदेश में कहा–"न्यायालय ने अपने न्यायिक कृत्यों के समुचित उपयोग के अतिरिक्त, अनुचित ढंग से अपने आपको, कांग्रेस का एक तीसरा सदन–एक सर्वोच्च विधान मण्डल–बना रखा है, यह संज्ञा इसे एक न्यायमूर्ति ने दी थी। इन न्यायालयों ने संविधान में उन शब्दों और मन्तव्यों को खोज निकाला है, जो कि वहां नहीं होने चाहिऐं थे। अतः हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं, जबकि हमें संविधान को न्यायालय से बचाना होगा और स्वयं न्यायालय को न्यायालय से भी। हम एक ऐसा सर्वोच्च न्यायालय चाहते हैं, जो सविधान के अधीन, न कि उसके ऊपर से हमें न्याय दिलाता हो। हमें अपने न्यायालय में कनूनों की सरकार, न कि व्यक्तियों की सरकार की जरूरत है। मैं चाहता हूँ, जैसा कि सभी अमेरिकन चाहते हैं—एक स्वतन्त्र न्यायपालिका, जो कि हमारे संविधान के निर्माताओं ने प्रस्तावित किया है। इसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय, संविधान जिस रूप में लिखित है, उसी के अनुसार लागू करेगा और वह न्यायिक अधिकार की अपनी स्वैच्छिक अभिव्यक्ति से संविधान को संशोधित नहीं करेगा। यदि मेरे ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि मैं न्यायालय के उच्च पदों पर रीढ़ की हड्डी की कठपुतलियाँ बैठाना चाहता हूं, जो कानून की अवहेलना करेंगे और मेरी इच्छा के अनुसार अपना निर्णय लेंगे, तो मेरा उत्तर है कि कोई भी प्रेसिडेंट जो, अपने पद के योग्य है, सर्वोच्च न्यायालय में इस तरह के लोगों को नियुक्त करना पसंद नहीं करेगा और न मानवीय सदस्यों की सीनेट ही ऐसे निर्णय की पुष्टि करेगी। लेकिन यदि आरोप यह है कि मैं नियुक्ति करूँगा और सीनेट ऐसे न्यायाधीशों की पुष्टि करेगी, जो न्यायाधीश, पीठ के वर्तमान सदस्यों के साथ बैठने योग्य हों और मौजूदा हालात को समझते हों,

कि मैं ऐसे न्यायाधीश नियुक्त करूँगा कि वे वैधानिक नीति सम्बन्धी कांग्रेस के निर्णय को रद्द करने की कोशिश नहीं करेंगे, कि मैं ऐसे न्यायाधीश नियुक्त करूँगा, जो न्यायाधीश होंगे, न कि विधायक, तो मैं कहूंगा कि मैं और मेरे साथ अमेरिकन जन-समुदायक बहुसंख्यक लोग यही चाहेंगे कि यह काम अभी तुरन्त किया जाये।'' (वेस्ट-कोस्ट होटेल कम्पनी, 'वर्सस पारिश', ३०० यू९ एस० ३७९, ८१, एल० डी० ७०३)

भारतीय संसद तथा उच्चतम न्यायालय के मध्य चल रहा सर्वोच्चता का विवाद अब लगभग समाप्त हो गया है। देश के अधिकांश विधि-विशेषज्ञों ने संविधान को जन्म देने वाले स्रोत की खोज कर ली है और स्वीकार किया है कि संविधान, भारतीय जनता की आशाओं—आकांक्षाओं और विकास-निर्माण तथा जीवनात्मक कर्तव्यों-अधिकारों को संरक्षित करने वाली, जन-प्रतिनिधियों की सर्वोच्च सभा द्वारा विचारपूर्वक निर्धारित की गयी लिखित रूपरेखा है। आज अधिकांश विधि-विशेषज्ञ, संविधान के इस मूलगत सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि संविधान, एक जीवंत संघटना है, वह हमेशा के लिए अलंघनीय नहीं अथवा वह, मानव मनीषा का अन्तिम शब्द नहीं है। वह एक मानव-कृत एवं मानव-स्वीकृत प्रस्ताव है और मानव-समाज की अपेक्षाओं के अनुकूल उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

लेकिन जैसा कि सभी विधि-विशेषज्ञों तथा न्यायाधीश अनुभव करते हैं कि भारतीय संविधान, हमारी प्रजातंत्रीय प्रणाली का सशक्त आधार है और वह राज्य के तीनों अंगों—कार्यपालिक, विधायिका तथा न्यायपालिका की शक्तियों को उचित रूप में नियन्त्रित करता है।

# Scales Of Justice

Pramod Dutt Kaushik

Advocate, High Court, Allahabad

A. It is the essence of a judgment of a Court that it must be obtained after due observance of judicial process, that is a Court rendering judgment must observe minimum requirements of natural justice, it must be composed of impartial persons, acting fairly without bias and in good faith, it must give reasonable notice to the parties to the dispute and afford each party adequate opportunity of presenting his case.
( A. I. R. 1963 S. C. 1 ) ( Para-41) J. C. Shah J.

B. Every legislation should be given that interpretation which is not contrary to prevailing concepts of justice and good reason.
Hon'ble K. S. Hegde. J. (A. I. R. 1970 S.C. 1880) (Para-9)

C. Rules of procedure are intended to be handmaid to the administration of justice.
Hon'ble J. C. Shah. J. (A. I. R. 1969 S. C. 1267).

D. Every Court whethor civil or criminal must in absence of express provision in the Code be deemed to possess, as is inherent in its very constitution all such powers as are necessary to do the right and to undo wrong in the course of administration of justice.
1928 Lahore 462 (463) Hon. Feorde J.

E. Courts exist only for administration of substantial justice.
1950 Cal. 217 (123). Hon. P. B. Mukerji J.

F. Judge is expected to be serene and even handed eventhough his patience may be sorely tired and the time of Court appear to be wasted. This is based on maxim which is often repeated that justice should not only be done but should be seen to be done.
Hon Hidaytullah J. 1963 S. C. I. (P-123)

G. Ends of justice require that an injury should be remedied and needless expense and inconvenience to parties be avoided.
1954 A. P. 40 (43) Chandra Reddi J.

H. Injustice done as a result of employment of procedure which is not intended by Court to employ must be remedied on principle that an act of Court shall prejudice no person.
1958 Orissa 159 ( 160 ) Hon R. L. Narismham C. J.

I. Findings used in judicial proceedings cannot be diverted from rest of the reasons given in the judgment. Such findings cannot be construed as term cf statute.
1961 S. C. 1402. Hon. Gajendragadaker J.

J. A ruling of any High Court is the greatest calamity that could happen to a subordinate court as it chokes every pore of his intelligence.

Hon Dalal. J. (1029 Alld. 351)

K In my judicial career I have followed the doctrine that a Judge's business is not to do justice but to administer law.

Hon. M. C. Desai (Ex. Chief Justice)

L. Justice has nothing to do with expediency. Justice has nothing to do with any temporary standard whatsoever. It is rooted and grounded in the fundamantal instincts of humanity.

**Woodrow Wilson (1916)**

M. I for one therefore regret the emyhasis which is being placed in many quarters on what are called disposals, for that is a misleading measure of efficiency and if it were to gain acceptance, it would do likely lead to hurried work and hasty decisions. If I my be allowed to repeat a quotation that I have used before everybody wants legal procedure to be cheap, still more everybody wants it to be sweet, but they are not fundamentals, evrybody above all wants it to be just

Hon. O. H. Mootham, J (Ex-Chief Justice).

N. In other words, my approach has been emotional in the first instance to see what is just and then to discover how logically the letter of law really bears the meaning which justice requires should be its meaning.

Hon. C. B. Agarwal. J.

O. There are inevitable regrets for so much left undone that might have been done, the sense of failure to accomplish all that one desired to do. the consciousness of many errors of judgment proceeding from the trailitics of human nature from which no Judge can honestly claim immune.

M. R. JUSTICE LINDSAY.

P. Our concepts of justice do not consist of a body of eternal abstract, immutable unchanging norms, but they will be found to be products of an interchange of shifting pulls and forces which spring from changing social, political, cultural and economic conditions.

(Hon. M. H. BEG. Ex-CHIEF JUSTICE OF INDIA).

Q. Abseence of rule of law would never the less be abcence of rule of law even though it is brought by law to repeal all laws.

Hon. H. R. Khanna J. 1976 Sc. (1207) at (1260).

R. The courts interpret the constitution and the laws in accordance with law and Judicial conscience and not emotion.

Hon. A.N. Ray C. J. 1976 sc, 1207 at(1225)

S. I would however like to point out that Judicial justice can only be justice according to law." It tends more often to accord with legal justice than moral justice.

Hon. M. H. BEG. J. 1976 se 1207 at (1315).

P. The broad concepts of justice, social, economic and political equality and liberty thrown large upon canvas of the preamble as eternal varieties are more moral adjunctions with only that content which each ganeration must pour into them anew in the light of its own experience.

Hon. Mathew J. 1973 S. C. 1461 Para-16, 34.

U. Natural justice is a great humanising principle intended to invest law with fairness and to secure justice............

Hon. Bhagwati. J. (1978 S. C. 597).

V. Remember even democracies have experienced executive lawlessness and eceipse of liberty on the one hand and subversive

use of freedem by tycoons and sabotors on the other and then summon to Judge comes from the overriding the necessary defence to Government and seeing in perspective and over seeing in effective operation the enjoyment of the great right.

Hon. K. IYER J. 1978 SC. 652, Para-97.

W. It is well known rule of statutory construction that a Tribunal and body should be considered to be endowed with such ancillary and incidental powers as are necessary to discharge its functions effectively for the purpose of doing justice between parties

Hon. A. P. SEN. J. (1981 S. C. 606).

X. The public have an interest on abiding and real interest and vital stake in the effective and orderly administration of justice, because unless justice is so administered, there is peril of all the rights and liberties perishing.

Hon. R. S. Sarkartia. J. 1980 SC. 946.

Y. Jurisdiction conferred by Art. 136 on Supreme Court seeks to confer widest concisable range of judicial powers......It is an attempt to ensure that the foundation of Indian Republic which have been laid on bedrock of justice are not undermined by injustice any where in the land.

Hon. R. S. Pathak. J. 1980 S. C. 856.

Z. Institutions come and go and the history of man changes and all that is held near and dear passes away in void of eternity. But an institution like High Court retains its place in the life of nation without being affected. That is because there are certain things basic and everlasting in man. These are affaction of feeling of brotherhood of man for man and above all SENSE OF JUSTICE. And that is why temple of justice is fhe most permanent of all. temples on earth.

LATE SHRI K. L. MISRA, FORMER ADVO, CATE GENERAL, U. P.

# President of India—myth and Constitutionality

S. D. Chaturvedi, Advocate

Kanpur

The Constituent Assembly, with the assistance of its very able Adviser Sir B. N. Rau and eminent jurists in the Drafting Committee, drew up a constitution with capacity to deal with situations peculiar to unstable societies awakening from deep slumber of servitude. anxious to strive for social justice and a claim for a fair share of goods of life. The framers had before them Westminister model and the Presidency at Washington. They, instead, looked for a mid-path, tested and trusted since Buddha. In that background the provisions relating to the office of the President were formulated witn great foresight. The executive power of the Union was vested in President, which power to be exercised by him "either directly or through officers subordinateto him in accordance with this Constitution." The President was further entrusted with the Supreme Command of the Defence Forces. He was empowered to issue Ordinances, which power does not belong to the King/Queen of England, or to the President of the United States of America. The President was made the third partner in the constitution of Parliament. And he was made to symbolise the unity of the Nation.

When it came to the working of [the Constitution at the hands of great leaders, Dr. Rajendra Prasad as President and Pt. Nehru as Prime Minister, the Westminister model was resorted to, and the Constitutian was being shaped in that pattern, possibly due to India's membership of the British Commonwealth and Nehru's growing impact and status in international forums. A myth soon came to be woven around the President that he is a rubber stamp of his Council of Ministers. Judicial pronouncements added credence to it.

The turbulant events, however, in pre-emergency under J. P. impact, the persecution mania of post-emergency, in-fights for power, and consequent dissolution of Lok Sabha, brandishing of Charan singh Ministry as caretaker and resulting falling parliamentary norms and standards of administration, provide strong compulsions to look around for alternatives. A serious thinking was generated around the idea of Presidential form of Government to ensure stability which is so much linked with economic development and maintenance of law and order It is, therefore, quite relevent to see the nature of the office of President under existing provisions of the Constitution.

The incumbance to the office of the President depends upon election by the people of this vast country through an electoral college

consisting of elected members of both Houses of Parliament and of the State Assemblies. The method evolved gives the President a representative character that is no less significant than an election on universal sufferage, and is akin to the election of U. S. President by an electoral college. Having given such a representative character the President was charged "to preserve, protect and defend the Constitution and the Law.", and to devote himself to "the service and the welbeing of the People of India."

It will be creating an illusion if British constitutional norms are injected into Indian constitutional framework in totality. The readings of the nature of British Monarch are consistent with the supremacy of British Parliament which can do "anything except to make a man into a woman and a woman into a man," It accepts no limitation but that of Public opinion. The British Parliament is not the representative of the people but the people themselves, which concept does not find acceptance in the Indian Constitution. Indian Parliament suffers from limitations inherent in a written constitution. These limitations have been located by the Supreme Court in the doctrine of basic structure or framework of the constitution. The dominent character of British Parliament, points Dicey, is the supremacy or sovereignty of Parliament; Jennings in support of the statement quotes from British Coal Corporation V. The King "given the tradition of the last hundred years that Parliament could do as it pleased, the courts would not be anxious to read limitations into the power of Parliament." The nature of Indian Parliament is different basically from that of Mother of Parliaments in that it is a part of scheme of Government which originates from the people. The British Parliament is an evolution from Queen's feudal court-"afforced by all the Lords Spiritual and Temporal who have obeyed the summons and Her Majesty's faithful Commons." In the ultimate analysis Monarchy, Aristocracy and Commons merged into a single identity in what is known as Queen in Parliament. Burke asserted that "King, Lords and Commons are all representatives of the people."

The supremacy of British Parliament is exercised through the cabinet Government carved out of its Members and wholly responsible to it. Cabinet system was developed to enable the King to control Parliament, and Parliament to control the King. The growing burden of state functions compelled the King to rely heavily upon ministers. In substantial part of 18th century Cabinet had no personality of its own. "But certainly after the accession of Queen Victoria the policy of the country was that of the Cabinet, and Cabinet existed because it could command a majority in the House of Commons." The Cabinet thus derives competence to advise the Queen and to act in Her Mejesty's name from the majority support and continued confidence the House of Commons. Indian Constitution in its Article 74 (I) provides for a Council of Ministers to aid and advise the President in the discharge of his functions.

Article 53 (I) of Constitution of India provides the basic source of powers of the President : " The Executive power of the Union shall be vested in the President and shall be exercised by him either directly or through officers subordinate to him in accordance with this Constituion." and the limitations were created in the words used in that very Article— " in accordance with this Constitution." And which means in accordance with Article 74 (I) . The original Article 74 (I)

was framed in flexible terms and in keeping with the dignity of the highest office in the country. "There shall be a Council of Ministers with the Prime Minister at the head to aid and advise the President in the discharge of his functions. " The advice has been made binding on the President by the fortysecond Amendment of the constitution : "who shall in the exercise of his functions, act in accordance with such advice." The phraseology used in Articles 53 (I) and 74 (I) testifies that the framers of the Constitution had in mind situaions when possibility of forming a stable Ministry in accordance with the provisions of Article 75 clauses (3) and [5] becomes too remote. And in that eventuality the President would shoulder responsibilty of Government till a stable ministry could be form in terms of Article 75 (3) & (5), by way of fresh election of LOK SABHA or political parties providing viable coalition.

Normally the President would go with the advice rendered by the Council of Ministers but where the Council of Ministers lost support of Lok Sabha or an adverse vote has been registered or imminent the Prime Minister and his Council of Ministers deprive themselves of moral and Constitutional all authority to bind the President with their advice. It is a situation where the question of legality is not the dominent issue, but the very concept of democracy is invoved which is the cornerstone of our constitutional polity. A Government not answerable to the people by its collective responsibility to the House of people certainly forfeits the right and the claim to govern. The President elected on a vide franchise is inducted to fill the vacum. The nature of electoral college and the oath of office of the President provided in the Constitution is sufficiently eloquent to merit such a proposition. Sovereignty, an essential attribute of Government, has been defined by Hugo Grotius as s "moral faculty to govern a state."

The framers of the Constitution, while drafting Articles 53 (I) and 74 (I) , seem to have been influenced by the norms prevailing in Britain that "the King posses a number of rights and powers (not vested in another person) some by virtue of royal prerogative (i. e. by common Law relating to the King), some by virtue of Parliament and the sum total of these rights and powers some of the royal prerogatives — are not precisely defined and retain that element of discretion without which Government can not, in the last resort, be carried on. " , the observation having been made by S. B. Chrimes in his 'British Constitutional History. He further observes a situation when the King is faced with the problem of appointing a new Prime Minister, "Usually the choice is obvious; it must be the leader of the Party with a majority in the commons. But where there may be no Party with a clear majority in the Commons, or the Party in the majorty may for the moment have no obvious leader eligible for the office. In these circumstances the King may make the choice himself, with the aid of such advice as he can get. The Cabinet having resigned, there is no Government in existence to give him official advice; the retiring Prime Minister usually does give advice, which may be good or bad, and in any case is certainly not binding. The King must decide for himself. " President Sri Reddi responded to the situation created by Desai Ministry's resignation in similar terms.

The concept of care—taker Government is inherent in parliamentary system to fill the void created by periodical dissolutions of legislature for holding fresh elections and getting mandate from the people. The function of Government is not confined to the executions of laws, maintenance of order or King's peace,

but to formulate the policies of administration and legislation. Government as a care— taker can only have a limited role confined to maintenance of law and order, and that too for a short duration. The care—taker Government other than this dimension and duration is violative of Article 75 (5) which permits 'A Minister, to remain In office for six months without being a member of either Houses of parliament, exception is in applicable to the entire body of council of Ministers. The moment Prime Minister tenders resignation of his ministry to the President and is asked to continue till new arrangements are made the Council of Ministers changes its representative character and assumes a new colour, that of limited Government. The governance of the country becomes the direct responsibility of the President under Article 53 [I].

A myth had been woven around the office of the President that it is a rubber stamp of the Council of Ministers. This august office was likened to that of King of England by the supreme Court ably assisted by our legendry Attorney—General. As recent as 1974. Krishna Ayer J. in Samsher Singh case quotes with approval. Keith : "It is the conviction of the public in self-governing Dominions of the Crown that the Governor-General in matters official serves no more distinguished purpose than that of a 'rubber stamp'. " The statement may have worth of its own in case of an appointed office but the picture is entirely different with the elected President on a wide franchise.

There is no doubt that the office of the Prime Minister is an outstanding development of Parliamentary system. Originating in Britain it blossomed in fullness under Japanese Consituation of 1946. Its Article 65 provides that "Executive power shall be vested in the Cabinet. ", and Article 67 lay down that "The Prime Minister shall be designated from amongst the members of the Diet. "The Prime Minister appoints the Ministers of State and may remove them as he chooses, The framers of the Indian Constitution had before them these provisions, they preferred to invest the executive power of the Union in the President. They did not provide for election of the Prime Minister by Parliament. The Indian Prime Minister is appointed by the President and holds office during his pleasure. The Costitution refers the office of the Prime Minister only in Articles 74,75 and 78, Creation and function to aid and advise the President, mode appointment, and duties, firmely Research Fellow of the Indian law Institute. The powers of the President are all pervasive, and spreadover the entire body of the Constitution. These powers "are not mere pious wishes devoid of tenets of the fact that the President is a Constitutional and effective check on Cabinet dictatorship flowing out of the overwheeming strength of a single political party without any effective opposition." observed P. B. Mukerjee. It is the range of presumption that the framers of the Constitution had in their mind to provide for an effective Government in the event of failure of Constitutional machinery at the Centre, a situation not so improbable; delicacy forbade its mention in clear terms.

The uniqueness of the Indian Constitution is found in the doctrine of balance of power underlying its spirit and structure. That absolute power corrupts absolutely was realised by the Romans much earlier of Monstesguieu. The Romans in their Republic had created balance at the seat of supreme power by appointing two Consuls with identical authority as head of the Republic. Likewise, in the Indian Republic the supreme power of the state is balanced in between the Prime Minister and the Presi-

dent. The least our jurists and the judiciary can do is to have a second look at the office of the President. The binding nature of the advice tendered by the Council of Ministers to the President created by Forty-second Amendment of the Constitution is violative of the basic struccture or framework of the Constitution in that it has destroyed the balance of power, the only effective safeguard of our secular, democratic polity. It is appropriate here to recall what Medison felt called upon to defend the draft Constitution of the United State of America; The accumulation of all powers, legislative, executive, and judiciary in the same hands whether of one, few, or many and whether hereditary, self - appointad, or elective, may be pronounced the very definition of tyranny."

# Rule of Law and the Role of Lawyers

H. P. Mudgal, Advocate,

Kanpur

The preamble to the Indian Constitution declares that India would be a Sovereign Democratic Republic and its endeavour would be to secure to all its citizens justice, social, economic and political; Liberty of thought, expression, belief, faith and worship; Equality of status and opportunity; and to premote among them all Fraternity assuring the dignity of the individual and the unity of the Nation.

the suprem ear from this solemn declaration that ndry Attor itution places great importance on Krishna A , of the Nation. The founding fathers wit iso swore allegiance to the democratic way of th e and unflinching Loyalty to the ideal of establishing social, political and economic justice in this country. The emphasis on the unity of the country was the result of the fact that the country had paid the price of partition efore becoming free and had to go through terrible experiences soon after freedom was won. The resolve of the founding fathers was that never again will India be allowed to be divided and never will the country allow its unity to be exposed to any risk. With this object in view, the whole legislative and utive apparatus was devised by them in "Exec onstitution. A reference to the Emergency Cabine sions contained in Articles 352 to 360 which confer on the Indian parliament very wide powers in cases of Emergency, also corroborates the conclusion that, whenever the country is faced with an emergency, all power shall vest in the Union Government, which shall act as the custodian of the unity of the country.

Secondly, our Constitution has adopted a democractic way of life wherein the dignity of the individual occupies a central place of honour. Fundamental Rights, which are enshrined in our Constitution occupy a very important place in the shaping of India's democracy. The adoption of the democratic way of life necessarily means that the goal of establishing an egalitarian society has to be achieved under the Rule of Law and that is why a kind of separation of powers has been evolved and wide jurisdiction has been conferred on the High Courts and the Supreme Court to protect the Fundamental Rights and to deal fairly, fearlessly and objectively with all disputes that may arise not only between citizens and citizens, but between citizens and the States and even between States and States interse. The Judiciary in this country has thus been constituted the sole authority to interpret the laws, including the Constitution, and to pronounce its

verdict on the validity of laws or of executive actions which are impugned and alleged to invade the Fundametal Rights.

Fundamental Rights, however, are not intended to be absolute in their character. Having regard to the Directive Principles of state policy enshrined in Part IV, of the Constitution, precaution was taken to provide conciliation between the rights of the individual and the claim of social good. The scheme of Article 19 as well as Article 31 illustrates how the Fundamental Rights can be legitimately regulated in the interests of social good. In this connection it has been very aptly observed by Granvile Austin that ".The Indian Constitution" is first and foremost a social document. The majority of its provisions are either directly aimed at furthering the goals of the social revolution or attempts to foster this revolution by establishing the conditions necessary for its achievement. Yet despite the permeation of the entire constitution by the aim of national renascence, the core of the commitment to the social revolution lies in Parts III and IV, in the Fundamental Rights and in the Directive principles of state Policy. These are the consience of the Constitution. The Fundamental Rights and Directive Principles had their roots deep in the struggle for independence. And they were included in the Constitution in the hope and expectation that one day the tree of true liberty would bloom in India. The Rights and Principles thus connect India's future, present, and past, adding greatly to the significance of their inclusion in the Constitution, and giving strength to the pursuit of the social revolution in India."

Austin also expressed similar views while dealing with this matter. He says ;

"The Fundamental Rights, therefore, were to foster the social revolution by creating a society egalitarian to the extent that all citizens were to be equally free from coercion or restriction by the state, or by society privately; liberty was no longer to be the priviiage of the few.

In the Directive Principles, however, one finds an even clearer statement of social revolution. They aim at making the Indian masses free in the positive sense, free from the pasivity engendered by centuries of coercion by society and by nature, free from the object physical conditions that had prevented them from fulfilling their best-selves."

After the adoption of the Constitution the democratic process has been set in motion in our country and it is hoped that democratic way of life would take firm root here. To achieve this object it is of utmost importance that the common man and woman should understand true significance and character of a democratic process which is possible only if the concept of Rule of Law is properly appreciated and understood by them.

When one speaks of the Rule of Law, the doctrine of the Rule of Law enunciated by Dicey is inevitably recalled. Dicey formulated his doctrine of the Rule of Law, thus :

"That 'rule of Law' then, which forms a fundamental Principle of the Constitution, has three meanings or may be regarded from three different points of view."

It means, in the first place, the absolute supremacy or predominance of regular law as opposed to the influence of arbitrary power and excludes the existence of arbitrariness of prerogative, or even of widecrdisetionary authority on the part of the Government. Englishmen are ruled by the law, and by the law

alone; a man may with us be punished for a breach of law but he can be punished for nothing else.

It means, again equality before the lawyer the equal subjection of all classes to the ordinary law of the land administered by the ordinary law courts; the "rule of law" in this sense excludes the idea of any exemption of officials or others from the duty of obedience to the law which governs other citizens or from the jurisdiction of the ordinary tribunals; there can be with us nothing really corresponding to the "administrative law" (droit administratif) or the "administrative tribunals" (tribunaux administratifs) of France. The nation which lies at the bottom of the "administrative law" known to foreign countries is, that affairs or disputes in which the Government or its servants are concerned are beyond the sphere of the civil courts and must be dealt with by special and more or less official bodies. This idea is utterly unknown to the law of England and indeed is fundamentally inconsistent with our traditions and customs.

The "rule of law" lastly may be used as a formula for expressing the fact that with us he law of the Constitution, the rules which in foreign countries naturally form part of a constitutional code, are not the source but the consequence of the rights of individuals, as defined and enforced by the courts; that, in short, the principles of private law have with us been by the action of the courts and Parliament so extended as to determine the position of the Crown and of its servants; thus the Constitution is the result of the ordinary law of the land."

Dicey's aforesaid doctrine has, however, come under fire in recent times. C. K. Allen an authority on constitutional law has observed in this connection;

"Dicey gravely misrepresented that remarkable jurisprudence at all events in its modern developments and left the British public under the impression that the effect of administrative law in France was to place officials in a specially privileged position rather that (as is the fact) to give the subject a large measure of protection against illegal State action. This delusion persists; it is observable, for example, even in the writing of Lord Hewart; and it has led to a grave misunderstanding of the nature of modern administrative law as it is practised in countries like France and the United States."

Jennings too, being not satisfied with the doctrine of Dicey, has remarked ;

"The whole of Dicey's book assumes that the constitutional lawyer is concerned with "Politics." Social reform was not politics, except for Radicals, until about 1890, when the ideas brought into the Unionist Party by Mr. Joseph Chamberlain joined with the vague paternalism which (with imperialism) was Lord Beaconsfield's legacy to the Conservatives. Dicey live and died a whig, and he was much more concerned with the constitutional relation between Great Britain and Ireland than with the relation between poverty and disease on the one hand and the new industrial system on the other............... In terms of power, he was concerned with police powers, and not with other administrative powers......This was, however, one aspect only of the liberal - democratic "rule of law."

Jennings has even gone to the length of saying that the new functions of the State have made the aforesaid analysis of Dicey as irrelevant. Dr. wade, the latest editor of the Dicey's celeberated work on constitutional law is also not satisfied with the views of

Dicey towards Administrative Law and Administrative Tribunals and has expressed his own view thus ;

"Had Dicey examined the full range of administrative law in the sense of the organisation, method, powers and control of public authorities, he would have been forced even in 1885 to enumerate a long list of statuts permitting the exercise of discretionary powers which could not be called in question by the courts. Abuse and excess could be checked then as now by centiorari, prohibition and to some extent, mandamus."

Thus the main infirmity in the doctrine as formulated by Dicey is that, with the emergence of the concept of the welfare state, the passive and negative aspect of the doctrine , emphasised by Dicey, has become irrelevant. As a matter of fact, radical change has been introduced in the idealogy of the legitimate functioning of democracy with the birth of the concept of the welfare State and as a result thereof the content of the Rule of Law has undergone a vital change .

A welfare State has to fight against five enemies,namely,want,Disease,Ignorance,Squalor and Idleness;once this ideal is accepted the doctrine of Rule of Law also undergoes a radical change. Under the Philosophy of the welfare State, democray takes upon itself the responsibility to regulate the socio-economic relations and to restore balance to the economic and social structure of the community at large. For achieving this object, democracy leans on law, which becomes a potent weapon in its hands and role of law adds to the relevance and validity of the Rule of Law and the Rule of law thus becomes more active, positive and constructive than what was formulated by Dicey. Thus the mainfunction of law in a democratict Sate becomes establishment of Social justice in a democratic way under the Rule of Law.

Accordingly, it has been rightly said that the Rule of Law is a dynamic-concept which should be employed not only to safeguard the rights of individuals but also to establish conditions under which legitimate aspirations and dignity of the individual may be realised.

In order that law should effectively and smoothly discharge this function of assisting democracy in its onward march towards its destined goal, lawyers have to play an important role. As soon as lawyers become conscious of this role, the profession of law would assume the form of a branch of a social seivice and any one whoparticipates in the administration of justice, whether at the Bar or on the Bench, has to subscribe to the doctrine of social justice, which alone can sustain democracy and enable it to withstand the trends and tendencies visible in some parts of the world towards the adoption of a totalitarian form of Government. A lawyer's technical knowledge supplies the tools and it is his sense of responsibility for the society in which he lives that must inspire him to be jurist as well as lawyer.

In the end for appreciating the Role of Lawyers in a society ruled and regulated by the doctrine of Rule of Law, it would be appropriate to quote the appeal which Cohen has made to Bar. He said :

"My appeal to the bar was in the mood of Emerson's words, "why should we grope among the dry bones of the past, or put the living generation into masquarade out of its faded wardrobe ? The sun shines today also. There is more wool and flax in thefields. There are new lands, new men, new thoughts, let us demand our own works and laws and worship.

Law deals with human affairs, and it is impossible to legislate or make any judgment with regard to them without involving all sorts of assumptions or theories. The issue, therefore, is not between a fixed law on the one hand, and social theories on the other, but between social theories unconsciously assumed and social theories carefully examined and scientifically studied... ... Hence the Lawyer who regards his work as a liberal profession rather than as commercial trade; must not be satisfied with merely guarding the works which have been handed over to him. He must study the stream of life and be constantly thinking of ways of improving the containing lega forms. we too are men, and now we will live not as pall-bearers of dead past but as the creators of a more glorious future. By all means let us be loyal to the past, but above all loyal to the future, to the kingdom which doth not yet appear."*

# संस्कृताध्ययनस्य महत्त्वम्

डा० बाबूराम पाण्डेय

कानपुर

विदितदमेवैतत्समेषां विदुषां यत् संस्कृत भाषा विश्व-भाषासु प्राचीनतमा श्रेष्ठा चास्ति। सर्वथा परिष्कृता व्याकरणसम्बन्धिशैथिल्यरहिता व्यवस्थितनियमा च सती इयं भाषा 'संस्कृतम्' इति संज्ञामलभत। अत एव सा देववाणी, सुरभारती, गीर्वाणगौरित्यादिशब्दैः व्यपदिश्यते। इयं देववाणी जगति प्राचीनतमा सर्वोत्कृष्ट साहित्य संवलिता च विद्यते। इयमेव पुरा अस्माकं देशस्य, मातृभाषा, जनवाणी, राष्ट्रभाषा, चासीदित्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि। पुरा सर्वे भारतवासिनो जनाः संस्कृत-भाषयैव अभाषन्त। लोकव्यवहारोऽपि च अनयैव समपद्यत। केचित् कथयन्ति यत् पुराऽपि संस्कृतं पठनपाठनयेरेव भाषाऽसीत्, न तु सर्वसाधारणजनानां वाग्व्यवहारस्यापि। विभिन्न प्रान्तेषु जनपदेषु वा तत्समये प्रचलिता शौरसेनी-महाराष्ट्रीप्रमृति प्राकृतभाषाः लोकव्यवहारस्य भाषा बभूवुः। तैर्ज्ञातव्यं यत् निरुक्ते, पाणिनिसूत्रेषु, पातञ्जल-महाभाष्ये च सन्ति बहवो नियमाः ये अस्याः संस्कृत भाषायाः लोकव्यवहारतां डिण्डिमघोषेणोद्घोषयन्ति। यथा–'दूराद्धूते च' 'प्रत्यभिवादे शूद्रे' 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यादिसूत्रेषु विवेचनेन सुप्रतिपादितं भवत्येतत्। महाभाष्यादिग्रन्थेषु उदाहृतानि कतिपयानि आख्यानान्यपि एतत्प्रमाणयितुमलम्। इदानीमपि चेयम् अतिकमनीया मधुरा महनीया भाषा स्वकीयंपूर्वगौरवं लब्धुमर्हत्यस्माकं प्रयत्नैः। सुमहति काले व्यतीतेऽपि अस्याः माधुर्यं रमणीयत्वं, मनोरंजकत्वं, मनोहरत्वं, महत्त्वं वा न किञ्चिदपि अल्पं विकृतं वा संजातम्।

संस्कृतस्य वर्णमाला विश्वस्य सर्वासु भाषासु परम-वैज्ञानिकी, सरला, सुव्यवस्थिता, पूर्णा च विद्यते। प्रथमं कण्ठ-तातुल-ओष्ठादिस्थानेभ्यः उच्चार्यमाणानां 'अ-इ-उ' इत्याद्यक्षराणां (स्वराणाम्) निवेशो नैसर्गिक एव। तदनन्तरं तेषां साहाय्येनोच्चार्यमाणानां कण्ठ–तालुमूर्धा-दन्त-ओष्ठस्थानीयानां 'क ख ग घ ङ–' प्रमृति पञ्चविंशतिव्यञ्जनानां स्थितिः। तेष्वपि च पञ्चपञ्चसु अघोषाल्पप्राण (क च इत्यादि) अघोषमहाप्राण (ख छ इत्यादि)–सघोषाल्पप्राण (ग ज इत्यादि)–सघोषमहाप्राण (घ झ)–अनुनासिकत्वविशिष्टाघोषाल्पप्राण (ङ ञ इत्यादि) वर्णानां क्रमेण स्थितिः, तदनन्तरं च स्वर व्यञ्जनयोर्मध्ये स्थितानाम् अर्धस्वराणां 'य र ल व' इत्यन्तःस्थानाम्, अन्ते च 'श ष स ह' इत्यूष्मणां घर्षकव्य-ञ्जनानां स्थितिर्वर्तते। उच्यतां कस्य देशस्य भाषायाः वर्णमाला एतादृशी वैज्ञानिकी परिपूर्णा च विद्यते।

संस्कृतभाषायाः शब्दनिर्माणप्रक्रियाऽपि अद्भुतैव। सामान्यतया एकस्यैवार्थस्य कृते प्रयुज्यमानाः स्त्री, महिला, पत्नी, सहधर्मिणी, भार्या, जाया, कुटुम्बिनी, नारी, कामिनी, प्रमदा, तरुणी, सीमन्तिनी इत्यादि पर्यायशब्दाः अर्थे स्व-स्व-वैशिष्ट्यं बोधयन्ति। एवमेव-जलम्, उदकम्, पानीयम्, सलिलम्, वारि, आपः, तोयम् इत्यादयोऽपि व्युत्पत्या भिन्नं भिन्नमर्थं प्रतिपादयन्ति। संस्कृतभाषायां प्रायः प्रत्येकशब्दस्य व्युत्पत्या विशिष्टोऽर्थः

# ५. प्रकीर्णक

भाषापण्डिताः। अपि एतत् समाधातुं शक्नुवन्ति ? मन्ये नैव।

यत्तूच्यते, संस्कृतं न केवलं भारतीयार्य–भाषाणाम्, अपितु सर्वासामेवार्यभाषाणां जननी, तत्र केवलं गड्डरिका-प्रवाहेण कथ्यते, अपि तु तथ्यमेवास्ति। यतः आङ्ग्ल-भाषाऽपि आर्यभाषान्तर्गतैव, अतः उपर्युक्त प्रश्नस्य समाधानमपि 'संस्कृत' भाषयैव कर्तुं पार्यते। योऽसौ But शब्दः, स तु संस्कृतभाषायाः 'बत' इत्यव्यय शब्द एव। 'अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः इति श्रीमद्भगवद्-गीतायाः प्रथमाध्याये, 'अस्मात्परं वत यथाश्रुति संभृतानि। को नः कुले निवपनानि प्रयच्छतीति इत्यादि अभिज्ञानशाकुन्तले षष्ठे अङ्के। संस्कृते 'बत' इति शब्दः अतः आङ्ग्लभाषायामपि U अकारवत् उच्चार्यते। तकारः आङ्ग्लभाषायां T वर्णेन बोध्यते। अतः 'बत' इति संस्कृत शब्दस्य आङ्ग्लभाषायामुच्चारणं 'बट' इतिभवति, अर्थ साम्यमपि स्पष्टमेव। Put 'इत्यत्र तु' 'पुट संश्लेषणे' 'पुट संसर्गे' इति वा धातुः। अर्थोऽपि भाषासु जीवनरसं सञ्चारयति। यद्यपि साम्प्रतं भारतस्य राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' स्वीकृता, तथापि संस्कृतमेव तस्याः समृद्धिं विधातुं शक्नोति।

संस्कृतभाषायाः साहित्यमपि प्राचीनतया. व्यापकतया, अभिरामतया च अन्यभाषाणां साहित्यमतिशेते। विश्व-साहित्यस्य प्राचीनतमा ग्रन्थाः वेदा-अस्यामेव भाषायां सन्ति, ये सर्वविधविद्यानां विधानं मन्यन्ते। ततस्तेषां व्याख्यानरूपाणि ब्रह्मणानि प्रादुरभूवन्। अध्यात्मविद्यायाः व्यवस्थितरूपेण सम्यक् प्रतिपादिकाः तदरहस्यानि चोद्घाट-यन्त्यः उपनिषदः एतेषामेव ब्राह्मणग्रन्थानामन्तिमोंऽशः, यासां महिमा चकितचित्तैः पाश्चात्यैरपि दार्शनिकवर्यैः भूरिशो गीयते, शौपेनहावरादिभिः। ततश्चास्माकं गौरव-ग्रन्थाः षड्दर्शनानि, सूत्रग्रन्थाः रामायण–महाभारत–पुराणादयश्चायान्ति, येषां महिमान सर्वेऽपि जानन्त्येव। तदनंतरं लौकिक साहित्यकाराः महाकाव्यः कालिदास-भास – भवभूति – भारवि– माघ-श्रीहर्ष–दण्डि–बाणादयः समायान्ति, येषां प्रशंसा न केवलं भारतीयैरेव, अपितु विश्वस्य सर्वैरेव सहृदयैरालोचकवर्यैः सततं क्रियते।

लभ्यते, एतादृशी व्युत्पत्तिलभ्यार्थ-प्रतिपादनशक्तिः कस्या अपि अन्यभाषायाः शब्देषु न दृश्यते । अत एव पाश्चात्याः अपि विचारशीलाः सुधियो विद्वांसः मैक्समूलर-मैक्डानल कीलटार्न प्रभृतयः संस्कृतभाषायाः अनेकधा भूरि भूरि प्रशंसामकार्षुः । श्री मैक्समूलरेण उक्तम्–

Sanskrit is the best language of the world, the most wonderful and the most perfect.

सम्प्रति निखिलजगद्व्यापिन्याम् आङ्ग्ल (अंग्रेजी) भाषायाम् अनेके शब्दाः लिख्यन्तेऽन्यथा, उच्चार्यन्ते च अन्यथा । द्वित्रैरेवोदाहरणैः एतत् स्फुटीभविष्यति । But (बट), But (पुट) इत्यत्रैवावलोक्यताम् । But अस्मिन् शब्दे U वर्णस्योच्चारणम् अकारवद् भवति, Put इत्यत्र च उकारवत् । अत्र को हेतुः ? क्वचिद् वर्तन्यां लिख्यमाना अपि वर्णाः नैवोच्चार्यन्ते यथा Walk, daughter इत्यादौ । walk इत्यत्र L वर्णस्य, daughter इत्यत्र gh वर्णयोः उच्चारणमेव न क्रियते । किमत्र कारणम् ? किं आङ्ग्लभाषायां 'पी-एच०डी०', 'डी०लिट्' उपाधिविभूषिताः आङ्ग्ल-भाषापण्डिताः । अपि एतत् समाधितुं शक्नुवन्ति ? मन्ये नैव ।

यत्तूच्यते, संस्कृतं न केवलं भारतीयार्य–भाषाणाम्, अपितु सर्वासामेवार्यभाषाणां जननी, तत्र केवलं गड्डरिका-प्रवाहेण कथ्यते, अपि तु तथ्यमेवास्ति । यतः आङ्ग्ल-भाषाऽपि आर्यभाषान्तर्गतैव, अतः उपर्युक्त प्रश्नस्य समाधानमपि 'संस्कृत' भाषयैव कर्तुं पार्यते । योऽसौ But शब्दः, स तु संस्कृतभाषायाः 'बत' इत्यव्यय शब्द एव । 'अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् । यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः इति श्रीमद्भगवद्-गीतायाः प्रथमाध्याये, 'अस्मात्परं वत यथाश्रुति संभृतानि । को नः कुले निवपनानि प्रयच्छतीति इत्यादि अभिज्ञानशाकुन्तले षष्ठे अङ्के । संस्कृते 'बत' इति शब्दः अतः आङ्ग्लभाषायामपि U अकारवत् उच्चार्यते । तकारः आङ्ग्लभाषायां T वर्णेन बोध्यते । अतः 'बत' इति संस्कृत शब्दस्य आङ्ग्लभाषायामुच्चारणं 'बट' इतिभवति, अर्थ साम्यमपि स्पष्टमेव । Put 'इत्यत्र तु' 'पुट संश्लेषणे' 'पुट संसर्गे' इति वा धातुः । अर्थोऽपि समान एव । अतः आङ्ग्लभाषायां Put इत्यस्मिन् शब्दे U इत्यस्य उच्चारणं उकारवत् क्रियते, न तु अकारवत् । अन्या अपि वर्णानामनुच्चारणादिसमस्याअपि एवमेव समाधातुं शक्यन्ते । एतेन सिध्यति यद् आङ्ग्ल-भाषाऽपि बहूनां शब्दानां कृते संस्कृतस्य अधमर्णत्वं धारयति ।

भारतवर्षे तु तेषु तेषु प्रदेशेषु प्रचलितानां बंगला-गुजराती-मराठी इत्याद्यार्यभाषाणां तमिल-तेलगु-कन्नड इत्यायनार्यभाषाणां च संस्कृतं जननीव पोषिका वर्तते । यथा जननी दुग्धं पाययित्वा स्वसन्ततीः पालयति, तथैव संस्कृत भाषा शब्ददानेन सर्वाः भारतीय भाषाः पालयति । सर्वासु भारतीयभाषासु प्रायेण प्रतिशतं षष्टिः ततोऽभ्य-धिका वा शब्दाः संस्कृतभाषायाः विद्यन्ते । अद्यत्वे विज्ञान राजनीत्यादिविषयाणां समृद्धयै नूतनशब्दाः संस्कृत व्याकरणबलेनैव पूर्यन्ते यतः संस्कृतभाषायाः शब्द निर्माण शक्तिः अनुपमैव । संस्कृतस्य शब्दकोशः विशालः, सम्पन्नः समर्थश्च विद्यते । तस्याः व्याकरणमप्यप्रतिमं नूतन शब्द निर्माण समर्थं चास्ति । एवं संस्कृतं सर्वासु भारतीय भाषासु जीवनरसं संचारयति । यद्यपि साम्प्रतं भारतस्य राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' स्वीकृता, तथापि संस्कृतमेव तस्याः समृद्धि विधातुं शक्नोति ।

संस्कृतभाषायाः साहित्यमपि प्राचीनतया, व्यापकतया, अभिरामतया च अन्यभाषाणां साहित्यमतिशेते । विश्व-साहित्यस्य प्राचीनतमा ग्रन्थाः वेदा-अस्यामेव भाषायां सन्ति, ये सर्वविधविद्यानां विधानं मन्यन्ते । ततस्तेषां व्याख्यानरूपाणि ब्रह्मणानि प्रादुरभूवन् । अध्यात्मविद्यायाः व्यवस्थितरूपेण सम्यक् प्रतिपादिकाः तदरहस्यानि चोद्घाट-यन्त्यः उपनिषदः एतेषामेव ब्राह्मणग्रन्थानामन्तिमोंऽशः, यासां महिमा चकितचित्तैः पाश्चात्यैरपि दार्शनिकवर्यैः भूरिशो गीयते, शोपेनहावरादिभिः । ततश्चास्माकं गौरव-ग्रन्थाः षड्दर्शनानि, सूत्रग्रन्थाः रामायण–महाभारत–पुराणादयश्चायान्ति, येषां महिमान सर्वेऽपि जानन्त्येव । तदनंतरं लौकिक साहित्यकाराः महाकाव्यः कालिदास-भास – भवभूति – भारवि– माघ-श्रीहर्ष–दण्डि–वाणादयः समायान्ति, येषा प्रशंसा न केवलं भारतीयैरेव, अपितु विश्वस्य सर्वैरेव सहृदयैरालोचकवर्यैः सततं क्रियते ।

संस्कृतभाषायाः वाङ्मयं सर्वाङ्गीणं वर्तते। मानव-जीवनस्य धर्मार्थकाममोक्षाः चत्वारः पुरुषार्थाः (पाप्य-फलानि) सन्ति। संस्कृत वाङ्मये तेषां समेषामेव वर्णनं विवेचनं च अतिविस्तरेण कृतं विद्यते न तादृशमन्यत्र। कतिपये जनाः मन्यन्ते यत्संस्कृतसाहित्ये केवलं धर्मग्रन्थानां कर्मकाण्डसम्बन्धिग्रन्थानामेव बाहुल्यमस्ति, किन्तु कौटिलीये अर्थशास्त्रे, महर्षि वात्स्यायनविरचित कामसूत्रे, चरक श्रुत संहितादि चिकित्सा ग्रन्थेषु, भरद्वाजमुनिप्रणीते विमान-शास्त्रे, अन्येषु च विज्ञान-स्थापत्य पशुविहगादि विषयक ग्रन्थेषु विद्यमानेषु तेषां तथाकथनं निरुक्तकारस्य यास्कस्य महर्षेः 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति 'इति वचनं स्मा रयति।

भाषा वज्ञानस्य सम्यगवबोधाय संस्कृतस्याध्ययनं सुत-रामावश्यक म्। पुरातत्वविद्यार्थिनां कृते संस्कृतस्य ज्ञानम-परिहार्यमेव, यतः प्राचीनाः शिलालेखा संस्कृते एव विद्यन्ते। न केवलम् आर्षभाषाणाम्, अपि तु जैनबौद्धानामपि धर्म-न्था संस्कृते एव सन्ति। भारतीय संस्कृते वास्तविक वरूपं संस्कृतस्य साहित्यग्रन्थेष्वेव सुरक्षितमस्ति। स्कृतसाहित्यस्याध्ययनं विनाकोऽपि भारतीय संस्कृतेः किं स्वरूपं, कीदृशं च वैशिष्ट्यमिति सम्यगवगन्तुं न शक्नोति सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्' इति तारस्वरेणोद् घोषयतां भारतीयानां चरितं कीदृशमादर्शमासीत्? पुत्रवत् प्रजाः पालयतां भूपतीनांमुदार चरितं स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा। इतिभवभूतिकाव्याध्ययनमन्तरेण कथं याथातथ्येनावगन्तुं शक्यते? 'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा' इत्यादि कालिदासकाव्यमपठित्वा पुराभारते विद्यमानः याच्ययाचकयोरादर्शः कथं ज्ञातुं शक्यते।

सर्वस्यैवैतत्कथनस्यायमेव सारो यत् प्रेयःश्रेयसोः (लौकिकाभ्युदयस्य पारलौकिकनिःश्रेयससिद्धेश्च)साधनानि यान्यपि ज्ञानविज्ञानानि सन्ति तैः सर्वैरेव परिचयावाप्तेः गम्भीरज्ञानावाप्तेश्च एकमात्र उपायः संस्कृताध्ययनमेव। संस्कृतवाङ्मयं भारतस्य गौरवमस्ति। एवं सत्यपि ये केचिन्मन्दमतंऽल्पज्ञाः वाऽधुनाऽपि संस्कृतस्यं निन्दां कुर्वन्तः, तां मृतभाषां वा वदन्तः श्रूयन्ते, तेषां विषये अधोङ्किता भणितिः चरितार्था भवति–

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजातां,
मुक्तां परित्यज्य विभर्ति गुञ्जाम्।।

कुतः संस्कृतं मृतभाषा? आहिमालयात् आकन्या-कुमारीम् अद्यापि आर्याणां सर्वे संस्काराः सर्वाणि च धार्मिक कृत्यानि संस्कृतभाषयैव संपाद्यन्ते। सर्वसाधारणै अव्यवहार्या भाषा मृतभाषा कथ्यते इति चेतषामभिप्रायः तर्हि अयं अव्यवहार्यत्वं दोषः शासनस्यैव, न तु वराक्याः भाषायाः। अद्य भारतं स्वतन्त्रमस्ति, अस्ति च संस्कृतं सर्वसामार्यभाषाणां जननी परिपोषिका चेत्यत्र नास्ति कस्यापि भाषाविज्ञानविदो विवादः, तस्मात् यद्यपि 'हिन्दी' राष्ट्रभाषा स्वीकृताऽस्ति, तथापि इदमेव समीचीने यत् येव प्रदेशेषु हिन्दी मातृ भाषा नास्ति, तत्र राज्यकार्येसु तत्रत्या भाषाः बंगाली, मराठी, गुजरातीत्यादयः प्रयुज्येरन्, किन्तु सर्व प्रदेशानां संयुक्त व्यवहाराः परस्परं येऽद्यापि आंग्लभाषयैव क्रियन्ते, ते इदानीं संस्कृतभाषयैव करणीयाः इत्यस्माकं मतम्। आङ्ग्लसत्तायाः अवसानेन सहैव अस्माकं मानसिक दासतायाः चिह्नम् आङ्ग्लभाषायाः राज्यभाषात्वमपि निर्गन्तु मर्हति। न च साऽत्र राजभाषास्ति न वा जनभाषा। ये केचित् तस्याः अन्ताराष्ट्रिय-भाषात्वमादाय तत्पक्षं समर्थयन्ति, तैरिदमवधेयं यत् विदेशै सह व्यवहारार्थं कतिपये बुद्धिमन्तराः, धनिनो वा वणिजः उच्चशिक्षावसरे वैकल्पिक विषयरूपेण तां पठन्तु नाम, न तद् विरुध्यतेऽस्माभिः, किन्तु न तावदिदानीं सा राजभाषा पदमर्हति। साम्प्रतं तत्स्थाने संस्कृतमेव प्रयोज्या, यतः सा सर्वासामार्यभाषाणां जननी, अद्यापि च नूतनशब्दप्रदानै-स्तासां समृद्धिकरी वर्तते। यद्यपि द्राविडपरिवारस्य भाषाः न तस्याः उद्भूताः, तथापि तास्वपि संस्कृतशब्दानां तादृशं प्राचुर्यं वर्तते, यत्तेषां कृते संस्कृतभाषा अति सरला विद्यते पुरेव अद्यापि संस्कृतमेव समस्तमिदं राष्ट्रमेकतासूत्रे बद्धुं शक्नोति।

यत्तु केचिद् वदन्ति यत् संस्कृतमति कठिनाभाषा, तस्या व्याकरणमति दुर्गमं, अतः सा न लोकव्यवहार-योग्यतां वहति, तदपि नातिसमञ्जसम्। यथा आङ्ग्ल-भाषाशिक्षणे अध्यापकैः, छात्रै, अभिभावकैश्च ध्यानंदीयते, तथैव यदि संस्कृतं पाठ्येत्, तर्हि सा सर्वैरेव छात्रैरनायासेन गृहीता स्यात्। तस्मादयमपि दोषोऽस्माकं शिक्षणविधेरेव, न तु भाषायाः मन्ये, संस्कृतस्य पठनपाठनप्रणाल्यां बहवः सुधाराः अपेक्ष्यन्ते येन संस्कृताध्ययनं सरलं, रुचिकरं च सम्पद्येत। तदर्थं विद्वद्भिः, कुशलैः शिक्षाविद्भिश्च दत्त-चित्तैः प्रयत्नो विधेयः। संस्कृतप्रचाराय च सर्वैरेवास्माभिः भगीरथ प्रयत्नः कर्तव्यः, येनास्मान्कं राष्ट्रं पुनरपि सदाचारशिक्षया, शोभनेनानुशासनेन, उदार संस्कृतेः आदर्श स्थापनेन च अन्यराष्ट्रेषु सम्मानास्पदं भवेत्, मानवजीवनं च सुखमयं स्यात्, यतः सर्वेऽपि स्वीकुर्वन्ति यत् लोके शान्तिस्थापना भारतीय संस्कृतेरध्यात्मज्ञानस्य च सर्व-व्यापिप्रचारेणैव संभवति, नान्यथा। अलं विस्तरेण

# प्रायश्चित

हरिशंकर शर्मा

अ० प्रा० अतिरिक्त शिक्षा निदेशक (उ० प्र०)

कानपुर

वाह्य शरीर तो जल से स्नान करके स्वच्छ हो जाता है किन्तु अन्तःकरण के मल को धोने की तो एक ही विधि है, 'प्रायश्चित' । मनोवृत्तियों की विकृतियों के स्वच्छीकरण की प्रक्रिया का नाम ही प्रायश्चित है। प्रायश्चित आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति है तथा सत्य और शिवत्व के सान्निध्य की स्वीकृति।

कर्म शरीर का सामान्य धर्म है, प्रकृति का सुनिश्चित नियम है। कर्म के शत-प्रतिशत त्याग की कल्पना आत्म-प्रवंचना है। इस गतिशील जगत में निश्चेष्ट होकर किसी कंदरा में बैठे रहना पाखण्ड है, पाप है। विरक्त भी कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं। कर्म इस शरीर का व्यापार है, व्यवहार है। कर्म, वर्तमान का नियामक है तथा भविष्य का निर्णायक। कर्म, विश्व के अस्तित्व का आधार है—

करम प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करइ सो तस फल चाखा।

जिस प्रकार कर्म शरीर का स्वभाव है, भोग उसकी अनिवार्यता है। योगिराज भगवान कृष्ण ने फलाकांक्षा रहित कर्म के विधान का आदेश दिया है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

अतः कर्म करना चाहिये, दक्षता और दृढ़ता के साथ संकल्प और सत्यनिष्ठा के साथ किन्तु अनासक्त भाव से। आज विश्व में जो उन्माद, प्रमाद, विषाद, घुटन, द्वेष, ईर्ष्या तथा व्यभिचार दिखाई देते हैं, उनके मूल में 'मैं' और 'मेरा' है, आसक्ति है ममत्व है। आशक्ति तथा अशांति पर्यायवाची हैं। आसक्ति असंतोष की जननी है। आसक्ति कर्म को शुचिता को, सात्विकता को समाप्त करदे ती है। इसीलिए वेदमाता का आदेश है—

'तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा'

भोग किन्तु त्यागते हुए, भरत की भाँति भोग
'चंचरीक जिमि चंपक बागा'

भोगना किन्तु वैराग्य वृत्ति से भोगना, निर्लिप्त भाव से भोगना—यही श्रुति-संदेश है। जो अपने संकुचित स्वार्थों का त्याग नहीं कर सकता, वह मानव नहीं। भोग में त्याग परमेश्वर की प्रत्यक्ष उपस्थिति का दर्शन है। त्याग तथा यज्ञ में कोई अन्तर नहीं, यज्ञ का स्वरूप ही त्याग है। यज्ञ ही इस संसार चक्र की धुरी है। सम्पूर्ण प्रकृति यज्ञ में रत है, समुद्र मेघ को दे रहा है, मेघ पृथ्वी को, पृथ्वी चराचर को। वृक्ष वनस्पति, सर, सरिताएं, सूर्य, चन्द्र सभी महा-यज्ञ में संलग्न हैं। जिधर भी दृष्टिपात करें सम्पूर्ण प्रकृति अनवरत रूप से महायज्ञ में रत है, लोक कल्याण में रत है। इस असीम, अनन्त दीक्षा विद्यालय में रहते हुए भी हम अदीक्षित रहें, अविवेकी बने रहें, अज्ञानी बने रहें, नेत्र विहीन बने रहें और परमेश्वर के आज्ञानुवर्ती न बनकर भ्रमजाल में भटकते रहें, इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है।

परमात्मा रिश्वती नहीं, वह अन्यायी भी नहीं। वह अन्याय भी नहीं करता, वह न्यायकारी है, समदर्शी है। जैसे एक सत्यनिष्ठ निर्णायक अपने सगे सम्बन्धियों को भी अपराध का दण्ड देने में नहीं चूकता, ठीक उसी प्रकार वह परम न्यायकारी नियंता भी दुष्कर्मी को दण्ड अवश्य देता है। शिव होते हुये भी वह रुद्र है। असंख्य अशक्त, रुग्ण, अपङ्ग, निस्सहाय, अनाथालयों, चिकित्सालयों तथा कारागारों में पड़े भयंकर यातनाएं भोगते हुये हमें उस भगवान के इसी रौद्ररूप का दर्शन कराते रहते हैं।

उपासना का उद्देश्य यदि रिश्वत है, पक्षपात कराना है, कुकर्मों की क्षमा मांगना है, तो यह सब उस सर्वोच्च न्यायालय के विधान के विपरीत है। हां यदि यज्ञमय जीवन विताते हुये भी कोई अयज्ञमय कृत्य हो जाय, सात्विक जीवन विताते हुये भी कोई असद् कार्य हो जाय, शुभ तथा शिव संकल्प होते हुये भी अशिव तथा अशुभ बन पड़े तो उसका उपचार है प्रायश्चित। प्रायश्चित विकारजनित विवशता की स्वीकृति है। अशिव संकल्पों की अभिव्यक्ति की परिणति प्रायश्चित है। असत् की सार्वजनिक घोषणा ही प्रायश्चित है। प्रायश्चित आत्मा की चीत्कार है।

आत्मा से जो स्वस्ति, शान्ति तथा शुभ का शाश्वत निवास है, जब प्रायश्चित की पावन पयस्वनी प्रवाहित होती है, तो वह अपुनीत वासनाओं को, असद् विचारों की तथा विकृत वृत्तियों को बहाकर बाहर कर देती है। प्रायश्चित रूपी अश्रुजल की अजस्र धारा युगों-युगों के एकत्रित मल को धो देती है। मन निर्मल हो जाता है, 'कु' किनारा कर जाता है और 'सु' की प्रतिष्ठा होती है। प्रायश्चित का उद्गम पवित्र आत्मा है। प्रायश्चित भजन है, कीर्तन है, पूजा है, उपासना है। प्रायश्चित समग्र समर्पण है, प्रायश्चित पवित्रता की प्रतीक है, निरोगिता की निशानी है। प्रायश्चित के लिए असीम सामर्थ्य अपेक्षित है, मनोबल अपेक्षित है। संशयशील व्यक्ति प्रायश्चित नहीं कर पाता।

इतिहास प्रायश्चित की गाथाओं से भरा पड़ा है। महर्षि नारद की वाणी जब अंतस्तल से प्रायश्चित की भागीरथी बनकर प्रस्फुटित हुई तो अज्ञान तिमिर तिरोहित हो गया, काम क्रोध और मद के मल विक्षेप तथा आवरण पलायन कर गये और–

मैं दुर्वचन कहे बहुतेरे<br>
कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे

के द्वारा शिव की पुनर्स्थापना हुई। जब तक मन विकारों से आच्छादित रहता है, तब तक अवतार, अवतार को भी नहीं पहचान पाता और 'तहूं बन्धु सम बाम' कह कर तिरस्कृत करता प्रतीत होता है किन्तु प्रायश्चित के प्रकाश में जब ब्रह्म की दिव्यता का दर्शन होता है तो–

अनुचित बहुत कहेउ अज्ञाता,<br>
छमहु छमा मन्दिर दोउ भ्राता

द्वारा आत्मग्लानि अर्चना बन जाती है। प्रायश्चित की महिमा को महर्षि दुर्वासा से अच्छा और कौन जानता है। अंबरीष की साप सुरति करि, अजहु महामुनि ग्लानि गरै।

जयन्त ने दृष्टि गंवाकर दिव्य दृष्टि पाई, जिसके आलोक में प्रभु के 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई' के दर्शन हुये। किष्किन्धाधिपति बालि के पाप का प्रायश्चित 'प्रभु अजहूं मैं पापी' के द्वारा मुखरित हुआ। वेद-पुराण, उपनिषद्, प्रायश्चित के असंख्य आख्यानों से ओत-प्रोत हैं।

प्रायश्चित पूजा है और पुजापा भी साधन है और साध्य भी हवि है और पुरोहित के पुरुषार्थ की परिणति ही प्रायश्चित है।

# जीवन की ताज़गी

## काका कालेलकर

दिल्ली

मनुष्य स्वभाव से स्थावर है या जंगम। थोड़ा विचार करने से ज्ञात होता है कि उसमें वे दोनों वृत्तियाँ वर्तमान हैं। यदि मनुष्य को जंगली दशा से उन्नति करते-करते आज की स्थिति प्राप्त हुई है, तो असल में मनुष्य को जंगम ही होना चाहिए। जहां अन्न और पानी मिले, वहां जाने की प्राणि मात्र की स्वाभाविक वृत्ति है। जब तक मनुष्य शिकारी का जीवन बिताता था तब तक उसे भटकना ही पड़ता था। महाभारत में भी यह वर्णन मिलता है कि एक जंगल में शिकार खतम होते ही पाण्डवों जैसे आरण्यकों को दूसरा जंगल खोजना पड़ा था। शिकारी जीवन त्याग कर जब मनुष्य ने गड़रिये और चरवाहे (गोपाल) का जीवन पसन्द किया, तब भी एक जंगल या बीड़ की घास खतम होते ही उसे दूसरी जगह जाना पड़ता था। श्रीकृष्ण के ग्वाल पूर्वज ऐसा ही करते थे। आगे चलकर मनुष्य के मन में विचार आया जहां अन्न हो वहां जाकर रहने के बनस्बति जहां रहते हैं, वहीं अन्न उत्पन्न किया सके तो क्या अक्छा हो। मनुष्य ने जंगलों और बीड़ों में मारे-मारे फिरना छोड़कर खेती करना शुरू किया और वह आर्य बना। खेती शुरू हुई और मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। संस्कृति बढ़ी और स्थावरता आयी। स्थावरता के साथ मनुष्य की कार्य शक्ति तो बढ़ी लेकिन उसकी वीर्य शक्ति (Bitality) कुछ कम हो गयी होगी। एक दिशा में कुछ-न-कुछ त्याग किये बिना मनुष्य दूसरी दिशा में तरक्की कर ही नहीं सकता।

परन्तु मनुष्य तो लोभी ठहरा। उसे दोनों स्थितियों का लाभ चाहिए था। उसने देखा कि अगर प्रकृति ने वनस्पति-सृष्टि को स्थावर बनाया है, तो उनकी शादियां लगाने के लिए तितलियों जैसे पुरोहित भी पैदा किए हैं। अमुक बड़ा वर्ग स्थावर रहकर वैभव की वृद्धि करे और उसे जंगमता का लाभ पहुंचाने वाला दूसरा एक वर्ग भटकता रहे यह व्यवस्था मनुष्य के लिए अनुकूल सिद्ध हुई। मनुष्य ने गृहस्थाश्रम के साथ-साथ घुमक्कड़ों के एक-दो आश्रम कायम किये। ब्रह्मचारी ने जहां अध्ययन पूर्ण किया कि वह घूमने निकलता ही था। तीर्थ-यात्रा पूरी करने पर ही उसे ब्याह करने की इजाजत मिलती थी। दूसरी तरफ से जहां गृहस्थाश्रम की प्रवृत्ति कुछ ढीली पड़ी, स्थावरता का जंग चढ़ा कि धर्मशास्त्र कहता है–'अब बहुत भोग लिया, चलो–फिर वन की तरफ' जहां से आये, वहां लौटने में एक तरह का आनन्द, एक तरह का विश्राम होता है, सवेरे उठकर घूमने गये हुए लड़के, शाम होते ही मां की सुखदायी गोद खोजेंगे ही। मनुष्य, जिस जंगल को छोड़कर बस्ती में आया और गृहस्थ एवं नागरिक बना, उसके उसी जंगल में लौटकर परिव्राजक बनने की तैयारी करने में यही आनन्द भरा हुआ है और उसमें प्रगति भी है। प्रगति हमेशा पेंचदार कील के पेंचों–जैसी होती है। एक चक्कर पूरा करके मूल स्थान पर आने के

साथ ही हम सीढ़ी ऊपर चढ़ते हैं।

पुरानी व्यवस्था यह थी कि गृहस्थाश्रमी लोगों को भी कभी-कभी यात्रा पर जाना ही चाहिए, ताकि मनुष्य, देश-देशान्तर की स्थिति देख सके, नये-नये सम्बन्ध कायम कर सके और स्थावरता की वजह से जोवन पर चढ़े हुए जंग को निकाल सके।

यदि समाजशास्त्र का विकास करने वाले धर्मकारों ने ऐसी व्यवस्था न की होती, तो भी मनुष्य-स्वभाव किसी-न-किसी रीति से इसे शोध ही लेता। मनुष्य मात्र में जो प्राकृतिक या ईश्वरीय प्रेरणा विद्यमान है, धर्मकार उसी को शास्त्रीय रूप देने का काम करते हैं। निरी प्राकृतिक वृत्ति नीचे भी गिरा सकती हैं या ऊपर भी उठा सकती है। जो प्राकृतिक वृत्ति, मनुष्य को ऊपर उठाती है, उसी को ईश्वरीय प्रेरणा कहते हैं, जो ईश्वर की ओर ले जाये, वही ईश्वरीय है। यही कारण है कि स्वतन्त्र रूप से विकसित धर्मों में भी सर्वत्र लगभग एक-सी ही व्यवस्था पायी जाती है। तीर्थयात्रा करने की योजना, जापान के शिंटो या बुशीडो धर्म में भी पायी जाती है, और हिन्दुओं की आश्रम-व्यवस्था में भी। इसके सबाब बतलाने वाले इस्लाम में भी इसे स्थान है और सन के कपड़े पहनकर यरूसलेम की पवित्र भूमि तक यात्रा करने वाले इसाई भक्त-जनों को भी यह चीज प्रिय है।

यात्रा को ही प्रधान धर्म मानने वाले परिव्राजक तो हमारे यहां थे ही, परन्तु इसके सिवा हर-एक वर्ण के लिए भी यात्रा का थोड़ा-बहुत धर्म बतलाया गया था। ब्राह्मण पहले ब्रह्मचारी के नाते विद्यायात्रा करता था, बाद में यज्ञसत्रों में जाता था। चौमास छोड़कर बीच-बीच में तीर्थ-यात्राएं तो होती ही थीं, और ऐन बुढ़ापे में भी मरने के लिए एक जगह बैठे रहने के बदले, जहां तक पैर ले जायें, वहां तक ईशान्यदिशा में चलते जाने का विधान है।

यदि क्षत्रिय, आखेट के लिए हर साल न निकलें, तो खेती की रक्षा कैसे हो? और खेतिहर, राज्य को, पैदावार का छठा हिस्सा कैसे दें? यदि राजा में शक्ति हो तो वह घोड़ा छोड़कर अश्वमेध के लिए भी प्रस्तुत होता ही था, जो राजा दिग्विजय न करे, वह कमजोर समझा जाता था।

वैश्य यानी सौदागर, जब वे अपने काफिले लेकर जंगल पार करते, एक राज्य में से दूसरे राज्य में प्रवेश करते, यहां का माल वहां पहुंचाते और वहां का यहां लाते, तभी सार्थवाह का उनका जीवन सार्थक माना जाता था। अपनी नयी दुलहिन को भी घर पर छोड़कर सुदूर समुद्र की यात्रा करने वाले वाणिज्य वीरों की ढेरों कथाएं हमारे साहित्य में विद्यमान हैं।

बौद्ध साधु अर्थात् प्रबल प्रचारक। उन्होंने समुद्र-यात्रा के निषेध की परवाह न करके सुदूर देशों तक संस्कृति का विस्तार किया और देश-देशान्तर के लोगों को भी वे, इस देश में लाये। जिस तरह जंगल में गैंडा निडर होकर अकेला घूमता है, उसी तरह श्रवण को सर्वत्र विहार करना चाहिए—बुद्ध भगवान की यह सिखावन थी और स्वयं उन्होंने तो इस तरह विहार कर-करके एक समूचे प्रान्त को ही अपनी इस प्रवृत्ति का नाम दे दिया। बौद्धधर्म को स्वीकार करने के बाद सम्राट अशोक ने दिग्विजय छोड़, धर्म-विजय को अपनाया और प्रतिवर्ष नयी-नयी दिशा में धर्म-यात्राएं शुरू की।

वृद्धश्रवा इन्द्र ने वैदिक संस्कृति के प्रारम्भ में ही आदेश दिया था कि जो बैठा रहता है, उसका नसीब भी बैठा रहता है, जो चलता है, उसी का भाग्य चलता है, 'चरति चरतो भगः' यह प्रेरणा लेकर गड़रिये चले, खलासी चले, सैनिक चले और परिव्राजक भी चले। इस संसार में जो कुछ भी जीवित है, वह सभी चलता है और जब मनुष्य चलते-चलते ऊब जाता है, तब स्थावर बनकर रहने के बदले, इस संसार को ही छोड़कर चल देता है।

यदि मनुष्य को यात्रा की दीक्षा किसी से मिली, तो वह आकाश के तारों से नहीं वरन् प्रवाह का वहन करने वाली नदियों से। उसमें भी दो प्रकार की वृत्तियां पाई जाती हैं। इस प्रकार प्राचीन काल में कुछ लोग, सूरज के उदय-स्थान का पता लगाने के लिए उत्तरोत्तर पूर्व की ओर चलते जाते थे और दूसरे कुछ लोग उसके विश्राम-स्थान की खोज में पश्चिम की तरफ जाते थे। उसी तरह कुछ लोग स्वयं यह देखने के लिए कि इन नदियों का यह इतना उमड़ता हुआ पानी कहां से आता है, उनके उद्गम

की तरफ बढ़ते जाते थे, तो दूसरे—कुछ इस सारे पानी का विसर्जन कहां होता है, किसमें होता है, हमें वहां क्या दिखेगा, इसका अनुभव करने के लिए नाविक बनकर समुद्र की तरफ जाते थे। गंगोत्री की तरफ जाने वाले गड़रिये और गंगासागर की तरफ दौड़ने वाले मल्लाह दोनों भाई-भाई ही हैं, नदीमुख से ही समुद्र में प्रवेश करने की सिफारिश करने वाले कवि के वंशजों ने कितनी समुद्र-यात्रा की हैं, इसकी जांच करने पर केवल निराशा ही पल्ले पड़ेगी। आज यह बतलाना कठिन है कि देवकाल के तुग्र और भुज्यु जो जल-यात्रा करते थे, वह नदी की थी या समुद्र की। जातक कथाओं में जिन वणिकों का वर्णन आता है, वे एक तरफ जावा, बाली और स्याम-चीन तक जाते होंगे, और दूसरी तरफ अफ्रीका का सारा पूर्व किनारा छानते होंगे। लेकिन उनमें से एक ने भी प्लीनी की तरह पूर्व या पश्चिम सागर का 'पेरीप्लस' नहीं लिखा है। जावा पहुंचने के बाद जिन्होंने लौटने की आशा ही छोड़ दी, उनके वंशज समुद्र-यात्रा का निषेध करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या। और यह निषेध किसलिए ? तो कहते हैं कि वहां खाने-पीने में पवित्रता-अपवित्रता का ध्यान नहीं रहता, आचार-धर्म का ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता। इस संकट से बचने का एक अनूठा उपाय खोजा गया। एक आदमी को धूप में जाने से पित्त-प्रकोप होता था। उसने वैद्य से इलाज पूछा। सयाने वैद्य ने सनातनी बुद्धि से कहा-भलेमानस, धूप में जाना ही गलत है छाया में ही बैठे रहो न, फिर देखें पित्त-प्रकोप कैसे होता है" इस डर से कि कहीं किसी की बुरी निगाह मेरी स्त्री पर न पड़ जाये, बुरे आदमी को सुधारने के बदले, अपनी स्त्री को ही सिर से पैर तक परदे में 'पैक' कर देने की बात जिन लोगों को सूझी और जिन्होंने स्त्रियों को अन्तःपुर में ही पूर देना पसन्द किया, यदि उन लोगों ने समुद्र—यात्रा का निषेध करके अपने को, अपने ही देश में पूरा रखने का फैसला किया तो यह यथायोग्य ही हुआ। अरे, इन डरपोक व्यवस्थाकारों ने वैराग्यधन संयासियों को भी यह आदेश दिया कि जहां खाने को अच्छा न मिलता हो, लोग श्रद्धा-भक्ति से खिलाते न हों, तूफान या मार-पीट हर घड़ी चलती रहती हो, उस देश में जाना ही न चाहिए। उन्होंने यह भी लिख रखा है, जिस मनुष्य को यात्रा का शौक हो, उसके साथ अपनी बेटी का व्याह नहीं करना चाहिए। उनके निकट सुरक्षिता ही प्रथम धर्म है।

इतना करने पर भी और जीवन का अच्छे से अच्छा सत्व सुखा डालने पर भी जिसकी रक्षा हम करना चाहते थे, क्या उसकी रक्षा कर सके ? जिनके संसर्ग से बचने के लिए हमने समुद्र-यात्रा छोड़ी, वे सब मधुमक्खियों के छत्ते की तरह हम पर टूट पड़े और उन्होंने हमारे राज्य, हमारे व्यापार, हमारी शिक्षा और हमारे भाग्य—सभी पर कब्जा कर लिया और यहां अपना डेरा जमा लिया। 'जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठा ही रहेगा।'

सच तो यह है कि जीवन का उत्थान ढीला पड़ जाता है, तो मनुष्य के हृदय में अज्ञात का डर घुस जाता है। यदि जीवन में यौवनपूर्ण प्राण हो,तो उसी अज्ञात का आमंत्रण टाले नहीं टलता। अज्ञात का पीछा करना, उसका अनुभव करना, उस पर विजय पाकर उसे ज्ञात बनाना ही जीवन का बड़े-से-बड़ा आनन्द और अच्छे-से-अच्छा पौष्टिक अन्न है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अज्ञात पर एक प्रकार की विजय की जा सकती है, और यात्रा द्वारा दूसरे प्रकार की।

जब मनुष्य घोड़े पर चढ़ता है, तो उसका हृदय इस तरह फूलता है, मानों घोड़े की शक्ति का भी उसमें संचार हो गया हो, और शक्ति के इस साक्षात्कार के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व भी उस हद तक परिपुष्ट होता है। अस्सी मील की रफ्तार से दौड़ने वाली मोटर का अंकुश-चक्र हाथ में आने पर मनुष्य को लगता है कि यह सारा वेग मेरा ही है। किसी संस्था या राज्य के संचालन का फल—उसका व्यक्तिगत आनन्द इसी में है कि उसके कारण अमुक लोगों के साथ मेरा तादात्म्य हो जाता है, अमुक शक्ति का मैं, अमुक मात्रा में उपयोग कर सकता हूं और अमुक व्यक्तियों को इकट्ठा करके एक विराट् शक्ति पैदा कर सकता हूं, व्यक्तित्व का विकास, शक्ति का सचय और भावी का नियन्त्रण ही मनुष्य के लिए बड़े-से-बड़ा आनन्द का विषय है। यात्रा में मनुष्य जितने भूमि-मार्गों को आँखों द्वारा अपना कर लेता है, जितना अन्तर पादा-

क्रान्त करता है जितना अनुभव जुटा सकता है, उतने दर्जे तक उसका जीवन समृद्ध होता है। कोठार भंडार में भरा हुआ धन, बाहरी होने से भाररूप होने है। अनुभव के द्वारा संचित ज्ञान, अर्जित संस्कार और विकसित शक्ति, भीतरी होने से उनका भार नहीं लगता, उल्टे उनके आ मिलने से जीवन में दूसरा बहुता सा बोझ उठाने की शक्ति प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य यात्रा के लिए निकलता है, उसे बहुत सी वस्तुओं के परिग्रह का त्याग करना ही होता है। जो हल्का नहीं हो सकता, वह यात्रा कर ही नहीं सकता, चाहे वह बादल हो या आदमी, और यात्रा द्वारा प्राप्त ज्ञान, संस्कार या कौशल इतना आत्मसात् हो जाता है कि उसका परिग्रह या भार मालूम ही नहीं होता।

यात्रा द्वारा प्राप्त किये ज्ञान में और आज की शिक्षा संस्थाओं में प्रचलित प्रणाली द्वारा प्राप्त किये ज्ञान में, बड़े से बड़ा फर्क यही हैं। आज कल की शिक्षा प्रणाली द्वारा प्राप्त किया ज्ञान भाररूप होता है, क्योंकि वह व्यवहार में लाया हुआ या हजम किया हुआ नहीं होता, इसीलिए छोटे बालकों को पाठशाला की शिक्षा देने के बदले यदि यात्रा की शिक्षा दी जाये, तो आखिरकार वह कम खर्चीली और अधिक फलदायी होगी।

यात्री ज्यों-ज्यों यात्रा करता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने चातुर्य का विकास करता है, धीरज और उदारता का विकास करता है और अन्त में अच्छे से अच्छा समाज शास्त्री बनता है। यात्रा अर्थात् कष्ट सहने का बादशाही तरीका, यात्रा की असुविधाओं से मनुष्य को यह नहीं लगता कि वे उसके दारिद्रय की प्रतीक हैं, बल्कि वह सोचता है कि अपनी सूझ-बूझ को बढ़ाने का एक अच्छा मौका उसे मिला है। एक दृष्टि से यात्रा, व्यक्तित्व के विकास का साधन है, जबकि दूसरी दृष्टि से देखा जाये तो, यह अनुभव से ओत-प्रोत देश भक्ति का ही एक प्रकार है। हम अपने देश को जितना देख चुकते हैं, उसके जितने भाग का निरीक्षण कर चुकते हैं और जितने को अपना लेते हैं, उतने देश के प्रति हमारी एक विशेष धारणा बनती है, उससे आत्मीयता का सम्बन्ध जुड़ जाता हैं। उसके लिए मन में अभिमान अथवा भक्ति पैदा होती है और हम, उसके भक्त बन जाते हैं। किसी भी प्रांत की यात्रा कर चुकने के बाद, अखबारों में इस प्रांत के समाचार पढ़ते समय हमारे दिल में, उनके लिए कितनी दिलचस्पी होती है?

लेकिन ऐसी यात्रा के मूल में, दुनियां को लूटने की वृत्ति नहीं होनी चाहिए. जहाँ दुनियाँ का सत्व चूस लेने की, उससे अधिक से अधिक फायदा उठाने की वृत्ति होती है, वहां ऊपर कहे गये उच्च लाभों में से, बहुत ही थोड़े लाभ हाथ आते है। स्वार्थी प्रवृत्ति से प्राप्त होने वाले लाभों की बहुत बडी मर्यादा होती है, जब कोई भक्त या सेवक यात्रा के लिए निकलता है। तो अन्तर्बाह्य की सारी शक्तियाँ अपना संघ लेकर, उसके साथ हो लेती हैं। दुनियाँ को चूसने वाला मनुष्य, आखिर इन्द्रियपरायण ही होगा और चूँकि इन्द्रियानुभव एक हद तक ही आवश्यक होते हैं, इसलिए जैसे-जैसे उनकी यात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वे अधिकाधिक स्वादहीन होते हैं और अन्त में उनका छिछलापन प्रकट हो जाता है, इन्द्रियानुभव से मिलने वाला आनन्द परिमित होता है। मानव-जाति उसका अंत देख चुकी है।

किन्तु मनुष्य ने आज भी हृदयानुभव से होने वाले विकास का अन्त नहीं देखा है, उसकी विविधता अभी नष्ट नहीं हुई है, मनुष्य जितना अधिक निःस्पृह और निःस्वार्थ होता है, यात्रा द्वारा वह उतनी ही अधिक संस्कारिता प्राप्त कर सकता है, जब भक्त या सेवक यात्रा को निकलता है, तो उसमें आत्मानुभव, आत्मविकास और आत्मैक्य, तीनों की मात्रा बढ़ती जाती है। प्रतिदिन विकसित होने वाले विश्व को देखकर भोगैश्वर्य के पीछे पड़े हुए मनुष्य के जी में आता है कि 'यह विश्व मेरा हो, मेरे अधीन हो? इसके विपरीत भक्त-प्रेमक चाहता है कि मैं ही इसका सेवक बनूं, इसका अंश बनूं और अपने में अभेद का विकास करके यही बन जाऊं! जीवन का यही यथार्थ और परम उत्कर्ष है।

कोई उनसे पूछे कि यात्रा करने से क्या-क्या लाभ हैं, तो मैं उसका जवाब आसानी से दे सकूंगा, लेकिन लोग, मुझसे पूछते हैं कि तुम किस उद्देश्य से यात्रा करने निकले थे? यह प्रश्न ही बिलकुल दूसरा है और इसका जवाब

देना सहज नहीं है. खाना, सोना, शादी करना, संतान उत्पन्न करना आदि विश्वजनीन क्रियायें, मनुष्य किस उद्देश्य से करता है, सो बतलाना सहज नहीं है। प्रायः मनुष्य यही कहेगा कि मुझसे रहा नहीं जाता, इसलिए मैं, इन सार्वजनिक प्रवृत्तियों में भाग लेता हूं। इनसे जितने लाभ प्राप्त होते है, वे सब हमारे इच्छित लाभ तो हैं, परन्तु किस लाभ के लाभ से प्रेरित होकर हम प्रवत्त हुए हैं, सो हम ठीक से नहीं कह सकेंगे। भीतर की एक अदम्य प्रेरणा बेचैन कर डालती है, इसलिए चुपचाप उसके अधीन होना ही पड़ता है, प्रकृति की अपनी यह रचना है, योजना है कि जो चीज जीवन के लिए नितांत उपयोगी है, उसके लाभालाभ का अधिक विचार कर सके, उसे पंसद करना मनुष्य के लिए जरूरी होता ही नहीं। 'नहाना या न नहाना' मनुष्य की अपनी इच्छा का विषय हो सकता, लेकिन 'सोने' या न सोने के विषय में प्रकृति, मनुष्य की इच्छा के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती। नींद का आमंत्रण होते ही मनुष्य विवश-भाव से उसके अधीन हो जाता है।

जिस मनुष्य की वृत्तियां विकृति नहीं होती, उसके लिए यात्रा की प्रेरणा भी उतनी ही स्वाभाविक होती है। जिस प्रकार बारिस के शुरू होते ही सांड अपनी सींगों से जमीन खोदकर उसे सूंघने लगता है, उसी तरह यात्रा का अवसर प्राप्त होते ही अपने आप मनुष्य के पैर बिना पूछे चलने लगते हैं, यदि कोई उससे पूछे कि 'तुम कहां चले' तो वह कहेगा—'मुझे कोई पता नहीं, जहां जा सकूंगा, चला जाऊंगा, जाना, चलना, स्थानान्तर करना, एक जगह बैठे न रहना, नये-नये अनुभव प्राप्त करना — बस यही मैं जानता हूं। आंखे प्यासी हैं, सारा शरीर क्षुधित है, इसलिए पैर चलते हैं, इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

शायद पहाड़ के रहने वालों में चलने की आदत अधिक होती है। शाहपुर से हम बेलगुंदी जाते और वहाँ विट्टी अमरूद, आम या करौंदे खाया करते थे। सतारा से जरंडा या परली जाकर वहाँ रामदास स्वामी का मठ या हनुमान जी का मन्दिर देखते थे। बेलगाम से तिनई घाट उतर कर गोवा की अप्रतिम वनश्री का अवलोकन करते या फिर आंबोलीघाट पार करके सांतवाड़ी के मोती तालाब के के किनारे होने वाले लकड़ी के रंगीन काम का निरीक्षण करते थे। जहाज में बैठकर कारवार जाते, वहाँ के समुद्र तट पर बालू के महल बनाते, पूना जाकर संगम, पार्वती या चतुःश्रृंगी के दर्शन करते, मिरज, जतु रामदुर्ग, मुधोल सांगली और सांवलवाड़ी जैसे देशी राज्यों के मेहमान मध्ययुगीन भारतवर्ष की झांकी देखते और कृष्ण के तीर पर नाचते और कूदते हुए हाथी से बैल-गाय देखकर आनन्दित होते थे। यही मेरे छुटपन के संस्कार हैं। गाड़ी में घास और गदेला बिछा हो, उसे खींचने वाले बैलों के गले में घंटियों की आवाज रात की शांति को भेदती हो; कहीं से चोर न आ जाये, इस डर से जागते रहने का कर्तव्य स्वीकारने पर भी आँखें बीच-बीच में झपकती हों और हड़बड़ाकर फिर खुलते ही 'देखो, हम किस तरह सारी रात जागते रहते हैं,' यों कहने वाले तारे माथे पर चमकते हों—यह सारा दृश्य मेरे बचपन के जीवन के साथ गुंथा हुआ है। यात्री के लिए मुझे किसी उद्देश्य या प्रयोजन की आवश्यकता ही नहीं होती, गांधी जी के साथ विलायत जाने का सुयोग होते हुए भी मैं क्यों न गया? हिमालय की यात्रा करने पर भी मैं उस पार कैलाश क्यों नहीं गया? अफगानिस्तान के रास्ते रूस जाने का संकल्प ऐन वक्त पर क्यों तोड़ दिया? या जावा, बाली, स्याम या सुमात्रा में कब जाऊंगा? मारिशियस से आये हुए निमंत्रण में कब स्वीकार करूंगा? यदि कोई ऐसे सवाल मुझसे पूछे, तो वह स्वाभाविक है। न जाने का कुछ कारण हो सकता है, पर जाने के लिए कारण की क्या जरूरत? कभी नदी से किसी ने पूछा है कि तू क्यों बहती है? जब उसका बहना रुक जाता है, तभी सबको अचरज होता है।

हिमालय की यात्रा के लिए मैं किस प्रकार गया और उससे क्या-क्या पाया, इसका कुछ-कुछ वर्णन तो इस यात्रा वृत्तान्त में, शुरू से आखिर तक जगह-जगह आया ही है। हिमालय जाने की वृत्ति हिन्दू मात्र में स्वाभाविक रूप से होती है। सिन्धु गंगा, ब्रह्मपुत्र और उनकी सखियाँ सभी हिमालय की पुत्रियाँ हैं, इसलिए हर एक नदी-भक्त को कभी न कभी अपने ननिहाल में मौज करने जाना ही है। हिमालय का वैभव, संसार के सभी सम्राटों के समस्त वैभव से भी बढ़कर है. हिमालय ही हमारा महादेव है। अखिल विश्व की समृद्धि को, समृद्ध करता हुआ भी वह अलिप्त, विरक्त, शांत और ध्यानस्थ है, हिमालय में जाकर उसी को हृदय में धारण कर लेने की शक्ति जिसमें है, उसी ने जीवन पर विजय पायी है, ऐसे विजयी को अनन्त प्रणाम। ●

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।

Arjuna, all beings were unmanifest before they were born, and will become unmanifest again when they are dead; they are manifest only in the intermediate stage. What occasion, then, for lamentation ?